संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति

डॉ॰ राजेन्द्र मिश्र

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति

संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति

अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र

□
⊙
□

ग्रन्थ

शक १९०७ : सन् १९८५ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक

प्रभात मिश्र शास्त्री

प्रधानमंत्री : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग • इलाहाबाद

⊙

प्रथम संस्करण : १९८५ ई०

प्रतियाँ : ११००

मूल्य : ८०.०० रुपये

⊙

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

संस्कृत के काव्य-साहित्य का अपना विशिष्ट लालित्य है। समृद्ध संस्कृत-कविता को अनेक काव्यशास्त्रीय सरणियों से परखने के लिए सम्प्रदायों की परम्परा का सूत्रपात हुआ था।

काव्य-सम्प्रदायों के आचार्यों ने रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य एवं अलंकारादि के सहारे काव्यास्वादप्रक्रिया का निदर्शन किया है। अलंकारों के विभेदों का परिगणन करते हुए उनके स्वरूपों के लक्षण और उदाहरण की परम्परा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। अनूठी भंगिमा के कारण अन्योक्ति में वर्णित उक्तियों के माधुर्य एवं तीक्ष्णता का आस्वाद हम अपने दैनिक जीवन में भी पाते हैं। आलंकारिकों के प्रभाव और उनकी विदग्धता के कारण अन्योक्ति अलंकार अत्यधिक लोकप्रिय हुआ था। फलतः विशेष रूप से शृंगारिक अथवा प्रणयकाव्यों में व्याजोक्ति आदि के साथ ही अन्योक्ति का बहुविध प्रयोग प्राप्त होता है क्योंकि भावुकों को व्यंग्यार्थ ध्वनि सदृश अर्थच्छवियों का एक अनूठा प्रयोग आस्वाद के निमित्त इसमें भासित होता है।

आलोच्य ग्रन्थ, संस्कृत के सरस अन्योक्ति काव्य की विशेषता के सांगोपांग अध्ययन की दृष्टि से किए गए शोध-संधान का प्रतिफल है, जिसे सजगता एवं सहृदयतापूर्वक संग्रथित करने का प्रयास लेखक डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने किया है।

डॉ० राजेन्द्र मिश्र स्वतः रससिद्ध कवि और सहृदय अध्येता हैं, अतएव उन्होंने इस ग्रन्थ के माध्यम से अन्योक्तिपरक साहित्य के ललित पक्षों को उद्घाटित करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। अन्योक्ति के उद्भव, विकास और उसके मान्य कवियों के विवरण एवं वैशिष्ट्य के साथ-साथ उसके काव्यात्मक एवं काव्यशास्त्रीय विवेचन से मण्डित यह शोध-कृति उन अध्येताओं को परितुष्टि प्रदान करेगी जो काव्य के मर्म के संधान में प्रवृत्त हैं। रसज्ञ पाठक भी अन्योक्ति सम्बन्धी इस विवेचन से अपने काव्य-विषयक ज्ञान का संवर्द्धन कर सकेंगे। आशा है, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के इस प्रकाशन का साहित्य-जगत् में स्वागत होगा।

रक्षाबन्धन, २०४२ वि०

—डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
साहित्य मंत्री

समर्पण

दिवङ्गत पितृचरण पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र जी को
जिनका अनदेखा व्यक्तित्व
अननुभूत वात्सल्य तथा
अभुक्त स्निग्ध-संरक्षण
जीवन के प्रत्येक मोड़ पर उद्विग्न कर देता है !!

□⊙□

विषयानुक्रमणिका

□⊙□

आत्मप्रस्तुति

भूगर्भ में तिरोहित नन्हा बीज, परिसर-सम्बन्धों की ऊष्मा एवं संजीवन उर्वरक लेकर कब और कैसे अंकुरित हो उठता है—वह समूची सृष्टि की विराट् अभिव्यक्ति का पूर्वाभ्यास-मात्र है। 'यथैव पिण्डे तथैव ब्रह्माण्डे' की सच्चाई यहीं चरितार्थ दीखती है। जो सहस्रदीधिति भास्कर विस्तृत-व्योम में प्रदीप्त है वही कसोरे के जल में भी है। जो देवत्व-दानवत्व पुराणमिथकों में रूपायित हुआ है, सत्प्रवृत्ति-दुष्प्रवृत्ति के रूप में वही प्रतिक्षण जन-जन के अन्तराल में संघर्ष को जन्म दे रहा है।

संसार तो किसी भी अभिव्यक्ति का बाहरी कंचुकमात्र देखता है। उस अभिव्यक्ति की अन्तःप्रक्रिया से उसे क्या लेना-देना? यह कार्य तो योगकुशल परमहंसों, दार्शनिकों अथवा सन्तों का है—जो संसार में रहते हुए भी 'संसारी' नहीं होते! मेरे व्यक्तित्व में बैठा अबोध-विकल शिशुमन कब हठी नचिकेता की तरह 'त्रिणाचिकेत-अग्नि' का चयन करने लगा, कब आत्मविद्या का कातर जिज्ञासु बन गया, कब ज्ञानामृतसंग्रही उपाध्याय बनकर छात्रों को शिक्षा देने लगा और कब अनुसन्धित्सु बन कर वाङ्मयीन रहस्यों के अवगुण्ठन उठाने लगा—यह सब भला मैंने ही कब जाना? इस असंलक्ष्यक्रम-अध्यवसाय के नाम पर बस दो एक स्थूल तिथियाँ भर याद रह गई हैं—अमुक वर्षों में अमुक परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं, अमुक वर्ष में डी० फिल्० उपाधि प्राप्त की और पिछले अट्ठारह वर्षों से इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन!

नवजात फल, न एक दिन में पकता है और न ही अपनी नियतिमात्र से पकता है। उसी प्रकार मनुष्य को भी पकने में कुछ समय लगता है। उसकी इस पाक-प्रक्रिया में जीवन के घात-प्रतिघातों, विसंगतियों, भोगों और तीती-मीठी अनुभूतियों का भी अद्भुत सहकार होता है। साहित्य-संरचना के जगत् में भी सुकुमार-हृदय कवि और कठोरमति शास्त्रज्ञ इसी प्रकार परिपक्व बनते हैं।

संस्कृत के अधिकांश साहित्यकार 'गिरिनिर्झर-व्यक्तित्व' के रहे हैं। शिलाखण्डों से निर्झर का अनवरत सम्पृक्त-संगम बहुत बड़े प्रश्न का समाधान है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति नेत्रों में आँसू तो हृदय में पाषाण का अथवा हृदय में नवनीत तो नेत्रों में स्फुलिंग का अनुभव कभी-कभी करता ही है। यह विषम समन्वय अनभीष्ट होते हुए भी ध्रुव है।

कालिदास, माघ, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष—सबकी काव्यसाधना के यही दो पक्ष हैं—एक ओर उनकी भावुक कल्पनाओं की आकाशगंगा और दूसरी ओर उसी का अभ्यर्णचर उनका जीवन-दर्शन! आचार्य राजशेखर ने इसी वैशिष्ट्य को महत्त्व देते हुए 'काव्यकवि और शास्त्रकवि' जैसी व्यवस्था दी! मैं कवि हूँ अथवा शास्त्रज्ञ? परतः प्रामाण्य से जो

भी होऊँ, स्वतःप्रामाण्य से तो कुछ भी नहीं हूँ ! 'परतः प्रामाण्य' का भी क्या प्रामाण्य ? दो हजार वर्षों के बाद भी क्या कालिदास के सन्दर्भ में हम कोई सर्वमान्य निर्णय ले सके हैं ?

'चरैवैति' की धुन में डूबे यायावर को पथिक अथवा यात्री कहना क्या बेमानी नहीं है ? पथिक तो वह है जिसका एक निश्चित पथ हो, उस पथ का भी अथ और इतिबिन्दु हो ! यात्री वह है जिसकी यात्रा में सोद्देश्यता हो। परन्तु सार्थक अथवा निरर्थक परिव्राजन ही जिसकी नियति बन जाय वह न पथिक है, न यात्री ! बस यायावर है, यायावर ! ! मैं भी एक सारस्वत-यायावर-मात्र हूँ ! ! मल्लिकाक्षवाहिनी की विलासवनिका का एक लीलाशुक हूँ। भावुकता के क्षणों में जब मेरी हृत्तन्त्री झंकृत हो उठती है तो कण्ठ से शाश्वत-सत्य के गीत फूटते हैं किन्तु विलासवनिका की स्वोभावी रूपरचना तथा नित्यकायाकल्प को देख-देख कर जब मेरा धीर-गम्भीर मन उसकी नियति-आयति का गवेषण-विश्लेषण करने लगता है तो मानक-स्थापनाओं तथा निष्कर्षों के शोध प्रकट होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की बस इतनी सी पृष्ठभूमि है। संस्कृतसाहित्य में अन्योक्ति के उद्‌भव और विकास का आलोचनात्मक अध्ययन, अनुसन्धान-स्तर पर सम्पन्न करके मैंने १९६६ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि प्राप्त की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी शोधप्रबन्ध का संशोधित, परिवर्धित तथा सुव्यवस्थित रूप है। यह महनीय वागर्चा मैंने अपने पितृकल्प पूज्य पितृव्यचरण डा० आद्याप्रसाद मिश्र जी के श्रीचरणों में बैठकर पूर्ण की थी और इसे 'सर्वतोभद्र' से मण्डित किया था मेरे पूज्य गुरुवर्य (दिवङ्गत) पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, ऋषिकल्प पं० बलदेव उपाध्याय तथा श्रद्धेय डा० सत्यव्रत सिंह ने। प्रकाशन के अवसर पर आज मैं वैदुषी एवं प्रज्ञा-वैशारदी के इन चारों 'ज्योतिष्पीठों' को अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ : सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ! !

उदारहृदय श्रद्धेय पं० प्रभातशास्त्री के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनकी वत्सलता एवं कृपा से ही यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सरीखी विश्व-विख्यात हिन्दीसेवी संस्था द्वारा प्रकाशित है। स्नेहमूर्ति अग्रज श्री हरिमोहन मालवीय ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो आत्मीय अभिरुचि प्रदर्शित की, वह भी मेरे लिये अविस्मरणीय है। वस्तुतः समूचे सम्मेलन-परिवार के प्रति मैं इस पृथुल-कलेवर ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस प्रबन्ध के प्रकाशन से यदि विद्वज्जनों का साधुवाद-पारिश्रमिक भी मिलता है तो निश्चय ही उनके प्रशस्ति-पुरस्कार का मोह त्याग कर कृतकृत्य हो जाऊँगा।

मैं अनर्जित दान का याचक नहीं, बाहुओं की अर्गला में बन्द हूँ !
बाँध ले कारुण्य-पारावार जो, आदिकवि की क्रन्दना का छन्द हूँ ! !

रक्षाबन्धन, १९८५ ई०
८ बाघम्बरी मार्ग, प्रयाग।

विनयावनत
राजेन्द्र मिश्र

संकेताक्षर

अप्र० प्रक०	अप्रस्तुत प्रकरण
अलं० कौ०	अलंकार कौमुदी
अभि०, अभि० भा०	अभिनवभारती
औचित्य का०	औचित्य कारिका
का०, काव्य० प्र०	काव्यप्रकाश
काव्या०, का० सा० संग्रह	काव्यालंकारसारसंग्रह
कुव०	कुवलयानन्द
गीत०	गीतगोबिन्द
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
ना० नाट्य०	नाट्यशास्त्र
भामिनी०	भामिनीविलास
मा० मा०	मालतीमाधव
रस गं०	रसगंगाधर
राज०	राजतरंगिणी
वक्रो०, वक्रोक्ति०	वक्रोक्तिजीवितम्
सदुक्ति०	सदुक्तिकर्णामृत
सरस्वती०	सरस्वतीकाण्ठाभरण
सा० दर्पण	साहित्यदर्पण
सुभा०, सुभाषिता०	सुभाषितावली
सूक्ति मुक्ता०	सूक्तिमुक्तावली

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

देवताओं के स्वभाव के विषय में हमारे शास्त्रों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है--'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'। इस आभाणक का अन्य चाहे जो भी अर्थ हो, किन्तु इसका एक तात्पर्य, यह भी अवश्य प्रतीत होता है कि किसी भी बात को, विशेषतः उन्मन बना देने वाली कटु बात को, प्रत्यक्ष, अर्थात् साधे सीधे न कह कर, परोक्ष रूप से ही कहना अधिक संगत होता है। दिव्य अथवा सात्त्विक वृत्ति वाले, उदारचेता पुरुषों के लिए, ऐसे प्रसंगों में यही उचित भी है। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' इत्यादि विधान प्रस्तुत करने में, स्मृतिकार मनु का भी सम्भवतः यही अभिप्राय था। मूर्ख को 'मूर्ख', अपकारी को 'अपकारी' तथा कृतघ्न को 'कृतघ्न' कहना किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता। यदि, इतना होने पर भी, कोई इन सम्बोधनों का अनिवार्यतः पात्र बन ही जाय तो उसे साक्षात् रूप से न कह कर परोक्ष रूप से कहा जाय, स्पष्ट न कहकर संकेतमात्र किया जाय। शिष्ट व्यक्तियों के कथन की यही रीति है, और इसी रीति को कला भी कहते हैं। साहित्य, चाहे वह संस्कृत-साहित्य हो, चाहे हिन्दी अथवा अंग्रेजी, इसी अर्थ में 'कला' है।

स्पष्टवक्ता वञ्चक नहीं होता है और यह भी सत्य है कि 'स्पष्ट' अर्थात् 'कटु-सत्य' किसी को भी प्रिय नहीं होता। अतः यह एक विचारणीय समस्या है कि उस नग्न यथार्थ को हम किस माध्यम से प्रकट करें कि 'साँप मर भी जाय और लाठी टूटे भी न।' अतीत प्रत्न युग से ही, जब आर्य जाति ने पवित्र सप्तसैन्धव प्रदेश में पदार्पण किया, जब सरस्वती से लेकर सदानीरा तक का प्रदेश, वैदिक ऋषियों की ऋचाओं एवं साम गीतियों से सुवासित और आप्यायित हो उठा, इस दिशा में क्रियमाण प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गये। 'सामन्' शब्द का तात्पर्य ही था, 'सन्तुष्ट कर देने वाला'[1] अथवा 'पापविनाशक'। इसी प्रकार ऋक् का भी तात्पर्य था वह विधाविशेष, जिससे किसी को प्रसन्न किया जा सके।[2] इस दृष्टि से समस्त

---

१. सामयति तोषयति देवान् इति साम (साम् धातु+कनिन् प्रत्यय) अथवा स्यति नाशयति पापमिति साम (सो धातु+मनिन् प्रत्यय)—वाचस्पत्यम् भाग ६, पृ० ५२८१।

२. ऋच्यते स्तूयतेऽनयेति ऋक्, (ऋच्-करणे क्विप् वेदमंत्रभेदे)
—वाच० भाग २, पृ० १४१३ (चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस-वाराणसी, १९६२ ई०)।

वैदिक वाङमय ही, अभिव्यक्ति की एक श्लाघ्य पद्धति पर आधारित है जिसे हम आज 'प्रतीकवाद' (Allegory) 'संकेतवाद' अथवा 'रूपक' की संज्ञा देते हैं।

यद्यपि 'कटु' को मधुर एवं उपादेय बनाने के अनेक प्रकार विभिन्न देशों के साहित्यों में देखने को मिलते हैं, किन्तु समस्त उन्नत एवं विकसित साहित्यों में इसका श्रेष्ठ प्रकार वही है जिसे संस्कृत-काव्यशास्त्रकार 'व्यंजना' अथवा 'ध्वनि' की संज्ञा देते हैं। अंग्रेजी में इसी तत्त्व को suggestion कहते हैं। इसी ध्वनिकाव्य का एक विशिष्ट प्रकार 'अन्योक्तियाँ' भी हैं, जो 'कटुसत्य' को 'काव्य अथवा लोक' में व्यक्त करने के लिए, 'पीयूष-पद्धति' के रूप में मान्य हैं। यदि आचार्य मम्मट की घोषणा के अनुसार, काव्य का प्रयोजन यश एवं अर्थ की प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अनिष्ट निवारण, सद्यः परमानन्द प्राप्ति तथा कान्तासम्मित उपदेश ही है,[१] तो वह जितना अन्योक्ति के पक्ष में सत्य है, उतना अन्य किसी भी काव्यांग में नहीं। कहा जाता है कि सतसई के प्रत्येक पद्य पर, महाराज जय सिंह कविवर बिहारी को एक-एक अशर्फी देते थे। अर्थ-प्राप्ति के अतिरिक्त, अन्य प्रयोजन वैयक्तिक ही हैं, जिनकी उपयोगिता केवल कवि के लिए ही सुरक्षित है।

अल्पज्ञानी मनुष्य दिन तथा रात की लघु परिधि में आने वाले, अल्प किन्तु जागतिक दृष्टि से अत्यन्त मधुर, सुखों की प्रतीक्षा करता है। प्रतिपल शीश पर उमड़ते हुए, विपत्ति-कालमेघ का उसे भान ही नहीं होता। अन्त में होता क्या है? उसके काल्पनिक हवाई महल क्षण मात्र में कालकवलित होकर चकनाचूर हो जाते हैं। इसी प्रस्तुत एवं प्रतिपाद्य पक्ष को 'अन्योक्ति' में देखिये—

> **रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।**
> **इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥**[२]

जीवन के प्रभातकाल (समृद्धिकाल) में किसी उदाराशय महाभाग की दयालुता एवं सहायता से, कोई अकिञ्चन व्यक्ति ऊँचे उठता है। किन्तु अहंकार के घने आवरण में पड़कर, वह कृतज्ञता का निर्वाह नहीं कर पाता। उल्टे, उसी उपकारी को 'उपेक्षा' एवं 'तिरस्कार भाव' से ठुकराता है। ऐसे कृतघ्न-नराधम के प्रति किसी विवेकशील व्यक्ति के ये वचन कितने सारवान् एवं उपादेय हैं—

> **भुक्ता मृणालपटली भवता निपीतान्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।**
> **रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः॥**[३]

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
—काव्यप्रकाश, प्रथमोल्लास, कारिका—२।

२. सुभाषितावली (डॉ० पीटर्सन द्वारा प्रकाशित, बम्बई १८८६ ई०) पद्य-७५४।

३. भामिनीविलासः (पण्डितराजजगन्नाथकृतः) : प्रास्ताविकविलास पद्य-४८।

अर्थात् हे राजहंस, जिस सरोवर में तूने सब दिन मृणालभक्षण किया, मीठा जल पिया तथा अरविन्दों का सेवन किया, भला अपने किस कार्य से तू उसका उपकार चुकाएगा? (यदि तू अब उसे तिरस्कृत करना चाहता है तो×)

उपर्युक्त उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट है कि कराल 'कालगति' तथा कृतघ्नता सरीखे कटु सत्यों को अभिव्यक्त करने के लिए इन अन्योक्तियों से अधिक सुगम एवं सरस सरणि शायद ही कोई और हो। यही 'अन्योक्ति' प्रस्तुत शोध का विषय है।

अब यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि 'अन्योक्ति' क्या है? अथवा किस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रस्तुत शोध-निबन्ध में हुआ है। यद्यपि ये दोनों ही प्रश्न साकूत एवं साभिप्राय हैं तथा इन्हीं प्रश्नों का आमूलचूड परिशीलन करने के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में कई स्वतन्त्र अध्यायों की सर्जना की गयी है, किन्तु इस अध्याय में अन्योक्ति सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों का परिचय करा देना प्रसंगानुकूल ही होगा। 'अन्योक्ति का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचन' उन्हीं तथ्यों में से एक है।

संस्कृत काव्यशास्त्र का उदय आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से (ई० पू० चतुर्थ शती) होता है। इसी प्रकार उसकी चरम परिणति भी पण्डितराज जगन्नाथ के लक्षणग्रन्थ 'रस-गंगाधर में होती है (सत्रहवीं शती ईसवी) भरत और पण्डितराज का मध्यवर्ती दो सहस्र वर्ष ही स्थूल रूप से, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के उद्भव तथा विकास का समय है। 'काव्यात्मा की मान्यता' को ही अपना लक्ष्य बनाकर पनपने वाले, जाने कितने सिद्धान्त इसी युग की विरासत हैं। भरत का रससम्प्रदाय, भामहादि का अलंकार-सम्प्रदाय (छठवीं शती ई०), वामन का रीति सम्प्रदाय (आठवीं शती ईसवी), आनन्दवर्धन का ध्वनि सम्प्रदाय (नवीं शती का उत्तरार्द्ध), कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय (दशम शती ई०) तथा क्षेमेन्द्र का औचित्य सम्प्रदाय (ग्यारहवीं शती ई०) सब इसी युग की देन हैं।

प्रस्तुत स्थल पर केवल 'अलंकार-सम्प्रदाय' पर प्रकाश डाला जायगा, क्योंकि अन्योक्ति के 'सैद्धान्तिक-विवेचन' से हमारा तात्पर्य उसके 'आलंकारिक-विवेचन' से ही है। अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य, मेधाविन्-भामह-दण्डी-उद्भट तथा रुद्रट हैं। नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने अन्य काव्य तत्त्वों के साथ-ही-साथ चार अलंकारों को भी मान्यता दी थी—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इनमें से प्रथम तीन अर्थालंकार तथा अन्तिम शब्दालंकार हैं। भरत के पश्चात् मेधाविन् का नाम आता है। मेधाविन् का काल तथा कृति, यद्यपि दोनों अज्ञात हैं तथापि आचार्य भामह के साक्ष्य पर उनकी स्थिति दूसरी शती ई० के आस-पास स्वीकार की जा सकती है। भामह ने अलंकारों के विषय में, अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य का हवाला दिया है जो केवल पाँच अलंकार (अनुप्रास-सहित भरत-प्रोक्त चार अलंकार) मानते थे।[१]

---

१. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः॥—काव्या० २।४।

चूँकि भामह स्वयं अड़तीस अलंकार स्वीकार करते हैं अतः निश्चित है कि, पाँच अलंकारों को मान्यता देने वाले आचार्य भरत एवं भामह से भिन्न तथा उन्हीं के मध्यवर्ती रहे होंगे। भामहालंकार में उल्लिखित अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर हम यह मान सकते हैं कि वह आचार्य मेधाविन् (या मेधाविरुद्र—डॉ० पी० वी० काणे) ही थे। इस सन्दर्भ में दातव्य युक्तियाँ भी तृतीय अध्याय में प्रस्तुत की जायेंगी।

भामह के पूर्ववर्ती कुछ ऐसे भी आचार्य थे जो अर्थालंकार मानते ही नहीं थे। वे केवल सुप् (Nouns) तथा तिङ् (Verbs) की व्युत्पत्ति (Proper Form) मात्र को 'वाणी का अलंकार' मानते थे। रूपक प्रभृति अलंकारों को भी वे बाह्य ही मानते थे।[1] 'बाह्य' का अर्थ, एक आलोचक के शब्दों में—

Which is not intrinsically connected with Poetry. According to them, the grammatical form of the words constitutes a good composition. That is because according to them kāvya consists of words that can be read, heard and understood. They perhaps think that sense is beyond the pale of Poetry.[2]

किन्तु आचार्य भामह ने, स्पष्टतः इस मत का प्रतिरोध किया और यह मत उपन्यस्त किया कि शब्द एवं अर्थ दोनों, समवेत होकर ही 'काव्य' बनते हैं अतः व्युत्पत्ति किसी एक की न होकर दोनों की ही होगी। अतएव अलंकार भी एक के न होकर दोनों के—शब्द एवं अर्थ के—होंगे। भामह ने यह तथ्य भी स्पष्ट किया कि सौशब्द्य मात्र ही (Proper formation of words) अलंकार नहीं है, प्रत्युत 'अर्थव्युत्पत्ति' भी (Excellence of ideas)। पूर्वपक्षी आचार्यों ने, वस्तुतः अलंकार सम्बन्धी धारणा को ही गलत रूप में समझा था। चूँकि वे 'काव्य' को शब्द-संगठन मात्र मानते थे, अतः काव्यालंकार का स्वरूप भी 'सौशब्द्य' (Grammatical correctness) रूप में ही सम्भव था।

अलंकारों से सम्बद्ध, पूर्वपक्षियों के 'बाह्यवादी-सिद्धान्त' का समूलोन्मूलन करके, भामह ने सर्वप्रथम अन्तर्वादी सिद्धान्त का श्रीगणेश किया। उन्होंने अलंकारों को काव्य का 'अन्तस्तत्त्व (Intrinsically connected) माना। जैसे कान्त होकर भी वनिता का मुख भूषणों के अभाव में सुशोभित नहीं होता, ठीक वैसे ही काव्य भी रूपकादि अलंकारों के अभाव में—

---

१. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे। सुपां तिङञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी। शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः
—(काव्या०१)। —१४, १५।

२. श्रीशंकरराम शास्त्री, काव्यालंकार टीका (बालमनोरमा सीरिज नं० ५४, मद्रास १९५६ ई०)।

रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्॥—१।१३काव्या०।

किन्तु अलंकारों का यथोचित मूल्यांकन किया आचार्य दण्डी ने। संस्कृत काव्य-शास्त्र में दण्डी एक क्रान्तिकारी आचार्य के रूप में मान्य हैं। भामह द्वारा स्थापित मान्यताओं को, यथास्थान विदीर्ण करके, आचार्य दण्डी ने अलंकारशास्त्र के एक-एक अंग को, विस्तीर्ण थाल में, शुभ्र पारद बिन्दु की भाँति सँजो दिया। दण्डी ने ही सर्वप्रथम अलंकारों को काव्य का शोभाकारक धर्म स्वीकार किया—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते॥—काव्यादर्श २।१।

इस प्रकार आचार्य दण्डी ने अलंकारों को काव्य का 'आत्मतत्त्व' स्वीकार किया। वे काव्य के शोभाधायक अथवा उत्कर्षधायक तत्त्व न रह कर 'शोभाकारक' तत्त्व बन गये। दण्डी की यही मान्यता, तब से लेकर आज तक, 'अलंकार-सम्प्रदाय' का मेरुदण्ड बनी हुई है। आचार्य दण्डी ने कुल ३७ अलंकार स्वीकार किये।

वामन यद्यपि रीति को ही 'काव्यात्मा' मानते थे किन्तु अलंकारों के प्रति उनकी आस्था बहुत थी। यही कारण था कि अलंकारों को सीधे-सीधे काव्य का शोभावर्द्धक तत्त्व न मान कर, उन्होंने प्रकारान्तर से माना। उन्होंने काव्य को ग्राह्य माना, क्यों? अलंकारों के कारण। किन्तु ये अलंकार उपमा, रूपक, यमकादि नहीं, प्रत्युत कुछ और ही थे। 'अलंकार' से वामन का तात्पर्य था 'सौन्दर्य' से, अर्थात् काव्य का स्वभावगत सौन्दर्य। यही सौन्दर्य रूप अलंकार करणव्युत्पत्ति के बल से अर्थात् साधन रूप होकर उपमादि का सूचक बनता है—

सौन्दर्यमलंकारः।१।१।२।
अलंकृतिरलंकारः। करणव्युत्पत्त्या पुनः अलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु-वर्तते (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)

इस प्रकार, वामन द्वारा सौन्दर्य रूप में अलंकार को काव्य की उपयोगिता का मूल कारण मानना, यह सिद्ध करता है कि वे अलंकार को यदि काव्य की आत्मा नहीं तो आत्मतुल्य ही कोई विशिष्ट तत्त्व अवश्य मानते थे। वामन ने काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व के रूप में कुल ३३ अलंकार स्वीकार किये।

उद्भट एवं रुद्रट, अलंकारसम्प्रदाय के इन दोनों आचार्यों का सारा मनोबल प्रायेण अलंकारों के विकास एवं विस्तार की ओर रहा। आचार्य उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में इकतालीस तथा रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में कुल इकहत्तर अलंकारों का विवेचन किया। पूर्व मम्मट युग के अन्य आचार्यों में राजानक कुन्तक तथा भोज आते हैं किन्तु अलंकार-सम्प्रदाय का एक युग रुद्रट के ही साथ समाप्त होता है।

अलंकार सम्प्रदाय के किसी भी आचार्य ने स्पष्टतः यह घोषणा नहीं की कि 'अलंकार काव्य की आत्मा है' और यही, इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी कमी भी है। दण्डी ने यद्यपि 'शोभाकारक' शब्द में 'कृ' धातु का प्रयोग करके, अलंकारों के काव्यात्मत्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया, किन्तु 'कर्तृत्व तथा आत्मत्व' में ऐक्य स्थापना का प्रयत्न भले किया जाय, परन्तु वह असम्भव ही है। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि भामहादि आचार्यों के अनुसार 'अलंकार ही काव्य के सर्वस्व हैं।' यदि ऐसा न होता तो वे रसादि तत्त्वों को भी अलंकारों में ही क्यों विलीन करते? ऐसा भी तर्क नहीं दिया जा सकता कि वे काव्य में रसादि का मूल्य नहीं समझते थे। वस्तुतः जैसा कि आचार्य रुय्यक एवं जगन्नाथ ने स्वीकार किया है,[1] वे रसादिकों का महत्त्व समझते थे कि 'रसप्रतीति ही काव्य का चरम लक्ष्य है' किन्तु चूँकि अलंकारों के बिना वे काव्य की सत्ता को ही सम्भव नहीं समझते थे। अतः रसप्रतीति का माध्यम भी उन्होंने रसादि अलंकारों को ही स्वीकार किया। आचार्य जयदेव ने संकेततः अलंकारों को ही काव्यात्मा स्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥
—(चन्द्रा० १।८)।

टीकाकार गागाभट्ट ने यहाँ आचार्य का मत इस प्रकार स्पष्ट किया है—'अलंकारादिसमनियतमेव काव्यत्वमिति भावः।' इससे अलंकारों के काव्यात्मत्व में कोई शंका नहीं रह जाती। उपर्युक्त विवेचन से यह तात्पर्य निकला कि 'अलंकार-सम्प्रदाय' संस्कृत काव्यशास्त्र में वह सम्प्रदाय विशेष हैं, जिसके संस्थापक अथवा उन्नायक आचार्य के मतानुसार 'अलंकार' ही काव्य का सर्वस्व है, आत्मतत्त्व है। इस विषय में भामह, दण्डी तथा वामन का मत ऊपर निरूपित किया जा चुका है। परवर्ती युग में, ध्वनि सिद्धान्त का उदय होने पर यद्यपि अलंकार विषयक उपर्युक्त मान्यता जाती रही तथापि आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकारों को त्रिविध ध्वनि में अन्तर्भूत करके, इसकी काव्यात्मकता को जीवित रखा[2]। अलंकारों का वास्तव में अर्थ भी यही है कि वे केवल काव्यालंकरण के उपकरण मात्र नहीं हैं वरन् सहृदय सामाजिकों के रसाप्लुत हृदय में एक अद्भुत रणरणक उत्पन्न करके, वैभाविक-उद्दीप्ति के माध्यम से

---

१. द्रष्टव्य-अलंकारसर्वस्व, पृ० ४—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज-४०, सन् १९१५ ई०।
रसगंगाधर-पृ० ४१५ काव्यमाला संस्करण। सन् १८८८ ई०।

२. अर्थशक्तेरलंकारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते अनुस्वानोपमव्यंग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः॥२५
रूपकादिरलंकारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः॥२६
अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥२७
—(ध्वन्या० द्वितीयोद्योत)।

रसचर्वणा कराना भी उन्हीं का काम है। इसी कारण परवर्ती युग में भी अलंकार विषयक माहात्म्य उसी रूप में आचार्य जयदेव[1] एवं अप्पय दीक्षित आदि द्वारा स्वीकृत किया गया।

उसी प्रख्यात अलंकार-सम्प्रदाय रूपी वनमाला का एक पावन-प्रसून 'अन्योक्ति' है जिसे हम 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अथवा 'समासोक्ति' आदि नामों से भी जानते हैं। अलंकारों की जो सरणि, नाटयशास्त्र से प्रारम्भ हुई थी, वह अमन्द एवं अटूट गति से उन्नीसवीं शती ई० तक विद्यमान रही, किन्तु उसका सम्प्रदाय अर्थात् काव्यात्मा रूप में उसकी मान्यता मम्मट के पूर्व ही एक प्रकार से समाप्तप्राय हो गयी।

भामह, उद्भट तथा वामन ने तथा वक्रोक्तिवादी राजानक कुन्तक ने भी अप्रस्तुत प्रशंसा रूप में तथा आचार्य दण्डी ने समासोक्ति रूप में 'अन्योक्ति' को स्वीकार किया। भोज ने भी अन्योक्ति को दण्डी के अनुकरण पर समासोक्ति रूप ही माना किन्तु उन्होंने इसकी तीन अभिनव संज्ञाओं को और स्वीकार किया[2]—अन्योक्ति, अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति! आचार्य मम्मट के बाद यद्यपि ये दोनों ही नाम प्रचलित रहे, किन्तु तत्त्व जैसा कि यथाप्रसंग सुस्पष्ट किया जायेगा, दोनों का एक ही है।

प्रश्न यह है कि जब 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नाम ही स्थापना की दृष्टि से प्राचीन है, तो फिर 'अन्योक्ति' के प्रति इतना मोह क्यों? इसका संक्षेप में एक ही उत्तर प्रस्तुत किया जा रहा है कि 'अन्योक्ति' नाम अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति केवल अलंकार विशेष के ही अर्थ में संकीर्ण नहीं है, वरन् अलंकार तथा एक स्वतन्त्र वाङमय दोनों का परिचायक है। प्राचीन काल से ही लोक रूढ़ि की अपेक्षा परम्परा को अधिक सम्मान देता आ रहा है क्योंकि परम्परा का प्रत्यक्ष एवं साक्षात् सम्बन्ध मनुष्य के दैनन्दिन व्यवहारों से है। अतः यद्यपि रूढ़ि अपने स्थान पर परम्परा से अधिक बलवती अवश्य होती है तथापि लोकानुमोदन उसे नहीं प्राप्त होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अन्योक्ति के बीच भी प्रायः यही व्यवस्था देखने को मिलती है। 'अन्योक्ति' लोकव्यवहारानुकूल होने के कारण ही अधिक प्रचलित एवं प्रख्यात है। एक तथ्य यह भी है कि अन्योक्ति की प्राचीनतम संज्ञा अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं, वरन् 'अन्यापदेश' है जो यथाकथञ्चित, आचार्य भरत से भी पूर्व साहित्य तथा लोक दोनों में विद्यमान थी[3]। अन्योक्ति के पर्यायों का व्याख्यान करते समय इस विषय में स्थायी तत्त्व उपस्थित किये जायँगे।

जैसे पपीहों की पुकार, उन्मत्त कलकण्ठी की कूक, सहकार मंजरी तथा अलस विलास आदि वैशिष्ट्यों से समुपेत ऋतु 'वसन्त' कही जाती है, ठीक उसी प्रकार अप्रस्तुत वाच्य

१. द्रष्टव्य : चन्द्रालोक ५।८।

२. संक्षेपेणोच्यते तस्मात्समासोक्तिरियं ततः।
सैवान्योक्तिरनन्योक्तिः उभयोक्तिश्च कथ्यते॥४।४९ सरस्वती०।

३. द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र, षोडशाध्याय (मनोरथ लक्षण की परिभाषा)।

द्वारा प्रस्तुत गम्य का व्यंजनयावबोध, विशेषणों की असमानता, इतिवृत्त की समानता तथा अन्यापदेशत्व आदि वैशिष्ट्यों से युक्त अलंकार अन्योक्ति (या अप्रस्तुत०) है। किन्तु जैसे तथाकथित गुणों से विभूषित ऋतुराज एकस्थ या संकुचित न रहकर समस्त भूमण्डल में, एक नरेश की भाँति अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर देता है, कवि की हृत्तन्त्री झंकृत हो उठती है, वियोगियों को यातनाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं तथा समस्त लोक में बसन्त-ही-वसन्त दृष्टिगोचर होता है।[1] ठीक उसी प्रकार अन्योक्ति भी जब कतिपय लक्षणों के बन्धन तोड़कर अपनी सैद्धान्तिक कारा से बाहर आ जाती है तो उसका भी एक स्वतन्त्र रूप 'लोक-साहित्य' के रूप में हमें दृष्टिगोचर होता है। अन्यापदेश नाम को 'प्राचीनतम' कहने का मूलतः यही अभिप्राय है कि आलंकारिक-मान्यताएँ तो भरत एवं भामह से ही प्रारम्भ होती हैं, तो क्या इसका अर्थ यह है कि अन्योक्ति (अप्रस्तुत०) अलंकार-विशेष होने के कारण, भरत के पूर्व नहीं थी? नहीं, अन्योक्ति अन्यापदेश के रूप में, भावाभिव्यक्ति की व्यंजनामयी एक कलाविशेष के रूप में अथवा व्यवहार रूप में भरत के पूर्व भी थी। अन्योक्ति इतनी प्राचीन है जितना कि जन-जीवन। क्योंकि जन-जीवन का सच्चा प्रतिनिधित्व अन्योक्ति ही करती है।

'अन्योक्ति' नाम का सर्वप्रथम उल्लेख, नवम शती में उत्पन्न आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में किया। ग्रन्थ के आठवें अध्याय में रुद्रट ने औपम्यमूलक इक्कीस अलंकारों का व्याख्यान किया है। जब वक्ता प्रस्तुत वस्तु को स्वरूपतः (स्वरूप विशेष से) अन्य रूप में प्रतिपादित करने के लिए, उसी के समान अन्य वस्तु का अभिधान करे तो वहाँ 'औपम्य' होता है।[2] रुद्रटालंकार के टीकाकार नमिसाधु के शब्दों में, हम स्थूल रूप से उपमानोपमेय भाव की प्रतीति को ही 'औपम्यतत्त्व' कह सकते हैं।[3] औपम्यमूलक वर्ग में कुल २१ अलंकार हैं--उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपक-अपह्नुति-संशय-समासोक्ति-मत-उत्तर-अन्योक्ति-प्रतीप-अर्थान्तरन्यास-उभयन्यास-भ्रान्तिमान्-आक्षेप-प्रत्यनीक-दृष्टान्त-पूर्व-सहोक्ति-समुच्चय-साम्य तथा स्मरण।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध है कि जब अन्योक्ति भी औपम्यमूलक वर्ग के अलंकारों में से अन्यतम है तब फिर उसमें भी 'अन्यवस्तु का अभिधान' अथवा 'उपमानोपमेय-

---

१. हिन्दी कवि रत्नाकर का एक पद्य देखिये :--

कूजन लगे हैं पिक पंचम रसीले राग, गुंजन लगे हैं भौंर संघ सुघराई में।
कहूँ 'रत्नाकर' रसाल बौर झूमि उठे, फूलि उठे सुमन अनन्द अधिकाई में॥
साजन लगे हैं साज सुखद संजोगी गन, बाजन लगे हैं बाज विसद बधाई में।
दन्त लागे चांपन, वियोगी कहि 'हाय हन्त', सन्त लागे काँपन बसन्त की अवाई में॥

२. सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥८।१ (रुद्रटालंकार)।

३. यत्रोपमानोपमेयभावः श्रौतः प्रातीतिको वा तदौपम्यमिति तात्पर्यम्।

भाव' अवश्य होगा। होता यही है, अन्योक्ति में उपमानों द्वारा उपमेयों का व्यंजनया बोध होता है। व्यंजनया बोध होने का कारण यह है कि अन्योक्ति में केवल उपमान मात्र (जिसे हम अप्रस्तुत, अप्रकृत, अप्रासंगिक, अमुख्य आदि भी कहते हैं) का ही शब्दशः अभिधान होता है, अर्थात् अप्रस्तुत-पक्ष ही वाच्य होता है। किन्तु उपमेय पक्ष (जिसे हम प्रस्तुत, प्रकृत, प्रासंगिक, मुख्य आदि कहते हैं) सर्वदा वाच्य न होकर व्यंग्य ही रहता है। आचार्य रुद्रट के अनुसार---

असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः॥७४
(रुद्रटालंकार, अध्याय ८)।

अर्थात् जहाँ असमान विशेषणों वाला (किन्तु) समान इतिवृत्त (कथानक) वाला उपमेय वाच्य, उपमान द्वारा गम्य होता है, वहाँ 'अन्योक्ति' होती है। उदाहरणार्थ---

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम्।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे! न हंसोऽसि॥

अर्थात् हे राजहंस! फूले हुए कमलों के कारण धवल प्रतीत होने वाले तथा क्रीडारत हंसों से युक्त, रमणीय सरोवर को छोड़कर (जो तुम) बगुलों से मथित जल वाली छोटी बावली में जाना चाहते हो (इस कारण) हे मित्र! तब तुम हंस नहीं हो (क्योंकि हंस तो आजीवन स्वच्छसरोवर में ही रहना चाहता है) यह वर्णना 'अप्रस्तुत-पक्ष' की हुई, जो 'कविसंरम्भगोचर' नहीं है।

किन्तु प्रस्तुत उदाहरण अन्योक्ति का है। यहाँ कवि ने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उपस्थित किया है जो सब दिन गुण-शील युक्त तथा पवित्र प्रणय वाली अपनी पतिव्रता पत्नी में ही निरत रहा किन्तु अब (किसी कुसंगति वश) किसी चरित्रहीन वेश्या के प्रति आकृष्ट है। यह तो, एक विशिष्ट वर्ग की बात हुई किन्तु इस अन्योक्ति को हम अन्य भी सामाजिक तत्त्वों में चरितार्थ कर सकते हैं, जैसे किसी सच्चरित्र व्यक्ति का साथ छोड़कर लम्पट व्यक्ति की संगति करना अथवा पूर्वपुरुषों द्वारा प्रारम्भ किये गये धर्म-कर्म को तिलांजलि देकर, घर में अधर्माचरण करना या करवाना आदि। परन्तु इन सभी स्थानों पर इस अन्योक्ति का एक ही आशय रहेगा---'किसी व्यक्ति का अपनी सम्मान्य स्थिति से, किसी कारणवश परिस्खलन।'

एक प्रश्न उठाया जा सकता है, वह यह कि जब अन्योक्ति में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत पक्ष में, विशेषण सब-के-सब असमान होते हैं तो फिर उपमान से उपमेय का अवगम होता कैसे है? इस प्रश्न का उपन्यास तथा समाधान दोनों ही रुद्रट के टीकाकार आचार्य नमिसाधु ने भलीभाँति किया है।[१] अन्योक्ति में उपमेय की (प्रस्तुत पक्ष की) दो विशेषताएँ हैं---

१. **ननु यद्यसमानविशेषणं तत्कथं तेन गम्यत इत्याह-समानेतिवृत्तमिति। समानं सदृशम् इतिवृत्तमर्थशरीरं यस्य तत्तथोक्तम्। यत उपमानतुल्यव्यवहारमुपमेयमतस्तेन गम्यत इत्यर्थः। ---(नमिसाधु-कृत टीका)।**

२

(१) उपमेय के विशेषण उपमान के विशेषणों से सर्वथा भिन्न होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में ही सलील हंसादि विशेषण, व्यक्तिविशेष (जो उपमेय है) के विशेषणों से सर्वथा पृथक् है। नमिसाधु के शब्दों में—'न हि पुरुषः सरो मुक्त्वा पल्वलमभिलषति।

(२) उपमेय का इतिवृत्त, उपमान के इतिवृत्त के सर्वथा समान होता है। उपर्युक्त उदाहरण में ही, व्यक्ति विशेष का अनुरक्ता एवं शीलवती पत्नी को छोड़कर वेश्यासेवन रूप कथावस्तु ठीक उसी प्रकार की है जैसे—'रमणीय सरोवर को छोड़कर हंस का बावली सेवन।'

इसी इतिवृत्त का साम्य, उपमान द्वारा उपमेय का व्यंजनया बोध कराता है। क्योंकि 'अन्योक्ति' में कवि का सारा प्रयत्न प्रासंगिक वृत्त के ही स्पष्टीकरण में रहता है किन्तु वाच्य रूप में उसे उपस्थित करके नहीं। क्योंकि उस रूप में वर्णना, प्रस्तुत करने में कोई वैशिष्ट्य नहीं, कोई उक्तिवैचित्र्य नहीं, कोई नवीनता नहीं। परन्तु कवि तो क्रान्तदर्शी होता है, उसकी वाणी का तो एकमात्र प्रयोजन है सुचारु काव्य की सर्जना[1] और राजानक कुन्तक के शब्दों में इसी प्रकार के काव्यामृत रस से पाठक के हृदय में चतुर्वर्गातिशायी, चैतसिक चमत्कार उत्पन्न होता है।[2]

इतना तो निश्चित ही है कि प्रत्येक व्यक्ति काव्य रचना नहीं कर सकता।[3] क्योंकि कवित्व का एकमात्र कारण है प्रतिभा, वह प्रतिभा जो स्मृति (व्यतीत विषयों से सम्बद्ध) मति (आगामी चिन्तनपरक) तथा बुद्धि (तात्कालिक विषय से सम्बद्ध) तीनों से ही विलक्षण[4] तथा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञायुक्त होती है।[5] वह सर्वजनसामान्य नहीं और इसी कारण उससे प्रसूत अभिव्यक्ति भी, ध्वनिकार के शब्दों में 'अलोकसामान्य' ही होती है।[6] इस शक्ति के रहने पर ही, साधारण-सा अभिधेय बहुमुखीन वैचित्र्यों के साथ, कवि के मानस-पटल पर समुदित होता है।[7]

---

१. फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः।
यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः॥ १।१३ (रुद्रटालंकार)।

२. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥—वक्रोक्ति० प्रथमोन्मेष, का० ५।

३. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥ —काव्यालंकारभामहकृत, १।५।

४. स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥

५. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥ —आचार्य भट्टतौत (काव्यकौतुक)

६. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
—ध्वन्या० प्रथमोद्योत, का० ६।

७. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥१।१५ (रुद्रट०)।

ऐसी दशा में प्रतिभावान् कवि के समक्ष एकमात्र 'कर्त्तव्य' यही रहता है कि वह अपने वक्तव्य को किस चातुरी से व्यक्त करे कि पाठक क्षणमात्र के लिए विस्मित हो जायँ। क्योंकि अकेला आनन्द तो संगीतादिक से भी प्राप्त हो जायगा, अतः उस स्थिति में काव्यानन्द का वैशिष्ट्य ही क्या[१] ? अन्योक्ति के प्रसंग में भी कवि का बहुत कुछ दायित्व इसी कोटि का होता है। इसी कारण वह प्रस्तुत पक्ष को अभिधया न व्यक्त करके व्यंजनया व्यक्त करता है। व्यंजनया व्यक्त करने पर कोई भी तथ्य अपनी प्रकृतशक्ति से कई गुना अधिक वेगवाला हो जाता है। इसके दो कारण हैं—एक तो पुरुष को लज्जित अथवा अपमानित करने के लिए अप्रस्तुत इतिवृत्त का निबन्धन तथा दूसरा, प्रत्यक्षतः न कहकर परोक्षरीति से संकेत !

वैदर्भी रीति की प्रशंसा में पद्मगुप्त (परिमल) ने 'नवसाहसांकचरित' (प्रथम सर्ग, श्लो० ५) में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—

'निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः'

चूँकि वैदर्भी रीति का व्यंजना के साथ नीर-क्षीर सम्बन्ध है अतः अन्योक्ति में प्रतिष्ठित व्यंजना के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि निस्त्रिंशधारा के समान प्रवृत्त होने वाली यही व्यंजनामयी उक्ति, अन्योक्ति को काव्यजगत् में सर्वोत्कृष्ट स्थान दे देती है। सिद्धान्त रूप में अन्योक्ति का यही संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट स्वरूप है।

वसन्त ऋतु एवं वसन्त साम्राज्य का दृष्टान्त देकर पूर्वानुच्छेद में अन्योक्ति अलंकार तथा अन्योक्ति साहित्य का पार्थक्य जताने का पहले प्रयत्न किया गया है। इस विषय में कुछ अपेक्षित सामग्री अभी शेष है। अन्योक्ति के सैद्धान्तिक स्वरूप का अभिप्राय उसके आलंकारिक स्वरूप से है। इसी प्रकार उसके व्यावहारिक स्वरूप का तात्पर्य उसके स्वतंत्र साहित्य से है। सिद्धान्त एवं व्यवहार (Theory and Practice) दोनों परस्पर सापेक्ष पद हैं, दोनों में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। जहाँ किसी भी पदार्थ से सम्बद्ध कोई सिद्धान्त होगा, वहाँ उसका अनुवर्ती व्यवहार अवश्य होगा और जहाँ कहीं व्यवहार होगा वहाँ उसके मूल में कोई-न-कोई सिद्धान्त भी अवश्य होगा।

अन्योक्ति नाम ग्रहण करने के कारण तद्विषयक सामग्री पूर्वानुच्छेदों में संकलित की जा चुकी है किन्तु अन्योक्ति का यही स्वरूप सब दिन नहीं रहा। आचार्य दण्डी तथा भोज ने इसकी संज्ञा एवं सिद्धान्त के विषय में कुछ सुधार अवश्य प्रस्तुत किया, किन्तु वह यथेष्ट नहीं था। आचार्य आनन्दवर्धन (नवम शती ई०) ने सर्वप्रथम उसके तीन भेदों—सामान्य

---

१. संगीत और काव्य के आनन्द का भेद, कविवर्य श्री नीलकण्ठ दीक्षित ने (१८वीं शती ईसवी) इस प्रकार किया है—

कर्णं गतं शुष्यति कर्ण एव संगीतकं सैकतवारिरीत्या।
आनन्दयत्यन्तरनुप्रविश्य सूक्तिः कवेरेव सुधासगन्धा॥

विशेष भाव, निमित्तनैमित्तिक भाव तथा साम्य भाव—का व्याख्यान किया। प्रतिहारेन्दुराज ने भामहालंकार टीका में इसके एक भेद का तथा अभिनव ने ध्वन्यालोक की टीका में उपर्युक्त तीनों भेदों का विधिवत् प्रतिपादन किया। अभिनव ने उदाहरण प्रस्तुत करके इन्हीं भेदों को पाँच रूपों में व्याख्यात किया, इसका व्याख्यान यथाप्रसंग तृतीय अध्याय में होगा। इस प्रकार मम्मटाचार्य के पूर्व समय तक अन्योक्ति का केवल यही स्वरूप हमारे समक्ष रहा—अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत का बोध। किन्तु मम्मट युग में राजानक तिलक ने सर्वप्रथम इसके पाँचों भेदों का विस्तृत व्याख्यान, उद्भटालंकार की स्वकृत टीका में किया और उन्हीं के समसामयिक आचार्य मम्मट ने राजानक तिलक प्रोक्त पाँचवें प्रभेद 'सारूप्य-निबन्धन' का पुनः दो दृष्टियों से षोढा विभाजन करके अन्योक्ति का क्षेत्र इतना विस्तृत कर दिया कि जाने कितने अन्य अलंकार भी इसी में विलीन हो गये।[1] वाङ्मय की दृष्टि से अन्योक्ति का यह विभाजन अत्यन्त यथार्थ एवं सूक्ष्म है। मम्मट के युग तक अन्योक्ति का विस्तृत आयाम जानने के लिए अधोनिर्दिष्ट सूची दी जा रही है:—

अन्योक्ति (अप्रस्तुत०)

१. कार्य प्रस्तुत, कारण अप्रस्तुत
२. कारण प्रस्तुत कार्य अप्रस्तुत
३. सामान्य प्रस्तुत विशेष अप्रस्तुत
४. विशेष प्रस्तुत सामान्य अप्रस्तुत
५. तुल्य प्रस्तुत तथा तदन्य तुल्य अप्रस्तुत

१. श्लेषमूलक साम्य
२. समासोक्ति मूलक साम्य
३. सादृश्य मात्र मूलक
४. वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का अनध्यारोप
५. वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप
६. आंशिकरूप से वाच्यार्थ में प्रतीयमानार्थ का अध्यारोप अनध्यारोप

इन भेद-प्रभेदों का सोदाहरण व्याख्यान तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत किया जायगा। किन्तु इतना अवश्य कहना है कि राजानक तिलक द्वारा उद्भावित तथा मम्मट द्वारा पल्लवित अन्योक्ति का यही स्वरूप आज तक मान्य है। इन्हीं भेदों में उसका समस्त वाङ्मय, उसकी समस्त रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, नवीनताएँ तथा अन्य विशेषताएँ भी समाविष्ट हैं। अतएव अन्योक्ति की सैद्धान्तिक परम्परा को स्थायी एवं टिकाऊ रूप देने में जहाँ पूर्व मम्मट युग के आचार्यों को श्रेय है, वहीं उसकी वाङ्मयीन परम्परा को भी मर्यादित एवं विकसित करने का सारा श्रेय तिलक एवं मम्मट को ही है।

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—उद्भटकृत 'काव्यालंकारसारसंग्रह' ५।१४ का राजानक तिलककृत व्याख्यान तथा मम्मट-प्रणीत काव्यप्रकाश, दशमोल्लास, अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार।

संस्कृत-साहित्य का पल्लवग्राहि (वैदिकसाहित्य, पुराणादि) तथा गहन दोनों (काव्य नाटक आदि) ही रीतियों से अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनमें प्राप्त होने वाला अन्योक्ति वाङ्मय प्रायः सारूप्यनिबन्धना की ही कोटि में आता है। अप्रस्तुत-प्रशंसा के प्रथम चार भेद मुख्यतः उसकी तकनीक (Technique) या उसकी शारीरिक बनावट से ही सम्बद्ध हैं। इसके विपरीत सारूप्यनिबन्धना की कोटि चूँकि लोकाभिव्यक्ति के अत्यन्त समीप तथा अनुकूल है, अतः अन्योक्ति के स्वतन्त्र वाङ्मय में उसी का सद्भाव है।

डॉ० संसारचन्द्रजी ने अपने शोधप्रबन्ध (हिन्दी काव्य में अन्योक्ति[1]) के छठें अध्याय में अन्योक्ति के विषय में लिखा है---"अलंकार सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक भामह (५५० ई०) माने जाते हैं।..... इनके अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा के सामान्य-विशेष, कार्य-कारण एवं सारूप्यनिबन्धना ये तीन भेद हैं जिनमें से अन्योक्ति अन्तिम भेद में समाहित होती है।" इस उद्गार के साथ-ही-साथ उन्होंने काव्यालंकार की ३।२९ संख्यक कारिका भी उद्धृत की है। किन्तु उनका यह मत उद्भावना मात्र है क्योंकि आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व तक अन्योक्ति का केवल एक ही स्वरूप आचार्यों को मान्य रहा। उस स्वरूप अथवा संज्ञा के विषय में भले ही भ्रान्तियाँ हुईं और इसी कारणवश भले ही अन्योक्तिस्वरूप-विषयक दो विचारधाराएँ[2] चल पड़ीं, किन्तु किसी भी रूप में उसका वर्गीकरण सामने नहीं आया।

शोधकर्त्ता द्वारा उद्धृत कारिका भी भामहालंकार में उस रूप में नहीं मिलती, साथ-ही-साथ छन्दोभंग होने के कारण वह गलत भी प्रतीत होती है। यदि आचार्य उद्भट के विषय में ऐसा मन्तव्य होता तो उनके व्याख्याता राजानक तिलक के सम्बन्ध वश कुछ हद तक इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता था किन्तु भामह के विषय में ऐसा मत देना, कौतूहल के साथ-ही-साथ आश्चर्य का भी विषय बनता है। इस विषय में आगे चलकर कुछ आलोचनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला जायगा। यहाँ प्रसंगोपात्त इस तथ्य को स्पष्ट करने में, केवल यह स्वारस्य है कि ध्वनिकार के युग तक 'अन्योक्ति' निर्विकार रूप में ही रही तथा अलंकार शास्त्र में केवल अलंकार रूप में आयी। तब तक के आचार्यों ने अन्योक्ति को केवल अलंकार की ही दृष्टि से देखा, साहित्य की दृष्टि से नहीं। इसके विपरीत अभिनव, तिलक एवं मम्मटादि ने इसके दोनों ही पहलुओं का सर्वप्रथम विश्लेषण किया-अलंकार तथा साहित्य के रूप में!!

---

१. पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच्-डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, १९६० ई०, पृ० २७५।

२. दो विचारधाराओं का तात्पर्य---१: भामह द्वारा उपदिष्ट अप्रस्तुतप्रशंसा की स्वतंत्र धारा, २: दण्डी द्वारा उपदिष्ट, समासोक्ति धारा से है जिसके अनुसार अन्योक्ति का विलयन समासोक्ति में हो जाता है।

अन्योक्ति के इस व्यावहारिक अथवा वाङमयीन विश्लेषण के पश्चात् हमें यह भी देखना है कि इसकी व्याप्ति कहाँ-से-कहाँ तक है। इस धारणा के उदित होते ही ऋग्वेद की ऋचाओं से लेकर आज तक का बहुविध साहित्य दृष्टि-पथ में आ जाता है। वेद का वाक् सूक्त मण्डूक सूक्त तथा इन्द्रवृत्र-वृत्तान्त[1], उपनिषदों का शरीर रूपक[2], पुराणों का भ्रमरगीत[3], रामायण-महाभारत के विविध दृष्टान्त, दशविधरूपक, महाकाव्य-खण्डकाव्य, कथा आख्यायिका, चम्पू तथा संग्रह ग्रन्थ[4], सब-के-सब अन्योक्ति का सौभाग्यसूचक पदक (Badge) लगाये, हमारे समक्ष आते हैं।

पूर्वानुच्छेदों में युक्तिपूर्वक स्पष्ट किये गये अन्योक्ति के पारिभाषिक दृष्टिकोण से जब हम अपने प्राचीनतम साहित्य पर ध्यान देते हैं तो यह तथ्य शंका-विविक्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि अन्योक्ति के तत्त्व पूर्णतः अथवा अंशतः वेदों में भी निबद्ध किये गये हैं। आधुनिक शोधों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि आर्य जाति किसी बाहरी प्रदेश से ही भारत में आयी और सर्वप्रथम सप्तसैन्धव प्रदेश में ही बसी। मोहन्जोदड़ो तथा हरप्पा की खुदाई में प्राप्त ध्वंसावशेषों तथा खननकार्याध्यक्ष श्रीयुत राखालदास बनर्जी आदि विद्वानों की घोषणाओं के अनुसार यह तथ्य भी प्रायेण मान्य है कि आर्यों के पूर्व हमारे देश में द्रविड़ या दास संज्ञक कोई जाति रहती थी। इस विषय में अपार साहित्य तथा प्रमाण रहने पर भी किसी भी देशी अथवा विदेशी विद्वान् का उद्धरण न देते हुए केवल यह कहना ही अपेक्षित है कि ऐसी स्थिति में जब आर्यों ने 'आर्यावर्त' बसा कर अपना जीवन सर्वप्रथम प्रारम्भ किया, तब उनके समक्ष अनगिनत दिव्य नवीनताएँ रही होंगी। भारतवर्ष की नदियाँ, प्राची का सूर्य, अनुरागिणी उषा, विविध प्रकार के पशु, दासों की समस्या, यहाँ के प्राकृतिक उपादान आदि आदि। उन्होंने जब प्रभातकाल में तप्त ताम्रपर्ण की प्रज्ज्वलित आभा से लसे सूर्य को उगते देखा होगा तो स्वभावतः क्षण भर के लिए उनकी आँखें प्रेम के कारण झँप गयी होंगी, शीश झुक गया होगा और मुख से कुछ अस्फुट, अव्यक्त ध्वनि, निकल पड़ी होगी। यही अव्यक्त किन्तु श्रद्धाभावयुक्त ध्वनि ही परिस्फुट एवं परिपक्व होने के बाद ऋग्वेद की ऋचा बनी।

प्राकृतिक उपादानों से आत्मीयता होने के कारण ही आर्य ऋषियों ने अपनी दिव्य

---

१. द्रष्टव्य, ऋग्वेद १०।१२५ (वाक्सूक्त) ७।१०३ (मण्डूक सूक्त) तथा १।३२, २।१२ आदि (इन्द्रसूक्त)।

२. द्रष्टव्य, कठोपनिषद्, अध्याय एक, वल्ली ३, श्लोक ३-४ (गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण)।

३. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध अध्याय ४७ (गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण)।

४. सुभाषितरत्नकोष, सदुक्तिकर्णामृत, शार्ङ्गधर-पद्धति, सूक्ति-मुक्तावली तथा सुभाषितावली आदि।

गीतियों में, उनका भी मानवीकरण करने का प्रयत्न किया। 'सोम' जिसका पान उनके लिए अमृत के समान था, वह पत्थर जिससे वे सोमाभिषव करते थे, वह कुश, वह यूप और मृगछाल, जिसका वे यज्ञ में उपयोग करते थे, सब को उन्होंने सजीव प्रतिमा के रूप में स्वीकार किया। प्रकृति के जिन-जिन उपादानों के प्रति उनकी श्रद्धा हुई, उसी-उसी को सर्वश्रेष्ठ गुणों से युक्त करके उन्होंने अपना हितैषी माना।

आर्यों की इस पद्धति के बहुमुखी परिणाम हुए। अनेक देवों को मान्यता देने के कारण बहुदेववाद (Polytheism or Pantheism), किसी एक को सर्वश्रेष्ठ मानने के कारण वरिष्ठदेववाद (Henotheism or Kathenotheism) तथा उन सबको किसी एक ही महाशक्ति से संग्रथित मानने के कारण बहुदेवनिष्ठ एकेश्वरवाद (Pantheistic Monotheism) जैसे वैदिक मतों का उदय हुआ[1]। इसी प्रकार प्रतिपाद्य रूप में प्राकृतिक पदार्थों के साथ ही इनका निबन्धन करते समय अनेकविध प्रतिपादन शैलियाँ भी उदित हुईं—कहीं वृत्तान्त का अभिधया प्रतिपादन, कहीं रूपकात्मक प्रतिपादन (Allegorical Composition) और कहीं केवल संकेतों अथवा प्रतीकों का प्रतिपादन (Symbolical Composition)।

यही प्रतिपादन शैलियाँ, वैदिकसाहित्य में अन्योक्ति-तत्त्व की सर्जना करती हैं। यद्यपि रूपकों, संकेतों अथवा प्रतीकों का हम अन्योक्ति के साथ न तो तादात्म्य ही मान सकते हैं और न अन्योक्ति में उनका अन्तर्भाव ही कर सकते हैं, जैसा कि डॉ० संसारचन्द्र जी ने माना और किया है तथापि वैदिक युग में अन्योक्ति की पूर्वपीठिका अथवा (पूर्वरंग, प्रस्तावना, पूर्वरूप) 'पूर्वाभास' के रूप में उसे स्वीकार किया जा सकता है। इन सबका अन्योक्ति के साथ साम्य क्या है और भेद क्या है, इन दोनों ही प्रश्नों की व्याख्या अगले अनुच्छेदों में की जायगी। किन्तु प्रस्तुत स्थल पर इतना कह देना उचित ही है कि स्थूल रूप से वैदिक रूपकों या प्रतीकों में अन्योक्ति तत्त्व मिलता है। स्थूल रूप कहने से एकमात्र अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मरीति से विचार करने पर तो अन्योक्ति के तीन प्रमुख तत्त्व हमारे समक्ष आते हैं:—

(१) प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के विशेषणों में असमानता।

(२) प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के इतिवृत्त में साम्य।

(३) वाच्य अप्रस्तुत द्वारा व्यंग्य प्रस्तुत का व्यंजनया बोध।

अब इन लक्षणों के आधार पर ही हमें अन्योक्ति का अस्तित्व देखना चाहिए। ऐसी बात भी नहीं है कि वैदिक वाङ्मय में इन तीनों लक्षणों से युक्त कोई उक्ति नहीं मिलती। आवश्यकता तो इस बात की है कि हम उसका विधिवत् अनुशीलन करके एक स्पष्ट निर्णय दें। जहाँ तक रूपकों, संकेतों एवं प्रतीकों का प्रश्न है, हम इनमें 'तकनीक' मात्र अपनाने के

---

१. द्रष्टव्य, Vedic Mythology by R. F. Zimmermann [Peterson's II Selection of Hymns from the Rgveda, Bombay 1938.]

कारण अन्योक्ति तत्त्व का अस्तित्व कह सकते हैं किन्तु वे अंश पूर्णतः अन्योक्ति ही हैं, ऐसा निर्णय देना या तो हमारे आत्मगौरव का परिचायक होगा अथवा अपरिपक्व ज्ञान का।

ऋक् संहिता, समस्त विश्व की प्राचीनतम ज्ञान सम्पत्ति है। अतः सर्वप्रथम वहीं से अद्यतन शोध भी प्रारम्भ होनी चाहिए। यद्यपि वेद अपौरुषेय हैं, तथापि ऋषियों द्वारा कण्ठस्थ करने तथा कराने की रीति से ही उनका परिरक्षण एवं परिवर्धन होने के कारण उसका आंशिक दायित्व उनके ऊपर आ ही जाता है। रसैकतानमानसता की स्थिति में, आर्य ऋषियों ने समाधिस्थ होकर तत्तत् विषयों से ऐसा गम्भीर तादात्म्य किया कि उनके समस्त गुण, उनकी समस्त विभूतियाँ, ऋषियों के मानस-पटल पर स्वयमेव प्रकाशित एवं अंकित हो गईं। प्रकृतिस्थ होने पर ऋषियों ने स्वयं अपने को उस विशिष्ट देवता विषयक गुणों एवं वैभवों से भरा-पूरा पाया। उन्होंने गुण तथा वैभव रूपी ज्ञान की इस पवित्र थाती को कहीं लिखा नहीं, क्योंकि वह तो एक 'दिव्य-ज्योति' के रूप में, उनके मस्तिष्क में स्थिर हो चुकी थी। अतः केवल पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे उस ज्ञान को बाँटते भर रहे। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः न तु कर्तारः' का यही तात्पर्य है।

अमूर्त प्रत्ययों (Unpicturable ideas) तथा प्राकृतिक उपादानों से सान्निध्य होने के कारण, ऋग्वेद में प्रतीकात्मक पद्धति आयी और यही पद्धति बहुत कुछ उसी रूप में पुराण युग तक निरन्तर बनी रही। ऋग्वेद में तो ऐसे स्थल असंख्य हैं जहाँ रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक रीति से भावाभिव्यक्ति की गयी है। 'इन्द्र तथा वृत्र' सम्बन्धी आख्यान जो अपने प्रतीकों के लिए बहुत प्रसिद्ध हो चुका है, ऋग्वेद में कई बार आता है।[१] प्रथम मण्डल के बत्तीसवें सूक्त की दूसरी ऋक् के अनुसार इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेने वाले सर्प को मारा तथा सरित् धाराओं को उसके चंगुल से छुड़ाकर समुद्र की ओर प्रेरित कर दिया।[२] इसी मण्डल तथा सूक्त की ग्यारहवीं ऋक् के अनुसार इन्द्र द्वारा वृत्र-वध तथा जल को स्वतंत्र करने का प्रसंग पुनः आया है। किन्तु यहाँ वृत्र की उपाधि 'अहि' के स्थान पर 'दास' रूप में आयी है। वृत्र द्वारा निरुद्ध जलराशि की उपमा पणियों द्वारा निरुद्ध गायों से दी गयी हैं।[३]

श्रीमद्भागवत के छठें स्कन्ध में भी (अध्याय सात से तेरह तक) वृत्रासुर की कथा आयी है। एक बार इन्द्र पर कुपित होकर देवगुरु बृहस्पति स्वर्गलोक से बाहर चले गये। इन्द्र ने दैत्यों के भय से ब्रह्मा के आदेशानुसार त्वष्टा देवता के परमज्ञानी पुत्र विश्वरूप को अपना नया पुरोहित बनाया। किन्तु विश्वरूप आंशिक रूप से दैत्यों का पक्ष लेता था, इस

---

१. द्रष्टव्य, ऋग्वेद १।३२, २।१२।

२. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥

३. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार॥

कारण इन्द्र ने क्रुद्ध होकर उसका शिरश्छेद कर दिया। पुत्र-वध से संतप्त त्वष्टा के क्रोध की सीमा न रही। उन्होंने अपने यज्ञ-प्रभाव से एक विकराल वेषवाला, महाबली तथा इन्द्रशत्रु दानव पैदा किया, वही वृत्रासुर था।[1] वृत्र के अपार बल से भयभीत होकर देवगण, विष्णु की शरण में गये और अन्त में उन्हीं के मन्तव्यानुसार महर्षि दधीचि की हड्डियों से बनाये गये वज्र द्वारा इन्द्र ने भयानक संग्राम में उसका वध किया।

किन्तु ऋग्वेद में इसके विविध-रूपक प्रस्तुत किये गये हैं। इन्द्र द्वारा, वृत्र-वध रूप दृष्टान्त का स्पष्टीकरण, आचार्य सायण ने मेघपरक अर्थ लेकर किया है। उक्त वैदिक सूक्त में वे कई स्थानों पर अपना मत दुहराकर पुष्ट करते हैं—

'तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ता : आपः समुद्रमंजः सम्यगवजग्मुः प्राप्ताः। तत्र दृष्टान्तः। वाश्रा वत्सान् प्रति हम्भारवोपेता धेनव इव। यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति, तद्वत्' (१।३२।२)

अपां यद्बिलं प्रवहणद्वारमपिहितं वृत्रेण निरुद्धमासीत् तद्बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान्, हतवानिन्द्रोऽपववार, अपवृतमकरोत् (१।३२।११)।

इस प्रकार सायणाचार्य के मतानुसार इन्द्र तथा वृत्र का यह इतिवृत्त एक वर्षाकालीन प्राकृतिक दृश्य का प्रतीक है। इस वृत्तान्त की रूपकात्मक मान्यता सायण की अपनी उद्भावना नहीं, प्रत्युत जैसा कि उन्होंने इस सूक्त की दशम ऋक् में उद्धृत किया है—

'अत्र यास्कः।......इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रो, मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुरः इत्यैतिहासिकाः (निरुक्त २।१६) इति।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि यास्काचार्य (ई० पू० ७००) के युग तक वैदिक अर्थावगम की दो पद्धतियाँ प्रचलित हो चुकी थीं—निरुक्त पद्धति तथा इतिहास अथवा पुराण पद्धति। किन्तु यदि हम आधुनिक दृष्टि से विचार करें तो सनातन, पाश्चात्य तथा आर्यसमाजी परम्पराएँ भी हमारे समक्ष आती हैं और तब 'इन्द्रवृत्र' का यह वृत्तान्त एक और 'प्राकृतिक रूपक' प्रस्तुत करेगा—'सूर्य द्वारा हिमालय की विशाल हिमराशि का पिघलाया जाना।'[2]

इस दृष्टि से ऋग्वेद में सरमापणि संवादसूक्त (१०।१०८) विश्वामित्र-नदी संवाद सूक्त (३।३३), सार्पराज्ञी सूक्त (१०।१८९) मण्डूक सूक्त (७।१०३) वाक् या देवीसूक्त

---

१. **हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे। इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम्॥११
अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः। कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा॥१२
येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना। स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥१३
—(श्रीमद्भाग० ६।७-१३)**

२. द्रष्टव्य Vedic Mythology by R. F. Zimmermann [Peterson's II Selection, Bombay 1938]

(१०।१२५) आदि सब-के-सब प्रतीकात्मकता के ही दायरे में आते हैं। वाक्सूक्त में अम्भृण ऋषि की कन्या, परब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करके उद्गार व्यक्त करती है। उसका यह कथन—

'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्' आदि स्वयं उसका नहीं, प्रत्युत ब्रह्म की ही शक्ति का प्रस्तुतीकरण है। चाहे हम वाक् सूक्त को उस प्रस्तुत ब्रह्मशक्ति व्याख्यान का प्रतीक मानें या संकेत मानें, दोनों ही सम्भव हैं। इसी प्रकार का एक विस्तृत, साथ-ही-साथ उलझा हुआ गूढ़ रूपक सूर्यासावित्री (ऋग० १०।८५) का है जिसे सूर्या अपने ही विवाह- वर्णन के रूप में प्रस्तुत करती है।

यद्यपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के रूप में ही 'वेद' को गृहीत किया जाता है, किन्तु जब विस्तृत अर्थ में हम वैदिक वाङमय का ग्रहण करते हैं तो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा समस्त वेदांग-शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष तथा छन्द भी उसमें अवबुद्ध होते हैं। आरण्यक तथा उपनिषद्, प्रायेण वैदिक ब्राह्मणों के ही अंशभूत हैं। प्रातिशाख्य (शिक्षाग्रन्थ), कल्पसूत्र (कल्पग्रन्थ), निघण्टु (निरुक्तग्रन्थ) अष्टाध्यायी प्रभृति ग्रन्थ (व्याकरण) तथा ज्योतिष-छन्द सम्बन्धी ग्रन्थ, साथ ही इनका समस्त साहित्य भी वेदांगों में ही आता है। इसके अतिरिक्त इतिहासवेद (ऋक्०) धनुर्वेद (यजु०), गान्धर्ववेद (साम०) तथा आयुर्वेद (अथर्व०) ये चारों उपवेद भी वैदिक साहित्य के ही अंग हैं। अतः इन वेदांगों में भी अन्योक्ति का अस्तित्व देख लेना उचित ही होगा।

मुण्डकोपनिषद् (तृतीय मुण्डक, प्रथम खण्ड) में वृक्ष एवं पक्षिद्वय के माध्यम से निरूपित, आत्मा-परमात्मा का विवेक इन वैदिक (ऋग्वेद) दृष्टान्तों से कहीं अधिक स्पष्ट तथा 'अन्योक्ति' के भी अधिक समीप है। यह दृष्टान्त इतना प्रभावशाली तथा यथार्थवेदी है कि परवर्ती वाङमय में भी अविकल रूप में वह प्रतिपादित होता रहा।[1]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

यहाँ (उपनिषद् में) वास्तव में प्रसंग है, आत्मा-परमात्मा के पार्थक्य-प्रदर्शन का। अतः यही इतिवृत्त प्रस्तुत है। किन्तु वृक्ष तथा पक्षियों का वृत्तान्त अप्रस्तुत या अप्रासंगिक है, साथ-ही-साथ वाच्य भी है। इन दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त शेष बचा अन्योक्ति का तीसरा मुख्यतम तत्त्व—अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का व्यंजनयावबोध। इतिवृत्त साम्य के कारण यहाँ वह भी सम्भव है, अतः यहाँ रूपकात्मक अन्योक्ति भी मानी जा सकती है।

---

१. द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत ११।११।६ तथा गीता १५।२, ३, ४।
सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयेतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
—श्रीमद्भा०

प्रस्तुत पद्य में दोनों 'सुपर्णा' का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा से, सयुजा का अर्थ साथ रहने वाले, 'सखाया' का तात्पर्य समानाख्यान वाले (आत्मा-परमात्मा का ही अंश होता है) से है। तथा वे एक ही 'वृक्ष' अर्थात् शरीर में रहने वाले हैं। 'पिप्पल' का अर्थ है—कर्मनिष्पन्न तथा सुख-दुःख लक्षणों से युक्त फल। 'अनश्नन्नन्यः' का संकेत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले ईश्वर के लिए है। इस प्रकार एक पक्षी संसारी-जीव का प्रतीक है तो दूसरा संसार-मुक्त ईश्वर का प्रतीक। भाष्यकार श्रीशंकराचार्य जी के भी अनुसार इस पद्य में मुख्य (प्रस्तुत) वस्तु है—'तत्त्वनिर्धारण' किन्तु वह साक्षात् रूप से न कहा जाकर एक-दूसरे ही प्रकार से (रूपक के माध्यम से) व्यक्त किया गया है।[१]

वेदों तथा उपनिषदों में प्रतिपादित यह प्रतीकवाद धीरे-धीरे वैशद्य भाव को प्राप्त होता गया। पौराणिक साहित्य में, इसका स्वरूप पहले की अपेक्षा और भी प्रांजल एवं परिनिष्ठित हो गया। यद्यपि, उदाहरण देने के लिए पुराणों की विशाल संख्या हमारे समक्ष है, किन्तु एक ही उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट किया जाता है। समस्त पुराण-साहित्य का रत्नभूत श्रीमद्भागवत, जिसे वेद रूपी कल्पतरु का परिपक्व फल कहा जाता है,[२] समस्त मानवीय व्यवहारों का भण्डार है। भगवान् कृष्ण की मधुर लीलाओं से ओत-प्रोत, इसका दशम स्कन्ध 'भ्रमर-गीत' का प्रसंग (अध्याय ४७) प्रस्तुत करता है। प्रणय में डूबी गोपियों को छोड़कर, कृष्ण मथुरा चले जाते हैं, कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए। किन्तु बचपन की सखियाँ, राधादिक गोपिकाएँ तथा यशोदा का मातृ-हृदय उन्हें रह-रह कर उन्मन बना देता है। वे उद्धव से सन्देश भेजते हैं—व्रजवासियों को समझाने के लिए। उद्धव भी गोपियों को श्रीकृष्ण का 'परब्रह्मरूप' समझाना चाहते हैं किन्तु गोपियों की उफनती हुई प्रणय-सरिता में योग के शिलाखण्ड रुक नहीं पाते। गोपियाँ 'भौंरे' के बहाने कृष्ण की निष्ठुरता के लिए अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं हृदयावर्जक उपालम्भ प्रस्तुत करती हैं। श्रीमद्भागवत का यही अंश 'भ्रमर-गीत' कहा जाता है। एक चित्र देखिए—

> **किमिह बहु षडङ्घ्रे ! गायसि त्वं यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।**
> **विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥१४**

अर्थात् हे भ्रमर, कहाँ तो हम वन में निवास करने वाले, अकिञ्चन व्यक्ति और कहाँ श्रीकृष्ण, यदुओं के अधिपति ! फिर उनका 'पुराण' अर्थात् चरित्र हम लोगों के समक्ष क्यों गा रहे हो ? अरे यदि गुणगान करना ही था तो मधुपुर की ललनाओं के समक्ष उनका प्रसंग

---

१. प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते। अत्यन्तदुरवगाहत्वात्कृतमपि। तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते (तृतीय मुण्डकारम्भ)।

२. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

सुनाते, जिनके उरोजों का रोग विनष्ट हो चुका है (अर्थात् जो नित्य मनमोहन के साथ रमण कर रही हैं) प्रसन्न चित्त वाली वे अवश्य ही तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण करतीं !

यहाँ स्पष्टतः अन्योक्ति के तत्त्व विद्यमान हैं। भगवान् कृष्ण तथा भ्रमर के विशेषणों में साम्याभाव, इतिवृत्त में साम्य तथा अप्रस्तुतवाच्य द्वारा प्रस्तुत को व्यंजना, अन्योक्ति की ये तीनों ही वृत्तियाँ इस पद्य में द्रष्टव्य हैं। अतः इसका प्रस्तुत-परक अर्थ इस प्रकार होगा—

हे श्याम (उद्धव के मुँह से) कहाँ तो तुम यदुओं के सर्वस्व और कहाँ हम लोग वनवासिनी, दरिद्र अबलाएँ ! तो फिर क्यों, हमारे समक्ष, अपनी बातें (उद्धव द्वारा प्रेषित सन्देश) सुना रहे हो ? यदि सुनाना ही है तो मथुरा की युवतियों को सुनाओ, जिनके साथ निरन्तर रमण करके श्रीमान् ने उनके कुचों का रोग शान्त कर दिया है। प्रसन्न चित्त वाली वे तुम्हारा अभीष्ट पूरा करेंगी।

प्रस्तुत श्लोक के प्रत्येक पद व्यंजनापूर्ण हैं। अधिपति तथा अगृह शब्द का सुस्पष्ट विरोध तथा 'षडङ्घ्रि' (भ्रमर का प्रेम स्थिर नहीं होता[1] है, यह बात लोक-प्रसिद्ध है) शब्द का उपादान, सब-के-सब मानो गोपियों की घनीभूत अन्तर्व्यथा को प्रकट करने में बद्ध-परिकर हैं।

अस्तु, यह उदाहरण सर्वात्मना, अन्योक्ति पद्धति का ही अनुकरण करता है। इस उद्धरण के साथ ही अब अन्योक्ति की प्राचीनता दिखाने का प्रसंग समाप्त होता है। क्योंकि पल्लव-ग्राहि रीति से, ऋग्वेद, मुण्डकोपनिषद् तथा श्रीमद्भागवत के उदाहरण प्रतिपाद्य तथा प्रतिपादन शैली दोनों ही दृष्टि से युगान्तर सूचक हैं। वेद में अन्योक्ति का जो रूप हमने 'प्रतीक या रूपक' में देखा, उसी को उपनिषद् में अस्फुट या किञ्चित्स्फुट-अन्योक्ति के रूप में तथा पुराण में स्पष्टतः अन्योक्ति के रूप में प्राप्त किया। प्रतिपादन शैली के इस नव्य परिवर्तन से अन्योक्ति तत्त्व का विकास स्वयमेव उद्भासित हो उठता है।

इस प्रकार प्राचीन साहित्य में 'अन्योक्ति' का स्वरूप क्रमशः अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम रूप में प्राप्त होता है। पहले का अस्तित्व वैदिक गूढ़ोक्तियों में तथा दूसरे, तीसरे तथा अन्तिम का श्रीमद्भागवत एवं रामायण प्रभृति ग्रन्थों में प्राप्त होता है। किन्तु जैसा कि आचार्य रुद्रट के प्रामाण्य से अन्योक्ति का स्वरूप व्यवस्थित किया जा चुका है, उससे 'अन्योक्ति' एक निजी वैशिष्ट्य वाली वस्तु सिद्ध होती है। उसकी अपनी मर्यादाएँ तथा पारिभाषिक विशेषताएँ हैं, जो कि रूपक प्रभृति समान तत्त्वों में कभी प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव रूपक, संकेत, प्रतीक तथा पहेली तक को भी इसी में अन्तर्भूत करते हुए डॉ० संसारचन्द्र जी ने अन्योक्ति का जो स्वरूप निश्चित किया है, उससे अनेक भ्रान्तियाँ पैदा हो जाती हैं, इसी कारण अब एक नवीन प्रसंग का श्रीगणेश किया जा

---

१. द्रष्टव्य, इसी अध्याय का श्लोक ६

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्स्विव षट्पदैः ?॥

रहा है। इस विषय में एक सुस्पष्ट एवं तर्कयुक्त धारणा यह है कि कोई भी वस्तु, अपनी मर्यादा में रहकर ही श्रीलाभ कर पाती है। 'अन्योक्ति' यद्यपि जनसमुदाय के बीच इतनी प्रचलित तथा सम्मानित है कि पग-पग पर हमें उसके रहने या न रहने का विचार करना पड़ता है। किन्तु ऐसी दशा में शोधकर्ता का कर्त्तव्य है कि वह उस वस्तु विशेष का नीर-क्षीर विवेक प्रस्तुत करे। ऐसे अवसरों पर क्षमाशीलता, सूक्ष्म अध्यवसाय तथा गहन चिन्तन की अपेक्षा रहती है। डूबने उतराने से केवल अपना खोखलापन व्यक्त होता है, कोई आदर भी नहीं प्राप्त होता। काव्यालंकार (रुद्रटकृत ७।७) की टीका में टीकाकार आचार्य नमिसाधु ने रसास्वादन के लिए विह्वल महाकवियों का एक व्यंग्यचित्र इस प्रकार खींचा है—

गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभङ्गं क्षयं न वार्थस्य।
रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च॥

अतः इस दार्ष्टान्तिक सत्य की जवनिका में बैठकर यदि कोई विद्वान् यश की कामना करे तो उसके लिए एक कठोर-परीक्षा का विधान है और वह परीक्षा है 'विस्तृत अध्ययन के साथ ही साथ संयत लेखन।'

डॉ० संसारचन्द्र जी का शोध-कार्य यद्यपि है तो हिन्दी भाषा से सम्बद्ध। किन्तु उसकी दो तिहाई सामग्री संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य से भी सम्बद्ध है। प्रतिपाद्य सम्बन्धी यह विवशता उन्होंने स्वयं पुस्तक के 'दो शब्द' (पृ० ९) में स्वीकार की है। हिन्दी भाषा में, अन्योक्ति विषयक जो भी योगदान शोधकर्ता का है, वह हमारा आलोच्य विषय नहीं किन्तु संस्कृत एवं अंग्रेजी-साहित्य से सम्बद्ध उनका अन्योक्ति-विषयक मत अवश्य ही परीक्षणीय है। इस दृष्टि से ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उनके मतों का यथोचित निरूपण किया जायगा। ताकि मतवैषम्य न रह जाय, अथवा यदि रहे भी तो एक सुदृढ़ आधार-शिला पर!! प्रतीकादि तत्वों के सूक्ष्म ज्ञान के लिए अंग्रेजी एवं संस्कृत साहित्य के अन्तराल में पहुँचना आवश्यक है, क्योंकि प्रतीक योजना, दोनों ही साहित्यों में अत्यन्त प्राचीन प्रक्रिया है।

किन्तु यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वैदिक वाङ्मय में उपनिबद्ध संकेत अथवा प्रतीक पद्धति विश्व के किसी भी प्राचीन वाङ्मय की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। अन्तर केवल यह है कि संस्कृत-साहित्य में, चाहे वेद पुराण एवं अन्यान्य शास्त्रों में वर्णित प्रतीक पद्धति हो और चाहे प्रबोधचन्द्रोदयादि नाटकों में वर्णित, किन्तु उसका सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से कभी अध्ययन नहीं किया गया। कथा, आख्यायिका एवं पहेलियों तक का विवेचन हमें भामहादि प्रणीत लक्षण ग्रन्थों में प्राप्त होता है, क्योंकि वे सब के सब काव्य के अंग माने गये हैं। किन्तु प्रतीक-संकेत का गुण, अलंकार एवं रस के समकक्ष कोई विवरण किसी स्वतन्त्र लक्षण ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसका एकमात्र कारण यह है कि भारतीय अलंकार शास्त्र में स्थित जितने भी विवेचन हैं वे सब-के-सब काव्य की

ही दृष्टि से सम्पन्न हुए हैं। अलंकार, गुण, रीति, रस, औचित्य, अभिधा प्रभृति शब्द-शक्तियाँ लक्षण, दोष इत्यादि समस्त काव्य तत्व किसी-न-किसी रूप में शब्द एवं अर्थ (काव्य) से सम्बद्ध होने के ही कारण, लक्षण ग्रन्थों में निबद्ध किये गये हैं। प्रतीक और संकेत योजना वस्तुतः संस्कृत काव्य-शास्त्र में व्याख्यात, कुछ अलंकारों में ही अन्तर्भूत हो जाती है और उसका अधिकांश तो अन्योक्ति में ही प्राप्त हो जाता है। सम्भवतः इसी कारण भामहादि आचार्यों ने इन तत्वों का पृथक् विवेचन नहीं किया। इसी प्रकार अन्य व्याख्येय तत्व भी किन्हीं-न-किन्हीं काव्य अथवा नाट्य तत्व में ही अन्तर्भूत होने योग्य हैं। यथावसर, इसे प्रदर्शित किया जायेगा।

अंग्रेजी साहित्य में इसके विपरीत इन तत्वों का अध्ययन पृथक् रूप से एक विशिष्ट काव्य पद्धति के स्तर पर किया गया है। डा० संसारचन्द्र जी ने भी आयरनी (Irony) तथा सेटायर (Satire) आदि तत्वों का विवेचन अंग्रेजी साहित्य की ही दृष्टि से किया है। उन्होंने प्रतीक, संकेत तथा रूपक सब को अन्योक्ति का ही स्वरूप माना है। इस विषय में समस्त शोधग्रन्थ में बिना पुनरावृत्ति की अपेक्षा किये, उन्होंने अनेकशः अपना मन्तव्य उपस्थित किया है।[1] किन्तु उस विस्तृत विवेचन में कहीं भी उनका सिद्धान्त पक्ष स्पष्ट नहीं हो पाता। हमारा अभिप्राय यह है कि तुलनात्मक रूप से विद्वान् शोधक ने कहीं भी अन्योक्ति तथा रूपक (Allegory) का पृथक् स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया है। हाँ, द्वितीय अध्याय के (अन्योक्ति स्वरूप और महत्व) पृ० ६८ पर उन्होंने 'प्रतीक' तथा 'संकेत' शब्दों की व्याख्या कोष एवं भाषा विज्ञान की दृष्टि से अवश्य की है। उनकी इन समस्त विवेचनाओं का एकमात्र लक्ष्य है—संकेत, प्रतीक, रूपक तथा प्रतीकात्मक समस्त रचनाओं को भी 'अन्योक्ति' से अभिन्न स्वीकार करना। पृ० १४८ (द्वितीय अध्याय) पर उन्होंने लिखा है—

'इसलिए हमारे विचार से प्रस्तुत-अप्रस्तुत का विवाद न उठाकर, अन्य अर्थ की प्रतीति में अन्योक्ति पद्धति को स्वीकार कर लेना चाहिए। सांकेतिक कथाओं के अतिरिक्त आजकल प्रतीकात्मक भाषा में लिखी जाने वाली भावात्मक गीतिकायें भी अन्योक्ति पद्धति में अन्तर्भुक्त होती हैं, क्योंकि वे प्रबन्धगत हैं।' पद्धति से उनका तात्पर्य अन्योक्ति का मुक्तकबद्ध न होकर व्यापक बन जाना है (द्र० पृ० ४७, अध्यायारम्भ, अन्योक्ति पद्धति का स्वरूप शीर्षक)।

पृष्ठ १५९ (चतुर्थ अध्याय) पर 'महाभारत तथा उसके संकेत' शीर्षक में उनका एक वक्तव्य इस प्रकार है—'स्वयं भगवद्गीता जो महाभारत का ही एक भाग है, उपनिषद् कही जाती है। उपनिषद् 'रहस्य' को कहा जाता है और गीता का रहस्य यह है कि वह प्रस्तुत कौरव पाण्डवों के ऐतिहासिक वृत्तान्त की पृष्ठभित्ति पर मानव-जीवन की आध्यात्मिक समस्या और उसके हल की ओर भी संकेत कर देती है। इसलिए महाभारत एक वृहद् अन्योक्ति है।'

---

१. द्रष्टव्य, पृ० १२, १४, ४०, ४७, ५९, ६१, ६८-७६, ८०-८२, ९२-९६, १४७ १७० (समस्त चतुर्थ अध्याय) पृ० १८२-२७४। (प्रथम संस्करण १९६० ई०)।

पृष्ठ ९५-९६ पर (तृतीय अध्याय 'वेदों में अन्योक्ति' शीर्षक) श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५ (अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां आदि) तथा ऋग्वेद' ४।५८।३ (चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा आदि) पद्यों की प्रतीकात्मकता स्वीकार करने के बाद भी उन्होंने विवेचनोपसंहार में लिखा है—'इसी तरह संसार की भी चक्र नदी आदि के रूप में कितनी ही अन्योक्तियां उपनिषदों में भरी पड़ी हैं (पृ०९७)।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार प्रतीक पद्धति तथा अन्योक्ति पद्धति में कोई अन्तर नहीं। इस तथ्य की स्थापना के लिए लेखक का एक मन्तव्य और अवधेय है। प्रथम अध्याय में पृ० १४ पर 'अन्योक्ति पद्धति' शीर्षक की व्याख्या में उनका कथन है—'इस तरह वहाँ तो अन्योक्ति कवि की एक प्रकार की शैली ही बन जाती है और वह अपने प्रस्तुतों को छिपा हुआ ही रखकर प्रतीकों और संकेतों द्वारा उनको अभिव्यक्त करता है। जैसा कि हम रहस्यवाद छायावाद में पाते हैं। पद्धति से अभिप्राय अन्योक्ति का मुक्तक रूप में प्रयोग न होकर व्यापक रूप में प्रयोग होने से है। अंग्रेजी में इसे एलिगरी (Allegory) कहते हैं।' आगे चलकर उन्होंने इसी प्रसंग में यह भी तथ्य स्वीकार किया है-पैरेबल (Parable), फेबुल (Fable) या मोटिफ (Motif) भी एलिगरी के ही छोटे रूप हैं। अस्तु—

डॉ० संसारचन्द्र जी ने अपनी इस मान्यता के बल पर समस्त वैदिक साहित्य में प्राप्त, प्रतीकात्मक तथा संकेतात्मक रूपकों को अन्योक्ति रूप माना है। इतना ही नहीं, वरन् मानवीकरणात्मक समासोक्ति, अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नान्दी[2] तथा मुकरियाँ पहेलियाँ[3] भी उनके मतानुसार पूर्णतः अन्योक्ति हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या उनकी इन उद्भावनाओं को मान्यता दी जा सकती है? इस विषय में उनके ग्रन्थों के अध्ययन के ही आधार पर हम दो निर्णय प्रस्तुत कर सकते हैं—एक तो यह कि—

> प्रतीकात्मक रूपकों को अन्योक्ति-पद्धति में समाविष्ट करना लेखक का कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचन है, जिसे हम प्रामाणिक युक्तियों से सिद्ध करके, दोनों पद्धतियों की सरणि स्पष्ट कर सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य, शोधप्रबन्ध का तृतीयाध्याय, पृ० ९८ (सुन्दरकाण्ड में हम लंका का भी मानवीकरण पाते हैं—द्वितीय सर्ग, श्लो० १८, २० तथा ५०। इस तरह हमको आदि महाकाव्य रामायण में समासोक्ति रूप में अन्योक्ति के दर्शन हो जाते हैं)।

२. द्रष्टव्य वही, पृ० १०० (इसकी : शकुन्तला की : या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, यह प्रारम्भिक मंगल गीतिका ही अन्योक्ति है) इस विषय में उन्होंने प्रभाकर माचवे-कृत 'व्यक्ति और वाङ्मय', पृ० २० का साक्ष्य भी दिया है।

३. अध्याय ३, प० १०९ पहेलियाँ एक प्रकार की अन्योक्तियाँ ही हुआ करती हैं। मुकरी में पहेली अथवा अन्योक्ति का अर्धविकास ही रहता है इसलिए इसे अर्ध-अन्योक्ति कहेंगे।

दूसरा यह कि—

पहेलियों, मुकरियों तथा नान्दीपाठों को भी बेधड़के अन्योक्ति मान लेना लेखक का साहस मात्र है, क्योंकि उनका क्षेत्र अन्योक्ति से सर्वथा दूर एवं पूर्णतः विविक्त है।

वस्तुतः शोधकर्ता की सन्दिग्ध मान्यताएँ ही उसके विवेचन को शंकास्पद बना देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० संसारचन्द्र जी ने शोधग्रन्थ के अनेक अंश भावुकता में ही लिखे हैं और इसी कारण उन अंशों में अनपेक्षित अतिशयोक्तियों एवं अवांछित प्रशस्तियों के भाव दिखाई पड़ते हैं। ग्रन्थ में कहीं-कहीं पर अपने ही द्वारा प्रत्याख्यात विचारों को दूसरे स्थान पर समर्थित किया गया है। अतः इसके पूर्व कि उनके शोध प्रबन्ध में विद्यमान उपर्युक्त दोनों समस्याओं पर कुछ विचार किया जाय, एक उदाहरण में लेखक के विरुद्ध मतों का उपन्यास देख लेना ठीक है जो कि अन्योक्ति से ही सम्बद्ध है। तृतीय अध्याय के पृ० ९१ पर डॉ० संसारचन्द्र जी ने लिखा है—'कुछ समीक्षक अन्योक्ति का भाव-व्यंजना अथवा रसानुभूति में योग न मान कर उसको वस्तुध्वनि और सिद्धान्तप्रतिपादन तक सीमित रखते हैं, किन्तु उनके इस विचार को हम एकदेशी कहेंगे।'

प्रस्तुत वक्तव्य के दो मुख्य तत्त्व, परस्पर इतने विरुद्ध हैं कि आश्चर्य होता है इनके प्रतिपादन पर। भला बताइये जो वस्तु (अन्योक्ति) एक सुदृढ़ सिद्धान्त पर आधारित है तथा वस्तुध्वनि देने में सर्वथा समर्थ है, उसका भावव्यंजना अथवा रसानुभूति में योग कैसे न होगा? जबकि ध्वनिकार ने स्वयं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' आदि द्वारा वाच्यातिशायी प्रतीयमानार्थ की स्थापना करने के बाद ही उस व्यंग्यार्थ का त्रैविध्य स्पष्ट किया है—**'स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्।''**—(ध्वन्या० कारिका ४ की वृत्ति)।

और इसी प्रसंग में लोचनकार आचार्य अभिनव ने भट्टनायक के उस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन भी किया है, जिसके अनुसार वे ध्वनि को काव्यात्मा नहीं मानते थे। उनका मत था—काव्येंऽशत्वं न रूपता' अर्थात् ध्वनि काव्यात्मा नहीं हो सकती, हाँ अंशमात्र हो सकती है। किन्तु चूँकि वे 'अभिधा तथा भावना' इन दोनों व्यापार से भिन्न रसचर्वणात्मक भोजकत्व व्यापार मानते थे, अतः ऐसी दशा में रसध्वनि का निषेध उनका स्वमत विरुद्ध प्रतिपादन हुआ। अभिनव ने तुष्यद्दुर्जनन्यायेन, भट्टनायक का आक्रोश 'वस्तु तथा अलंकार ध्वनि' पर मान लिया, किन्तु ज्योंही उन्होंने 'भोजकत्व व्यापार' द्वारा भट्टनायक का खण्डन किया, उसी समय तत्काल इन दोनों ध्वनियों की रसात्मकता भी सिद्ध कर दी—**'यदूचे भट्टनायकेन वस्त्वलंकारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्।' (लोचन)**

इस प्रकार 'रसध्वनिपर्यन्तत्वमेव' में 'एवकार' के प्रयोग द्वारा, आचार्य ने 'वस्तुध्वनि की रसतत्परता' पर मुहर लगा दी। और जब वस्तुध्वनि का मुख्य लक्ष्य रसानुभव ही कराना

है तो भावव्यंजना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि रस की तुलना में भाव सर्वदा अनुयायी तथा गौण ही रहते हैं।[1] अब बताइये कि कौन ऐसा समीक्षक होगा जो अन्योक्ति को वस्तुध्वनि तथा सिद्धान्त प्रतिपादन तक परिसीमित करता हुआ भी भाव-व्यंजना तथा रसानुभूति में योग ही न मानेगा?

दूसरा तर्क, इस वाक्य को व्यंजना से सम्बद्ध है, अर्थात् अन्योक्ति का क्षेत्र रसानुभूति तक विस्तृत होना चाहिए। किन्तु डा० संसारचन्द्र जी ने वस्तुध्वनि सम्बन्धी कोई भी विवरण न प्रस्तुत करके, उक्त मत वाले विद्वान् का केवल यह कहकर खण्डन किया है कि—

'प्रतीकों द्वारा किसी वस्तु के व्यंग्य बना देने मात्र से काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। व्यंग्य को सदा सौन्दर्यपूर्ण और अनुभूति प्रधान होना चाहिए। तभी वह ध्वनि-कोटि में आएगा, जो काव्य का प्रमुख तत्व कहलाती है। इसलिए अन्योक्ति की अप्रस्तुतयोजना ऐसी होनी चाहिए, जिससे रसदीप्ति हो और वह पाठकों को आनन्दविभोर कर दे।' (तृतीयाध्याय, पृ० ९२)।

डॉ० संसारचन्द्र का अन्योक्ति विषयक प्रस्तुत मत वस्तुतः अभिनन्दनीय है किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है, जिन प्रतीकों के विरुद्ध उन्होंने अपना यह अन्योक्ति सापेक्ष मत प्रस्तुत किया, उसी को पुनः अन्योक्ति से अभिन्न कैसे स्वीकार किया? इसी प्रकार जिन पहेलियों को (अ० ३ पृष्ठ १०९) उन्होंने यह कह कर सम्मान दिया है—

'पहेलियाँ एक प्रकार की अन्योक्तियाँ ही हुआ करती हैं आदि' उसी के प्रति पृष्ठ ९२ पर लेखक के ये शब्द हैं—'हाँ, कुछ अन्योक्तियाँ ऐसी भी हुआ करती हैं, जिनमें प्रयोक्ता का अभिप्राय वस्तु को छिपाकर दुरूह प्रतीकों द्वारा ही अभिव्यक्त करना होता है। उनमें कोई हृदय की अनुभूति अथवा रागात्मक सम्बन्ध नहीं होता, केवल बुद्धि का चमत्कार रहता है। ऐसी अन्योक्तियों को हम पहेली वर्ग के भीतर रखेंगे।'

यह वाक्य अपने में ही असंगत-सा प्रतीत होता है। क्योंकि इसमें जिन शब्दों में पहेलियों का अपकर्ष अंकित किया गया है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्योक्ति पहेलियों की अपेक्षा कोई इतर-उत्कृष्ट तत्व है और यदि हम अन्योक्ति की 'रसध्वनि-पर्यन्तता' पर विचार केन्द्रित करके लेखक का पूर्वोद्धरण देखें, तो लगता है कि वास्तव में अन्योक्ति का, पहेली जैसे चित्रकाव्य से कोई साम्य नहीं है। अतः शोधकर्ता विद्वान् मौलिक रूप से पृथग्भूत, इन तत्वों के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा खींच सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्त एवं वस्तुध्वनि में ही सीमित अन्योक्ति को, सर्वगोचर, सर्वग्राह्य एवं सायाम बनाने के ही निमित्त लेखक ने प्रतीकों एवं पहेलियों को भी अन्योक्ति के घेरे में खींच लिया।

---

१. मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।
ते भावशान्त्यादयः। अंगित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्। (काव्य प्र० ४।३९)

किन्तु, अवधेय तत्व तो यह है कि वस्तुध्वनि 'उत्तमोत्तम' काव्य का स्वरूप है जबकि पहेली आदि 'चित्रकाव्य' अथवा अधम काव्य के अंग हैं। अतः वस्तुध्वनि युक्त अन्योक्ति के साथ, चित्र काव्यांगों का संयोग, उसके अपकर्ष का ही कारण बनेगा (क्योंकि 'राखे मेलि कपूर में हींग न होत सुगन्ध) न कि उत्कर्ष का।

समस्या यह है कि आखिर ये प्रतीक अथवा संकेत हैं क्या? इनका रूपक से क्या सम्बन्ध है? फेबुल, पैरेबुल तथा मोटिफ कैसे रूपक के अंग विशेष हैं? सेटायर का अन्योक्ति से क्या साम्य है? इन प्रश्नों का हल पाने के लिए हमें थोड़ी देर के लिए अंग्रेजी साहित्य में उतरना होगा।

अंग्रेजी साहित्य का उदय लगभग ६५० ई० से प्रारम्भ होता है। जैसे हिन्दी भाषा का अवतरण, प्राचीन नाथपन्थी योगियों की अपभ्रंश से निकल कर हुआ उसी प्रकार अंग्रेजी साहित्य के मूल में भी आंग्ल-सैक्सन साहित्य (Anglo-Saxon Literature) था। चौदहवीं शती तक चासर (१३५०-१४०० ई०) तथा सत्रहवीं शती तक स्पेन्सर (१५५२-१५९९ ई०) एवं मिल्टन (१६०८-१६७४ ई०) ने इस साहित्य को पल्लवित किया। सन् १६६० से १७७२ तक का समय अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में वाङमय की दृष्टि से 'पुनरावर्तन-साहित्य' (Literature of the Restoration) कहा जाता है। इसी युग में ड्राइडेन (१६३१-१७०२ ई०) जैसे प्रतिभाशाली कवि पैदा हुए[१]।

इस स्थल पर शेक्सपियर, शैली, कीट्स बायरन तथा वर्ड्सवर्थ आदि अनेक स्वनाम-धन्य महाकवियों को जानबूझकर सन्दर्भ-बन्धन में नहीं बाँधा गया है, क्योंकि जिन विशिष्ट नामों को उपर्युक्त अनुच्छेद में उद्धृत किया गया है, वे उस वाङमय की किसी न किसी विशेष परम्परा में प्रसिद्ध हो चुके हैं। और वह परम्परा भी उसी अनुपात में 'अन्योक्ति' के साथ प्रसिद्ध हो चुकी है। चूँकि परम्परा ही धीरे-धीरे रूढ़ि का भी रूप धारण कर लेती है, अतः अब उसी कोटि की कतिपय रूढ़ियों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

प्रतीक तथा संकेत दोनों प्रायः पर्याय रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए 'सिम्बल' (Symbol) शब्द आता है, जो कि ग्रीक भाषा के सिम्बोलन (Symbolon) शब्द[२] से निष्पन्न हुआ है। सिन् (Syn) का अर्थ है परस्पर या एक साथ तथा बल्लिन् (Ballein) का तात्पर्य है, प्रक्षेप (to throw) इस प्रकार पूरे शब्द का तात्पर्य है 'जो कहीं फेंका जाय, अथवा किसी का प्रतिनिधित्व करे, सूचक बने।' संकेतों द्वारा किसी वस्तु की सूचना देना[३] ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

---

१ द्रष्टव्य A History of English Literature by M. Cazamian.

२. From 'Symballein' [Chambar's Dictionary].

३. द्रष्टव्य Chamberas Twentieth Century Dictionary, P. 980 [Sign by

'प्रतीक एवं संकेत' शब्दों के भी अर्थ प्रायः इसी प्रकार के हैं। संकेत का तात्पर्य संस्कृत में 'ज्ञापन' अथवा सूचना से है। काव्यप्रकाश (द्वितीय उल्लास की द्वितीय कारिका) में आचार्य मम्मट ने संकेतित अर्थ का उल्लेख किया है—

'साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः'

यहाँ संकेतित से तात्पर्य है 'अव्यवधानेन गृहीतार्थ, (Conventional meaning) चूंकि संकेत किसी भी वस्तु के स्थानापन्न होने पर उसका यथार्थतः प्रतिनिधित्व करता है, अतः इसी नियमित भाव के कारण इसका लक्षणात्मक प्रयोग, प्रेमियों के मिलनस्थान के लिए भी प्रचलित हो गया। इस कारिका के पूर्ववर्ती उदाहरण श्लोक की वृत्ति में आचार्य मम्मट ने इसी अर्थ में संकेत का प्रयोग किया है—अतः **संकेतस्थानमेतदिति कयाचित्कंचित् प्रत्युच्यते।'** इसी भाँति 'प्रतीक' भी चिह्न या प्रतिनिधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अंग्रेजी भाषा का जन्म आंग्ल-सैक्सन साहित्य (६५०-१००० ई०) से हुआ, यह पहले ही कहा जा चुका है। प्रस्तुत साहित्य, वैदिक साहित्य की ही भाँति अभिधा प्रधान तथा धर्मचिन्तनपरक रहा। एक उदाहरण से तत्कालीन काव्यधारा स्पष्ट हो जायगी—

What is the body ? The spirit's lodging.
What is hair ? The clothing of the head.
What is the beard ? The distinction between the sexes, the mark of age.
What are the eyes ? The guides of the body, the vessels of light, the index to thought.[1]

इस साहित्य के बाद ही चासर का युग आता है, जिसने काव्य के विविध अंगों के प्रणयन के साथ ही साथ अंग्रेजी साहित्य में रूपक काव्यों (Allegorical Poems) का भी संवर्धन किया। रूपक का अर्थ आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक में 'नाटकादि' से किया है। किन्तु इसकी अन्वर्थनामता आरोप-क्रिया में है। धनञ्जय के ही शब्दों में—

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥ दश०

अर्थात् राम-लक्ष्मण-सीता आदि के स्थान पर नटों को उनके गुणों से युक्त करने के कारण अथवा नटों पर रामादि के व्यापारारोप के ही कारण इसे रूपक कहते हैं। यदि हम, रूपक के इस लक्षण को गहराई से सोचें तो प्रतीत होगा कि प्रायः प्रत्येक रूपक, चाहे वह वैदिकसंस्कृत साहित्य का हो चाहे अंग्रेजी साहित्य का, इसी अर्थ में 'रूपक' है। एक बात ध्यान में रहे कि संस्कृत नाटक रूपक का ही एक भेद मात्र है, किन्तु अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों के कारण वह 'रूपक' से सर्वथा भिन्न है।

---

which one knows a thing, an arbitrary or other conventional mark etc.]

१. **द्रष्टव्य,** A History of English Literature by M. Cazamian, P. 13.

इसी 'रूपक' शब्द का अंग्रेजी पर्याय एलिगरी (Allegory) है जो कि ग्रीक शब्द एलिगोरिया (Allegoria) से निष्पन्न हुआ है। एलास (Allos) का अर्थ है 'अन्य' तथा एगोरीन (Agoreuein) का अर्थ है कहना। इस प्रकार एलिगरी का सामान्यार्थ हुआ अन्य रूप से कथन। यदि हम संस्कृत रूपक (आरोप) एवं अंग्रेजी एलिगरी की तुलना करें तो स्पष्टतः एलिगरी दोनों में ऐक्य ज्ञात होगा। अन्य रीति से कथनोपकथन तभी सम्भव है जब प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत का आरोप किया जाय। जब यही विधान, अपने संक्षिप्त रूप में अथवा शब्द-वाक्यगत होता है तो हम साधारणतः 'प्रतीक' या संकेत (Symbol) कहते हैं और विस्तार रूप में अथवा पूर्णतः प्रबन्धगत होने पर इसी का कथापरक रूप 'रूपक' (Allegory) की सर्जना करता है।

'रूपक' का लक्षण चैम्बर्स डिक्शनरी के अनुसार (A description of one thing under the image of anger) भी उपर्युक्त तथ्य को पुष्ट कर देता है।[1] डॉ० संसारचन्द्र द्वारा उद्धृत एतद्विषयक लक्षण भी देख लेना उचित होगा:—An Allegory is prolonged metaphor in which typically a series of actions are symbolic of other actions, while the characters often are types or personifications, (Webster's New International Dictionary, p. 68).

प्रतीक, संकेत (Symbol) तथा रूपक (Allegory) के व्यक्तिगत लक्षण तथा व्याख्यान से स्पष्ट है कि रूपक एक प्रकार से सामान्य (Genus) है तथा प्रतीकादि उसी के उपसामान्य या विशेष (Species) हैं। एक अंगी है तो दूसरे दोनों उसके अंग हैं। पूर्वानुच्छेद में ही यह बता चुके हैं कि चासर ने प्रधान रूप से रूपकों की तथा रूपकात्मक काव्यों की रचना की। आगे चलकर उसी का अनुसरण टामस आक्लेव (१३७० से १४५४ तक) जान स्केल्टन (१४६० से १५२९ तक) डेविड लिण्डसे (१४९० से १५५५ तक) स्पेन्सर-लिली-सिडनी (१५५१ से १५९९, १६५४-१६०६ तथा १५५४ से १५८६ तक) मिल्टन (१६०८-१६७४) तथा बनियन प्रभृति प्रसिद्ध अंग्रेजी कवियों ने किया।

रूपक काव्य में कवि को अमूर्तभावों को भी मूर्तरूप देने में बड़ा आनन्द आता है। वैसे तो कवि किसी भी भाव को लेकर काव्य-रचना कर सकता है।[2] किन्तु सफलता उसकी तभी है जब उसकी उक्ति में कुछ वैचित्र्य हो। वह वैचित्र्य भी रसगर्भ अथवा ध्वनिगर्भ होना चाहिए, अन्यथा वह केवल बुद्धि का चमत्कार मात्र बनकर रह जायेगा। प्रतीकों के माध्यम से लिखी गई कविताएँ मानव मन पर निश्चित ही अभिधयाप्रतिपादित कविताओं से अधिक आकर्षण डालती है, क्योंकि प्रकृति पर किया जाने वाला अप्रस्तुत का आरोप अपने आप में ही प्रबल शक्तियुक्त होता है।

रात-दिन, हम जिन उपादानों से प्रायः पूर्ण परिचित हुए रहते हैं, उनका मूल्य घट

---

१. द्रष्टव्य Chambar's Dictionary, P. 22.

२. As Principal shairp put it :—"There is no truth cognisable by

सा जाता है, यह एक बहुसमर्थित सामाजिक सिद्धान्त है। किन्तु वे उपादान जो हमारे चिन्तन-क्षेत्र में नहीं आए रहते हैं एकाएक आने पर मस्तिष्क में विद्युत की भाँति प्रभावतरंगों से कार्य करते हैं। और जब, प्रसंग हो किसी और का तब पर भी वे अपरिचित भाव एकाएक आ जायँ, तब तो फिर पाठक के औत्सुक्य, कौतूहल एवं काव्यानन्द की कोई सीमा ही नहीं। रूपकों की प्रशंसा इन्हीं तत्त्वों के कारण सब दिन हुई है।

'ऐन इण्ट्रॉडक्शन टू दि स्टडी ऑफ लिटरेचर' नामक पुस्तक के पृष्ठ १२९ पर लेखक डब्ल्यू० एच० हडसन के ये शब्द रूपकों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं[1]-- "A poet will of ten choose such indirect method of inculcating his ideas, because in this way he can obtain the immense advantage of translating abstract ideas into concrete forms."[2]

'दि फेयरी क्वीन' के विश्वप्रसिद्ध लेखक एडमण्ड स्पेन्सर का एक रूपक प्रणेता (Allegorist) के रूप में मूल्यांकन करते हुए श्री कैजामियाँ साहब लिखते हैं--'He lacks first, the simple restrained line of a good allegorist. He had not the central idea, the ardent passion or the unity of design which are essential conditions of a powerful and effective allegory."[2] इसी प्रकार एक स्थान पर विद्वान् लेखक ने पुनः रूपक विषयक एक महत्वपूर्ण धारणा व्यक्त की है-- "Over and over again the allegory gives place to realism." (यद्यपि यह तथ्य एक व्यक्तिगत कविता से सम्बद्ध है तथापि ग्राह्य है)

कैजामियाँ साहब के उक्त उद्धरणों से अंग्रेजी भाषा में निबद्ध प्रतीकात्मक काव्य-धारा के प्रमुख तत्व स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। अतः यह स्वीकार करने में किसी को कोई भी आपत्ति न होनी चाहिए कि केन्द्रस्थभावना अथवा प्रमुखतत्त्व (Central Idea) भावप्रवणता (ardent passion) संघटनैक्य अथवा विन्यास की एकरूपता (unity of design) तथा यथार्थवाद (Realism) यही चार वस्तुतत्त्व रूपकाभिव्यक्ति के प्राण हैं।

चासर की तीन रचनायें दि बोक ऑव डचेज़, पार्लमेण्ट ऑव फॉल्स तथा हाउस ऑव फेम अंग्रेजी साहित्य की प्राथमिक रूपकात्मक कृतियाँ हैं। इनमें से प्रथम कृति, एक व्यक्ति जॉन ऑव गाण्ट (John of Gaunt) की पत्नी ब्लॉक ऑव लान्सेस्ट्री (Blanche of lancastery) के मरणोपरान्त उसकी प्रशस्ति के रूप में, चासर द्वारा सन् १३६९ ई० में

---

man which may not shape itself into poetry
The study of Literature, by Hudson
cf. भावानचेतनानपि चेतनव च्चेतनानचेतनवद्
व्यवहारयति यथेच्छं सुकवि : काव्ये स्वतंत्रतया।।

2. A history of English Literature by Cazamian, (p. 280).
3. The Boke of Duchesse, Parlement of Faules तथा House of Fame

प्रणीत की गई। इस काव्य में कवि स्वयं को एक प्रणयी के रूप में चित्रित करता है, मानो वह उन्मन भाव से लेट कर कीक्स (Ceyx) तथा एल्सियन (Alcyone) की मर्मस्पर्शी कथा 'मेटामार्फोसस (meta-morphoses) पढ़ रहा हो। अन्त में सोने पर वह स्वप्नमग्न दशा में अपने को सम्राट् आक्टेवियन के समक्ष पाता है। किन्तु ज्यों ही कवि उसका अनुसरण करना चाहता है कि एक काष्ठखण्ड में उसे किसी रूपवान नवयुवक के दर्शन होते हैं। युवक, विलाप करता हुआ अपनी खोई हुई परम रूपवती पत्नी का गुणगान तथा संयोग के दिनों में प्राप्त हार्दिक प्रणयानन्द कवि के समक्ष प्रस्तुत करता है।'

प्रस्तुत रूपक जैसा कि कैज़ामियाँ ने स्वीकार किया है, अंग्रेजी काव्य-साहित्य का प्रथम रूपक है।[१] प्राचीनतम होने के कारण बनियान के पिल्ग्रिम्स प्राॅग्रेस अथवा स्पेन्सर की फेयरी क्वीन की भाँति इस रचना के प्रतीक उतने उदात्त तथा परिनिष्ठित नहीं है तथापि उनकी प्रतीकात्मकता में कोई भी कमी नहीं है। पत्नी की मृत्यु से दुःखी जॉन को ढाढस बँधाने के ही ध्येय से यह रूपक चासर ने प्रस्तुत किया था। इस कविता में करुणरस की एक अविरल अमन्द धारा बह रही है। अपरिचित नवयुवक से भेंट, साथ ही उसके द्वारा अपनी विलुप्त पत्नी के असंख्य गुणों की गणना तथा उसके प्रति अपनी समस्त प्रणय सम्पदा लुटा देने का वृत्तान्त—ये सब तत्व प्रतीक रूप में जॉन के प्रति कवि संवेदना की ही अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार चासर के अन्य रूपक भी एक न एक विशिष्ट भाव को लेकर लिखे गए हैं।

हाउस आॅन फेम में सपनों की सत्यता पर एक वार्ता प्रारम्भ होती है, निद्रा का आवाहन होता है कि इसी बीच स्वप्न स्वयं आ जाता है। कवि अपने को शुक्र (Venus) के मन्दिर में पाता है जिसकी प्राचीरों पर एनियस (Aeneas) की समस्त कथा उत्कीर्ण है। एक सुनहरा गृद्ध कवि को उठाकर 'ख्याति के घर' (House of Fame) पहुँचा देता है जो कि पार्थिव ध्वनियों से सर्वथा अस्पृष्ट, अगम्य तथा स्वर्ग में स्थित है। कवि वहाँ उन समस्त कवियों से मिलता है जिन्हें उसने देखा या पढ़ा था। देवी रूप में 'ख्याति' का दर्शन करके कवि 'अफवाह के घर' (House of Rumour) जाता है, खबरों की निर्माण-प्रक्रिया देखने के लिए। वहाँ उसे चारों ओर से झूठे तथा सच्चे सन्देश अफवाह के घर की ओर आते दीखते हैं। घबड़ाहट में कवि के कान शोर-गुल के कारण बहरे हो जाते हैं। कविता यहीं पर समाप्त हो जाती है।

इस कविता की प्रतीकात्मकता कैज़ामियाँ के ही शब्दों में:—"In this imperfect and characteristic poem, Chaucer, with his intelligent bantering spirit,

---

१. It is the first poem in this language to contain fully artistic passages. The lines which are the farewell of the phantom Ceyx and relate the death of Alcyone are the perfection of simiple pathos p. 137.

strolls through the 'highest heaven of invention.' He refuses once for all, to give himself wholly to the sublime or to believe profoundly in purely spiritual conceptions." (P. 139).

'दि फ्लावर ऐण्ड दि लीफ' भी ड्राइडेन के अनुसार चासर की ही प्रतीक रचना है जिसमें पत्तियाँ कार्यदक्षता, गम्भीरता तथा सार्थक जीवन की प्रतीक हैं तथा फूल अनियमित विलास या अवकाश के परिचायक तत्व हैं (पृ० १५९)

The Bowge of Court (१५०९ ई०), जॉन स्केल्टन द्वारा प्रणीत एक साधिक्षेप अथवा विद्रूपात्मक रूपक (Satirical Allegory) है, जो कि अलेक्जण्डर बार्सले (१४७४-१५५२ ई०) की रचना शिप ऑव फूल्स (Ship of Fools) पर आधारित है। कवि एक जहाज पर बैठकर वांछित प्रदेश (The land of Favour) जा रहा है कि बीच में ही भाग्य के मित्र-गण (Fortune's Friends) व्याजस्तुति (Flattery) शंका (Suspicion), धृष्टता (Disdain) तथा छल (Dissimulation) इसको परेशान करने लगते हैं। कवि हैरान होकर समुद्र में कूद कर उनसे पिण्ड छुड़ाना चाहता है कि उसको नींद खुल जाती है। इस रूपक में आगे बढ़ते रहने वाले महत्वाकांक्षी पुरुष की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का कवि ने कितना सूक्ष्म मूल्यांकन किया है, यह सुस्पष्ट है।

विलियम डनबर (१४६०-१५२०) प्रणीत रूपक दि थ्रिसिल ऐण्ड दि रॉयस (The Thrissile and the Rois) में जेम्स चतुर्थ तथा मार्गरेट ट्यूडर (हेनरी सप्तम की लड़की) की शादी का रूपकमय वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है जो कि सन् १५०३ ई० में हुई थी। कैजामियाँ के शब्दों में इस कविता में डनबर ने स्काटलैण्ड तथा इंगलैण्ड की एकता का रूपकात्मक चित्र प्रस्तुत किया था। इसी प्रकार के अन्य रूपकों में सैकविल (Sackville) कृत इण्डक्शन (Induction) जो कि रोमन-डि-ला-रोज (Roman-de-la-Rose) जैसी चासर की पूर्ववर्ती प्रतीकात्मक कथा के अनुकरण पर लिखी गयी है तथा स्पेन्सर-कृत The Fairie Queen है जो कि अपने युग की सर्वश्रेष्ठ युगान्तरकारी (Masterpiece work) रचना मानी जाती है।

अंग्रेजी साहित्य में प्रणीत इन रूपकों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण से यह तथ्य निश्शंक हो जाता है कि इस कोटि की रचनाओं में आरोप का बड़ा महत्व है। वह आरोप जो अन्योक्ति के प्रमुख तीन तत्वों में से एक है और जिसके आधार पर ही हम प्रतीकात्मक रचनाओं को अन्योक्ति का प्रारम्भिक रूप स्वीकार कर सकते हैं।

पिछले किसी अनुच्छेद में ही यह बताया जा चुका है कि (डा० संसारचन्द्र के अनुसार) पैरबल, फेबुल तथा मोटिफ भी रूपक के ही अन्दर आते हैं। अतः अपेक्षित है कि हम उनका भी स्वरूपनिर्धारण संक्षेप में कर लें।

पैरेबल Parable को हम दृष्टान्त की संज्ञा देते हैं। चैम्बर्स डिक्शनरी के पृष्ठ ६५८ पर परेबल का अर्थ इस प्रकार दिया है--"A comparison, a fable or story of something which might have happened, told to illustr ate some doctrine,

or to make some duty clear." अर्थात् किसी सिद्धान्त का निरूपण करने वाली कथा या उपदेश-परक कथा। यह शब्द, ग्रीक पैराबोल या पैराबेलीन (Parabole या Paraballein) से निकला है जिसका खण्डार्थ इस प्रकार है—(Para to compare) तथा (Bellein to throw)। अर्थात् तुलनापरक कथा, दृष्टान्त। एक अन्य शब्द-कोश में इसका अर्थ एलिगरी (Allegory) या इनिग्मा (Enigma) से किया गया है।

फेबुल को कल्पित कथा, उपाख्यान या प्रबन्धकल्पन' कहा जाता है। अमर-कोष में आख्यायिकोपलब्धार्थ प्रबन्धकल्पना कथा (प्रथम खण्ड श्लो० ५, ६) के रूप में कथा एवं आख्यायिका की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें भी प्रबन्धकल्पना को कथा कहा गया है। अतएव अंग्रेजी फेबुल का भी प्रतिपाद्य, संस्कृत साहित्य की कथा के ही समान होता है, ऐसा अनुमान हम कर सकते हैं। कथा या इस प्रबन्ध-कल्पना में मानवीय-करण की पद्धति का बड़ा महत्व है, क्योंकि इसमें वैखरी-विहीन भोले-भाले जीवों को भी कथाकार, मानव की ही भाँति चेतनायुक्त तथा सांसारिक कर्मों में आसक्त प्रदर्शित करता है। अंग्रेजी साहित्य में इसका रूप चैम्बर्स के प्रमाण से स्पष्ट हो जायेगा—

'A narrative, in which things irrational and some times inanimate are for the purpose of moral instruction, feigned to act and speak with human interest and passions, any tale in literary form not necessarily probable in it's incidents, intended to instruct or amuse .....a fiction or myths, a ridiculous story as in Old Wives Fable's (Chambers P. 330),

उपर्युक्त उद्धरण से दो तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं। एक तो यह कि फेबुल (Fable) या कल्पित कथा की मुख्य विशेषताएँ हैं—नैतिक शिक्षा के लिए अचेतन उपादानों का भी उपयोग (मानवीकरण) कथा की काल्पनिकता, मानवीय लक्ष्य एवं पक्ष के प्रति दृष्टि तथा व्यंग्यपरता। दूसरा तत्व यह है कि फेबुल की इस पारिभाषिक मर्यादा में न केवल संस्कृत कथाएँ वरन् उसके अन्यान्य रूप जैसे जन्तु कथायें (पंचतन्त्र तथा हितोपदेश-बृहत्कथा) तथा नीति-कथायें (कथासरित्सागर आदि) भी अन्तर्निविष्ट हो जायेंगी। और सच बात तो यह है कि संस्कृत कथा[1] एक विशिष्ट लक्षण में ही निबद्ध होने के कारण फेबुल की कोटि में नहीं आ सकती!

मोटिफ, चैम्बर्स के साक्ष्यानुसार प्राचीन मोटिव (motive) अर्थात् 'ध्येय' का ही प्रतिरूप है। 'मोटिफ' का अर्थ है प्रधान चेष्टा या विचार। अतः इस दृष्टि से तो 'ध्येयपरककथा' को ही Motif का रूपान्तर मानना उचित है। पृष्ठ ५९० पर चैम्बर्स ने motif का अर्थ देते हुए लिखा है—'An old form of motive, a theme or ground for intellectual

---

१. कथा का पारिभाषिक स्वरूप द्रष्टव्य—काव्यालंकार (भामहकृत) १-२५-२९, काव्यादर्श (दण्डीकृत) १-२३-३०।

action or a leading subject in a dramatic work etc.' एक अन्य कोशकार ने इसका अर्थ प्रधान भाव या विचार (Predominating idea) से किया है। अतः अभिप्राय (Motif) का तात्पर्य कथा के केन्द्रस्थभाव (Central thought or gist) अथवा मुख्य तत्त्व को कहते हैं।

दृष्टांत (Parable), आख्यान (Fable) तथा प्रयोजन-परककथा (Motif) तीनों ही जैसा कि अभी निरूपित कर चुके हैं, रूपक के ही अंग हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि दोनों की अपनी-अपनी पृथक मर्यादायें हैं। 'रूपक' या प्रतीकात्मक काव्य (Allegorical poem) का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसमें कि दृष्टान्तों, आख्यानों एवं तत्त्वकथाओं का अस्तित्व होना अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल है, किन्तु सारार्थ यह है कि इन तीनों का प्रतिपाद्य की दृष्टि से रूपक काव्य से बहुत साम्य है। भले ही वे रूपक कृति में कवि द्वारा निबद्ध की जायँ या न की जायँ। भारतीय संस्कृत वाङमय में ये काव्यतत्व इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं कि उन पर स्वतन्त्ररूप से एक शोध-कार्य सम्पन्न किया जा सकता है।

अब इसी प्रसंग में दो और पाश्चात्य साहित्य-तत्त्वों का निरूपण संक्षेप में ही कर देना आवश्यक है, क्योंकि रूपकात्मक रचना में उनका भी आंशिक सहयोग रहता ही है। वे तत्त्व हैं—व्याजोक्ति (Irony) तथा अधिक्षेप या विद्रूप (Satire) एक का सम्बन्ध काव्य के प्रतिपाद्य से है तो दूसरे का सम्बन्ध उसकी शैली से।

चैम्बर्स के अनुसार आँयरनी का अर्थ है—'A mode of speech which enables the speaker to convey his meaning with greater force by means of contrast between the thought which he evidently designs to express and that which his words properly signify विशेषण रूप में इसका अर्थ अधिक स्पष्ट है—'Meaning the opposite of what is expressed' अर्थात् विरुद्धार्थ युक्त कथन ही आँयरनी है। डब्ल्यु० एच० हडसन ने विरोध के नैतिक प्रयोग (Ethical use of contrast) के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए विरोधांग या विरोध प्रकार (Kind of contrast) के रूप में आँयरनी को स्वीकार किया है।[१] उनके अनुसार यह वैपरीत्य (Irony) दो प्रकार का होता है—

(१) वचन-सम्बन्धी (verbal irony) तथा

(२) घटना-सम्बन्धी (irony of situation)

कभी-कभी मनुष्य अकारण ही कोई बात कह बैठता है और दैवयोग से वही बात या घटना निकट भविष्य में घटित भी हो जाती है, तो हम उसे मत या घटना का वैपरीत्य अथवा 'नियति का व्यंग्य' कहते हैं। साहित्य क्षेत्र में वही तत्त्व आँयरनी कहा जाता है। शेक्सपियर की नाट्य-कृतियों में पद-पद पर यह देखने को मिलती है—मेकबैथ नाटक में राजा डंकन की मृत्यु-बेला में मैकबेथ की पत्नी, अपने हत्यारे पति की सफलता पर उसे समझाती है—"These

१. The Study of Literature, P. 297.

deeds must not be thought, after these ways, so it will make us mad."

And

"Go get some water, and wash this filthy witness from your hand."

And

"A little water clears us of this deed how easy is it, then ?"

और वही लेडी मैकबेथ हत्यारे पति की भयंकर क्रूरता से विक्षिप्त होकर स्वयं पागल हो जाती है तथा अपनी ही कही गयी बातें अब उसी की विरोधिनी बन जाती हैं। पूर्वोद्धरण की तुलना में अब उसकी यह चीत्कार देखें—"Out damned spot Out, I say... What ,will these hands never be clean ?—No more, O' that my lord, no more O'that, you will mar all with this starting....Here is the smell of the blood still. All the perfume of Arabia will not sweeten this little hand, Oh, Oh !"

हडसन ने इसे प्रोफेटिक आॅयरनी (Prophetic Irony) की संज्ञा दी है (P. 302)।

संस्कृत नाट्य-साहित्य में भी 'पताका स्थानक' के रूप में यह नाटकीय व्यंग्य प्रायः प्राप्त होता है। शायद ही कोई ऐसा नाटक हो, जिसमें एकाध पताकास्थानक न हों। यद्यपि धनञ्जय द्वारा उपदिष्ट पताकास्थानक विशिष्ट रूप का होने के कारण अन्योक्ति तथा समासोक्ति तक ही सीमित रह जाता है।[१] किन्तु भरत-प्रोक्त चार भेदों वाला पताकास्थानक पाश्चात्य नाटकों की द्विविध आयरनी (Irony) को अपने में अन्तर्भूत कर लेता है।[२] एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

महाकवि शूद्रक प्रणीत मृच्छकटिक के तृतीय अंक में, संगीत सुनकर चारुदत्त तथा मैत्रेय (विदू०) के लौटने पर, चेट वसन्तसेना द्वारा न्यास रूप में रखा गया, सुवर्णभाण्ड उसे देते हुए कहता है—

> चेटः—आर्य मैत्रेय ! एतत्सुवर्णभाण्डकं मम दिवा, तव रात्रौ च तद् गृहाण।
> मैत्रेयः—अद्याप्येतत्तिष्ठति ? किमत्रोज्जयिन्यां चौरोऽपि नास्ति, य एतं दास्याः पुत्रं निद्राचौरं नापहरति आदि।

---

१. प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्ति सूचकं पताकास्थानकं तुल्यसंविधानऽविशेषणम्।। दशरूपक १।१४।

२. द्रष्टव्य, साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ३०५-८ तक। कलकत्ता संस्करण सन् १९५० ई० (सिद्धान्तवागीशकृत टीका)।

और ठीक उसी रात, शर्विलक चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर उसे चुरा ले जाता है। इसी प्रकार के अन्य उदा० प्रतिज्ञायौगन्धरायण (श्लोक २।८ से सम्बद्ध) अभिषेकनाटक (श्लो० ५।१० से सम्बद्ध) उत्तररामचरित (श्लो० १।३८ से सम्बद्ध) मुद्राराक्षस (प्रथम अंक तथा चतुर्थांक से सम्बद्ध दो पताका०) तथा वेणीसंहार (श्लो० २।२३ से सम्बद्ध) आदि नाटकों में द्रष्टव्य है। अवधेय है कि ये पताकास्थानक धनंजय प्रोक्त पताकास्थानकों से पूर्णतः भिन्न हैं।

शेष बचा सेटायर अथवा 'अधिक्षेप'। इसके पूर्व ही जान स्केल्टन की Satircal Allegory के विषय में विचार हो चुका है। अंग्रेजी साहित्य में ड्राइडेन तथा पोप आदि महान् विद्रूपवादी कवि (Satirist poets) हो चुके हैं। इस शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच Satira अथवा लैटिन Satura से हुई है। इसका अर्थ चैम्बर्स के अनुसार—A literary composition originally in verse essentially a criticism of a man and his work whom it holds up, either to ridicule or scorn—its chief instruments. Irony, sarcasm, inventive wit and humour, an inventive poem, severity of remark, denunciation, ridicule. (P. 844) :

ऊपर दिये गये इन विवरणों से तथा सेटायर विषयक इन समस्त पर्यायों से एक ही वस्तु ध्वनित होती है, वह यह कि सेटायर का मुख्य अर्थ है किसी पर विद्रूप कसना, खिल्ली उड़ाना आक्षेप या अधिक्षेप। सत्रहवीं शती में इंगलैण्ड में विद्रूपात्मक साहित्य अपनी चरम पराकाष्ठा पर था। सेमुएल बटलर की प्रख्यात कृति Hudibras १६६३ ई० की आलोचना में श्री कैजामियाँ ने जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह कृति विशेष के साथ ही साथ समस्त Satire की विशेषताओं को स्पष्ट कर देती है—

The substance of the poem is composed of an interupted series of epigramatic sayings as short as they are pointed, bitingly sareastic, flung off as if from some rebounding spring ..The poem becomes a general criticism of society, of thought and of man (P. 627-28) अतः स्पष्ट है कि (Satire) का मुख्य उद्देश्य समाज अथवा व्यक्ति में मिथ्या तौर-तरीकों, दोषों एवं कुरीतियों पर छींटाकसी करना ही है।

बटलर के पश्चात् इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्रूपवादियों में जान ओल्डहेम (१६५३-८३ तक) तथा ड्राइडेन (१६६०-१७०२ तक) आदि आते हैं। ओल्डहेम ने A Satyre Against Virtue, A Satyre upon a Woman आदि अनेक अधिक्षेपात्मक कृतियाँ प्रणीत की। ड्राइडेन की प्रख्यात रचनाओं में Avalom And Achitophel १६८०-८२ ई० तथा The Medal And Mac Fleckloe १६८२ ई० आदि कृतियाँ आती हैं।

अब यदि अधिक्षेप-साहित्य की इन मान्यताओं के साथ हम संस्कृत भाणसाहित्य पर दृष्टि डालें तो प्रतीत होगा कि भारतवर्ष का एतद्विषयक साहित्य किसी भी अर्थ में पश्चिम से कम नहीं है। चतुर्भाणी (उभयाभिसारिका प्रभृति चार भाण) जिसका समय मौर्य तथा गुप्त युग (ई० पू० तृतीय शती से लेकर ईसवी चतुर्थ शती तक) है, का अध्ययन इस प्रामाण्य के लिए यथेष्ट है। जहाँ तक प्रस्तुत शोधविषय का प्रश्न है, उसके विषय में सर्वथा निश्शंक भाव से यह घोषणा की जा सकती है कि अन्योक्ति में तो पद-पद पर अधिक्षेपों का निबन्धन प्राप्त होता है। इस विषय में केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

कोई व्यक्ति विशेष है तो सर्वथा गुण-विहीन! न रूप है, न विद्या है, न कण्ठ है, न कोई अन्य ही कला कि वह जनसमुदाय के बीच आदर प्राप्त कर सके। उसी के पड़ोस में मान लीजिए, कोई अत्यन्त सज्जन, मिलनसार, रूपविद्याकंठ तथा अन्यान्य गुणों से समुपेत नवयुवक रहता है। यह सम्भव है कि पहला व्यक्ति दूसरे की नकल करने की कोशिश करे और यदि वह दैव योग से धनी बाप का लड़का है तब तो सब कमियाँ होने के बजाय भी ठाट-बाट में तिल भर भी कमी न लाएगा। ऐसे ही एक प्रस्तुत व्यक्ति पर अन्योक्ति के माध्यम से कवि अत्यन्त उपहासमयी शैली में छींटाकसी प्रस्तुत करता है जो कि पूर्णतः अंग्रेजी Satire का रूप है—

हंसः प्रयाति शनकैर्यदि यातु तस्य नैसर्गिकी गतिरियं न हि तत्र चित्रम्।
गत्या तया जिगमिषुर्बक एष मूढश्चेतो दुनोति सकलस्य जनस्य नूनम्॥

इस प्रकार प्रतीकों तथा संकेतों (Symbols) से युक्त रूपक (Allegory) उसके अंगविशेष दृष्टान्त (Parable), आख्यान (Fable), ध्येयपरक-कथा (Motif) एवं रूपक के सहयोगी तत्त्वों—व्याजोक्ति (Irony) तथा अधिक्षेप (Satire) का संक्षिप्त विवेचन पूर्ण हुआ। अब हमें यह देखना है कि संस्कृत-साहित्य में प्रतीकात्मक रचनाओं का क्या स्थान है, तथा अन्योक्ति से इसका किस प्रकार का सम्बन्ध है?

रूपकात्मक साहित्य (Allegorical literature) की परिधि में, जैसा कि पिछले अनुच्छेद में व्यक्तिगत मन्तव्य प्रस्तुत किया गया है, समस्त दृष्टान्त साहित्य (Parabolic literature), आख्यान साहित्य (Fabulous literature) तथा ध्येयपरककथा साहित्य (Motif-literature) आ जाता है। पहेलियाँ, मुकरियाँ तथा चित्रबन्ध भी, सघटना-वैशिष्ट्य के कारण रूपकात्मक साहित्य में ही आयेंगे। जहाँ तक व्याजोक्ति (Irony and Satire) एवं अधिक्षेप या विद्रूप का प्रश्न है, उन्हें भी हम रूपकात्मक साहित्य में ही अन्तर्भूत कर सकते हैं, किन्तु दृष्टान्त आदि की भाँति रूपक के अंगभूत साहित्य के रूप में नहीं, प्रत्युत शैलीवैशिष्ट्य (Excellence of style) के रूप में। व्याजोक्ति तो अंशतः प्रतिपाद्य बन भी जाती है (Irony of Situation के रूप में) किन्तु विद्रूप तो शुद्ध रूप से प्रतिपादन की एक शैली विशेष है। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य की तुलनात्मक प्रतिपाद्यसमृद्धि के आधार पर ही एक अधोनिर्दिष्ट विभाजन प्रस्तुत किया

जा रहा है जिससे संस्कृत साहित्य में पूर्वोक्त पाश्चात्य साहित्य तत्वों की स्थिति ज्ञात हो सके—

रूपकात्मक साहित्य (Allegorical Literature)

१. प्रतीक वर्ग (Symbolic)	२. आख्यानवर्ग (Fabular)	३. प्रहेलिका वर्ग (Enigmatic
इस वर्ग में समस्त वैदिक प्रतीक, पुराणों तथा अन्य सम साहित्यों के प्रतीक तथा समस्त संस्कृत प्रतीकात्मक नाटक आयेंगे। 'हंस संदेश' आदि प्रतीक काव्य भी इसी वर्ग में हैं।	आख्यान वर्ग में वृहत्कथा-मूलक समस्त जंतुकथायें (पंचतंत्रादि) नीतिकथायें तथा उपदेशपरक अन्य काव्यांग आयेंगे (पालि प्राकृत की जातकादि रचनायें भी इसी वर्ग में हैं)	इस वर्ग में समस्त प्रहेलिका तथा तन्मूलक अन्य रचनायें (मात्राच्युतकविन्दुच्युतकआदि) महाभारत के कूटादि सन्दर्भ तथा चित्रबन्धादि रचनायें आयेंगी।

इनमें से प्रथम दो वर्गों का पाश्चात्य मतानुसार सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक व्याख्यान पहले प्रस्तुत हो चुका है। केवल, प्रहेलिका वर्ग के साहित्य पर अन्योक्ति की दृष्टि से कुछ और कहना है। किन्तु यह सब कहने के पूर्व ही हमें उस पूर्वोक्त मौलिक तथा अटल धारणा को एक बार पुनः दुहरा देना चाहिए कि—**समस्त त्रिवर्गीय प्रतीकात्मक साहित्य केवल अन्योक्ति की पूर्वपीठिका या पूर्वाभास मात्र है। किन्तु दोनों में तादात्म्य नहीं है। प्रसंगानुसार आगे इस तथ्य की सप्रमाण पुष्टि की जायेगी।**

पहेली तत्व का प्रारम्भ भी अन्य काव्य तत्वों की भाँति वेद से ही प्रारम्भ हो जाता है। ऐतरेय तथा कौषीतकी ब्राह्मण में अथर्ववेद (२०।१३३) के कुछ मंत्रों को पहेली (प्रवह्लिका) कहा गया है। इसी प्रकार बृहद्देवता (१।३५) में मंत्रों के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया गया है जिसे 'प्रहेलिका' कहते हैं। डॉ० राघवन ने स्पष्टतः उन्हें पहेली रूप (Riddle) स्वीकार किया है।

जब प्रतीक या संकेत की रूढ़ि इतनी दुरधिगम तथा क्लिष्ट हो जाय कि हमें चिन्तनशक्ति के साथ ही साथ अपनी नैतिक शक्ति (Moral power) भी खर्च कर देनी पड़े, तो वही प्रायः पहेली का रूप धारण कर लेती है। अंग्रेजी में इसे Riddle अथवा Enigma कहते हैं, जिसका तात्पर्य है—A statement with a hidden meaning to be guessed, any thing very obscure, a riddle. चेम्बर्स ने इस विषय में एक लाक्षणिक तथ्य दिया है—'अन्धकारमय कथन' (to speak darkly)।

वस्तुतः पहेली में होता यही है कि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप करके हम कोई वक्तव्य सामने रखते हैं। किन्तु तुल्यसंविधानता तथा असमानविशेषणत्व—अन्योक्ति के ये दोनों ही तत्व पहेली में या तो पूर्णतः नहीं होते या अपरिस्फुट तथा व्याख्यागम्य (दुर्बोध)

होते हैं। और जहाँ तक व्यंजनयावबोध का प्रश्न है, उसका तो पहेली में लेशमात्र भी नहीं रहता। इस परिस्थिति में भी डॉ० संसारचन्द्र उन्हें अर्वान्योक्ति या पहेली रूप ही मानते हैं। अमरकोश में प्रहेलिका तथा प्रवह्लिका शब्द परस्पर पर्याय माने गये हैं। भानु जी नामक आचार्य ने इसकी उत्पत्ति 'वह्ल आच्छादने' धातु से मानी है, 'प्रवह्लते आच्छादयति इति प्रवह्लिका। उन्हीं के अनुसार प्रवह्लिका तथा प्रहेलिका किसी प्रश्न के दुर्विज्ञेयार्थरूप हैं—द्वे दुर्विज्ञेयार्थस्य प्रश्नस्य। नैषधीयचरित (१६।१०२) के टीकाकार नारायण भट्ट ने प्रसंगतः प्रवह्लिका की व्याख्या इस प्रकार की है—'सैव दुर्विज्ञेयत्वात् प्रवह्लिका गुप्ताभिप्रायः प्रबन्ध-विशेषः।' भोज एवं हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों ने इसे श्रव्यकाव्य का अंगविशेष माना है। इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि पहेली-विषयक सिद्धान्त, अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य में समरूप ही है।

पहेलियों के प्राचीनतम उदाहरण वेद में ही प्राप्त होते हैं, यह तथ्य ऊपर स्वीकार कर चुके हैं। पहेलियों का वही धारा-प्रवाह श्रीमद्भागवत के संसार-रूपक तथा महाभारत के कूट-श्लोकों से होता हुआ, आलंकारिक युग में चित्रबन्धादि के रूप में परिणत हो गया। किन्तु यह तथ्य सर्वथा सत्य है कि पहेलियों को कभी भी सत्काव्य का स्थान एवं आदर नहीं ही मिला। पहेलयों का मूल्यांकन करने वाले प्राचीनतम आचार्य भामह हैं (ई० सन् की पाँचवीं-छठी शती) जिन्होंने यमक अलंकार के प्रसंग में (काव्या० अ० २ श्लो० १९, २०) इसकी मान्यता पर अपना विचार प्रस्तुत किया। आचार्य भामह तो प्रहेलिका को शास्त्र के समान, व्याख्यागम्य (दुर्बोध) नाना धातुओं के अर्थों से गूढ़ तथा व्यर्थ ही यमक का नाम रखने वाली अतः निकृष्ट कोटि की रचना मानते थे। क्योंकि पहेली को केवल माथा-पच्ची करने वाला बुद्धिमान जन ही समझ सकता है, मन्दबुद्धि व्यक्ति नहीं। ऐसी रचना वस्तुतः काव्य नहीं होती।[1]

आचार्य दण्डी भामह के समस्त सिद्धान्तों के निस्पृह समालोचक थे, अतः इसी दृष्टि से उन्होंने प्रहेलिका को भी भामह की तरह एकदम से नहीं ठुकराया, तथापि वे उसकी उपयोगिता को काव्यानन्द की दृष्टि से सिद्ध न कर सके। काव्यादर्श (३।९७) में उन्होंने कहा—

> 'क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमंत्रणैः।
> परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥

अतः स्पष्ट है कि पहेलियों द्वारा केवल गोष्ठी आदि मनोविनोद मात्र सम्भव है, किन्तु काव्यानन्द या रसानुभूति की कोई संभावना नहीं। ऐसी परिस्थिति में हम ध्वनिकाव्य की कोटि में आने वाली अन्योक्ति को कैसे प्रहेलिका से अभिन्न मान सकते हैं?

---

१. नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी प्रहेलिका साह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥१९॥ काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥२०॥ (द्वितीय अध्याय)।

यह तो हुई सिद्धान्त की बात। अब हमें इस तथ्य पर भी थोड़ा सोचना है कि क्या भामहादि द्वारा तिरस्कृत होने पर भी, प्रहेलिका का प्रणयन हुआ या नहीं? वैदिक तथा पौराणिक क्लिष्ट रूपकों तथा महाभारत-कूटों के अतिरिक्त भामह के प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि उनके पूर्ववर्ती किसी रामशर्मा नामक कवि ने एक वृहद् प्रहेलिका ग्रन्थ 'अच्युतोत्तर' लिखा था (द्रष्टव्य पूर्वोद्धरण श्लोक)।

भामह के बाद प्रहेलिका का स्थान चित्रकाव्य के एक विशिष्ट अंग 'चित्रबन्ध, को मिला। आचार्य रुद्रट के अनुसार चित्रबन्ध वह रचना है जिसमें श्लोक पद्म-मुसलमुरजादि चित्रों के अनुसरण पर लिखे जाते हैं, वे विचित्र तथा अंकयुक्त होते हैं।[1] रुद्रट ने चक्र खड्ग, मुसल, धनुष, शक्ति, शूल, हल, अनुलोम-प्रतिलोम अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्रादि चित्रबन्धों की परिभाषा एवं व्याख्या भी प्रस्तुत की है।

संस्कृत साहित्य में सम्प्रति उपलब्ध प्राचीनतम पहेली ग्रन्थ, ''**विदग्धमुखमडन** है जिसमें पहेली की सामान्य परिभाषा प्रस्तुत करने के साथ ही साथ उसके दो भेदों 'शाब्दी एवं आर्थी' का सम्यक् विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। विदग्धमुखमण्डन के बाद अल्मोड़ा-निवासी विश्वेश्वर पण्डित ने **कवीन्द्रकर्णाभरण** नामक प्रहेलिका विषयक एक अद्भुत ग्रन्थ की रचना उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में की है। विद्वान् कवि ने इस ग्रन्थ में कुल ५८ प्रकार की पहेलियों तथा उसके भेद-प्रभेदों की सव्याख्यचर्चा प्रस्तुत की है। उदाहृत श्लोक और भी आश्चर्य एवं आनन्ददायक हैं। प्रत्येक दृष्टि से यदि दण्डी के शब्दों में पहेली का कुछ भी सदुपयोग है तो यह ग्रन्थ पठनीय है।[2] '**चित्ररत्नाकर** नामक एक और पहेली ग्रन्थ इसी कोटि की रचना है जिसे चक्रवाक कवि ने लिखा है। सम्भवतः यह ग्रन्थ नवीन है।[3] इसके अतिरिक्त प्रहेलिका विषयक अन्य कोई रचना नहीं प्राप्त है, यद्यपि सम्भावना है। अस्तु।

पूर्व योजना के अनुसार रूपकात्मक साहित्य के तीनों वर्गों का सैद्धान्तिक तथा अंशतः साहित्यिक परिचय भी दिया जा चुका। साहित्यिक विवेचन अप्रासंगिक होने के कारण वर्णन के लिए अभीष्ट भी नहीं। किन्तु अब, अन्योक्तियों से उनका तात्विक पार्थक्य दिखाने एवं सिद्ध करने के लिए स्थालीपुलाकन्यायेन एक बार पुनः समस्त साहित्य पर हमें दृष्टि डालनी है। इस क्रम में पूर्व प्रदर्शित विभाजनक्रमानुसार ही सर्वप्रथम प्रतीकों तथा संकेतों को (वेद से लेकर प्रतीकात्मक नाटक तक) फिर आख्यानों को (जन्तुकथा-नीतिकथा) तथा अन्त में प्रहेलिकाओं को उद्धृत करके, अन्योक्ति तत्वों के साथ उनकी तुलना प्रस्तुत

---

१. भंग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साकानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥ रुद्रटालंकार ५।१।

२. काव्यमाला, अष्टमगुच्छक की दूसरी रचना। निर्णयसागर प्रेस, सन् १९११ ई०।

३. द्रष्टव्य—जर्नल आफ द केरल युनिवर्सिटी ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी वाल्यूम-१३, भाग ३, त्रिवेन्द्रम, १९४४ ई०।

की जायेगी। किन्तु किसी वस्तु को तौलने के लिए सबसे अधिक महत्व की चीज है, उसका बटखरा। अतः बुद्धि रूपी तुला पर प्रतीकादि त्रिविध-साहित्य को तौलने के लिए हम 'अन्योक्ति' का ही बटखरा बना रहे हैं, क्योंकि उसी की तुलना में मान्यता देने का प्रश्न है।

एक अन्य प्रश्न यह है कि अन्योक्ति का क्या मापदण्ड स्थिर किया जाय जो कि किसी भी दृष्टि से संकीर्ण न हो सर्वजन-ग्राह्य हो तथा अन्य काव्यविधाओं की तुलना में उसके स्वाभाविक वैशिष्ट्य (Temperamental quality) का परिचायक हो? मन में ऐसी भावना के, उठते ही आर्कीबाल मैकलिश (Archibald Macleish) का एक काव्योद्गार याद आ जाता है—

'A poem should not mean but be"

अर्थात् वह किसी कोटि की कविता नहीं, जिसका कुछ अर्थ निकालना पड़ वरन् कविता वह है जो स्वयं अपने में कुछ हो।[1] इस वाक्य में अपार व्यंजना भरी है। जिसे सहृदय पाठक ही जान सकता है। वक्ता का आक्षेप उन कविताओं पर है जो 'नेयार्थ सापेक्ष' होती है ताकि हम कोशादि की सहायता से उसका अर्थ निकालें। कविता तो वास्तव में उसे कहेंगे जो स्वयं किसी मर्मस्पर्शी भाव को लेकर उसी में ढल गई हो ताकि उसके देखते ही भाव स्वयं साकार हो उठे।

अन्योक्ति को बिना किसी अत्युक्ति के हम दूसरी कोटि में रख सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक अन्योक्ति की प्राणभूत सम्पत्ति है व्यंजना। यही व्यंजना उसका स्वरूप निखार कर उसे स्फटिक की भाँति निर्मल बना देती है। अन्योक्ति में यद्यपि अप्रस्तुत वाच्य होता है और वाच्य होने के कारण शब्दार्थ का निबन्धन भी उसमें होता है। किन्तु ऐसी दशा में भी अन्योक्ति में महत्त्व केवल भाव विशेष का ही होता है जो व्यंजना शक्ति द्वारा निष्पन्न होता है। वह अर्थ न किसी शब्द की अपेक्षा करता है और न किसी अन्य अर्थ की। वह स्वयं अपने में कुछ होता है, जिसके पढ़ते ही सहृदय पाठक हर्षातिरेक के कारण नेत्रनिमीलन के ही साथ एक अद्भुत रणरणक से भर उठता है।[2] उसे प्रतीकों की भाँति अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत के प्रमाणज्ञानार्थ ग्रन्थ-मन्थन नहीं करना पड़ता। उसे आख्यानों की भाँति अपरिचित उपमानोपमेय की प्रचुर शब्दवीथी में चक्कर नहीं काटना पड़ता और न पहेलियों की तरह भ्रूकुंचन एवं वैक्लव्य के साथ बार-बार व्याकरण कोश ही देखना पड़ता है।

---

१. A Pocket-book of Quotations, edited by Henry Dawidoff, Bombay.

२. यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाण-हृदयसंवादसुन्दरविभावनुभावसमुचितप्राग्निविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणा-व्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति (ध्वन्या लोचन, का० ४ की व्याख्या)।

अतः निश्चित है कि यदि हम आर्कीबाल्ड के मत का समर्थन करें तो 'but be' की व्याख्या 'व्यंजनासद्भाव' के ही रूप में कर सकते हैं। वह व्यंजना जो अभिधा एवं लक्षणा सरीखी शब्दाश्रित काव्यशक्तियों से सर्वथा विलक्षण, शब्दवाच्यता के दायरे से बिलकुल बहिर्भूत, वस्त्वलंकार तथा रसध्वनि से संवलित, वैदर्भवाणी के दिव्यपाक से परिपक्व,[१] स्वभावोक्ति (A natural description) एवं वक्रोक्ति (A clever presentation) के सौन्दर्य से अन्वित,[२] नवरसरुचिरा ह्लादैकमयी तथा अनन्य-परतन्त्रा होती है।

वस्तुतः व्यंजना संस्कृत काव्यशास्त्र में एक ऐसी शक्ति है जिसके आगे समस्त काव्यशक्तियाँ अथवा काव्यतत्त्व हीन एवं अप्रतिभ हो जाते हैं। यह एक ऐसी महाशक्ति है जिसके दरबार में महान् ही आ सकते हैं। यदि कोई दीन भी आना चाहेगा तो सर्वप्रथम उसका महान् बनने का संस्कार अवश्य होगा। इसी कारण जहाँ ही व्यंजना रहेगी, वहीं ध्वनि होगी, वहीं वैदर्भी रीति होगी, वहीं प्रसाद-माधुर्य (ओजस् भी) गुण होंगे, वहीं वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति जैसे रमणीय काव्यतत्त्व रहेंगे और वहीं रहेगी कवि की शक्ति या प्रतिभा! आचार्य मम्मट ने 'नियतिकृतनियमरहिता,[३] आदि द्वारा जिस 'भारती का जयघोष' काव्यलोक में गुँजाया वह वाणी प्रतीक तथा पहेली जैसे साधारण काव्यतत्त्वों से नहीं समन्वित थी, वरन् वह इसी व्यंजनाव्यापार वाली थी और आज भी है।

'अन्योक्ति' का प्राणतत्त्व स्थापित करने के लिए यहाँ सर्वप्रथम व्यंजना का ही उल्लेख किया है, क्योंकि 'वृद्धाकुमारीवरन्यायेन' व्यंजना के आदान मात्र से उन समस्त श्लाघ्य काव्य तत्वों का भी अन्योक्ति के प्रति सद्भाव सुस्पष्ट हो जाता है जिनका कि पूर्वानुच्छेद में अभी व्याख्यान किया है। यद्यपि व्यंजना की स्वरूप सम्बंधी तथा प्रभाव सम्बन्धी स्पष्टता के लिए यथेष्ट व्याख्या अपेक्षित है, किन्तु हम केवल उसका सूत्रपात भर करके, इस प्रसंग को यहीं छोड़ते हैं। चूँकि व्यंजना ही अन्योक्ति-जीवित है, अतः उसका तथा उसके अनुग्राहक तत्वों का व्याख्यान यथाप्रसंग अन्य अध्यायों में होगा।

अन्योक्ति के अन्य दोनों तत्वों का विवेचन इस अध्यायारम्भ में ही किया जा चुका है और आचार्य रुद्रट की परिभाषा से उनका स्पष्टीकरण भी हो चुका है। अतः जिस प्रकार कर्मेंद्रियों तथा ज्ञानेंद्रियों से निर्मित एक विशिष्ट शरीर में आत्मा का निवास है, ठीक उसी प्रकार अप्रस्तुत वाच्य तथा प्रस्तुत व्यंग्य से निर्मित अन्योक्ति नामक शरीर में व्यंजना रूपी आत्मा का निवास है। जैसे ज्ञानेन्द्रियों का स्थान कर्मेन्द्रियों के स्थान से उत्कृष्ट होता है, हाथ-पैर आदि की तरह स्थूल या व्यक्त न होने के कारण, ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत व्यंग्य का भी स्थान, अप्रस्तुत वाच्य से उत्कृष्ट होता है, क्योंकि उसी का बोध प्रासंगिक तथा

---

१. द्रष्टव्य काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामनकृत, सूत्र १।२।२१ के अनुवर्ती दो पद्य।

२. द्रष्टव्य भामहकृत काव्यालंकार १।३० तथा १।३६।

३. द्रष्टव्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश, १।१ (नियतिकृत आदि)।

कविसंरम्भगोचर होता है। अतएव अन्योक्ति के दो तत्व शरीरस्थानीय और एक आत्म-स्थानीय हुआ—

(१) अप्रस्तुत (वाच्य) }
(२) प्रस्तुत (व्यंग्य) } शरीरस्थानीय तत्त्व।
(३) व्यंजना व्यापार आत्मस्थानीय तत्त्व।

अब इन्हीं तत्वों से युक्त अन्योक्ति के साथ पूर्वोक्तरूपकात्मक साहित्य के तीनों वर्गों की तुलना की जायगी। प्रतीकात्मक साहित्य का सोदाहरण विवेचन पहले कर चुके हैं। इन्द्र वृत्र सम्बन्धी प्रतीक (मेघ अथवा सूर्य) आत्मापरमात्मा विवेक (द्वासुपर्णा सयुजा० मुण्डको० ३।१।२) तथा भ्रमरगीत (श्रीमद्भागवत १०।४७।१४) संबंधी तीन उदाहरण अन्योक्ति के विकास की दृष्टि से उद्धृत किए गए हैं। पहले में शुद्ध प्रतीक, दूसरे में अपरिस्फुट अन्योक्ति तथा तीसरे में पूर्णतः अन्योक्ति है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रतीक के समस्त उदाहरण अन्योक्ति-युक्त होंगे ही। वरन् सत्य तो यह है कि जिन पद्यों में हम स्फुट अन्योक्ति पाते हैं वे उदाहरण प्रतीक के हैं ही नहीं। उदाहरणार्थ वृषभ के लिए प्रतिपादित एक प्रतीकात्मक पद्य देखिए—

'चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यान् आविवेश॥
—ऋग्वेद ४।५८।३

यहाँ प्रस्तुत यज्ञ के लिए अप्रस्तुत वृषभ का रूपक प्रस्तुत किया है ऐसा सायणाचार्य का मत है। किन्तु बार-बार संख्याओं के आने से यह प्रतीक सर्वथा क्लिष्ट, दुर्बोध तथा व्याख्या-गम्य हो गया है। जब तक सायणाचार्य की यज्ञपरक व्याख्या अथवा महाभाष्यकार पतंजलि की वाणीपरक व्याख्या हमें नहीं प्राप्त होती, तब तक एक शब्द का भी अर्थ लगाना असम्भव हो जाता है। इस पद्य में चार दो सात तथा तीन का अर्थ, चार ऋत्विक् (होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा) तीन अंग (प्रातः माध्यन्दिन तथा सायं सवन) तथा सात छन्द (गायत्री आदि) इत्यादि समझाना घोर अभिधा का कार्य है। व्यंजना का तो यहाँ नाम ही नहीं!

फिर भी डॉ० संसारचन्द्र जी डॉ० गोविन्दशरण त्रिगुणायत (कबीर और जायसी का रहस्यवाद, भूमिका पृ० १५) का प्रमाण देते हुए इस पद्य के विषय में कहते हैं—'कुछ विद्वान् इस **अन्योक्ति** को अध्यात्मपक्ष की ही ओर लगाते हैं। अध्यात्मज्ञान वृषभ है (तृतीयाध्याय० पृ० ९६)।

किन्तु उनका यह मत सर्वथा निराधार और असंगत है, क्योंकि अन्योक्ति इतनी सस्ती वस्तु नहीं, जितनी कि बिना उसका कोई स्वरूप निश्चित किये, हम समझ बैठते हैं। वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरण पूर्णतः दुर्बोध प्रतीक या पहेली का है, अन्योक्ति का नहीं।

महाभारत में अन्योक्ति तत्त्व का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हुए डा० संसारचन्द्र जी ने गीता से एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें 'अश्वत्थवृक्ष' के प्रतीकों द्वारा संसार की व्याख्या की गई है।[1] किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से श्रीमद्भागवत (११।१२।२१-२३) में वर्णित संसार तरु भी देख लेना उचित ही होगा। भगवान कृष्ण, उद्धव को सदुपदेश देते हुए कहते हैं—

य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते।।२१।।
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पंचस्कन्धः पंचरसप्रसूतिः
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्के प्रविष्टः।।२२
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्।।२३।।

प्रस्तुत श्लोकत्रयी में पुराण—अनादि। कर्मात्मक—प्रवृत्तिस्वभाव वाला। पुष्प फल का अर्थ टीकाकार आचार्य श्रीधर के अनुसार भोग एवं अपवर्ग है। दो बीज—पुण्य-पाप। शतमूल—अपरिमित मूल। त्रिनाल—सत्वरजस्तमस् गुण। पंचस्कन्ध—पंचमहाभूत। पंचरस—शब्दादि विषय। दशैकशाख—ग्यारह इन्द्रियाँ (पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन)। द्विसुपर्ण—आत्मा (जीव) तथा परमात्मा। त्रिवल्कल—वात पित्त श्लेष। द्विफल—सुख दुःख। अर्कप्रविष्ट—सूर्य मण्डल तक व्याप्त। गृद्धों के एक फल खाने का तात्पर्य है कामियों द्वारा दुःख प्राप्ति। ग्रामेचर अर्थात् गृहस्थ जन एक फल (सुख रूप) प्राप्त करते हैं। किन्तु अरण्यवासी हंसगण, अर्थात् विवेकी संन्यासी तो उस एक परब्रह्म को जानते हैं (जो मायामय तथा बहुरूप है) ऐसे विवेकी ही वास्तव में तत्वार्थ को जानते हैं।

श्रीमद्भागवत तथा गीता के इन संसार-तरु सम्बन्धी दृष्टान्तों में प्रस्तुत संसार का स्वरूप जानने के लिए प्रस्तुत वृक्ष का रूपक, उपस्थित किया गया है। किन्तु अन्योक्ति का केवल एक तत्व, इनमें प्राप्त हो रहा है—प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप। (यद्यपि अन्योक्ति में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप न होकर इसका उल्टा ही होता है तथापि यहाँ आरोप-क्रिया की उभयनिष्ठता के ही कारण साम्य स्थापित किया गया है) जहाँ तक प्रस्तुत के व्यंग्य

---

१. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययं छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद व वेदवित्।।१
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्यशाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा।।३।।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं, यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।
—गीता अ० १५

होने का प्रश्न है, वह किसी में भी नहीं है, क्योंकि दोनों में क्रमशः 'हंसो य एकं बहुरूपमिज्यै-र्मायामयं वेद स वेद वेदम् तथा तमेवचाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'' कहकर व्यंजनयावबोद्धव्य परब्रह्म को वाच्य बना दिया है। और जब प्रस्तुत भी वाच्य हो गया तो व्यंजना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। केवल प्रतीकों का खिलवाड़ है। श्रीमद्भागवत का रूपक तो स्पष्टतः प्रहेलिका कोटि में आ जायगा। इस प्रकार समस्त प्रसंग की दृष्टि से तो ये पद्य, अन्योक्ति क्षेत्र से बहुत दूर है किन्तु प्रस्तुत वाच्यांश को हटा देने पर वे रूपक माने जा सकते हैं। यद्यपि डॉ० संसारचन्द्र ने भी यहाँ इस तथ्य को स्वीकार किया है—''किन्तु अप्रस्तुत की तरह प्रस्तुत को भी वाच्य बना देने से वह अन्योक्ति का विषय न रहकर शुद्ध रूपक बन जाता है' (तृतीयाध्याय, पृ० ९९) तथापि वे इन पद्यों को अन्योक्ति कहते हैं।

पुराणों के बाद लौकिक संस्कृत साहित्य का उदय होता है जिसमें हम नाटकों में प्रतीक परम्परा प्राप्त करते हैं। इस परम्परा का प्राचीनतम नाटक अश्वघोष कृत, (ई० पहली शती) 'शारिपुत्रप्रकरण' माना जाता है, जिसमें बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि अमूर्त वृत्तियाँ सजीव प्रतिमा के रूप में रंगमंच पर कथोपकथन प्रस्तुत करती हैं। किन्तु इस विषय में हम संस्कृत विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि महाकवि भास का भी एक नाटक—बालचरितम्[1] इसी कोटि का है। अतः संस्कृत नाटकों में प्राचीनतम प्रतीकनिबन्धन शारिपुत्र में न होकर बालचरित में ही है।

'बालचरित' भास कृत पाँच अंकों का नाटक है जिसमें कृष्ण द्वारा पूतना-वध से लेकर कंसबध तक के बीच की गई विविध, मनोहारिणी लीलाओं का वर्णन किया गया है। कृष्ण-जन्म के बाद वसुदेव बालक को अपने मित्र नन्द के यहाँ रख आते हैं तथा बदले में यशोदा की सद्योजात पुत्री लेकर लौट आते हैं। कंस, शिशु-जन्म का समाचार पाकर बच्ची को मारने के लिए उद्यत होता है। अब यहीं से रूपक प्रारम्भ होता है।

कंस के अत्याचारों से ऊबकर मधूक ऋषि ने कंस को श्रीहीन तथा विनष्ट हो जाने का शाप दिया था। वही शाप अब वज्रबाहु नामक आकार विशेष के रूप में चाण्डाल युवतियों के साथ लक्ष्मी को बाहर जाने के लिए भगवान विष्णु का आदेश लेकर आ पहुँचता है। चाण्डालिकायें साकार होकर कंस से बार-बार कहती हैं—

'आगच्छ भर्तः! आगच्छ, अस्माकं कन्यकानां त्वया सह विवाहो भवतु।' इस कथन का तात्पर्य यह है कि कंस मृत्यु को प्राप्त हो।' क्योंकि मरने के बाद ही वह प्रेत होगा और तभी उसका विवाह किसी प्रेतकन्या के साथ हो सकेगा। लाचार होकर लक्ष्मी कंस को छोड़कर चली जाती है और कंस अकेले अलक्ष्मी-खलती-शाप तथा कात्यायनी (मृत बालिका) से घिर जाता है। कात्यायनी कंस की मृत्यु-सूचना उसे सुनाती है, कंस विकल हो जाता है।'

१. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज २१, १९१२ ई०।

पंचमांक में पुनः थोड़ी प्रतीकात्मकता दृष्टिगोचर होती है, जब कंस के निमन्त्रण पर आए हुए कृष्ण के मखशाला में प्रवेश करने के पूर्व ही उनके समस्त आयुध (गरुड़-चक्र-शार्ङ्ग-शंख-नन्दक-कौमोदकी आदि) मानवीकृत रूप में उपस्थित होकर अपने अपने शौर्य की प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीनतम प्रतीकविन्यास बालचरित में ही है। कृष्ण के भय से भीत, कंस अपने ही मनोभावों एवं शंकाओं को साकार रूप में देखता है। बालचरित तथा शारिपुत्र प्रकरण के बाद इस कोटि का प्रसिद्धतम प्रतीक नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' कृष्ण-मिश्र द्वारा (ग्यारहवीं शती) प्रणीत किया गया, जिसके पीछे प्रतीकात्मक संस्कृत नाटकों की एक परम्परा ही चल पड़ी। यशपाल कृत 'मोहपराजय' (१३वीं शती) वेदान्तदेशिक कृत संकल्पसूर्योदय (१४वीं शती) परमानन्द सेनकृत 'चैतन्यचन्द्रोदय' (कवि कर्णपूर कृत-चैतन्यचन्द्रोदय?) रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित कृत 'भावनापुरुषोत्तम', गोकुलनाथ कृत 'अमृतोदय' (सब १६वीं शती) सामराजदीक्षित कृत 'श्रीदामचरित' वादिचन्द्र प्रणीत (१६४८ ई०) ज्ञानसूर्योदय (प्रबोध० के विरोध में) (१७वीं शती) देवकवि कृत—'विद्यापरिणय' तथा 'जीवानन्दनम्', भूदेवशुक्लकृत 'धर्मविजय' (१८वीं शती) आदि रचनायें इसी परम्परा में आती हैं।

किन्तु प्रतीक नाटकों की अपनी एक पृथक् सत्ता है, उन्हें हम अन्योक्ति से मिला नहीं सकते। पाश्चात्य कवि बनियन के 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' की भाँति इन रचनाओं के पात्र भी प्रायः अमूर्त भावों के मानवीकृत रूप (Personified figures) हैं किन्तु केवल कुछ विशिष्ट वस्तुओं के प्रतीक होने के अतिरिक्त उनमें अन्योक्ति का कोई तत्व नहीं प्राप्त होता। दूसरी बात यह कि इन नाटकों में सब के सब पात्र अप्रस्तुत हों ऐसी बात नहीं रहती। नायकादि कुछ पात्र इसमें प्रस्तुत साथ ही साथ वाच्य भी रहते हैं। अतः प्रस्तुत के वाच्य होने पर समस्त अप्रस्तुत-योजना एक 'रूपक' मात्र, अभिव्यक्ति का एक प्रकारान्तर मात्र बन जाती है।

डा० संसारचन्द्र जी के शोध प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय 'संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति पद्धति' (पृ० १४५-१७०) है। किन्तु शोधकर्ता ने समस्त अध्याय के कुल सत्रह शीर्षकों[1]

---

१. अन्योक्ति पद्धति का स्वरूप अन्योक्ति पद्धति वेदमूलक, वेदों में अन्योक्ति पद्धति, वेदों में रूपक काव्य के तत्त्व, इन्द्र-वृत्र उपाख्यान में विज्ञानरहस्य, इन्द्रवृत्रसंघर्ष में दार्शनिक रहस्य, बाल्मीकि० में इतिहास और काव्य तत्व, वानर और असुर-प्रतीकात्मक? सीता के पीछे संकेत, महाभारत और उसके संकेत, पुराणों में अन्योक्ति प०, सृष्टि की प्रतीकात्मक उत्पत्ति, त्रिपुरासुरवध का दार्शकिक रहस्य, श्रीमद्भागवत की सृष्टि एवं रास लीला प्रतीकात्मक, कालिदासादि कलाकारों की प्रतीकात्मक शैली, प्रतीकात्मक संस्कृत नाटक, गद्यात्मक जन्तुकथा साहित्य-संकेतात्मक।

में केवल यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संस्कृत-साहित्य में कहाँ-कहाँ प्रतीक योजना है? क्योंकि उनके अनुसार जहाँ-जहाँ प्रतीक एवं संकेत (रूपक) होंगे, वहाँ-वहाँ अन्योक्ति होगी। परन्तु इस तथ्य को हम किसी रूप में भी नहीं स्वीकार कर सकते कि प्रतीक को अन्योक्ति का लक्षण माना जाय। जब कि हम यह सिद्ध कर चुके हैं, अन्योक्ति का क्षेत्र प्रतीकों से सर्वथा भिन्न एवं गौरवार्ह है। अन्योक्ति व्यंजना की सहायता से ध्वनि का रूप धारण करती है और प्रतीक-संकेत क्लिष्टता तथा दुर्बोधता के कारण 'प्रहेलिका'का रूप धारण करते हैं। ध्वनि, उत्तम काव्य है तथा चित्रकाव्य (पहेली) अधम ! तो फिर उत्तम एवं अधम में संगति कैसी ?

एक प्रश्न है, वह यह कि यदि समस्त संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति पद्धति होने का तात्पर्य उनमें प्रतीकों का होना ही है, तो वे अन्योक्तियाँ कहाँ जायंगी जो महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति-स्तोत्र, नाटक प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, गद्यकाव्य, चम्पू तथा मुक्तक सुभाषितों में हमारे उदारचेता कवियों द्वारा निबद्ध की गई हैं। अन्योक्ति लिखने वाले वे हजारों कविगण, कहाँ जाएँगे, जिनका आज हम नाम तक नहीं जानते, जिन्होंने समाज-व्यक्ति प्रणय-प्रकृति तथा राजनीति के एक एक अंग को लेकर अपार अन्योक्ति वाङ्मय सर्जित किया। यदि कोई सहृदय पाठक संस्कृत काव्य-साहित्य के इस स्वर्गिक सुख का अनुभव करना चाहे तो वह सुभाषित रत्नकोश, सदुक्तिकर्णामृत, शार्ंगधरपद्धति, सूक्तिमुक्तावली तथा प्रसन्न साहित्य रत्नाकर जैसे ग्रन्थों को उठाकर देख ले। हमें पूर्ण विश्वास है कि उसको 'प्रज्ञादृष्टि' खुल जायगी। इस विषय का सविस्तर विवेचन आगे पाँचवें तथा छठें अध्यायों में होगा।[१]

अब आइए आख्यान साहित्य पर ! इसमें जन्तु कथायें तथा लोक कथायें (नीति कथायें) मुख्य रूप से आती हैं। जन्तुओं को मानवव्यवहृतियों में भाग लेने का दृष्टान्त हम वैदिक साहित्य से ही पाते हैं। ऋग्वेद में सरमा नामक कुतिया इन्द्र की दूती बनकर पणि नामक राक्षसों के पास जाती है, जिन्होंने इन्द्र की गायों का हरण कर लिया था। (द्रष्टव्य-'सरमा-पणि संवाद सूक्त' ऋग्वेद १०।१०८)। इसी प्रकार सार्पराज्ञी सूक्त (ऋग्वेद १०।१८९) में साँपिनों का, मण्डूक सूक्त (ऋग्वेद ७।१०३) में मेढकों आदि का वर्णन मानवीय स्तर पर हम पाते हैं। समस्त वैदिक साहित्य में बलिपशु (अश्वमेधादि) तथा अन्य जीवों के वृत्तान्त प्रायः प्राप्त होते हैं। रामायण तथा महाभारत में, साथ ही साथ समस्त पौराणिक साहित्य में ये आख्यान उपनिबद्ध किये गये हैं। महाभारत का 'गृद्धजम्बुक संवाद' (महा० पर्व १२, अ० १४९)' कपोतवधिक वृत्तान्त (महा० शान्ति० अ० १४३-४९) सरितासमुद्र संवाद (महा० शान्ति० अध्याय ११३) श्रीमद्भागवत का भवाटवी रूपक (स्कन्ध ५, अध्याय १३-१४), गजेन्द्रोपाख्यान (श्रीमद्भा० ८।२, ३) तथा रामायण का जटायु सम्पाति-वानर संबंधी आख्यान,

---

१. अन्योक्ति साहित्य का व्यावहारिक विवेचन (६) लिखित अन्योक्ति साहित्य तथा उसके मान्य कवि (५)।

प्राचीन जन्तुकथा के प्रारम्भिक स्वरूप हैं। अद्यावधि प्राप्त समस्त जन्तु या नीति कथाओं का मूल या गौण स्रोत, गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' है जो ईशा की प्रथम शती में लिखी गयी। गुणाढ्य, राजा सातवहन हाल के राजकवि थे। बुधस्वामीकृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (पाँचवीं शती) सोमदेवकृत कथासरित्सागर (ग्यारहवीं शती) क्षेमेन्द्र कृत, बृहत्कथामंजरी (ग्यारहवीं शती ई०) विष्णुशर्मा प्रणीत पंचतन्त्र (१वीं शती) तथा नारायण कवि-प्रणीत 'हितोपदेश' (चौदहवीं शती) इत्यादि आख्यान ग्रन्थ, उसी परम्परा में लिखे गये हैं।

इन कथाओं में यद्यपि जो जीवजन्तु आए हैं, वे कथा की दृष्टि से हैं तो सर्वथा प्रस्तुत ! किन्तु वक्ता एवं श्रोता की दृष्टि से (जिसके लिए वे कथायें कही गई हैं) हम, इन समस्त जन्तुकथाओं तथा उसके पात्रों को प्रतीक या अप्रस्तुत ही मान सकते हैं। अन्योक्ति से इन कथाओं का बस आरोपमात्र का ही साम्य है और कोई नहीं। इन तथ्यों का सकारण व्याख्यान हम प्रतीकों के सन्दर्भ में कर चुके हैं।

पहेली के सिद्धान्त एवं विकास की व्याख्या हो चुकी है। वैदिक साहित्य से वृषभ संबंधी उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा चुका है। जब रूपक, पूर्णतः दुर्बोध एवं व्याख्यागम्य हो जाता है तो वही पहेली का रूप धारण कर लेता है। पहेली में आवश्यक नहीं कि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप हो ही। अतएव वह शुद्ध अभिधा में भी हो सकती है। उस दशा में काव्य में प्रचलित, क्लिष्ट-अवाचक-तथा अप्रतीतादि दोष अभिधा के परम सहायक बन जाते हैं और पाठक लाख कोशिश करने पर भी शीघ्र अर्थावबोध नहीं कर पाता। महाभारत का एक कूट-श्लोक देखिए। विराट् नगर में गायों का हरण होने के प्रसंग में रथ पर समारूढ़ अंगना (बृहन्नडा) भेषधारी पार्थ को युद्धस्थल में आते देखकर भीष्म कर्ण से कहते हैं—

'नदीज ! लंकेशवनारिकेतुः नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः।[1]
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी जित्वा वयं नेष्यति चाद्य गावः।।

इसी प्रकार शिखण्डी की आड़ में छोड़े गये बाणों से जर्जर होकर पितामह भीष्म की एक क्लिष्टोक्ति देखिये—

अर्जुनस्य इमेबाणा नेमेबाणाः शिखण्डिनः।
कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमासे गवा इव।।—भीष्मपर्व ११९।६५-६६।

यहाँ द्वितीय पंक्ति में कूट है—अर्थात् जैसे केकड़ी के बच्चे माँ का पेट फाड़ कर बाहर निकलते हैं यों ही मुझे अर्जुन के बाण जर्जर बनाए दे रहे हैं, ये शिखण्डी के बाण कत्तई नहीं हैं (माघमां सेगवा इव)।

---

१. नदीज—कर्ण ! लंकेश० का अर्थ है—रावण के वन के अरि (हनूमान) हैं, ध्वजा जिसकी अर्थात कपिध्वज पार्थ। नगारि-पर्वतों के शत्रु इन्द्र, उनके पुत्र (पार्थ)। अंगनाभेष-धर—बृहन्नला रूप। स्पष्टतः यहाँ कष्ट कल्पना एवं अप्रतीतादि काव्य दोष हैं।

दूसरे पक्ष का अर्थ-रूप इस प्रकार है—जैसे माघ के महीने में गायें, कष्ट पाती हैं उसी प्रकार अर्जुन के बाणों से मैं छिन्न हो रहा हूँ (माघमासे गवा इव) शुद्ध पहेली के उदाहरण विदग्धमुखमण्डन अथवा कवीन्द्रकर्णाभरण में ही प्राप्त होते हैं। चतुर्भाणी, में प्रयुक्त अनेक वाक्यों तथा शब्दों को भी पहेली रूप ही स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि उनमें भी गूढ़ार्थता अपनी चरम पराकाष्ठा पर है। यहाँ कवीन्द्रकर्णाभरण की कुछ पहेलियाँ दिङमात्र निर्देश के लिए दी जा रही हैं—

(१) वर्धमानाक्षरजाति—

किं वा पदं विकल्पार्थं बालासंबोधनं वद।
मथ्नद्भिरब्धिं विबुधैः को नेत्रं मन्दरे कृतः।। (वासुकि)

यहाँ एक एक अक्षर बढ़ने के कारण वा, वासु तथा वासुकि-पद क्रमशः तीनों प्रश्नों के उत्तर हैं।

(२) दूसरा उदाहरण—

विद्ययास्ति सह कोऽत्र विरोधी का मुनेरपि मनो मदयन्ति।
दिङमुखः स्म भृशमीर्ष्यति कस्मै काव्यमाहुरमृतप्रतिमं किम्।।

यहाँ भी उपर्युक्त रीति से (विद्याविरोधी) 'राः' अर्थात् धन, (मुनियों का मन हरण करने वाली) 'रामा' (संसार जिसे पाने की कामना करता है ऐसे) 'रामाय' तथा (अमृतप्रतिम काव्य) 'रामायण' ये चारों शब्द उक्त चारों प्रश्नों के उत्तर हैं।

(३) पहेली का उदाहरण—

गुणे कृते विभ्रतियेऽत्र वृद्धिं भागस्य हारेण भजन्ति नाशम्।
गतिं लभन्ते विपरीतरूपां के द्विर्वधातसत्कृतिमाश्रयन्ति।।
योधान्तरस्थोऽपि[1] च मुक्तभीरुः परादिमन्त्योऽपि सुहृत्समेतः।
कुम्भस्य जेताऽपि न वानरेन्द्रो भवेत्कठोरोऽपि मनोहरः कः।।

इन पद्यों के अर्थ सुस्पष्ट हैं। पहले पद्य का उत्तर है—'अंकाः' तथा दूसरे का 'पयोधरः'।

किन्तु जैसा कि पहले ही इस विषय में एक 'विशिष्टमन्तव्य' स्थिर किया जा चुका है कि पहेलियाँ किसी रूप में अन्योक्ति के 'समान' भी नहीं हैं। तादात्म्य का तो प्रश्न ही

---

१. 'पयोधर' के मध्य में 'योध' शब्द है फिर भी वह 'मुक्तभीरु' है (क्योंकि नारी अबला होती है) आगे पीछे शत्रुओं से घिरा (प तथा र शब्द) होकर भी मित्रों से युक्त रहता है (कुचमर्दनार्थ प्रायः सभी लालायित रहते हैं) कुम्भजेता (हस्तिकुम्भस्पर्धी) होकर भी वह हनूमान नहीं है। और कठोर (मांसल) होकर भी वह मनोहारी होता है। (प्रत्येक शब्द द्वयर्थवाची है)।

नहीं। इनमें कवि का एकमात्र लक्ष्य 'उक्तिवैचित्र्य' मात्र प्रतिपादित करना है जिनमें कि रसानुभूति का कोई भी ध्यान नहीं रखा जाता। यद्यपि पहेली बूझने के बाद थोड़ा और कभी कभी तो विशेषानन्द भी प्राप्त होता है किन्तु वह आनन्द कृत्रिम होता है। घण्टों माथा-पच्ची करने का मिहनताना (पारिश्रमिक) भर होता है। उसमें रस-प्रसूत काव्यानन्द का लेशमात्र भी नहीं रहता। पहेली में प्रायः प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों वाच्य ही होते हैं जैसा कि अन्तिम उदाहरण से स्पष्ट है। अतः व्यंजनयावबोध तो पहेली से बहुत दूर की वस्तु है। पहेली में केवल श्लेष तथा उसकी व्याख्या भर का महत्व है।

रूपकात्मक साहित्य के तीनों वर्गों का तुलनात्मक विवेचन समाप्त हो चुका और अब हम इस निर्णय पर पहुँच चुके हैं कि प्रतीक आख्यान तथा पहेली, इन तीनों ही काव्यांगों के अपने-अपने पृथक् क्षेत्र हैं। अन्योक्ति से इनका साम्य केवल आरोपण क्रिया के ही कारण है किन्तु जहाँ तक अन्योक्ति के स्वरूपावायक अन्य तत्वों का प्रश्न है, वे या तो प्रतीकादि में हैं नहीं और यदि हैं भी तो अनुचित रूप से निबद्ध किये गए हैं।

अध्यायोपसंहरण के पूर्व ही अन्योक्ति के अन्य पर्यायों पर भी थोड़ा विचार संक्षेप में ही कर लेना आवश्यक है। 'संक्षेप' में कहने से विशेष अभिप्राय यह है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के जिन-जिन आचार्यों ने उन-उन पर्यायों की उद्‌भावना की है, उनके प्रसंग में तो इनका सर्वांगीण विवेचन होगा ही। अन्योक्ति नाम ही ग्रहण करने के लिए उपस्थापित वृत प्रसंग में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्योक्ति नाम नवम शती में आचार्य रुद्रट द्वारा ही सर्वप्रथम प्रयुक्त किया गया। किन्तु साक्ष्योपलब्धियों से ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य रुद्रट के पूर्व तथा बाद में भी अन्योक्ति के अनेक पर्याय प्रचलित रहे। रुद्रट के पूर्ववर्ती प्रचलित पर्यायों में मुख्यतः तीन नाम आते हैं——अन्यापदेश, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्ति। इसी प्रकार बाद में प्रचलित नामों में भी मुख्यतः तीन हैं——अनन्योक्ति, उभयोक्ति तथा प्रस्ताव।

'अन्यापदेश' शब्द का प्राथमिक उल्लेख आचार्य भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र के षोडशाध्याय में आया है। भरत ने चार अलंकारों के साथ ही साथ काव्य-रचना के लिए अनुकरणीय तत्वों के रूप में ३६ लक्षणों का भी उल्लेख किया है। उनमें से 'मनोरथ' नाम का लक्षण पूर्णतः परवर्ती अप्रस्तुतप्रशंसा के ही रूप का है: अतः मनोरथ लक्षण को ही अन्योक्ति का प्रधान मूल माना जा सकता है। चूंकि भरत ने लक्षणों एवं अलंकारों का पृथक व्याख्यान किया है अतः इस पृथक्करण के पीछे उनकी कुछ न कुछ विवेक बुद्धि अवश्य रही होगी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हम 'मनोरथ' को अप्रस्तुतप्रशंसा का पर्याय नहीं मान सकते। किन्तु 'मनोरथ' लक्षण की परिभाषा में आचार्य ने 'अन्यापदेश कथनो' का जो उल्लेख किया है, वह अन्योक्ति पर्याय की दृष्टि से अवधेय तथा ग्राह्य है।[1]

---

१. हृदयस्थस्य भावस्य सुश्लिष्टार्थप्रदर्शनम्।
अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृतः। नाट्य० अ० १६।

अन्यापदेश का शाब्दिक अर्थ है---'अन्योक्ति'। 'अन्यापदेश कथनो' के प्रामाण्य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भरत के पूर्व भी समाज में भावाभिव्यक्ति की कोई विशिष्ट प्रणाली अवश्य प्रचलित थी, जिसमें लोग अपनी बात (प्रस्तुत) को सीधे न कहकर किसी अन्य (अप्रस्तुत वाच्य) के बहाने प्रकट करते थे। यही अन्यापदेश आधुनिक अन्योक्ति का प्राचीनतम रूप है। संस्कृत साहित्य का प्रथम संग्रह ग्रन्थ सुभाषित-रत्नकोष (१२वीं शती) है, जिसमें अन्यापदेश-व्रज्या का ही उल्लेख है। इसी प्रकार सदुक्तिकर्णामृत में---'अपदेश-प्रवाह'[१] (१३वीं शती) सूक्ति-मुक्तावली में अन्यापदेश पद्धति (१३वीं शती) तथा सुभाषितावली में भी अन्यापदेश पद्धति (१५वीं) के नाम से अन्योक्तियों का संकलन किया गया है। अतः यह तथ्य स्पष्ट है कि अन्यापदेश का अर्थ संग्रहकारों ने अन्योक्ति से ही लगाया था। इस विषय में अन्य ज्ञातव्य बातें अगले अध्याय में स्पष्ट की जायेंगी।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' नाम सर्वप्रथम आचार्य भामह द्वारा (५वीं, छठीं शती) ग्रहण किया गया। यह वह समय था, जब सर्वप्रथम भारतीय अलंकारशास्त्र के इतिहास में अन्योक्ति अलंकार रूप में हमारे समक्ष आई। भामह के बाद दण्डी (७वीं शती) ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा तथा अप्रस्तुत स्तोत्र के रूप में इसी नाम को ग्रहण किया। किन्तु उनकी अप्रस्तुत-प्रशंसा भामहीय अप्रस्तुतप्रशंसा (या अप्रस्तुतस्तोत्र) से सिद्धान्ततः सर्वथा पृथक् है क्योंकि भामह-प्रोक्त अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार को दण्डी समासोक्ति का ही वैकल्पिक भेद मानते थे। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण (४/२) में इसे अप्रस्तुतस्तुति कहा है किन्तु उनका तद्विषयक मत दण्डी के ही अनुकूल है। दण्डी के बाद उद्भट तथा वामन (८वीं शती) ने, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने (१०म शती) और बाद में अधिकांश मम्मटोत्तर-कालीन आचार्यों ने भी अन्योक्ति के इसी पर्याय को मान्यता दी। किन्तु भामह सम्मत अप्रस्तुत० को ही !! न कि दण्डी सम्मत अप्रस्तुत० को। आचार्य रुद्रट ने नवीं शती में सर्वप्रथम अन्योक्ति नाम की स्थापना की। इस विषय में अपेक्षित व्याख्यान अध्यायारम्भ में प्रस्तुत किया जा चुका है।

समासोक्ति पर्याय का अन्योक्ति के लिए प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने ही सातवीं शती में किया था। दण्डी के पूर्व प्रस्तुत वाच्य द्वारा अप्रस्तुत व्यंग्य का व्यंजनयाबोध होने के कारण तथा संक्षेप में उक्ति होने के कारण समासोक्ति अलंकार माना गया था। इसी प्रकार अप्रस्तुत वाच्य द्वारा प्रस्तुत व्यंग्य का व्यंजनयावबोध होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जाती थी। किन्तु दण्डी ने इस पार्थक्य को स्वीकार नहीं किया। शायद इसलिए कि इन दोनों ही अलंकारों में तकनीक एक ही रहती है। यदि प्रस्तुत से अप्रस्तुत के व्यंजनया बोध होने में समासोक्तित्व या संक्षेपकथनत्व है तो अप्रस्तुत० में क्यों नहीं? जबकि उसमें

---

१. अमराः शृंगारचटू अपदेशोच्चावचे अपि क्रमशः।
इति पंचभिः प्रवाहैः सदुक्तिकर्णामृतं क्रियते॥ प्रस्तावना का पाँचवाँ पद्य।

भी अप्रस्तुत से प्रस्तुत का व्यंजनया बोध ही होता है। अतः एक में समासोक्ति मानना और दूसरे में न मानना—यह पार्थक्य संभवतः दण्डी को कृत्रिम-सा प्रतीत हुआ। इसी कारण उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा को भी समासोक्ति में मिला दिया। अब समासोक्ति के दो विकल्प हो गए—चाहे प्रस्तुत से अप्रस्तुत का व्यंजनयाबोध हो, चाहे उसका प्रतीप, किन्तु दोनों ही दशाओं में समासोक्ति ही होगी। दण्डी ने अप्रस्तुतप्रशंसा को एक नवीन रूप दिया। अप्रस्तुत की प्रशंसा से जहाँ प्रस्तुत की निन्दा का व्यंजनया बोध होता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होगी।[1] यद्यपि असंख्य अन्योक्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें कि दण्डी का यह लक्षण घटित होता है, अतः वे भी एक विशिष्ट रूप की अप्रस्तुतप्रशंसा हैं। आगे चलकर भोज ने भी इसी समासोक्ति पर्याय को ग्रहण किया।

अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति पर्याय भोज ने स्वीकार किया है। भोज ने समासोक्ति पर्याय दण्डी के अनुकरण पर स्वीकार किया था। इसी का स्वतंत्र विवेचन करते हुए उन्होंने अन्योक्ति अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति को भी समासोक्ति का ही अभिधान विशेष माना। इसका विस्तृत व्याख्यान अपने प्रसंगानुसार किया जायेगा।[2]

प्रस्ताव का अर्थ होता है विषय। आप्टे साहब के मतानुसार जो प्रस्तुत किया जाय वही प्रस्ताव है।[3] किन्तु यह शब्द लक्षण या अन्योक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। संवत् १६१४ में लिखित प्रस्तावरत्नाकर[4] (हरिदास द्वारा) में अन्योक्ति का भी प्रस्ताव रूप में निबन्धन किया गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी (सत्रहवीं शती) अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भामिनीविलास' में अन्योक्तियों के वर्णनार्थ 'प्रास्ताविक विलास' का ही उल्लेख किया है। यदि वे शृंगार करुण तथा शान्त विषयों (Topics) को भी प्रास्ताविक में ही रखते तो प्रस्ताव शब्द से केवल अन्योक्ति के बोध में कष्टकल्पना होती। किन्तु पण्डितराज ने केवल अन्योक्तियों के ही लिए प्रस्ताव शब्द का प्रयोग किया। इससे सिद्ध होता है कि प्रस्ताव शब्द से उनका तात्पर्य साधारण विषय (usual topc) मात्र से नहीं था (नहीं तो उस दशा में शृंगारादि विषय भी उसी शीर्षक में आते) वरन् स्पष्टतः अन्योक्ति से था।

इन युक्तियों के आधार पर हमें प्रस्ताव को भी अन्योक्ति का ही पर्याय स्वीकार करने में कोई दुविधा न होनी चाहिए। डा० संसारचन्द्र जी ने 'सूफी साहित्य के मर्मज्ञ' डा०

---

१. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादपाक्रान्तेषु या स्तुतिः।२।३४० सुखं जीवन्ति हरिणाः–२।३४१
सेयमप्रस्तुतैवात्रमृगवृत्तिः प्रशस्यते राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना॥२।३४२

२. द्रष्टव्य सरस्वती कण्ठाभरण ४।४७।४९।

३. The occasion of a discourse, subject, topic (Students' Sanskrit English Dictionary, Bombay 1923)

४. हस्तलिखित प्रति राव मुकुन्द सिंह द्वारा (बूंदी) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को सन् १९५९ में भेंट। प्रति की संख्या ९४४।

चन्द्रबली पाण्डेय का प्रामाण्य देते हुए परोक्ति सन्ध्योक्ति तथा गर्भोक्ति को भी अन्योक्ति के पर्यायरूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु ये पर्याय सर्वथा अप्रामाणिक तथा मनगढ़न्त हैं साथ ही साथ उक्त हिन्दी विद्वानों द्वारा किसी ग्रन्थ विशेष की दृष्टि से ही उद्भावित किये गये हैं। अतः ऐसी स्थिति में उन्हें स्वीकार करना असम्भव है।

प्रस्तुत शती (२०वीं) में ही विद्यमान श्री महालिंगशास्त्री जी ने 'व्याजोक्ति-रत्नावली' नामक अपने अन्योक्ति ग्रन्थ में स्वरचित १२५ अन्योक्तियों का संकलन किया है। ग्रन्थ के शीर्षक से यह सिद्ध हो जाता है कि कवि 'व्याजोक्ति' को अन्योक्ति का ही पर्याय स्वीकार करता है। किन्तु 'व्याजोक्ति' को 'अन्योक्ति' का पर्याय मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र में 'व्याजोक्ति' अन्य अलंकारों की ही भाँति, एक महत्त्वपूर्ण एवं स्वतन्त्र सत्ता वाली अलंकृति रही है।[1] अन्योक्ति अथवा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' से उसका मौलिक भेद है। अतः उसे अन्योक्ति का पर्याय मानना असम्भव है।

सम्भवतः कवि ने 'व्याजोक्ति' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देखकर ही उसे 'अन्योक्ति' का पर्याय मान लिया है। क्योंकि 'व्याज' का अर्थ होता है 'बहाना या अपदेश' इसलिए 'व्याजोक्ति' का तात्पर्य हुआ 'बहाने से कुछ कहना'। और अन्यापदेश या अन्योक्ति में भी 'अपदेश से ही कथन' होता है। यद्यपि ये विचार कुछ भावसाम्य अवश्य रखते हैं, फिर भी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रचालित, अन्योक्ति के पूर्वोक्त अनेक पर्यायों के रहते हुए 'व्याजोक्ति' जैसी नवीन एवं भ्रामक संज्ञा को उसका पर्याय मानना ठीक नहीं है। अतः 'व्याजोक्ति' एवं 'अन्योक्ति' को पृथक ही समझना चाहिए। एक तथ्य यह भी अवधेय है कि अन्योक्ति के जन्म से लेकर अद्यावधि, लगभग दो सहस्र वर्षों में किसी भी आचार्य अथवा कवि ने 'व्याजोक्ति' का प्रयोग 'अन्योक्ति' के लिए नहीं किया है। अतः बिना किसी ठोस आधार के, नवीनता को स्वीकार कर लेना ठीक नहीं। कवि ने स्वयं भी ग्रन्थ की भूमिका में, इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है, हाँ 'अन्यापदेश' शीर्षक का उल्लेख करते हुए उसने अन्योक्ति का सिद्धान्त अवश्य स्पष्ट किया है।

---

१. द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, दशम उल्लास।

द्वितीय अध्याय

आचार्य भरत का लक्षण सिद्धान्त तथा अन्योक्ति का उद्भव

काव्यतत्वों की रूपरेखा हमें वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होने लगती है। विशेष करके छन्दोविधान तथा उपमा-रूपक प्रभृति अलंकार, जिनका विवेचन निरुक्तकार आचार्य यास्क ने (ई० पू० ७०० ई०) स्पष्टतः किया है, इसके स्थायी प्रमाण हैं।[१] इसी प्रकार महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में निबद्ध अलंकार व्याख्यान भी इस मत की पुष्टि करते हैं कि काव्यतत्व अपने बीज रूप में वैदिक ऋचाओं के साथ ही निक्षिप्त हो चुके थे।[२] इन्हीं तत्वों का अंकुरण अथवा विकास ईसा पूर्व तृतीय चतुर्थ-शती में हुआ।

भरत मुनि प्रणीत 'नाटयशास्त्र', जिसे छत्तीस अध्यायों वाला होने के कारण 'षट्त्रिंशक भरतसूत्र' भी कहा जाता है,[३] इसी युग की एक महान कृति है। यद्यपि बहिरंग दृष्टि से तो यह ग्रंथ केवल नाट्य से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है,[४] किन्तु जैसा कि डा० एस० पी० भट्टाचार्य जी ने सिद्ध किया है,[४] इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाट्येतर काव्य-भेदों तथा अंगों से भी है। यही कारण है कि आचार्य भरत का 'काव्य' शब्द-प्रयोग सर्वत्र उभयार्थ का द्योतक है, अर्थात् नाटक तथा महाकाव्यादि वर्ग दोनों।

प्रस्तुत अध्याय इसी नाट्यशास्त्र पर आधारित है। पिछले अध्याय में अन्योक्ति के पर्याय विशेष (अन्यापदेश) का व्याख्यान करते समय यह तथ्य सुस्पष्ट किया जा चुका है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के रूप में अन्योक्ति का उद्भव आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में ही हुआ, किन्तु प्रत्यक्ष रूप में नहीं। क्योंकि प्रत्यक्षतः तो भरत ने केवल चार अलंकारों की स्थापना की—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। किन्तु यह तथ्य सिद्धान्ततः सत्य है कि

---

१. अथात उपमा। यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन वा प्रख्याततमेन वा कनीयासं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—निरुक्त ३।१३।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—निरुक्त ३।१८ तथा ब्रह्मसूत्र १।४।१ एवं ३।२।१८।

३. द्रष्टव्य—'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्' (अभि० भा० पद्य-२)।

४. द्रष्टव्य—'पूना ओरियण्टलिस्ट' भाग १६ में भट्टाचार्य जी का लक्षण विषयक निबन्ध (सन् १९५१ ई०)।

भरत ने परवर्ती युग में प्रख्यात समस्त अलंकारों की सत्ता स्वीकर की थी। जैसे कोई विदग्धगणितज्ञ अपने अबोध विद्यार्थी को एक ही उदाहरण में 'ऐकिक नियम' समझाकर, समस्त प्रश्नमाला हल करने का दयित्व उसी पर छोड़ दे, ठीक उसी प्रकार आचार्य भरत ने केवल 'अलंकार-चतुष्टय' का उदाहरण देकर प्रपंच का भार अपने अनुवर्तियों पर छोड़ दिया। इस चतुर्मुखालंकार को शतमुख बनाने के लिए उन्होंने 'लक्षण रूपी' ऐकिक नियम की सर्जना की। इस स्थलपर इसी लक्षण के विषय में एक अभिनव दृष्टिकोण से कुछ सामग्री देने की चेष्टा की जा रही है। क्योंकि मान्यता है कि अन्योक्ति का उद्भव लक्षणों के ही अन्तराल से हुआ। कुछ लक्षण तो आंशिक रूप से इसके उद्भव में सहयोगी बने और कुछ सहयोगी न बनकर प्रत्यक्षतः इस (अन्योक्ति) रूप में आ गए। वस्तुतः वे सर्वात्मना, अन्योक्ति के ही घटक अंगों से युक्त थे।

लक्षण उसी प्रकार काव्य के तत्व-विशेष हैं, जैसे छन्द, वृत्त, रस, भाव, दोष, गुण तथा अलंकार आदि। ये काव्यतत्व यद्यपि परवर्ती आलंकारिकों के नियामक बुद्धि-वैभव में पड़कर, खण्डित, संकुचित, मर्यादित तथा निश्चितप्राय हो गए, किन्तु आचार्य भरत के युग में उनका व्याप्तिक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यही कारण है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र के व्याख्यानसन्दर्भ में भी पूर्वप्रोक्त इन काव्यांगों का सापेक्ष वर्णन प्रस्तुत किया। इसका एक-मात्र प्रमाण यही है परवर्ती युग में इन काव्यतत्वों की 'मंजुल समष्टि' स्थायी न रह सकी, खण्डित हो गई। इनमें से कुछ तत्व तो महाकाव्य और नाटक (श्रव्य एवं दृश्य काव्य) दोनों में व्याप्त रहे, किन्तु कुछ, उभयनिष्ठ होते हुए भी एक ही क्षेत्र में रूढ़ हो गए। काव्य-तत्वों के इस वर्गीकरण का मूल कारण आचार्यों की 'भेदबुद्धि' अथवा 'काव्य-विभाजन' ही था। उभयनिष्ठ काव्यतत्वों में हम छन्द वृत्त तथा रस भावादि को तथा एकनिष्ठ काव्य-तत्वों में गुण-दोष तथा अलंकार को ले सकते हैं।

शेष बचे 'लक्षण', जिनका स्वरूप ही सुस्थिर न हो सका। लक्षणों के विषय में, अस्थिरता का मूल कारण यह था कि,

१. आचार्य भरत ने अन्य काव्यतत्वों की तरह लक्षणों की कोई परिभाषा नहीं दी और न उनका स्वरूप स्थिर किया।

२. चूंकि आचार्य भरत का दृष्टिकोण काव्य के दायरे में, दृश्य एवं श्रव्य के भेद से परे रहा और चूंकि लक्षणों में स्थान-स्थान पर प्रबन्धगत तथा अभिनयगत वैशिष्ट्य भी निबद्ध किये गये हैं, अतः परवर्ती विद्वानों को यह स्पष्ट ज्ञान न हो सका कि लक्षण वस्तुतः महाकाव्य के आधारतत्व हैं अथवा नाटक के? यह उभयकोटिक मतवैषम्य, भामह के ही युग से अपरिस्फुट रूप में कन्दलित हुआ तथा साहित्यदर्पणकार के बाद तक किंवा अद्यावधि, स्फुट रूप में उसी प्रकार विद्यमान है।

ऐसी दशा में आज के प्रत्येक संस्कृत काव्यरसपिपासु तथा अनुसन्धित्सु के लिए आचार्य भरत का लक्षण सिद्धान्त एक चुनौती है। भरत के पूर्व लक्षणों की क्या स्थिति थी, लक्षणों

के विषय में स्वयं लक्षणकार की क्या मान्यता थी, क्या दृष्टिकोण था? संस्कृतकाव्यशास्त्र में लक्षणों का क्या स्थान और क्या दायित्व है? ये सब-के-सब प्रश्न, अत्यन्त जटिल, दुर्बोध किन्तु श्रमसाध्य तथा रोचक हैं। इसी कारण, देश के परतन्त्र रहने पर भी शोधप्रेमी अंग्रेज मनीषियों द्वारा प्रेरणा एवं बल पाकर भारतीय विद्वानों ने इस ओर प्रयास प्रारम्भ किया और अज्ञानगर्त में डूबी, जाने कितनी ही कृतियों का उद्धार किया। भास जैसी समस्यायें, वैदिक साहित्यानुशीलन तथा कालनिर्धारण सरीखे महान कार्य, इसी शोधोन्मुखी प्रवृत्ति के पवित्र परिणाक हैं। लक्षणों के विषय में भी किसी-न-किसी अंग या पक्ष को लेकर अनेक संस्कृत विद्वानों ने श्लाघ्य जानकारियाँ प्रस्तुत कीं। डा० के० कृष्णमूर्ति,[1] प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य[2], डा० सुशीलकुमार डे[3], डा० प्रकाशचन्द्र लाहिरी[4], डा० वी० राघवन[5], डा० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे[6] तथा अन्य आधुनिक विद्वानों के नाम उसी कोटि में हैं जिनके अनवरत प्रयत्नों के ही कारणवश 'लक्षणों' का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा बोधगम्य हो सका।

किन्तु उपर्युक्त विवरण का न तो यही तात्पर्य है कि 'लक्षणों के सिद्धान्त' पर अब कुछ कहना शेष नहीं रहा और न ऐसी कोई सम्भावना ही है कि इन विद्वानों के एतद्विषयक मत सर्वात्मना ग्राह्य तथा विशुद्ध हैं। क्योंकि इन समस्त आलोचकों ने अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही लक्षणों का व्याख्यान किया है, किसी को लक्षणों का इतिहास बताना इष्ट रहा तो किसी को 'दशपक्षी' का विवेचन। कोई लक्षणालंकार पर केन्द्रित रहा तो कोई इसके काव्यशास्त्रीय गौरव पर। इसी कारण उक्त सुधीजनों के व्याख्यान एकांगी से प्रतीत होते हैं। दूसरी बात यह कि उल्लिखित विद्वानों में से प्रत्येक ने प्रायः निरपेक्ष रूप से भरत एवं अभिनव के शब्दों को विशद करने का यत्न किया है, अतः वे पारस्परिक मतालोचन से या तो स्वीकृतिवश अथवा किसी विवशता के कारण दूर रहे हैं। भट्टाचार्य जी ने डा० राघवन के दशपक्षी व्याख्यान तथा क्रम का, जो कुछ खण्डन प्रस्तुत भी किया है, वह किसी शोधपरक जिज्ञासा को उद्भावित करने में

---

1 'Bharata's Theory of Rasa'—Poona Orientalist, vol XII 1947

2 'The Doctrine of Lakshanas and a peep into its chequered history'—Poona Orientalist, vol XVI, 1951

3. 'The problem of Poetic expression (Some Problems of Sans Krit Poetics, Calcutta, 1959).

4. Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics (Thesis–Dacca, 1937).

5. 'The History of Lakshana (Some Concepts of Alankara Shastre–Adyar, 1942)

6 'Bharatiya Sahitya Shastra', Bombay 1960.

समर्थ नहीं। इस दृष्टि से डा० देशपाण्डे के मत अवश्य ही कुछ अधिक मौलिक तथा स्वीकार्य हैं।

अतः इस स्थल पर लक्षणों पर केवल उसी मात्रा तक विचार किया जायगा, जिससे अलंकारों के विकास के प्रति उनका दायित्व पूर्णतः स्पष्ट हो जाय। इस नियमित दृष्टिकोण के कारण लक्षणों का ऐतिहासिक पक्ष, हम इस प्रसंग से दूर रखते हैं।

काव्यतत्वों के विषय में प्रास्ताविक अनुच्छेद में कुछ ज्ञातव्य बातें बताई गई हैं। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र अधिकांशतः नाटकीय तत्वों (रंग मण्डप, नृत्य तथा अभिनयादि) से ही सम्बद्ध है, तथापि बीच-बीच में यथास्थान काव्यतत्वों का मौलिक विवेचन भी इसमें प्राप्त होता है। छठें एवं सातवें अध्याय में क्रमशः रस तथा भाव का निरूपण, तेरहवें में आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली आदि प्रवृत्तियों का वर्णन, चौदहवें तथा पन्द्रहवें अध्याय में छन्द वृत्त व्याख्यान और सोलहवें अध्याय में काव्य के लक्षण, अलंकार, गुण तथा दोष का मनोरम व्याख्यान, आचार्य भरत ने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार छठें से लेकर सोलहवें के बीच स्थित यह 'षडध्यायी' काव्यतत्वों के विवेचन की आधार शिला है। यहीं के रस भाव निरूपण, परवर्ती युग में ध्वनिकार, लोचनकार तथा काव्य प्रकाशकार द्वारा परिनिष्ठित एवं परिमार्जित होकर रसध्वनि तथा भावध्वनि की मान्यता प्राप्त करके, काव्य की आत्मा बन सके।[1] यहीं की प्रवृत्तियाँ, आचार्य वामन की रीतियाँ बनकर 'रीतिरात्माकाव्यस्य' का मन्द्रघोष गुँजा सकीं। इसी प्रकार भरत प्रोक्त अलंकार गुण तथा दोष ही कुवलयानन्दकार (अप्पय दीक्षित, १७वीं शती ई०) के युग तक शताधिक एवं अपरिमेय बन गए।[2]

लक्षणों के विषय में, आचार्य भरत ने कोई निर्णयात्मक तथ्य नहीं दिया है। पन्द्रहवें अध्याय के चरम श्लोक में उनका केवल यही कहना है कि 'इस प्रकार नाना छन्दों से उत्पन्न वृत्तों द्वारा छत्तीस लक्षणों से समन्वित काव्यबन्ध, प्रणीत करना चाहिए'[3] (पृ० २२७) सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में ही पुनः तीन उपजातियों में इन लक्षणों को गिनाकर आचार्य ने कहा है—'भूषण स्वरूप ये छत्तीस लक्षण, जो विशिष्ट भावार्थों (अभिप्रायों) के ज्ञापक

---

१. वस्त्वलंकारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापाराद्वते नास्ति कल्पनान्तरम् (लोचन, रसध्वनि-प्रसंग)।

२. द्रष्टव्य—अप्पयदीक्षित प्रणीत कुवलयानन्द, कुल ११५ अलंकार।

३. 'वृत्तैरेवन्तु विविधैर्नानाछन्दस्समुद्भवैः
काव्यबन्धास्तु कर्तव्या : षट्त्रिंशल्लक्ष-णान्विताः'।

—ना० पृष्ठ २९२ (अध्याय १५)।

या द्योतक हैं, काव्यों में सम्यक् रीत्या प्रयोजित होने योग्य हैं। किसके द्वारा और किस तरह? 'तज्ज्ञैः' अर्थात् जहाँ जैसा रस हो, उसी रूप में।

आचार्य भरत के इन संकेतों से लक्षण के विषय में स्थूल रूप से कुछ तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं–(१) लक्षण काव्य में भावार्थ (अथवा अभिप्राय) के सूचक हैं।

(२) लक्षणों का सम्बन्ध किसी भी रूप में (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में) रसों से अवश्य होता है। तथा

(३) लक्षण 'भूषण-संमित' अर्थात् काव्यबन्ध के शोभाजनक तत्त्व हैं।

इन युक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भरत ने लक्षणों को गुण, अलंकार आदि से सर्वथा विलक्षण समझा था। क्योंकि यदि लक्षणों तथा अन्य काव्यतत्त्वों के पारस्परिक अतिक्रमण (Overlapping) का कोई भी भय होता तो लक्षणकार स्वयं उसे स्पष्ट करते। लक्षणों की सुदृढ़ स्थिति जानने के लिए हम, 'अभिनवभारती' को ही प्रमाण मान सकते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने समस्त षोडशाध्याय में, लक्षणों को विविध रीतियों से समझाने का यत्न किया है, और उन समस्त प्रयत्नों का सार यही है कि 'लक्षण काव्य का शरीर है।' काव्य में लक्षणों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए अभिनव 'प्रासाद' का दृष्टान्त लेते हैं,[२] जिनकी तुलना इस प्रकार है:——

प्रासाद	काव्यबन्ध
क. भूमि (जो प्रासाद का आधारस्थल है)	——शब्दच्छन्दोविधि (जो काव्य का आधार-स्थल है)
ख. क्षेत्रपरिग्रह (प्रासाद की रूपरेखा-नक्शा)	——वृत्तसमाश्रयादि (काव्य की रूपरेखा-नक्शा)
ग. भित्ति (जो वास्तव में प्रासाद का सर्वस्व है 'शरीर' होने के कारण)	——लक्षण (जो वास्तव में काव्य का सर्वस्व है काव्य शरीर होने के कारण।)
घ. चित्रकर्म (प्रासाद के शोभाधायकतत्त्व-गौण)	——गुणालंकार (काव्य के शोभाधायक, गौणतत्त्व)
ङ. गवाक्षवातायनादि (प्रासाद को उपयोगी बनाने वाले तत्त्व)	——दशरूपविभाग (काव्य को उपयोगी बनाने-वाले तत्त्व।)

लक्षण को काव्यशरीर मान कर (जो कि वस्तुतः वही है) आचार्य अभिनव ने समस्त आशंकायें निरस्त कर दी हैं। किन्तु लक्षण काव्य शरीर कैसे है? यह विषय गम्भीर विवेचन का है, जिस पर पूर्व शोधकर्त्ताओं ने प्रायः कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला है। इसी कारण एक नवीन दृष्टि से इस वाक्य की व्याख्या अपेक्षित है।

---

१. षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक्प्रयोज्यानि यथारसं तु।।
——नाट्य० १६।४, पृष्ठ २९५।

२. सविस्तार द्रष्टव्य——'अभिनवभारती' (१५।२२७) पृष्ठ २९२।

'लक्षण' को शब्द एवं अर्थ का संयुक्त रूप मानना चाहिए। मिट्टी पर ही मकान बनता है और मिट्टी की ही दीवाल भी होती है, ठीक उसी प्रकार शब्दार्थ रूपी आधार स्थल पर ही शब्दार्थमय, लक्षण नामक शरीर वाला काव्यसौध भी बनता है। आचार्य भामह के युग तक लक्षणों की प्रभा मन्द हो चली थी, उनका स्वरूपलक्षण विनष्ट हो गया और केवल तटस्थ लक्षण ही परिशेष रहा, अन्यथा भामह को 'शब्दार्थौ काव्यम्' न कह कर के 'लक्षणमेव काव्यम्' कहना चाहिए था। काव्य की यह परिभाषा उतनी ही तर्कसंगत एवं सुस्थिर होती जितनी कि भामहोपदिष्ट परिभाषा है, क्योंकि लक्षण का तात्पर्य शब्दार्थ-समष्टि से है इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि शब्दार्थ काव्य अवश्य है किन्तु खण्डावबोध होने के कारण काव्य लक्षण में उसका विशेष औचित्य नहीं है। अतएव, जिस प्रकार रक्त-मज्जा-मांस एवं अस्थिसमूह, सब शरीर के आधारतत्त्व होते हुए भी पृगक् पृथक् रूप में मनुष्य नहीं है, वरन् उन चारों का समष्टिरूप 'शरीर' ही चेतनात्मा से अनुप्राणित होकर 'मनुष्य' कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मानन्दसहोदर रस रूपी आत्मा से समन्वित (शब्द-अर्थ सरीखे घटक तत्त्वों की समष्टि से निर्मित) तथा लक्षण रूपी शरीर वाला प्राणी ही काव्य है।[1]

अभिनव लक्षणों की व्याख्या और अधिक मनोयोग देकर करते हैं। लक्षण काव्य शरीर है क्यों, क्योंकि शब्दार्थ से ही काव्य-रचना होती है और 'लक्षण' भी शब्दों एवं अर्थों की 'समष्टि-मात्र' है। तब फिर हम 'लक्षणों' को काव्य से पृथक कैसे मान सकते हैं? अतः निश्चित है कि लक्षण एवं काव्य का भेद, किसी सूक्ष्म तत्त्व के ही कारण है और वही सूक्ष्म तत्त्व है, अभिनवगुप्त का 'त्रिविध अभिधाव्यापार'।।

काव्य की आत्मा (अर्थ) तो रस है, यह आचार्य भरत स्वयं स्वीकार करते हैं, तथा अभिनव आदि ने भी (रस) ध्वनि के रूप में इस तथ्य को स्वीकार किया। किन्तु जैसे 'काव्यात्मा' रस की अनुभूति में 'साधारणी- करणादि' व्यापार उपयोगी हैं, ठीक उसी प्रकार 'काव्यशरीर' (लक्षण) की रचना में भी कोई न कोई व्यापार अवश्य होगा? यदि हम काव्य शब्द की व्युत्पत्ति पर अवधान दें तो यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जायगा।[2] अभिनव के प्रामाण्यानुसार ही वर्णनीय, शब्दनीय अथवा 'कविकर्म' होने के

---

१. काव्य के 'मानवीकरण' (Personification) का यह प्रयास महाकवि राजशेखर के सिद्धान्त पर आधारित है। द्रष्टव्य—

यदेतद्वाङमयं विश्वमथ मूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।। आदि (काव्य मीमांसा)

२. इह काव्यार्थो रसा इत्युक्तं प्राक्। उक्तं च वर्णनीयं शब्दनीयं कवेः कर्मेति च व्युत्पत्तित्रयं काव्यमिति। अनेनाभिधेयमभिधानमभिधां च स्वीकृत्यावस्थीयते, अपि च शब्दव्यापारोऽभिधातृव्यापारः प्रतिपाद्यव्यापारश्चेति त्रिगतः (अभिनव भा० पृष्ठ २९७)।

ही कारण किसी रचना को 'काव्य' कहते है। वर्णनीय क्या हैं? अभिधेय (अर्थात् अर्थ) क्योंकि अर्थ का ही व्याख्यान सम्भव होता है न कि शब्द का। शब्दनीय अर्थात् उच्चारण करने योग्य क्या है? अभिधान (अर्थात् शब्द या संज्ञाविशेष) अर्थात् जिसे हम शब्द द्वारा बुला सकें। 'कविकर्म क्या है? अभिधा (अर्थात व्यापार विशेष) क्योंकि इसका सम्बन्ध व्यष्टि से न होकर समष्टि से है

उदाहरणार्थ, जब हम किसी व्यक्ति को 'राम' (उसका अभिधान) कह कर बुलाते हैं तो वह शब्दनीय होने के कारण अभिधान व्यापारयुक्त होता है। जब हम 'मैं बहुत थक गया हूँ, के रूप में (अन्वित रूप से) एक अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं तो वर्णनीय होने के कारण वहाँ 'अभिधेय रूप व्यापार' होता है। इसी प्रकार जब हम महाकवि कालिदास कृत 'कुमारसंभव' (सर्ग ६, श्लोक ८४) में स्थित—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

के रूप में कोई कविता पढ़ते हैं तो वहाँ कविकर्म होने के कारण ही अभिधा व्यापार होता है (यहाँ अभिधा को हम एक प्राथमिक तथा मौलिक शब्दशक्ति के रूप में स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि लक्षणा एवं व्यंजना का आधार अभिधा ही है।)

उर्युपक्त उदाहरणों से सुस्पष्ट है कि शब्द-अर्थ तथा कविकर्म (जो कि शब्दार्थ से पृथक् नहीं) में अभिधान-अभिधेय तथा अभिधा रूप व्यापार ही उपयोगी बनते हैं, अर्थप्रतीति कराने के लिए। किन्तु यदि हम तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि—शब्द तथा अर्थ 'कविकर्म' में ही अन्तर्भूत हैं, क्योंकि 'कविता' शब्दों एवं अर्थों से ही प्रणीत होती है। महत्त्व केवल (त्रिविध कविकर्म का) त्रिविध 'अभिधा-व्यापार' का ही है। आचार्य अभिनव स्पष्टतः अपना निर्णय प्रस्तुत करते हैं—यस्तु त्रिविधोऽप्यभिधा-व्यापारः स लक्षणानां विषयः (अभि० भा० पृष्ठ २९७) आचार्य अभिनव की व्याख्यानुसार 'भावार्थगतानि' का अर्थ 'रसानुभूति' से है।[1] इस प्रकार किसी भी काव्यांश में यही त्रिविध अभिधा व्यापार उसमें प्रतिपादित भावार्थ अर्थात् अभिप्राय का ज्ञान कराता है। किन्तु भावार्थगतानि का 'रसानुभूतिकारक' अर्थ लेने पर लक्षणों के प्रयोग में 'यथारसम्' पद का निर्देश अधिक-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः भाव का अर्थ—विभावानुभाव तथा संचारी भावों से है। उनका अर्थ (प्रयोजन) है 'रसनिष्पत्ति'। और 'लक्षण' हैं उस रसनिष्पत्ति को कराने वाले। किन्तु इस स्थल पर यह समझ लेना चाहिए कि जिस त्रिविध अभिधा व्यापार का अभी तक व्याख्यान किया गया है, उन्हीं के अंग हैं—विभावादिक। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'अर्थगमन' (रसानुभूति) से अधिक महत्त्व 'भावसंघटन (विभावादि संघटन) का

१. द्रष्टव्य—अभि०, पृ० २९८ स्थायिभावरसीकरणात्मकं आदि।

ही है। लोक-भाषा में यही 'भावसंघटन' अभिधया प्रतिपादित भावार्थ (Substance) या अभिप्राय (Meaning) भी होता है, क्योंकि रसप्रतीति, अर्थावगति के बाद ही होती है। अतः 'भावार्थ या अभिप्राय के दो अर्थ हुए—(काव्यपक्ष में) रसानुभूति तथा (लोकपक्ष में) काव्य का अर्थ। 'भावार्थ अथवा अभिप्राय' से सम्बन्धित डा० भट्टाचार्य तथा डा० देशपाण्डे आदि के मतों का मूल्यांकन भी यथाप्रसंग आगे किया जायगा।

लक्षणों के विषय में भरत की दूसरी मान्यता यह है कि उनका सम्बन्ध यथाकथंचित रसों से अवश्य है। रसनिष्पत्ति के विषय में आचार्य भरत का ही सिद्धान्त आज तक माना जा रहा है। वह यह कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती अलंकार-युग में, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त जैसे भरत के व्याख्याकारों ने रसानुभूति के विषय में अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का स्थापन किया। इस स्थल पर किन्हीं अन्य तत्त्वों की व्याख्या न करके केवल यह दर्शित किया जा रहा है कि लक्षण किस प्रकार रसों से सम्बद्ध है। इस विषय में हम 'अभिनव' द्वारा व्याख्यात त्रिविध अभिधा व्यापार समझ ही चुके हैं। 'शब्द तथा अभिधातृ (अर्थात् अभिधेय एवं अभिधान) व्यापार का क्षेत्र स्पष्टतः प्रतिपाद्य (अभिधा) व्यापार से कम है। जब कवि कोई काव्य लिखने बैठता है तो उसके समक्ष अनन्त शब्द तथा उतने ही अर्थ उपस्थित होते रहते हैं। 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' आदि सुभाषितों का यही तात्पर्य है। कवि जिन्हीं शब्दों अथवा अर्थों को अपने काव्य में निबद्ध करता है, वही शब्दार्थ, विन्यास करने की विदग्धरीति के कारण सहृदय जगत् को मोहित कर लेते हैं।[1] जैसे साल भर सूखे एवं साधारण प्रकृतिस्थ रहने वाले वही चिर-परिचित वृक्ष वासन्ती सुषमा के कारण कायाकल्प उपस्थित कर देते हैं, ठीक यही दशा रसपरिग्रह के कारण शब्दार्थ की भी होती है ऐसा आचार्य आनन्दवर्धन का मत है।[2]

यह रसानुभूति होती कैसे है, विभावानुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से। और ये विभावादि क्या हैं? त्रिविध अभिधाव्यापार ही तो! अतः हम निश्शंक रूप से यह निर्णय दे सकते हैं कि रसानुभूति के मूल कारण 'त्रिविधाभिधाव्यापार युक्त लक्षण' ही हैं। जैसे लोक में किसी वृद्ध द्वारा लोटा लाने का आदेश पाकर सम्बुद्ध बालक (आवापोद्वाप क्रिया के पश्चात्) लोटा ही लाता है, ठीक उसी प्रकार कवि जब कुछ लिखने बैठता है तो वह यह विचार अथवा निश्चय मन में पहले ही कर लेता है कि—मैं अपने इन शब्दों से (अमुना-

---

१. यानेव शब्दान्वयमालपामः यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविदग्धरीत्या सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति।
—नीलकंठ दीक्षित कृत शिवलीलार्णव महाकाव्य, १।१३।

२. द्रष्टव्य—ध्वन्यालोक ४।४।

शयेन) पाठकों-दर्शकों अथवा श्रोताओं में अमुक प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने के लिए (इत्यम्भूतबुद्धिजननाय) अमुक-अमुक आशयों से युक्त, इस काव्य (विशेष) का प्रणयन कर रहा हूँ।[1] उदाहरणार्थ रघुवंश की रचना के पूर्व कालिदास ने अवश्य यह कल्पना की होगी कि—'सोहमाजन्मशुद्धानाम्' इत्यादि द्वारा हमें रघुवंशियों का उदात्त चरित तथा 'स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयाताम्' आदि द्वारा गो-सेवा का परिपूत आदर्श, देशवासियों के समक्ष रखना है।' इसी प्रकार मृच्छकटिक, उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस, भट्टिकाव्य, तथा भाण रचनाओं में, कवियों की धारणा क्रमशः इस प्रकार की रही होगी—सामाजिक यथार्थ्य का उपन्यसन, दाम्पत्य प्रेम का पवित्र आदर्श दिखाना, राजनैतिक दाँव-पेंच का उपस्थापन, व्याकरण परिचय तथा समाज की निम्नवर्गीय कुरीतियों का पर्दाफाश वाया मनोविनोद!!

तात्पर्य यह कि प्रयोजन निश्चित करने के पश्चात् ही कवि तदनुकूल विभावानु-भाव का संयोजन करता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि कवि का लक्ष्य किसी-न-किसी रस अथवा भाव से अवश्य ही सम्बद्ध होगा। अतएव, वह चित्तवृत्त्यात्मक रस को लक्षित करके, उन-उन रसों की अनुभूति कराने में सर्वथा क्षम एवं सफल विभावानुभाव तथा संचारी भावों को ही एकत्रित करता है। श्रृंगार रस के प्रसंग में जो विभावानुभाव तथा संचारीभाव होंगे, रौद्र में वही न होंगे।

महाकवि भवभूति के ही दो नाटकों को लीजिए। महावीरचरित तथा उत्तररामचरित दोनों में नायक राम ही हैं। किन्तु वीरचरित में सीताराम का विश्वामित्र के यज्ञानुष्ठान में अनायास मिलन, प्रणयानुक्रम, धनुर्भंग, परशुराम प्रसंग, रामभद्र की शालीनता आदि कथांश इस प्रकार के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों, अनुभावों एवं संचारी भावों की सर्जना करते हैं, जिनसे कि यथास्थान वीर एवं श्रृंगाररस, उद्दीप्त हो उठते हैं। किन्तु प्रियाविरह से संतप्त वही श्रीराम, उत्तरचरित में हृदयद्रावी करुणरस के आश्रय बनते हैं, क्योंकि वहाँ पर बारह वर्ष पूर्व दण्डकारण्य की घटनायें पालित गजशावक का अभिमत, शिखण्डी का नर्तन, गोदावरी परिसर स्थित, गिरिश्रृंखलायें, कुहर स्रोत एवं वेतसकुंज, सरीखे कारुण्याभिव्यंजक विभावादि उद्दीपन रूप में उपस्थित होते हैं।

अतः सिद्ध है कि काव्य का प्राणभूत रस, प्रत्येक दृष्टि से काव्य में प्रयुक्त विभावादि पर ही निर्भर है। और ये विभावादि भी, शब्द-अर्थ तथा कविकर्म होने के कारण त्रिविध अभिधा व्यापार से किसी भी रूप में भिन्न नहीं है। विभावादि का वैचित्र्य ही, रस-वैचित्र्य का मूल कारण है। काव्य (नाटक) का श्रृंगार-करुण-वीर-रौद्र-हास्य-वीभत्स-अद्भुत अथव

---

१. तथा हि इदमनेन शब्देनानयेति कर्त्तव्यतयाऽमुनाशयेनेत्थम्भूतबुद्धिजननाय बुजन इति कविः प्रवर्त्तते। स तथाभूतं रसवत्काव्यं विधत्ते। तत्र चित्तवृत्त्यात्मक रसं लक्षयंस्तद्रसोचिद्-विभावाद्वैचित्र्यसम्पादकस्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते इत्येषां सामान्यलक्षणम् (अभि० पृ० २९७)।

शान्तरस प्रधान होना, उन-उन रसों के घटक अंगों (विभावादिकों) पर और वे घटक अंग भी त्रिविध अभिधा व्यापार पर ही आधारित हैं। यही त्रिविध अभिधा व्यापार, 'लक्षण' अर्थात् 'काव्यशरीर' है। इस प्रकार लक्षणों का रसों के साथ प्रकारान्तर से अनुग्राह्यानुग्राहक सम्बन्ध है।[१]

विभावादि में, शब्दों की शब्दों से तथा अर्थों की अर्थों से विचित्र संघटना होती है, किन्तु लक्ष्य इन सब का एक ही है—रसानुभूति करना। आचार्य भरत की इस मान्यता को अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः स्वीकार किया है—'शब्दानां शब्दैरर्थानामर्थैः शब्दानामर्थैस्तथापरैः संघटनां विचित्रां कारयमाणाऽभिधाव्यापारवती ह्युक्तिर्निर्वाणप्रधानधुराधिरोही लक्षणाख्य एव।' (अभि० पृ० २९७)।

अब नाट्य आचार्य भरत द्वारा उपदिष्ट लक्षणों के तृतीय पक्ष का युक्तिपूर्ण स्पष्टीकरण अपेक्षित है। वह पक्ष है, लक्षणों का भूषणसांमितत्त्व अर्थात् काव्य का शोभाकारक तत्त्व होना। 'भूषणों के साथ लक्षणों का' पर्यायस्थापन तथा 'भूषण का शोभाजनकत्व' ये दोनों ही प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं, क्योंकि इन्हीं के कारण लक्षणों के विषय में परवर्ती युग में दो उद्भावनायें प्रचलित हो गईं। एक तो यह कि—'लक्षण' शब्द की अपेक्षा अधिक सरल-स्पष्ट तथा अन्वर्थनामा होने के कारण अधिकांश आचार्यों ने, लक्षणों के स्थान पर 'भूषण' शब्द का ही प्रयोग किया। और दूसरा यह कि काव्य के शोभाकारकतत्व होने के कारण ही अलंकार सम्प्रदाय के प्रचण्ड युग में, लक्षणों की स्वतन्त्र सत्ता मिट-सी गई और वे सब दिन के लिए अलंकारों में अन्तर्भूत हो गए!!

इस दशा में यह विचारणीय प्रश्न है कि लक्षणों का गुणों एवं अलंकारों से क्या सम्बन्ध है? 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' कहने से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आचार्य भरत, काव्यबन्ध के क्षेत्र में लक्षणों को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। इसी कारण उन्होंने 'लक्षणान्वितकाव्यरचना' करने की प्रेरणा दी। यदि उन्हें अभीष्ट होता तो वे गुणों एवं अलंकारों के विषय में भी ऐसी ही घोषणा करते।[२] वस्तुतः भरत की दृष्टि में अलंकार तथा गुण, लक्षणों के अंगमात्र थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इसका स्पष्टीकरण भी अनुवर्ती अनुच्छेद में होगा।

गुण तथा अलंकार हैं क्या? आचार्य अभिनव ने इसका अत्यन्त युक्तियुक्त समाधान

---

१. यथारसं वे भावा विभावानुभावव्यभिचारिणः, तेषां योऽर्थः (तं) स्थायिभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि, यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेषविभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते, तानि लक्षणानि इति सामान्यलक्षणम्। (अभि०, पृ० २९८)।

२. यथा च पीवरत्व स्तनयोर्लक्षणं मध्यस्य तु कुलक्षणं, एवं किंचिदभिधीयमानं केन चिद्रूपेण रसोचितेन विभावादिरूपेण तमेव पदार्थक्रमं लक्षयल्लक्षणम् अन्यत्र तु तत्कुलक्षणम्।' तेन सर्वेऽलंकाराः गुणास्तत्समुदायाद् विलक्षणा भवन्ति। (अभि०, पृ० २९७)।

प्रस्तुत किया है।[1] क्योंकि उनके मन्तव्यानुसार गुणालंकार उसी समष्टिरूप त्रिविध अभिधा व्यापार (अर्थात् काव्यशरीर—लक्षण) की इकाई है, व्यष्टि रूप हैं। कोई भी शब्द जब रसाभिव्यक्ति में क्षम अर्थ का प्रतिपादन करे, श्रोताओं के कर्ण-कुहरों में (स्वयं) संक्रान्त भर हो जाने पर बिना किसी व्यवधान के रस-विशेष की अनुभूति करा दे, तो गुणशब्दवाच्य होता है। इसी प्रकार, वही शब्द, वर्ण (एक अक्षर) या पद (अक्षरसमूह) रूप में आवर्तित होने पर शब्दालंकार बन जाता है। इस प्रकार शब्दगुण तथा शब्दालंकार की सारी प्रक्रिया शब्द पर ही आश्रित है। शब्द की ही भाँति, जब कोई अर्थ (वर्णनीय) रसाभिव्यक्ति का हेतु बने तो अर्थगुण तथा वस्त्वन्तर का परिचायक (उदा० 'मुखमिदम्' सीधे न कहकर 'मुखचन्द्रोयम्' कहना। यहाँ मुख के स्थान पर एक अन्यवस्तु 'मुखचन्द्र' का हम परिचय प्राप्त करते हैं) होने पर 'अर्थालंकार' कहा जाता है।

किन्तु इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि शब्दगुण, शब्दालंकार, तथा अर्थगुण-अर्थालंकार ये चारों ही तत्त्व केवल शब्द एवं अर्थ के ही (शब्दनीय एवं वर्णनीय वैशिष्ट्य से युक्त) व्यापार पर समाश्रित हैं और इनका नैरन्तर्य होने पर सम्भव है कि ये विशाल संख्या में भी आएँ। किन्तु इनका आधार प्रत्येक दशा में अभिधा व्यापार ही होगा। क्योंकि काव्य में अर्थावगति (जो अभिधा व्यापार से ही सम्भव है) प्राथमिक वस्तु है तथा उस अर्थ का गुणालंकार युक्त होना गौण!! अतएव जैसे (प्रसाद के दृष्टान्त में) चित्रों के आलम्बित किये जाने का एकमात्र स्थान उसकी भित्तियाँ (शरीर) हैं, अथवा (शरीर के दृष्टान्त में) आभूषणों के पहनने का एकमात्र स्थान, युवती के विभिन्न शारीरिक अंग हैं, ठीक उसी प्रकार गुणों तथा अलंकारों का आधार स्थल, त्रिविध अभिधा व्यापारयुक्त लक्षण मात्र हैं, जो कि काव्यशरीर कहे गये हैं। इस प्रकार लक्षणों तथा गुणालंकारों में 'आधाराधेय' अथवा 'अनुग्राह्यानुग्राहक' सम्बन्ध मान्य है।[1] अतः परवर्ती युग में, अलंकार को ही 'काव्यात्मतत्त्व' स्वीकार करने वाले आचार्यों ने लक्षणों तथा अलंकारों के इसी पारस्परिक साम्य एवं सम्बन्ध के कारण उनका अन्तर्भाव अलंकारों में कर दिया। आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः कहा:—

> **यच्च सन्ध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे**
> **व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥ काव्यादर्श २।३६५**

इसी प्रसंग में हम यह भी देख लें कि लक्षण 'भूषण' कैसे हैं।[2] पिछले अनुच्छेदों

---

१. सविस्तार द्रष्टव्य—अभिनवभारती, पृ० २९७। [गुणालङ्कारव्याख्यान]।

२. तथा स्वार्थोऽपि च क्वचिदर्थमात्रं क्वचिदलंकारोऽर्थतः, क्वापि चित्रतः क्वचिदलंकारादिप्रक्रियाविहीनोऽपि स्वयं सुन्दरस्वभावोऽर्थः कुत्रचिच्छन्द इति त्रिविधव्यापारगामी, तद्द्वारेणाभिधानाभिधेयतद्गुणालंकाराद्यनुग्रहंलक्षणाख्य एव। (अभि०, पृ० २९७)।

में प्राय: यह तथ्य स्पष्ट किया जा चुका है कि अभिनव ने रसवैचित्र्य का कारण, विभावादि वैचित्र्य (अर्थात् त्रिविध अभिधा व्यापार या लक्षणवैचित्र्य) ही स्वीकार किया है तथा, यह भी स्पष्ट है कि गुण एवं अलंकार शब्दार्थ व्यापार होने के ही कारण लक्षणों से पृथक नहीं है। अत: अलंकारों द्वारा प्रसूत समस्त काव्य सुषमा का मूल कारण 'लक्षण' ही है।[1]

लक्षण 'काव्यशरीर' है, यदि शरीर में ही लावण्य अथवा कमनीयता न रही तो लाख गहने भी उसे रमणीय नहीं बना सकते। इसके विपरीत, अभिधा व्यापार के बल से, शब्दार्थ की विचित्र संघटना कराने के कारण लक्षण स्वयं एक अव्यक्त सौन्दर्य से व्याप्त रहता है। उसे बाहरी अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। हाँ, यदि लक्षणों के रहते भी गुण एवं अलंकार किसी काव्य में आयें तो उनका मणिकांचन संयोग होगा और लक्षणों का साहाय्य पाकर वे और भी उद्दीप्त हो उठेंगे। अलंकारों तथा गुणों की इसी उभयनिष्ठ गुणवत्ता के कारण आचार्य अभिनव ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत यह मत उपन्यस्त किया—(तत्र कल्पनायां विप्रतिपत्तय:) केचिदाहु:—इह गुणास्तावदात्मनि चिन्मये शृंगारादौ वर्त्तते। शृंगारे चावश्यं च लक्ष्यते इति पृथक्सिद्धत्वादलंकारः। शरीरनिष्ठमेव यत्पवं पृथक्सिद्धं तल्लक्षणम्। येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते। तच्च सिद्धरूपं साध्यरूपं वा। यथा श्यामेति, मदमन्थरगामिनीति वा। एतदेव लक्षणं तच्चालंक्रियते। अलंकारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते... (अभि०, पृ० २५९)।

अतएव 'भूषणसंमित' की पूर्ण व्यंजना लक्षणों के स्वयं शोभाकारक तत्त्व होने में है। 'लक्षण तथा अलंकार' दोनों ही काव्य के शोभाकारक तत्त्व हैं, भूषण हैं। अन्तर केवल दोनों में यही भर है कि लक्षणकृत शोभा, काव्य का अपृथक्सिद्ध धर्म है जबकि गुणालंकार कृत शोभा, उसका 'पृथक्सिद्ध' धर्म है। एक काव्यसुषमा का अन्तरंग पक्ष है तो दूसरा बहिरंग पक्ष[2]। एक शोभा उत्पन्न करता है, किन्तु दूसरा (लक्षण) स्वयमेव शोभा स्वरूप (Beauty as such) है। लक्षणों के इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रख कर परवर्ती युग में उन्हें 'नाट्यालंकार' की परिधि में भी अन्तर्निविष्ट किया गया।[3]

---

१. अतएव पूर्वं काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' इति लक्षणान्येव हि प्रधानं तत्प्रसंगेन गुणालंकारा इति तात्पर्यम्, (अभि०, पृ० २९८)।

२. The first is concerned with the intrinsic theme of a poem and the poets' manner of givingexpression to it. The second (Alankara) has in view the arrang ement of words and syllables,their hormony and sound-values and the adequacy of the ideas in relation to a particular emotion that is intended to be evoked. —Dr. K. Krishnamoorthi,

३. विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण'। षष्ठ परिच्छेद (नाट्यालंकार-विवेचन)

निष्कर्ष यह है कि लक्षण काव्य का शरीर है। उसी के कारण काव्य 'काव्य' है। डॉ० के० कृष्णमूर्ति का एतद्विषयक व्याख्यान सर्वथा युक्तियुक्त है—

'Laksanas are the broad outlines of grace, the presence of which makes one immediately recognise what poetry is ?'—Poona Orientalist, Vol. XII.

जैसे शरीर, बिना किसी बाह्याभूषण अथवा चाकचिक्य के अपने आप ईश्वरप्रदत्त कमनीयता से भरा, आकर्षक एवं मांसल होता है, उसी प्रकार काव्यबन्ध भी गुण एवं अलंकार से हीन होने पर भी स्वतः सौन्दर्यवान् होता है और जिस तत्त्व के संयोग से काव्य में यह स्वाभाविक सौन्दर्य उत्पन्न होता है, उसी का नाम लक्षण है, जो कि त्रिविध अभिधा-व्यापार कृत, विचित्र संघटना (शब्दार्थ की) का परिणाम है। शब्द-अर्थ, सब उसी स्वाभाविक सौन्दर्य के अंगविशेष हैं, अभिधा व्यापार उसी का पर्याय है, गुणालंकार उसी की विशिष्ट कोटियाँ (Special categories) हैं। जैसे कोई देहयष्टि मोटी, कोई पतली, कोई ऊँची, कोई नीची, कोई गोरी, कोई काली, कोई साँवली और कोई अन्यान्यगुणयुक्त होती है, किन्तु वस्त्राभूषण के अभाव में भी जैसे वह स्वयं 'अपनेपन' के कारण एक विशिष्ट सौन्दर्य से युक्त होती है, ठीक उसी प्रकार, भूषण प्रभृति छत्तीस लक्षणों के सहयोग से निर्मित, उतने ही प्रकार का (अथवा असंख्य प्रकार का)[१] काव्यबन्ध, गुणालंकार से सर्वथा अस्पृष्ट होकर भी एक 'सहज-सौन्दर्य' अथवा 'अपनेपन' से युक्त होता है। वही 'अपनापन' (Poetry as such) लक्षण है।

ऊपर लक्षण के दो वैशिष्ट्यों का स्पष्टीकरण किया गया है—एक तो उनका (अभिधा) व्यापार-प्राधान्य तथा दूसरा—स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त होना! किन्तु यदि हम इन दोनों वैशिष्टयों के मूल पर जायँ तो प्रतीत होगा कि इन दोनों में भी तात्त्विक एकता ही है। आचार्य अभिनव ने इस बात पर अनेकशः तर्क प्रस्तुत किये हैं। व्यापारप्राधान्य को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने आचार्य भामह तथा भट्टनायक का मत भी उद्धृत किया है। भामह[२] का मत था कि अर्थविभावन कराने वाली जितनी भी काव्यविधायें हैं, वे सब 'वक्रोक्ति' ही हैं। यहाँ 'उक्ति' का अर्थ व्यापार से ही है अतः 'वक्र-उक्ति' का तात्पर्य वही है जो त्रिविध अभिधा व्यापार के विभावादि वैचित्र्य का है।

---

१. द्रष्टव्य-एतद्विषयक, अभिनवगुप्त का प्रमाण—षट्त्रिंशदिति च नान्यदिति वारणपरं कविहृदयवर्तिनामपराणामपरिसंख्येयत्वात्। किन्तु बाहुल्येन तावदियता लक्ष्यव्याप्तं, इयति च कविनाऽवधातव्यमिति संख्यानिरूपणम् (अभि०, पृ० २९८)।

२. भामहेनापि—'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते' (२-८५) इत्यादि। तेन च परमार्थे व्यापार एव लक्षणम् (अभि० पृ० २९८)।

इसी प्रकार भट्टनायक[1] ने भी शब्दप्राधान्य होने पर शास्त्र, अर्थप्राधान्य होने पर आख्यान तथा शब्दार्थ—दोनों के साहचर्य में, व्यापार-प्रधान तत्त्वविशेषों को 'काव्य' कहा है। इस प्रकार भामहोपदिष्ट वक्रोक्ति की भाँति, भट्टनायक की यह 'व्यापारप्रधान काव्यगीः' भी लक्षणों से व्यतिरिक्त नहीं है।

किन्तु आचार्य भामह की 'वक्रोक्ति' का 'लक्षण' के साथ तादूप्य केवल उसके 'व्यापार-प्रधान' होने से ही नहीं है। प्रत्युत स्थिति तो यह है कि लक्षणों की ही भाँति, वक्रोक्ति का भी एक और पक्ष है—'स्वाभाविक सौन्दर्य।' यह अवधेय तथ्य है कि भामह की वक्रोक्ति, परवर्ती युग में प्रचलित एक विशिष्ट (शब्द या अर्थ का) अलंकार न होकर अत्यन्त प्रभाव-शालिनी एवं विशाल आयाम वाली है।[2] भामह ने स्पष्टतः उसे काव्य के 'सामान्य-सौन्दर्य, अथवा 'भंगीभणिति' (A skillful utterance or a clever presentation) रूप में स्वीकार किया है। इस दशा में वह समस्त काव्यालंकार-प्रकारों की जननी है।

काव्य-विभाजन के प्रसंग में, भामह के समक्ष एक समस्या थी। वह यह कि 'अनिबद्ध या मुक्तक' काव्य (Sporadic poetry) का सर्गबन्धों के अनुपात में क्या स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य प्रथम परिच्छेद की तीसवीं कारिका में प्रस्तुत करते हैं:—

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः। युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते॥

भामह के इस प्रामाण्यानुसार सिद्ध है कि वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति ही काव्य को 'काव्यरूप' देती हैं। वक्रोक्ति का तात्पर्य, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है 'उक्तिवैचित्र्य' अथवा 'वचनभंगी' से है। तथा स्वभावोक्ति का तात्पर्य भी' किसी वस्तु के सहज वर्णन (A natural description) से है। इसी प्रकार प्रथम परिच्छेद की चौतीसवीं कारिका में:—

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्। भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥

तथा छत्तीसवीं कारिका में:—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्। वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः॥

आदि का उपन्यसन करके भामह स्पष्टतः'वक्रोक्ति' को 'वाचामलंकृति' के रूप में स्वीकार करते हैं। पंचम अध्याय में उनका '**तदेभिरंगैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिर-**

---

१. भट्टनायकेनापि त एव (?) शिक्षित्वाभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्।
शब्द- प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः
अर्थे च तत्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

२. आचार्य दण्डी ने भी 'वक्रोक्ति' को इसी रूप में स्वीकार किया है—
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥—काव्यादर्श २।२६३।

लंकाराय कल्पते' आदि कथन भी इसी सैद्धान्तिक सत्य का साक्षी है। इन समस्त उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि 'वक्रोक्ति' का अन्य अलंकारों से ठीक वही सम्बन्ध है, जो लक्षणों का है। क्योंकि लक्षण, त्रिविध अभिधा व्यापारमय होने के कारण शब्दार्थ की पारस्परिक विचित्रसंघटना (शब्दालंकार एवं अर्थालंकार) उत्पन्न करते हैं, अतः वास्तव में वे ही काव्यालंकारों के उत्पादक हैं। और यही कार्य (अभिनव के मतानुसार) व्यापार-प्रधान 'वक्रोक्ति' भी करती हैं। वस्तुतः 'वक्रोक्ति' पद अत्यन्त साकूत एवं साभिप्राय-सा प्रतीत होता है। क्योंकि 'वक्र' पद का संकेत 'शब्दार्थ की विचित्र संघटना' (भंगीभणिति) से तथा 'उक्ति' पद का संकेत 'व्यापार-प्राधान्य' से ही है। अतः अभिनवगुप्त का पूर्वव्याख्यान सर्वथा तर्कसंगत एवं उचित है। इस विषय में डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी द्वारा स्थापित 'कुन्तक की वक्रोक्ति तथा लक्षण का ताद्रूप्य' भी यथासन्दर्भ आगे निरूपित किया जायगा।

लक्षण एवं वक्रोक्ति सम्बन्धी इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कोई भेद नहीं। इसी कारण आचार्य अभिनव कहते हैं—'बन्धो, गुम्फः, भणितिः, वक्रोक्तिः कवि व्यापारः इतिहि पर्यायात् लक्षणं तु अलंकारशून्यमपि न निरर्थकम्'—(अभि०, पृ० ३२२) उनकी इस मान्यता के पश्चात् यदि हम आचार्य भामह की यह कारिका देखें—

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नो स्यां कविभिः कार्यो को लंकारो नयाविना? २।८५

(यहाँ अवधेय बात यह है कि प्रस्तुत कारिका भामह ने ग्यारहवें अलंकार, अतिशयोक्ति के प्रसंग में कहा है, अतः इसका परामर्श क्षेत्र निश्चित-सा है) तो लक्षणों के साथ वक्रोक्ति का सम्बन्ध स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ० जी० टी० देशपाण्डे द्वारा प्रस्तुत 'लक्षण वक्रोक्ति तुलना' का उल्लेख आवश्यक है जो कि इस प्रकार है:—नाट्य के लक्षणों का कार्य है 'अर्थों का विभावन' कार्य। भामह ने 'अनयार्थों विभाव्यते' इस प्रकार स्पष्टरूप में बताया है। लक्षणों से अलंकारों में वैचित्र्य सिद्ध होता है यह भट्टतौत का कहना है। 'कोऽलंकारोऽनयाविना' यह भामह का कथन है। 'काव्यबन्ध लक्षणयुक्त रहना चाहिए' यह भरत मुनि का कथन है और भामह कहते हैं—'यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः।' सारांश लक्षणों का स्वरूप, प्रयोजन एवं परिणाम, इन सब का संक्षेप भामह ने अपने वक्रोक्ति के विषय में लिखे हुए प्रसिद्ध कारिका में किया हुआ है—सैषा सर्वेव वक्रोक्तिः आदि' (भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ५१)।

इस प्रकार आचार्य भरत के लक्षण पर भी विषयक मत, लक्षणों की उपयोगिता तथा संख्या-अपेक्षित प्रकाश डाला जा चुका। किन्तु एक समस्या यह उठ सकती है कि भरत के पूर्व इन लक्षणों की क्या परिस्थिति थी? इस विषय में शोधकर्ता की स्पष्ट धारणा है कि अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्यात, लक्षणों की दशपक्षी ही उनकी पूर्वावस्था है। यद्यपि डॉ० देशपाण्डे जी ने बहुत प्रयत्नपूर्वक निरुक्त एवं मीमांसा ग्रन्थों के आधार पर लक्षणों की प्राचीनतम

स्थिति सिद्ध करने एवं दिखाने की चेष्टा की है किन्तु उसमें यथेष्ट मौलिकता नहीं है।[१] क्योंकि वह व्याख्यान अभिनव प्रोक्त 'दशपक्षी' का ही एक पक्षविशेष है, अतः उसी को ही विशेषरूप से लक्षणों की पूर्व-स्थिति स्वीकार करना कल्पना-गौरव मात्र है। यदि हम, मीमांसा तथा निरुक्तशास्त्र की (भरत की अपेक्षा) प्राचीनता के ही आधार पर डॉ० देशपाण्डे जी के व्याख्यान को उचित मानना चाहें तो इस विषय में यह प्रस्ताव प्रस्तुत करना ही अधिक संगत है कि 'दशपक्षी' के छठें तथा सातवें विकल्पों को ही मिलाकर क्यों न लक्षणों का प्राचीनतम स्वरूप माना जाय, क्योंकि 'प्रबन्ध का धर्म' अथवा 'कवि का अभिप्राय-विशेष, होने के कारण उनकी व्याप्ति, ऋग्वेद के मन्त्रों तक होगी। वस्तुतः सत्य यह है कि आचार्य अभिनव ने लक्षणों के विषय में प्रचलित दश मतों का संग्रह मात्र किया है। इस संग्रह कार्य में उनकी यह दृष्टि कभी नहीं रही कि इनमें से कौन-सा मत भरत से पहले का है और कौन बाद का? सम्भव है वे सब-के-सब भरत के बाद के हों। सम्भव है कि लक्षणों के महिमामय सिद्धान्त की सृष्टि सर्वप्रथम आचार्य भरत ने ही की हो, किन्तु हाँ, इतना तो सुदृढ़ सत्य है कि 'दशपक्षी' आचार्य अभिनव की पूर्ववर्तिनी है और इनके व्याख्याता भी भरत तथा अभिनव के मध्यवर्ती आचार्यगण हैं।

दशपक्षी लक्षणों के विषय में प्रचलित दश सिद्धान्तों का संकलन है जिसे सर्वप्रथम आचार्य अभिनव ने प्रस्तुत एवं व्याख्यात किया। किन्तु नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों[२] में उनके प्रतिपादन का क्रम पूर्णतः उलट-पलट गया है। इसी कारण डॉ० राघवन, जिन्होंने मद्रास पुस्तकालय में उपलब्ध एक पाण्डुलिपि-विशेष के आधार पर लक्षणों का अध्ययन किया था, उनका अनुक्रम, अंशतः भिन्न स्वीकार करते हैं। प्रो० भट्टाचार्य ने पूर्णरूप से 'बड़ौदा-संस्करण' में स्थित, अभिनवभारती के क्रमानुसार लक्षणों का क्रम स्वीकार किया

---

१. इस उद्गार से हमारा आक्रोश, विद्वान् लेखक के प्रति बिलकुल नहीं है, क्योंकि अभिप्रायों का स्वरूप निश्चित करने के लिए विद्वान् आलोचक ने जो शोध की है, वह अवश्य ही श्लाघ्य एवं स्तुत्य है। हम उससे पूर्णतः सहमत हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि दशपक्षों में से एक विशेष पक्ष (मीमांसा-संबंधी) को ही क्यों पूर्वतत्त्व स्वीकार किया जाय, जबकि 'काव्य-परम्परा' यास्क के प्रमाणानुसार वेदों में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। देशपाण्डे जी स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं (द्र० युगवाणी-मराठी-जनवरी १९५१ ई०)।

२. नाट्यशास्त्र के प्राचीन प्रकाशित संस्करण इस प्रकार है :—

(क) काव्यमाला-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

(ख) चौखम्बा संस्करण-विद्याविलास प्रेस, काशी।

(ग) बड़ौदा संस्करण—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज नं० ६८, बड़ौदा सन् १९३४ ई०। श्रीरामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित।

है, और यही क्रम उचित एवं अभीष्ट भी है। अतः तुलनात्मक रूप से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि :—

(क) (बड़ौदा संस्करणानुसार) प्रथम, द्वितीय तथा दशम पक्ष डॉ० राघवन ने इसी रूप में स्वीकार किया है।

(ख) इसी प्रकार (ब० सं० स्थित) चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, अष्टम एवं नवम पक्ष क्रमशः डॉ० राघवन के तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम पक्ष हैं।

(ग) (ब० सं० स्थित) तृतीय एवं पंचम पक्ष का डॉ० राघवन की 'दशपक्षी' में कोई उल्लेख नहीं (केवल पंचम पक्ष की एक पंक्ति डॉ० राघवन के चतुर्थ पक्ष में है।)

(घ) डॉ० राघवन के अष्टम एवं नवम पक्ष बड़ौदा संस्करण स्थित नवम पक्ष के ही अंग हैं, बस उनसे पृथक् कर लिये गये हैं।

अब इसी विवेक-बुद्धि के साथ प्रस्तुत दशपक्षी पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रथम पक्ष के अनुसार लक्षण काव्यशरीर के आन्तरिक अपृथक् सिद्ध धर्म हैं। यद्यपि काव्यशरीर का प्रसाधन गुण एवं अलंकार भी करते हैं किन्तु लक्षणों से उनका पार्थक्य इस कारण है कि वे काव्यशरीर के बहिरंग का ही प्रसाधन करते हैं, अतः वे सर्वथा पृथक् सिद्ध हैं। शरीर से हम वस्त्राभूषण उतार कर फेंक सकते हैं (क्योंकि वह केवल शोभार्थ धारण किया गया है, वस्तुतः वह शरीर से पृथग्भूत हैं) किन्तु होठों की लालिमा, चितवनों की स्निग्धता अथवा शरीर के लावण्य को हम किसी प्रकार दूर नहीं कर सकते। आखिर क्यों? इसलिए कि वे शरीर के 'अन्तरंगपक्ष' हैं, हाड़-मांस तथा चमड़े से पृथक होते हुए भी वे उसी में अन्तर्भूत हो चुके हैं। बाह्याभूषण, इसी 'अन्तरंगपक्ष' को भूषित करते हैं और सत्य तो यह है कि उपर्युक्त 'आन्तरिक-तत्त्व' ही भूषणों को 'भूषण' बनाते हैं, अन्यथा कोढ़ी अथवा मुर्दे को 'भूषण' पहिना कर हम देखें कि ऐसा करने से कितना सौन्दर्य बढ़ता है? ठीक यही दशा लक्षणों की भी है। इसी कारण आचार्य अभिनव ने कहा था—**'लक्षणानि हि अलंकारानपि चित्रयन्ति'**।

डॉ० राघवन कृत व्याख्यान में भी यह पक्ष 'प्रथम' रूप में ही लिया गया है। किन्तु अपने व्याख्यान के पश्चात् अन्त में उद्धृत किये गये 'अभिनवभारती' के अंश में डॉ० राघवन एक नवीन वाक्य देते हैं—**'तत्र प्रथम पक्षे वर्णनीय प्रधानभूताधिकारपुरुषगतगुण विभाग एवं काव्ये पर्यवसीयते'**। इस वाक्य के पहले की 'अभिनवभारती' वही है जो बड़ौदा संस्करण में प्राप्त है। डॉ० राघवन ने उसे अपनी पाण्डुलिपि (मद्रास पुस्तकालय) के० पृ० ३७९ से उद्धृत किया है। उपर्युक्त वाक्य पृष्ठ ३८० का है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष (जो दोनों संस्करणों में समान है) पृष्ठ ३८० से उद्धृत किया गया है। अतः सम्भव है कि यह वाक्य मद्रास पाण्डुलिपि में प्रथम पक्ष का ही अंश हो। इस वाक्य का संकेत मनुष्यों के अंगों में प्राप्त सामुद्रिक लक्षणों से है,[1] जैसा कि द्वितीय पक्ष में स्पष्ट किया गया है—

---

१. Laksana is the body itself and as such is further adorned with

'काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतख्यातिपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता' (पृ० २९६)।

किन्तु डॉ० राघवन द्वारा उद्धृत यह वाक्य वस्तुतः तृतीय पक्ष का है जिसमें दो विकल्प हैं। डॉ० राघवन ने शायद प्रथम पक्ष देखकर ही इसे पहले मत में जोड़ लिया किन्तु यह तथ्य अवधेय है कि दूसरा विकल्प भी इसके बाद ही 'द्वितीय पक्षे' के रूप में दिया गया है (द्रष्टव्य-अभि०, पृ० २९६)। अतः डॉ० राघवन, जो तृतीय पक्ष को अपनी व्याख्या में नहीं लेते, इस वाक्य का गलत अर्थ भी लगाते हैं, जैसा कि टिप्पणी में दिया गया है। इस वाक्य का उचित अर्थ हम तृतीय पक्ष के व्याख्यान में स्पष्ट करेंगे।

प्रो० भट्टाचार्य ने प्रथम पक्ष का सम्बन्ध 'काव्य के प्रतिपाद्यसंघटन' एवं 'कवि वाङ्निर्मिति' से (Compositional process) मानते हुए लिखा है—'Gunas refer to चिन्मय (meaning रस) substratum, Laksanas have reference to the bodily make-up of word-structure as in 'पाक-मुद्रा and शैय्या' in another idealogy'—Poona Orientalist.

ऐसा लगता है कि 'पाक-मुद्रा' तथा 'शैय्या' की प्रेरणा लेखक ने डॉ० सुशीलकुमार डे द्वारा प्रणीत निबन्ध से ली है।[1] डॉ० डे ने केवल 'शब्दार्थसाहित्य' को प्रख्यातार्थ में 'साहित्य' नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि काव्यगत साहित्य में कुछ वैशिष्ट्य अवश्य रहता है—"Poetry is not merely linguistic expression but beautiful expression. In other words, it came to be recognised that the 'sahitya' of शब्द and अर्थ in poetry must have a विशेष or speciality. Hence Vamana speaks of विशिष्टा पदरचना and Kuntaka declares more cleverly that विशिष्टमेव साहित्यमभिप्रेतम् while समुद्रबन्ध summarising the different views of Schools of Poetics is emphatic that इह विशिष्टं शब्दार्थौ काव्यम् The question of deciding what this विशेष is, and how it is realised thus becomes the main problem of Poetics."

Alankaras. Just as we take the metaphor of necklace or anklet when we talk of Alankara, so also we have to take the metaphor of the body such as the Samudrika Lakshanas when we speak of Kavya-lakshaana.

—Dr. Raghavan

१. अन्नामलाई (सन् १९३५) तथा बम्बई (१९४३ ई०) विश्वविद्यालय में दिए गए भाषणों का विषय, जो निबन्ध रूप में Dacca university Studies, vol. I तथा New Indian Antiquary, vol. IX में छपे थे। द्रष्टव्य, डे-कृत पुस्तक The Problems of Sanskrit Poetics का प्रथम निबन्ध (The Problem of Poetic Expression) कलकत्ता १९५९ ई०।

अपने इस व्याख्यान के बाद, डॉ० डे ने चार प्रमुख 'विशेष-तत्वों' की उद्भावना की है—

१. महाकवि बाणभट्ट की 'शैय्या' (जिसे अग्निपुराण में, उसी अर्थ में 'मुद्रा' कहा गया है।)।

२. आचार्य वामन का 'पाक' (literary ripeness)।

३. आचार्य भरत का 'लक्षण' तथा

४. आचार्य भामहादि द्वारा स्थापित 'अलंकार'।

अस्तु, प्रसंगोपात्त होने के कारण इन तत्वों की अपेक्षित व्याख्या करनी आवश्यक है। यहाँ, इतना संकेत कर देना भी प्रसंगानुकूल ही होगा कि तुलनात्मक दृष्टि से शैय्या पाक एवं मुद्रा का स्थान गुण एवं अलंकार के ही बराबर है। वे सब के सब काव्य के बहिरंग पक्ष ही हैं, जब कि लक्षण काव्य के अन्तरंग साथ ही साथ अपृथक् सिद्ध धर्म है। उदाहरणार्थ, आचार्य वामन का 'शब्दपाक' लीजिए। काव्यांगों की चर्चा करते समय 'प्रकीर्णांगों' के रूप में वामन ने सात तत्व गिनाए हैं—लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिमान, अवधान, देश और काल। इनमें से 'अवेक्षण का अर्थ है—कविता में पदों का रखना और हटाना (**पदाधानो-द्धरणवेक्षणम्—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३।१५**) जब कविता ऐसी स्थिति में आ जाय कि शब्दों का हटाना सम्भव न हो तब उसे 'शब्दपाक' कहते हैं।[1] वामन का यह मत स्पष्टतः उस सौशब्द्य सिद्धान्त की भाँति है, जिसका उल्लेख आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ में किया है।[2] 'शब्दपाक' की यह स्थिति निश्चित रूप से 'रसानुभूति' से बहिर्भूत है, अतएव लक्षण जिसका कि मूललक्ष्य 'विभावादि-वैचित्र्य' सम्पादित करने के साथ ही साथ चित्तवृत्त्यात्मक रस को भी लक्षित करना है, 'पाक' से विशिष्ट तत्व है। 'पाक' त्रिविध अभिधाव्यापार रूप लक्षण का, इस दृष्टि से, एक अंग मात्र होगा, क्योंकि लक्षण आचार्य अभिनव के शब्दों में—'शब्दानां शब्दैः अर्थानामर्थैः शब्दानामर्थैस्तथापरैः संघटनां विचित्रां कारयमाणाऽभिधा-व्यापारवती ह्युक्तिर्निर्वाणप्रधानधुराधिरोही लक्षणाख्य एव' (अभि०, पृ० २९७) रूप का है।

'शब्दपाक' का उपर्युक्त रूप डा० डे ने भी अपनी व्याख्या में स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने पाकविषयक आचार्य मंगल का भी मत, राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' से उद्धृत किया है, जिसके अनुसार पाक 'सौशब्द्य' (verbal excellence), शब्द-व्युत्पत्ति मात्र है। इसके पश्चात् 'It is clear that this view makes पाक almost

---

१. यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३।१५ की संग्रहकारिका।

२. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे सुपां तिङांच व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्दयं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।

—काव्यालंकार १।१४-१५।

identical in its connotation with शैय्या' (P. 5) तथा उसके भी पूर्व 'विशेष' तत्त्व की स्थापना के प्रसंग में—'One of the erliest was through the idea of to which Bana refers andfor which the Agni-Purana appears to employ the term 'मुद्रा' with similar connotation (P. 4).

इत्यादि कहने से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि डे के अनुसार शैय्या तथा मुद्रा का सम्बन्ध भी प्रायेण 'शब्दव्युत्पत्ति' मात्र से है, रस से नहीं। ऐसी दशा में उनका लक्षण के साथ कोई साम्य नहीं। और यदि थोड़ी देर के लिए हम ऐक्य अथवा साम्य स्थापित करना भी चाहें तो लक्षण-पाक के बीच 'अंगी तथा 'अंग' का ही सम्बन्ध हो सकेगा।

किन्तु पाक का एक और भी रूप है, जिसे आचार्य वामन ने तृतीयाधिकरण में अर्थ-गुणों की समाप्ति के बाद अपनी संग्रहकारिकाओं में 'काव्यपाक' के रूप में व्याख्यात किया है। 'काव्यपाक' का अर्थ है 'स्पष्टतः गुणों का सान्निध्य' (गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षतं) और चूँकि वामन के गुणों का बहुत कुछ सम्बन्ध 'रसपरिपाक' से भी है, अतः अप्रत्यक्ष रूप से हम 'काव्यपाक' को रसानुभूतिपरक मान सकते हैं। यद्यपि डॉ० डे ने इस नवीन तथ्य की ओर अपनी 'पाकसिद्धान्त-व्याख्या' में कोई संकेत तक नहीं किया है, किन्तु यह स्पष्ट धारणा है कि आचार्य वामन का 'शब्दपाक' तो नहीं किन्तु 'काव्यपाक' अवश्य ही लक्षणों के समकक्ष है।

'शब्दपाक' का प्रबल खण्डन करती हुई अवन्तिसुन्दरी ने 'पाक' का जो आदर्शरूप स्थापित किया है वस्तुतः वही 'लक्षणों' की ओर संकेत करता है और वामनाचार्य का 'काव्यपाक' भी बहुत कुछ उसी रूप का है। **'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति। तस्माद्रसोक्तिशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः।'—(काव्यमीमांसा, पृ० २०)**

मुद्रा एवं शैय्या को भोज ने भी 'शब्दालंकार' रूप माना है किन्तु उनकी 'शैय्या' का स्वरूप (शय्येत्याहुः पदार्थानां घटनायां परस्परम) भी शुद्ध 'शब्दसंघटना' मात्र है। विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में यह तथ्य अधिक स्पष्ट किया गया है—'या पदानां परान्योऽन्यमैत्री शय्येति कथ्यते।' किन्तु पाक, मुद्रा एवं शैय्या के समकक्ष होते हुए भी रसानुभावी है यही वैशिष्ट्य उसे अन्य तत्वों से उत्कृष्ट बनाता है। एकावलीकार आचार्य विद्याधर ने इसी कारण 'पाक' का जो रूप स्थिर किया, उसमें आचार्य वामन तथा अवन्ति सुन्दरी दोनों के ही मतों का मंजुल समन्वय है—**अनवरतमभ्यस्यतामेव कवीनां वाक्यानि पाकमासादयन्ति। पाकस्तु रसोचितशब्दार्थनिबन्धनम्। श्रवणसुधानिस्यन्दिनी पदव्युत्पत्तिः पाक इत्यन्ये। पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाक इत्यन्ये। एकावली, पृ० २२, श्री पी० के० त्रिवेदी संपादित बम्बई संस्करण सन् १९०३ ई०।**

पाक सम्बन्धी तथ्यों का इतना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने में अपना स्वारस्य केवल यह है कि लक्षणों की रसाभिमुखता स्पष्ट हो जाय। यद्यपि दशपक्षी के कुछ पक्ष, रस को शब्दशः अपने भीतर स्थान नहीं देते, तथापि सूक्ष्म दृष्ट्या चिन्तन करने पर, यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि उनमें से कोई भी रस की मर्यादा से बाहर नहीं। इसके विपरीत अधिकांश पक्ष

प्रत्येक दृष्टि से रसपरिपाक से सम्बद्ध अथवा उनके साधनभूत प्रतीत होते हैं। आचार्य अभिनव ने जब-जब लक्षणों की व्याख्या की है, तब-तब 'रसोत्कर्ष' से उनका सम्बन्ध स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त लक्षणों के आदि प्रवर्तक भरतमुनि ने स्वयं 'यथारसं' कहकर उनकी रसवत्ता सिद्ध की है।[1] परवर्ती आचार्यों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

किन्तु इतने प्राचीन साक्ष्यों के होते हुए भी प्रो० भट्टाचार्य का यह मत है कि—'They are in no way caused by, or connected with the normal application of the function of व्यञ्जना, the Vrtti par-excellence in नव्यअलङ्कारशास्त्र and are a part of विचित्रसङ्घटना associated with the main function of अभिधा—'संघटनां' विचित्रां कारयमाणाऽभिधाव्यापारवती ह्यु क्तिः (युक्तिः) निर्वहण (The reading in the printed text 'निर्वाण' is unmeaning) प्रधानधुराधिरोही (व्यापारो) लक्षणाख्य एव (पूना ओरियण्टलिस्ट, पृ० १७)

इसी प्रसंग में आगे पुनः उन्होंने कहा है—'The cleverly designed efforts of the later Schools to connect Lakshanas with Rasa in their new role are wishful thinking, and often betray confused thinking as well as in the statement (तथा हीदमनेन etc. अभि०, पृ० २९७)।

प्रो० भट्टाचार्य का उपर्युक्त मत उनकी अदूरदर्शिता का परिणाम प्रतीत होता है क्योंकि भरत प्रोक्त ३६ लक्षणों में से अनेक ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष या गौण सम्बन्ध व्यंजना वृत्ति से है और व्यंजना के रहते, किसी भी काव्यांश को रस (भरत) अथवा ध्वनि (आनन्द-वर्धन) से दूर हम मान ही नहीं सकते हैं। व्यंजना सम्बन्धी उदाहरण के लिए मनोरथ, प्रोत्साहना, तुल्यतर्क तथा अन्यान्य लक्षणों को हम ले सकते हैं जो उनकी रसवत्ता सिद्ध करने में भी पूर्णतः क्षम हैं। दूसरी बात यह कि लक्षण 'विचित्रसंघटना के अंग' (Part of विचित्रसंघटना) कभी नहीं हैं, वरन ऐसी संघटना के जनयिता हैं। अंग तो गुण एवं अलंकार हैं जिसकी विस्तृत व्याख्या पीछे की जा चुकी है। यदि यथाकथंचित् हम प्रो० भट्टाचार्य का मत स्वीकार भी कर लें तो यह समस्या चिन्त्य ही बनी रहेगी कि क्यों वस्तु एवं अलंकार रस-निष्पादक नहीं होते? जब कि ध्वनि के त्रैविध्य से (रसध्वनि, अलंकारध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि) हम पूर्णतः अवगत हैं। तीसरी बात यह कि रसों के साथ लक्षणों का प्रतिकूल सम्बन्ध मानकर ही प्रो० भट्टाचार्य ने अभिनवभारती के उद्धृतांश में 'निर्वाण' पाठ को निरर्थक मान

१. अलंकार विवेचन के अन्त में भरत ने पुनः लिखा है—'एभिरर्थक्रियापेक्षैः काव्यं कुर्यात्तु लक्षणैः' (ना० १६।८७) 'अर्थक्रियापेक्ष' का अर्थ अभिनव—'क्रियायां रसचर्वणायां युक्तं येषां' करके इस पद को 'लक्षणैः' का ही विशेषण स्वीकार किया है। भरत का यह प्रमाण लक्षणों की रसवत्ता स्पष्टतः सिद्ध करता है।

कर जो 'निर्वहण' पाठ स्वीकार किया है वह भी उनकी उद्भावना मात्र ही है क्योंकि 'निर्वाण-प्रधानधुराविरोही' का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रख्यात 'काव्यानन्द' से है जिसे परवर्ती युग में 'ब्राह्मानन्दसहोदर' की उपाधि दी गई। 'निर्वाण-प्रधान' का अर्थ है—रसानुभूति प्रधान। स्पष्ट है कि अपने विशिष्ट दृष्टिकोण की पुष्टिमात्र के लिए भट्टाचार्य जी ने 'निर्वाण' पाठ को निरर्थक सिद्ध किया है। चौथी बात एक प्रबल प्रमाण के रूप में है, जहाँ कि आचार्य भरत स्वयं लक्षणों को रस से सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। सोलहवें अध्याय के ८७वें श्लोक (पृ० ३३१) में आचार्य का कथन है—**'एभिरर्थक्रियापेक्षैः काव्यं कुर्यात्तु लक्षणैः अतःपरं प्रवक्ष्यामि काव्य-दोषान् गुणांस्तथा' यहां अभिनव के अनुसार 'क्रियापेक्ष' का तात्पर्य रसचर्वणा से ही है (एभिर्ल-क्षैणेरिति अर्थक्रियायां रसचर्वणायां युक्तं योगं येषां विभावादित्वं द्योतत् प्रसादादीत्युक्त मधस्तात्)।**

सम्भव है कि अपने इसी दृष्टिकोण को अधिक पुष्ट बनाने के ही लिए विद्वान् आलोचक ने प्रथम मत को 'मुद्रा शैय्या एवं पाक' स्वरूप स्वीकार किया जिनमें से कि किसी का भी सम्बन्ध सौशब्द्य मात्र होने के कारण 'रस' से नहीं हैं। किन्तु ये उद्भावनायें सार हीन हैं जैसा कि प्रायः पिछले अनुच्छेदों में स्पष्ट हो चुका है। वस्तुतः 'लक्षण' सहजरामणीयक से परिपूर्ण काव्यशरीर है जिसका पारमार्थिक यत्न रसानुभूति की ही ओर होता है। डा० प्रकाशचन्द्र लाहिरी ने अभिनवोद्धृत 'उपाध्याय' पद पर प्रकाश डालते हुए अपने शोध-प्रबन्ध की चौदहवीं पाद-टिप्पणी में भट्टतौत को ही प्रसंगोपात्त सिद्ध किया है। इस स्थल पर उद्धृत आचार्य तौत का एक सिद्धान्त पूर्णतः इस तथ्य को पुष्ट बनाता है कि 'लक्षण' रसानुभूति में परम सहायक है——'In the present Case, अभिनव does not mention him by name but later on he has told us in one place (Chap. 19) that in the opinion of भट्टतौत lakshanas along with other poetic factors अलंकार गुण etc. help the suggestion of रस He says :

तथा चोक्तं भट्टतौतेन—

लक्षणालंकृतिगुणा दोषाः शब्दप्रवृत्तयः।
वृत्तिसन्ध्यंगसंरम्भः संहारो यः कवेः किल॥
अन्यो न्यस्यानुकूल्येन सम्भूयैव समुत्पितः।
झटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्ते ह्लादिभिर्गुणैः॥

लक्षण सम्बन्धी द्वितीय पक्ष[१] मुख्यतः नाटकों से सम्बद्ध है। अभिनवगुप्त के प्रामाण्यानुसार इतिवृत्त अथवा कथावस्तु के खण्ड ही सध्यंगक, वृत्त्यंग एवं लक्षण, इन तीनों संज्ञाओं

१. अन्ये मन्यन्ते-इतिवृत्तखण्ड (ल)कान्येव सन्ध्यंगकानि लक्षणानि इति च व्यपदिश्यते। निमित्तभेदात् पूर्वापरसंबन्धेन बीजोपक्षिणेप्तेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्ध्यायकत्वेन सन्ध्यंगतया

से अभिहित होते हैं। इन्हें 'सन्ध्यंग' इसलिए कहा जाता है क्योंकि इतिवृत्त के प्रारम्भ से लेकर समाप्ति (निर्वहण पर्यन्त) तक उनके पृथग्भूत अंशों को ये परस्पर संयुक्त करते हैं। इसी प्रकार रस विशेष की अनुभूति कराने में उपयोगी सिद्ध होने के कारण उन्हें वृत्त्यंग, तथा काव्यगत ख्याति एवं प्राशस्त्य (उत्कर्ष) का विधायक होने के कारण लक्षण भी कहा जाता है। लक्षणों के विषय में यहाँ एक विशेष तथ्य कहा गया है, जिसकी व्याख्या भी डॉ० राघवन की उद्भावना के रूप में पहले ही की जा चुकी है। इस स्थल पर अभिनवभारती में एक कारिका भी उपन्यस्त की गयी है, जिसमें लक्षणों को ही 'बीजार्थ-क्रम' (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य रूप पंचावस्थायें) का निर्वाहक तथा फलसिद्धि के ही कारण प्रत्येक सन्धि में स्थित उनकी 'सन्ध्यंगता' का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इस कारिका की दोनों पंक्तियां भिन्न-भिन्न कारिकाओं की हैं, केवल मतपुष्टि के ही लिए उनका युगपदाधान किया गया है। अतः डॉ० राघवन का उसे एक स्वतंत्र कारिका के रूप में प्रतिपादित करना तथा पूर्व-अर्धाली में 'च' के स्थान पर 'चेत्' का निर्देश या तो उनकी अपनी स्वतंत्र सूझ-बूझ है अथवा पाण्डुलिपि का ही परिभ्रष्ट-पाठ है। किन्तु इनमें से कोई भी विकल्प स्वीकार करने पर न तो 'चेत्' पद की व्यंजना ही स्पष्ट होती है और न आलोचक का दृष्टिकोण ही।

सन्ध्यंगों तथा वृत्त्यंगों का विधान नाटक में ही होता है। यहाँ एक विशेष तथ्य का निर्देश कर देना आवश्यक है कि 'सन्ध्यन्तर' सन्ध्यंगों से सर्वथा भिन्न हैं।[1] इसी प्रकार लास्यांग तथा बीथ्यंग भी उनसे पृथक तत्व हैं।[2] परवर्ती नाट्याचार्यों ने इसी कारण पाँच अर्थप्रकृतियों (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य) पांच अवस्थाओं (आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम) पाँच संधियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण), चौंसठ सन्ध्यंगों (उपक्षेप-परिकरादि), चार वृत्तियों (भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी), सोलह वृत्यंगों (नर्मस्फिज आदि) इक्कीस सन्ध्यन्तरों (साम, भेद, प्रदानादि) दश लास्यांगों, तैंतीस नाट्यालंकृतियों (आशी, आक्रन्द इत्यादि) तथा तेरह बीथ्यंगों का छत्तीस लक्षणों की अपेक्षा

व्यपदेशः। रसविशेषोपयोगितया वृत्त्यंगवाचोयुक्तिः। काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता। तदुक्तं तत्रैव लक्षणान्येव बीजार्थक्रमनिर्वाहकानि च। इति प्रतिसन्धितदंगानि फलसिद्ध्युपपत्तितः इति।

(अभि० भा०, पृ० २९५-९६)।

१. द्रष्टव्य—सन्ध्यन्तराणामंगेषु नान्तर्भावो मतो मम।
सामाद्युपायदक्षेण सन्ध्यादिगुणशोभिना।।
रसार्णवसुधाकर ३।९५ (शिंगभूपालकृत)।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—दशरूपक (४।८४) भावप्रकाशन, अष्टमाधिकार तथा साहित्यदर्पण (६।१७०-७१)।

जहां उपर्युक्त चारों तत्वों को परस्पर भिन्न एवं पूर्णतः स्वतन्त्र बताया गया है।

स्वतन्त्र विवरण प्रस्तुत किया है। लक्षणों को छोड़कर शेष दश उल्लिखित तत्वों में से अनेक ऐसे हैं जिनका व्याप्ति-क्षेत्र, लक्षणों का अतिक्रमण करता है। इतना ही नहीं, वरन् लक्षणों को भी साथ लेकर इनमें से कुछ तत्व, अलंकारों के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। इन विषयों का वैशद्य-प्रदर्शन यथाप्रसंग आगे करेंगे। एक तथ्य अवधेय है कि उपर्युक्त विवरण अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है जो कि प्रायः प्रत्येक परवर्ती आचार्य को मान्य है। विस्तार-प्रिय, आचार्य भोज ने (शृंगारप्रकाश, १२) इन नाट्यतत्वों की संख्या (चार वर्गों में विभाजन करके) सोलह स्वीकार की है जिनमें से प्रत्येक वर्ग ६४ अंगों से युक्त है। इस प्रकार भोज ने नाटक के लिए कुल २५६ तत्वों की अपेक्षा स्वीकार की है—

उदाहृता नाटकनाटिकादौ इयं चतुष्षष्टिचतुष्टयी या।
रसाविरोधन निबन्धनीया कथासु काव्येषु च सा महद्‌भिः॥

वस्तुतः भोज द्वारा नाट्यतत्वों में पताकास्थानक तथा प्रवृत्तिहेतु आदि की भी परिगणना उनकी विस्तारप्रियता मात्र है। द्वितीय पक्ष का सम्बन्ध, जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है तथा प्रो० भट्टाचार्य ने भी स्वीकार किया है, इतिवृत्त अथवा कथावस्तु मात्र से है। बहिरंग दृष्टि से विचार करने पर ऐसा स्पष्ट प्रतिभान होता है कि इस पक्ष का सारा जोर 'शरीर' के (काव्यशरीर) विभाजन पर ही है। सम्भव है कि इस मत के प्रतिष्ठापक स्वयं आचार्य भरत रहे हों!

तृतीय पक्ष के अनुसार लक्षण या तो धीरोदात्तादि गुणों के आधान (आहरण) स्वरूप हैं अथवा 'वस्तुवर्णनाभंगि रूप'! स्पष्ट है कि प्रस्तुत पक्ष में दो विकल्प हैं, अतः आगे, **'प्रथम एवं द्वितीय पक्ष' के रूप में इन दोनों की पुष्टि की गई है—'काव्ये धीरोदात्तादि-गुणाधानं वस्तुवर्णनाभंगिर्वा इति केचित्। तदत्र प्रथम पक्षे वर्णनीयप्रधानभूताधिकारपुरुष-गतगुणादिविभाग एव काव्ये पर्यवसीयते। द्वितीयपक्षे तु वर्णनीयः सकल एवेति। वृत्तिलक्षणो-र्थः काव्यभेदात्त्रेधा विभाज्यते' (अभि०, पृ० २९६)।**

इस व्याख्यान का संकेत भी नाटक की ही ओर है। द्वितीय पक्ष से इसका यही वैशिष्ट्य है कि जहाँ उसका सम्बन्ध नाटक के स्वरूप तत्व (सन्ध्यंग) से है, वहाँ तृतीय पक्ष का सम्बन्ध उसके तटस्थतत्वों (प्रतिपाद्य एवं नायक) से हैं। किन्तु ये 'तटस्थ-तत्व' (इतिवृत्त तथा नायक) भी एक प्रकार से सन्ध्यंगों सहित 'सामान्य इतिवृत्त' के ही अंग हैं। नाटक के नायक की धीर-ललित प्रशान्त एवं उद्धत प्रभृति अनेक कोटियाँ दशरूपकादि लक्षणग्रन्थों में बताई गई हैं (द्रष्टव्य दशरूपक, प्रकाश २) इन चतुर्विध नायकों में से प्रत्येक के कुछ विशिष्ट गुण भी निर्दिष्ट किये गये हैं। वस्तुतः 'धीरोदात्तादि गुणाधान' का संकेत नाटकीय नायक की इन्हीं चतुर्विध कोटियों की ही ओर है। नायक ही 'वर्णनीय' अर्थात् नाट्येतिवृत्त का प्रधानभूत अधिकार-पुरुष है। उसी नायक का धीरोदात्तादि-चतुर्धाविभाजन, लक्षणों का स्वरूप है। अतएव इस वाक्य की डॉ० राघवन कृत सामुद्रिक लक्षणापेक्षिणी व्याख्या

तात्त्विक दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि 'धीरोदात्तादि गुणाधान' में स्पष्टतः यह संकेत किया गया है कि जिन गुणों की इस मत में चर्चा की जा रही है वे 'धीरोदात्तादि' ही हैं, पुरुषगत सामुद्रिक लक्षणादि नहीं।

दूसरा विकल्प सुस्पष्ट है, क्योंकि 'वस्तुवर्णनाभंगि' का पूर्वानुच्छेदों में बाहुल्येन विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। जैसे प्रथमपक्ष का मूल सम्बन्ध इतिवृत्त के नायक मात्र से है, ठीक यों ही प्रस्तुत पक्ष का इतिवृत्त मात्र से। 'वर्णनाभंगि' का विवेचन तो लक्षणों के स्वरूप-विवेचन में भी किया जा चुका है। आचार्य भामह की 'वक्रोक्ति' तथा लक्षणों का संघटनावैचित्र्य ही इस 'वस्तुवर्णनाभंगि' के मूल तात्पर्य हैं और इसी कारण प्रो० भट्टाचार्य ने तृतीय मत का समकक्ष तत्व मानते हुए आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति को प्रस्तुत किया है।[१] वक्रोक्ति तथा लक्षण की सैद्धान्तिक तुलना एवं ऐक्य प्रतिष्ठापना, पिछले अनुच्छेदों में की जा चुकी है। प्रश्न यह है कि आचार्य भामह की वक्रोक्ति (जिसका लक्षणत्व पीछे कई दृष्टियों से निश्चित किया है) तथा आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति (वर्णनाभंगि रूप) क्या परस्पर भिन्न हैं? डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी ने भी अपनी शोध में (पृ० १८-२० तक) युक्तिपूर्वक इस तथ्य की सिद्धि की है कि आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति का मूलाधार भामह की ही वक्रोक्ति है, क्योंकि दोनों के मूल में एक ही सिद्धान्त-बीज है। आचार्य कुन्तक ने उसे एक महत्वपूर्ण प्रभावशालिता से युक्त करके काव्यशास्त्र में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का रूप दिया है। इस विषय में लाहिरी साहब ने डॉ० ए० शंकरन के साक्ष्य भी पुष्ट्यर्थ उपस्थित किये हैं। अस्तु, यह कोई आलोच्य विषय नहीं, किन्तु इस स्थल पर हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि वैदग्ध्यभंगी के साम्यानुसार दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों (वक्रोक्ति सम्बन्धी) में आन्तरैक्य अवश्य है और इस दृष्टि से दोनों ही लक्षणों के समकक्ष हैं।

दशपक्षी का चतुर्थ मत 'कवि' को ही 'काव्यसर्वस्व' रूप में स्वीकार करता है। काव्य-रचना में तल्लीन कवि की मनोवैज्ञानिक स्थिति प्रदर्शित करना ही इस मत का लक्ष्य प्रतीत होता है। वस्तुतः कवि जब काव्य रचने बैठता है तो उसके क्रियाशील मस्तिष्क में विविध भावतरंगें उठने लगती हैं। उस दशा में उसकी कल्पना-सम्पत्ति परिस्पन्दों के रूप में एकैकशः प्रकट तथा प्रयुक्त होती है। इस क्रम में 'प्रथमपरिस्पन्द' का स्वरूप 'सर्वोत्तम' होता है, क्योंकि इसमें कवि की 'प्रतिभा' ही आत्मरूप में अवस्थित रहती है। इसी प्रतिभा के बल से वह रसाभिव्यंजन कराने में क्षम, माधुर्यादि गुणों का काव्य में उपनिबन्धन करता है। सामान्य कवि जो केवल व्युत्पत्ति-निष्णात किन्तु प्रतिभाविहीन है, वे ऐसा कहीं ही कर सकते। 'द्वितीय परिस्पन्द' का रूप 'वर्णनाव्यापार' से युक्त होता है। इसमें कवि की प्रतिभा गौण

१. The third broached in the sentence (काव्ये...वस्तुवर्णनाभंगिर्वेति-केचित्) is found echoed in the वक्रोक्ति idedogy in its perticular line of वस्तु कुन्तक'ऽवक्रोक्तिजीवित (४।१८-१९)।

रहती है, इसी कारण वह क्षणमात्र के लिए यह विचार करता है कि—'अमुक शब्द द्वारा मैं इस वस्तु का वर्णन कर रहा हूँ।' अलंकार इसी वर्णनव्यापार के फलस्वरूप सम्पाद्य होते हैं।

किन्तु इन दोनों व्यापारों—(प्रतिभा एवं वर्णना) के अतिरिक्त एक परिस्पन्द और होता है जो समष्टिरूप में 'काव्यशरीर' का विधान करता है। इसमें कवि केवल, रसाभिव्यंजक गुणों को ही संयोजित करने में व्यग्र नहीं रहता और न ही अलंकारयोजना में। वरन् उसका समस्त अवधान, सम्पूर्ण कविकर्म पर रहता है कि 'मैं शब्दों को इन शब्दों से तथा अर्थों को इन अर्थों से संयुक्त करता हूँ।' और ऐसा करने में, गुण अलंकार (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार) सब एक ही साथ उस 'कविकर्म' (काव्य) में आकृष्ट हो उठते हैं। इस प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन 'त्रिविध अभिधाव्यापार' (जो लक्षण का ही पर्याय है) के प्रसंग में किया जा चुका है। जहाँ तक 'रस' का प्रश्न है, वह भी गुणादिसाहचर्य के कारण उस कविव्यापार से दूर नहीं रहता। यही तृतीय परिस्पन्द लक्षण है।[१]

यह लक्षण शब्दार्थ का उपसंस्कार करने वाला (क्योंकि शब्दार्थ गुण तथा शब्दार्थालंकार चारों उसी व्यापार से उद्भूत होते हैं) तथा क्रिया रूप (व्यापार रूप) होता है। श्लेषादि दश गुणों से सम्भाव्य अभिव्यंजन व्यापार भी इसी लक्षण का धर्म है, क्योंकि गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ से है और वही शब्दार्थ रूप काव्यशरीर लक्षणों का आश्रय है। इतना ही नहीं, वरन् शब्दार्थ में स्थित तथा रसपरिपाक की ओर उन्मुख, एक स्निग्ध स्पर्श भी इन्हीं लक्षणों में विद्यमान रहता है।[२]

वस्तुतः गुण अलंकार तथा लक्षणों के उपर्युक्त परिस्पन्दात्मक भेद कवि-व्यापार के ही भेद पर आश्रित है, अतः इस त्रिविध विभाजन का समस्त दायित्व कवि पर ही है,। प्रस्तुत पक्ष में कवि की ही एकमात्र महनीय स्थिति देखकर प्रो॰ भट्टाचार्य ने कहा है—

The fourth has special reference to the preparation of the poet and his judicious use of select materials in the form of Padasc (शब्दानमीभिः शब्दैः. . . इष्टालंकारदृष्टान्तचिह्नम् इति च—अभि॰, पृ॰ २९६) In this interpretation गुण and अलङ्कार are but two inter-related aspects of the same attribute which is termed Lakshana.

---

१. शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिशब्दार्थात्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यंजनव्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणानीति। (अभि॰, पृ॰ २९६)।

२. काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित्स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः। यःश्लेषादिगुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः॥ इति (अभि॰, पृ॰ २९६)।

जहाँ तक इस पक्ष के सम्भावित लेखक का प्रश्न है, प्रो० भट्टाचार्य ने आचार्य भट्टतौत को स्वीकार किया है किन्तु क्यों और किस आधार पर? इसके विषय में भट्टाचार्य जी पूर्णतः मौन हैं। डॉ० राघवन ने प्रस्तुत पक्ष के अन्तिम वाक्य 'अत्र पक्षे कविव्यापार-भेदाद्गुणालंकारलक्षणविभागः' में व्यापार भेद शब्द देखकर अपना यह निर्णय दिया है— 'The third view takes its stand on व्यापारभेद from what the Anushtup shloka and the association of व्यापार with भट्टनायक, we may conjecture that some of these views are expounded in भट्टनायक's हृदयदर्पण We also know of the Mimamsa-predilections of भट्टनायक So it is likely that the tenth view also is contained in his work.

किन्तु ये दोनों ही मत 'भ्रामक' हैं। पहला तो केवल इसलिए कि वह आधारहीन-सा प्रतीत होता है और दूसरा इसलिए कि वह केवल 'शब्दसाम्य' के आधार पर भट्टनायक के नाम मढ़ दिया गया है। वस्तुतः व्यापार का अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में केवल कविकर्म से है, अतः वह मीमांसाशास्त्र में स्थित' व्यापारवाद' से पूर्णतः पृथक् है। प्रो० भट्टाचार्य जी का मत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि आधारहीन-सा प्रतीत होता है। किन्तु गहराई से विचार करने पर विद्वान आलोचक की धारणा को स्वीकार किया जा सकता है। चतुर्थ पक्ष के व्याख्यान से इतना तो निश्चित ही हो चुका है कि इसके अनुसार काव्य-रचना के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट पद 'कवि' का ही है। पूर्व व्याख्यात तीनों परिस्पन्दों का दायित्व एवं श्रेय भी एकमात्र कवि को ही है। वस्तुतः कवि ही काव्य संसार का प्रजापति है। इसी मत का समर्थन प्रो० भट्टाचार्य जी ने भी किया है, जिससे सम्बद्ध उनका मत भी किंचित्पूर्व उपन्यस्त किया जा चुका है।

अभिनवभारती में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ व्याख्याकार ने अपने नाट्यगुरु भट्ट-तौत का कवि-विषयक मत उपस्थित किया है और वह मत भी निस्सन्देह इसी वैचारिक सत्य की स्थापना करता है कि वाग्वैदग्धी से परिप्लुत जो कुछ भी काव्यरस-माधुरी जगत् में है, उसका समस्त श्रेय एकमात्र कवि तथा उसकी व्यक्तिगत काव्यशक्ति (प्रतिभा) को ही है। आचार्य तौत ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ में (काव्यकौतुक) यह घोषणा की कि काव्य और कुछ नहीं, प्रत्युत कवि का कर्म मात्र है (तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्) उन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा अंगीकृत मत (शब्दार्थौ काव्यम्) को प्रकारान्तर से केवल इसी कारण स्वीकार किया ताकि कवि का 'माहात्म्य' स्पष्ट हो सके। कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं शक्ति के रूप में आचार्य तौत ने ही सर्वप्रथम 'प्रतिभा' की एक स्थायी परिभाषा निश्चित की। वह 'प्रतिभा' त्रैका-लिकी प्रज्ञा के नवनवोन्मेषों से युक्त होती है। आचार्य तौत के कवि-सम्बन्धी इन्हीं उद्‌गारों का अनुमोदन परवर्ती युग में चण्डीदास (काव्यप्रदीपिका, पृ० ७) क्षेमेन्द्र (का० ३५, औचित्यविचार०) हेमचन्द्र (पृ० १४ एवं ४३२ काव्यानु०) तथा राजानक रुचक आदि (पृ० १३, १।२३ व्यक्तिविवेक व्याख्या) विद्वानों ने भी किया है!

अतः निश्चित है कि प्रो० भट्टाचार्य की मान्यता के पीछे यही व्याख्यान आधाररूप में स्थित है। भले ही उन्होंने इस तथ्य को विशद नहीं किया है किन्तु हमें इस बात से पूर्णतः सहमत होना चाहिए कि 'कवि एवं कवि व्यापार' से ही सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत मत के व्यवस्थापक आचार्य भट्टतौत ही हैं।

अब पाँचवें पक्ष पर आइये, जो कि स्वरूप की दृष्टि से चतुर्थ मत से प्रायः साम्य रखते हुए भी वैशिष्ट्य-युक्त है। विवेचन के पूर्व ही यह स्पष्ट कर देना उचित है कि प्रो० भट्टाचार्य की एतद्विषयक मान्यतायें, यथार्थस्पर्शी, बिलकुल नहीं हैं। डॉ० राघवन ने तो इस मत को अपनी स्वीकृत दशपक्षी में लिया ही नहीं है। केवल अन्त का एक वाक्य[1] उन्होंने अपने चतुर्थ पक्ष के रूप में स्वीकार किया है किन्तु उसकी व्याख्या भी उन्होंने अपने ढंग से की है। भट्टाचार्यजी ने इस मत का सम्बन्ध काव्य के संघटनातत्त्व (Compositional process) अथवा कविवाङ्निर्मिति से स्थापित किया है। इस विषय में उनकी धारणा है—The first, fifth and nineth relate to कविवाङ्निर्मिति in different forms of acceptance though it has yet to be candidly confessed that in the two last of these the Lakshana-aspect is almost over-shadowed. All of these relate, however, to the व्यापार as distinct from the लक्षण or the incident mark etc.—Poona Orinentalist, P. 20.

किन्तु यदि हम पाँचवें पक्ष का प्रतिपादन करने वाली 'अभिनवभारती' का अध्ययन करें तो स्वतः स्पष्ट हो जायगा कि कम से कम पाँचवें पक्ष को लक्षणों से दूर समझना अल्पबोध का परिचायक है। ज्ञात तत्व को वितण्डा का रूप देना तथा अज्ञात को उपेक्षित कर देना, ये दोनों दोष प्राचीनकाल से ही आलोचकों में चले आ रहे हैं। आधुनिक आलोचकों को भी हम उस परिधि से बाहर नहीं सिद्ध कर सकते।

पाँचवें पक्ष[2] के अनुसार अभिनेय काव्यबन्ध लक्षणों के कारण ही लोकोत्तर-हृद्यवर्णन वाला बन पाता है। उदाहरण के लिए 'मेघदूत' को ही लीजिए। इस प्रबन्ध की रमणीयता का मूल हेतु गुणों एवं अलंकारों का प्राधान्य होने के कारण विभूषण नामक लक्षण ही है। इसी प्रकार अन्य लक्षणों का भी योग (काव्यबन्धों से) समझना चाहिए। काव्यबन्धों से

---

१. तथाहि किंचित्प्रबन्धजातं गुणालंकारनिकरप्रधानं यथा मेघदूताख्यं तद्विभूषणम्, एवमन्यदपि इति (पृ० ९)।

२. अपरे संगिरन्ते—अभिनेयानां काव्यबन्धानां वक्ष्यमाणस्वरूपं च रूपकं समभिदध्यात्। कवेः स्वसामर्थ्याधानाय तावदभ्यासो निर्माणविधेयो लक्षणम् मस्तकासम्पूर्णश्चादौ (?) क्रमेण तु तथाभूतोऽभिनेयार्थः काव्यबन्धो (लक्षणोन्नीतः) तेन च लोकोत्तरहृद्यवर्णने योगात्। तथा हि किंचित्प्रबन्धजातं गुणालंकारनिकरप्रधानं यथा मेघदूताख्यं, तद्विभूषणम्। एवमन्यदपि। इति। (अभि०, पृ० २९६)।

यहाँ स्पष्टतः दशविध रूपकों का अर्थ है, **क्योंकि 'अभिनेयानां काव्यबन्धानां वक्ष्यमाणस्वरूपं व रूपकं, सममिद्ध्यात्'** में वक्ष्यमाण का स्पष्ट संकेत नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय (ब० सं०) से है, जिसमें 'दशविध नाटकों' का विशेष लक्षण, व्याख्यात करते हुए अभिनव ने स्वयं कहा है— **'तत्र महासामान्यरूपं काव्यलक्षणेऽध्याये कृतमित्यवान्तरसामान्यलक्षणम् उद्देशानन्तरं वक्तव्यमिति दर्शयति।** अभिनव के इन दोनों प्रमाणों—अर्थात् पाँचवें पक्ष में रूपकों के वक्ष्यमाण स्वरूप को संकेतित करना तथा अठारहवें अध्याय (दशरूपलक्षण) में काव्यलक्षणाध्याय में रूपकों के सामान्य लक्षण का निर्देश—से ऐसा प्रतिभान होता है कि इन दोनों अभिव्यक्तियों में कुछ आन्तरिक सम्बन्ध अवश्य है। और यदि हम इस अन्तस्संकेत को स्वीकार कर लें तो पाँचवें पक्ष का सिद्धान्त स्वयं स्पष्ट हो जाता हैं।

ऐसी दशा में रूपकों के निर्माण करने में अपने सामर्थ्याधान (कौशल-प्रदर्शन) के लिए कवि जो 'अभ्यास' करता है वही लक्षण है। 'अभ्यास' का अर्थ नाटकीय विचार से 'शब्दार्थ एवं गुणालंकार' की संघटना ही है, जिसके फलस्वरूप वह अभिनेयार्थ (नाट्यकृति) लोकोत्तर हृद्यवर्णना से संवलित होता है। इस प्रकार घुमा-फिरा कर इन सब का सारार्थ 'त्रिविध अभिधाव्यापार' पर ही केन्द्रित होता हुआ प्रतीत होता है। प्रो० भट्टाचार्य जी इस व्यापार तत्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वह व्यापार लक्षणों से व्यतिरिक्त कैसे हैं? यह रहस्य समझ में नहीं आता। क्योंकि 'कविवांङ्निर्मिति' तथा 'त्रिविध अभिधा व्यापार' दोनों ही तत्त्व लक्षणों के पर्याय हैं, जैसा कि पहले सिद्ध कर चुके हैं।

इस पक्ष की एक नवीनता यह है कि इसका सम्बन्ध स्पष्टतः अभिनेय काव्यबन्धों (रूपकों) से ही है। किन्तु 'अभिनेय' पद स्पष्ट रूप से यहाँ नाटकों की ओर केवल संकेत ही करता है, परन्तु उन्हीं के लिए रूढ़ नहीं है। क्योंकि आगे 'मेघदूत' को उदाहरणस्वरूप में प्रस्तुत किया गया है जो कि किसी भी रूप में नाटक नहीं कहा जा सकता। अतः 'अभिनेय' का तात्पर्य यहाँ 'अभिनय गुणविशिष्ट' श्रव्य अथवा दृश्य काव्य से लेना चाहिए!!

पाँचवें पक्ष का सम्भाव्य लेखक कौन है? इस विषय में प्रो० भट्टाचार्य एवं डॉ० राघवन दोनों मौन हैं। किन्तु यदि हम अभिनवभारती के 'वक्ष्यमाणस्वरूपं' पद पर ध्यान दें तो कुछ आभास मिलता है कि यह मन्तव्य स्वयं आचार्य भरत का रहा होगा। यद्यपि 'दशपक्षी' का मौलिक स्वरूप अभिनव के युग तक विनष्ट हो चुका था, अतएव अभिनव ने तत्तत् आचार्यों की मूलाभिव्यक्ति के अभाव में दशपक्षी को पुनः अपने शब्दों में व्यक्त किया। किन्तु इतना होने पर भी अभिनव की आस्तिक्य बुद्धि, निरपेक्षता, निष्पक्षपातता एवं ईमानदारी पर हम अविश्वास नहीं कर सकते, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक पक्ष का उपस्थापन, उन पक्षों के संस्थापनाचार्यों की मान्यता एवं भावना के ठीक अनुकूल ही करने का प्रयत्न किया है और प्रायः सफल भी रहे हैं।

इस प्रकार निश्चित है कि अठारहवें अध्याय में स्थित दशरूप व्याख्यान की ओर 'वक्ष्यमाणस्वरूप' से संकेत करने वाले तथा 'गुणालंकारनिकर प्रधान' विभूषण आदि को

'प्रबन्धजात' (धर्म) मानने वाले आचार्य भरत ही इस मत के व्यवस्थापक हैं। अगले मत में यह तथ्य और स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी, क्योंकि वह भी आचार्य भरत का ही प्रतीत होता है।

दशपक्षी का छठा विकल्प लक्षणों को 'प्रबन्धधर्मा' के रूप में प्रस्तुत करता है— **'प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' इति केचितु ब्रुवते'** (अभि०, पृ० २९६) इसी प्रकार सातवां पक्ष भी उन्हें 'कवियों का अभिप्राय विशेष मानता है—**कवेरभिप्राय-विशेषो लक्षणम्। इति इतरे पुनर्मन्यन्ते'** (अभि०, पृ० २९६) कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों पक्ष लक्षणों की प्राचीनतम स्थिति के द्योतक हैं। भरत से बहुत पहले जब सर्वप्रथम कवियों तथा उनके प्रबन्धों का साहित्य क्षेत्र में उदय हुआ होगा, तभी इन लक्षणों का सिद्धान्त भी 'प्रबन्धधर्म' अथवा कवि के अभिप्राय-विशेष रूप में प्रकट हुआ होगा।

पाँचवें पक्ष की व्याख्या में हम यह देख चुके हैं कि गुण एवं अलंकार समूह से युक्त 'विभूषण' लक्षण को प्रबन्ध (मेघदूत) स्थित माना गया है। डॉ० राघवन 'प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' को उसी मत से संयुक्त करके अपना 'चतुर्थ मत' इस प्रकार स्थिर करते हैं—**तथा हि किंचित्प्रबन्धजातं गुणालंकारनिकरप्रधानं यथा मेघदूताख्यं, तद्विभूषणम्। एवमन्यदपीति प्रबन्धधर्मा लक्षणानि।**

इस वाक्य में 'अन्यदपि' प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' की स्पष्ट व्यंजना यही है कि जैसे 'विभूषण' को मेघदूत का (धर्म) बताया गया, उसी प्रकार अन्य प्रबन्ध धर्म (अन्य ३५ लक्षण) भी लक्षण हैं। उक्त उदाहरण में मेघदूत भी प्रबन्ध ही है अतः यदि हम छत्तीस लक्षणों तथा उनसे उत्पन्न किए गए वैशिष्ट्यों (Characteristics of different kinds of poems—Dr. Raghavan) को ही 'प्रबन्धधर्म' तथा लक्षण स्वीकार करें तो कोई अनौचित्य नहीं। वैशिष्ट्यों का स्पष्ट तात्पर्य गुणालंकारप्राधान्य (विभूषण) शिष्टाक्षरों से विचित्र अर्थ का वर्णन (अक्षरसंघात) असिद्धार्थ की सिद्धि (शोभा) हृदयस्थ भावों की अन्यापदेशों द्वारा अभिव्यक्ति (मनोरथ) आदि से है जिन्हें कि स्थान-स्थान पर अभिनवभारतीकार ने स्वयं लक्षणों से अभिन्न सिद्ध किया है। इस दृष्टि से आचार्य भरत के प्रत्येक लक्षण काव्य सम्बन्धी किसी न किसी वैशिष्ट्य से अवश्य संयुक्त है, जैसा कि ऊपर 'स्थाली-पुलाकन्यायेन' सुस्पष्ट किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवरण से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि 'त्रिविध अभिधाव्यापार' भी इसी क्षेत्र में रहेगा। क्योंकि वह स्वयं प्रबन्धरूप है, गुण अलंकार तथा अन्य विचित्र संघटनायें सब उसी से प्रसूत होती हैं। जहाँ तक इस पक्ष के व्यवस्थापक आचार्य का प्रश्न है, हम आचार्य भरत को ही स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि पूर्वव्याख्यानानुसार प्रबन्धधर्मरूप, ३६ लक्षण एवं उनमें व्यवस्थित विशिष्ट तत्व ही 'लक्षण' हैं और आचार्य भरत ने ही सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की स्थापना की थी—'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' (अभि०, पृ० २९२) तथा—'षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत्' (षोडशाध्यायानु-

बन्ध, अभि०, पृ० ३५०)। चूँकि आचार्य भरत ही गत आचार्यों में प्राचीनतम हैं, जिन्हें प्रथम लक्षणोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया जा रहा है तथापि इस तथ्य की सम्भावना तो है ही कि उनके पूर्व भी किसी आचार्य ने 'लक्षणसिद्धान्त' का प्रतिपादन किया हो, जैसा कि डॉ० देशपाण्डे जी ने निरुक्त एवं पूर्वमीमांसा में स्थित उपमा एवं उपमान का विवरण प्रस्तुत करते हुए इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि उन्हें मीमांसा में 'लक्षण' ही कहा गया है। (द्रष्टव्य० भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथमाध्याय, पृ० ४७)।

सातवें पक्ष में कवि के 'अभिप्रायविशेष' का अर्थ क्या है? इस पर थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है। डॉ० राघवन इस मत के व्याख्यान में अपने को असमर्थ घोषित करते हैं और प्रो० भट्टाचार्य जी उसे काव्य में कवि द्वारा प्रतिपादित कथन या भाव विशेष मानते हुए आचार्य भामह एवं दण्डी को उनके ज्ञाता रूप में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इस विषय में कुछ आपत्तियाँ इस प्रकार हैं—(क) जहाँ तक 'अभिप्राय' को काव्य में प्रतिपादित कवि का स्वारस्यविशेष (The poet's inner motive underlying his composition—Dr.Bhattacharya) मानने का प्रश्न है, वह तो ठीक ही है, किन्तु उनके दृष्टान्त अथवा साम्य रूप में भामह तथा दण्डी के अभिप्रायों की उद्धरणी देना ठीक नहीं, क्योंकि दोनों में विशेष अन्तर है।

कथा एवं आख्यायिका के स्पष्टीकरण प्रसंग में आचार्य भामह ने आख्यायिका का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा है—'कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदंकिता' (काव्या० १।२७) इस विवरण में अभिप्राय से अंकित होने का एकमात्र तात्पर्य है रचना में कवि द्वारा अपना कुछ व्यक्तिगत संकेत देना। इसी को परवर्ती आलोचकों एवं आचार्यों ने 'मुद्रा' (अलंकार) अंक अथवा 'कविसाहसाक नाम भी दिया है। उदा० भारवि द्वारा किरातार्जुनीय के प्रत्येक सर्गान्तिपद्य में 'लक्ष्मी' तथा माघकवि द्वारा शिशुपालवध के प्रत्येक सर्गान्तिपद्य में 'श्री' शब्द का प्रयोग। नीलकण्ठविजय में इसी प्रकार सर्वत्र 'नीलकण्ठमखिनिहितकारुण्य' तथा नलचम्पू में 'हरचरणसरोजद्वन्द्वमौलि' पद का प्रयोग। यही कवि का अभिप्रायकृत कथन है, आख्यायिका में इसका सद्भाव भामहाचार्य के अनुसार अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य हेमचन्द्र (काव्यानुशासन, पृ० ४५७) प्रबन्धगत अलंकारों का व्याख्यान करते हुए इन तत्वों की गणना 'शब्दवैचित्र्य' में करते हैं। उनके अनुसार ये अभिप्राय पाँच प्रकार के हैं—स्वाभिप्रायांकता, स्वनामांकता, इष्टनामांकता, मंगलांकता तथा आशंसांकता। इनमें से अन्तिम का सम्बन्ध प्रायः नाटक से ही होता है। क्योंकि वही 'भरतवाक्य' कहा जाता है।

किन्तु आचार्य दण्डी ने भामह के इस संकीर्ण मत का विरोध करते हुए कहा कि

---

1. Weare unable to have much light as regards the fifth view on which we have only a brief remark. It says :—**केचित्तु ब्रुवते कवेरभिप्राय विशेषो लक्षणमिति** Dr. Raghavan

कविभावकृत ये चिह्न कथा में भी प्रयुक्त किये जाने पर सदोष न होंगे, अर्थात् कथा में भी उनका प्रयोग आवश्यक है (कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति—काव्यादर्श १।३०)। इस प्रकार भामह का 'कवि-अभिप्राय कृत कथन' तथा दण्डी का 'कविभावकृत चिह्न' दोनों एक ही तत्व हैं, जिन्हें कि 'अंक' साहसांक तथा मुद्रा' भी कहा गया है। 'मुद्रा' का अर्थ है, कवि द्वारा प्ररम्भ में (अथवा कहीं भी) ऐसी शब्दावली का प्रयोग जिससे समस्त प्रतिपाद्य संकेतित हो उठे। उदा० शाकुन्तल की नान्दी (या सृष्टिः स्रष्टुराद्या आदि) में 'ये द्वे काले' द्वारा शकुन्तला की दोनों सखियों तथा 'याम्. . सर्वबीजप्रकृति' द्वारा शकुन्तला आदि की ओर संकेत।

अतः अभिप्राय सम्बन्धी इस व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि जिन अभिप्रायों को लक्षण की मान्यता आचार्य अभिनव ने दी है, वे इतने संकीर्ण एवं 'विशिष्ट' नहीं हैं जितने कि आचार्य भामह एवं दण्डी के हैं और जिनका क्षेत्र केवल कथा एवं आख्यायिका मात्र हैं। वस्तुतः लक्षणों द्वारा इंगित अभिप्राय कुछ 'व्यापक तत्व' हैं जिनका स्पष्टीकरण आगे होगा।

(ख) दूसरी आपत्ति यह है कि पूर्वोद्धृत भामह के मत को प्रो० भट्टाचार्य गलत रूप में उद्धृत करते हैं—'कवेरभिप्रायकृतैः लक्षणैः कैश्चिदंकिता' (काव्या० १।२७) जबकि पाठ वस्तुतः 'कथनैः कैश्चिदंकिता' है। अतः निश्चित है कि 'लक्षण' शब्द का आदान विद्वान आलोचक ने या तो पाठभेदवश (और यदि ऐसा पाठभेद है तो गलत, अनुचित एवं असंगत है, क्योंकि यह स्पष्ट तथ्य है कि भामह ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी शब्दशः लक्षणों को इंगित नहीं किया है। दण्डी ने सर्वप्रथम काव्या० २।३६५ में लक्षणोल्लेख किया) या फिर लक्षणों से प्रत्यक्ष संगति बैठाने की दृष्टि से स्वार्थवश किया हो।

वस्तुतः लक्षणों के क्षेत्र में इंगित किये गए अभिप्राय वे हैं, जिनकी चर्चा यास्काचार्य कृत निरुक्त (७।१३) तथा जैमिनीयपूर्वमीमांसा (अध्याय २ पाद १) पर लिखित, शाबर-भाष्य में उद्धृत, पूर्वाचार्यों की लक्षणकारिकाओं में आई है। निरुक्त में इन्हें 'अभिप्राय' (**एवमुच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मंत्रदृष्टयो भवन्ति**) तथा शाबरभाष्य में स्पष्टतः लक्षण (**एतस्त्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्—तन्त्रवार्तिक, ब्राह्मणलक्षणाधिकरण**) कहा गया है। ये लक्षण अथवा अभिप्राय प्रायः भरत प्रोक्त ३६ लक्षणों के समान हैं, संज्ञा भी दोनों में एक सी ही है।[1] ऐसी दशा में सम्भव है कि प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य भट्टनायक ने लक्षण सम्बन्धी इस सिद्धान्त की स्थापना की हो। इन 'अभिप्रायों' का अर्थ वैदिक मंत्रों के स्वरूप से है।

आठवां पक्ष स्पष्टतः 'औचित्यसम्प्रदाय' से सम्बद्ध प्रतीत होता है—**'केचित् यथा-स्थानविशेषं यद्गुणालंकारायोजनं तद्लक्षणमिति' (अभि०, पृ० २९६)** जहाँ तक गुणालंकार योजना का प्रश्न है, वह अन्य पक्षों में भी अंशतः प्राप्त होती है किन्तु इस पक्ष की सारी नवीनता 'यथास्थानविशेषं' से ही है। साहित्य-शास्त्र में यह सिद्धान्त सर्वमान्य एवं प्रख्यात बन चुका है कि जब तक गुणालंकारों का संयोजन उचित रूप से न होगा, तब तक 'रस-

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य-पृष्ठ ४४-४८ तक। डॉ० देशपाण्डेकृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र'।

निष्पत्ति' असम्भव ही है। श्रृंगार रस के प्रसंग में यदि हम श्लेष और यमकादि का निबन्धन करें अथवा ओजोगुणनिष्ठ पदावली का प्रयोग करें तो वह रसानुभूति में सहायक न बन कर प्रतिरोध पैदा कर सकती है। इसी कारण ध्वन्यालोककार ने समसामयिक कवियों को सचेत कर दिया था कि—

ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥
—ध्वन्या० २।१५।

किन्तु यदि उसी श्रृंगाररस में रूपकादि अलंकारों का यथोचित निबन्धन किया जाय तो औचित्य के कारण वह रसपरिपाक में सहायक होगा, ऐसा ध्वनिकार ने ही आगे स्वीकार किया है—

'ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥
—ध्वन्या० २।१७।

'यहाँ' 'समीक्ष्य' का तात्पर्य औचित्य से ही है। आचार्य आनन्दवर्धन ने समस्त ग्रन्थ में भूरिशः इस औचित्य तत्व की स्थापना की है।[1] वस्तुतः इसकी प्रेरणा उन्हें अपने पूर्वाचार्यों से ही मिली थी जो कि स्वयं 'औचित्य' को बहुत महत्व देते थे। अतः आचार्य आनन्दवर्धन की स्पष्ट धारणा थी कि—अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई भी अन्य कारण नहीं।[2] इसी प्रकार भामह का भी सर्वाधिक आग्रह निर्दोष काव्य-रचना के प्रति ही था जिसके अन्तराल में 'औचित्य' मत का ही प्रभाव छिपा हुआ है।[3] आचार्य दण्डी ने भी 'औचित्य' पर जोर दिया है। दोषों का उपसंहार करते हुए काव्यादर्श (३।१७९) में उन्होंने कहा—

विरोधः सकलोऽप्येषः कदाचित्कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥

यहाँ 'कविकौशल' की व्यंजना कवि द्वारा औचित्यनिबन्धन से ही है, ऐसा हमें स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार औचित्य निबन्धन की यह परम्परा भामह से ही प्रारम्भ हुई तथा दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन आदि आचार्यों द्वारा परिपुष्ट होती हुई, आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा अन्त में

---

१. द्रष्टव्य—ध्वन्यालोक, तृतीयोद्योत की छठी, नवीं, तेरहवीं, उन्नीसवीं, बत्तीसवीं, तेंतीसवीं कारिकायें।

२. 'अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्'—ध्वन्यालोक उ० ३।

३. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा कुकवित्वं पुनस्साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिणः। (काव्या० १।१२)

'काव्यात्म पद' प्राप्त कर सकी।[1] औचित्यविचारचर्चा में लेखक ने इस मत का सुदृढ़ संस्थापन करते हुए सत्ताईस प्रकार के औचित्यों का व्याख्यान किया है। किन्तु चूंकि अभिनव गुप्त के पूर्ववर्ती, औचित्यमत के प्रतिष्ठापक आचार्य, आनन्दवर्धन ही हैं अतः उन्हीं को हम इस मत की व्यवस्था का श्रेय दे सकते हैं। एक तथ्य जैसा कि प्रो० भट्टाचार्य एवं डा० राघवन ने भी स्वीकार किया है, अवधेय है, वह यह कि औचित्यमत का निबन्धन सर्वत्र 'रसपरिपाक' की ही दृष्टि से किया गया है। क्षेमेन्द्र ने 'रससिद्ध काव्य' कह कर तथा भामहाचार्य ने बहुत पहले 'निर्दोषता' का निर्देश करके इस तथ्य को स्पष्ट किया। आचार्य आनन्दवर्धन भी 'रसध्वनि' की ही दृष्टि से 'औचित्य' मत को अपेक्षित महत्व देते हैं—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्। रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः।।

—ध्वन्या० ३।३२।

नवें पक्ष में लक्षणों का वह स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, जिसे स्वयं अभिनव ने लक्षण-व्याख्यान में आद्यन्त स्वीकार किया है। इसी कारण, आचार्य अभिनव को ही इस पक्ष का प्रवर्तक आचार्य स्वीकार करना चाहिये। अभिनव द्वारा प्रोक्त त्रिविध अभिधा व्यापार के व्याख्यान में इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है कि लक्षण, स्वाभाविक सौन्दर्य युक्त काव्यशरीर हैं। काव्यों में जो निसर्गसुन्दर अभिनय-विशेष होता है, उस नैसर्गिक सौन्दर्य का कारणभूत धर्म ही लक्षण हैं। अलंकार रहे या न रहें किन्तु उनके न रहने पर भी जो धर्म काव्य में एक[2] सहज रमणीयता उत्पन्न करे वही लक्षण है। किन्तु लक्षणों से संवलित होने पर कोई भी अभिव्यक्ति, एक विशिष्ट काव्यशरीर का रूप धारण कर लेती है: यह तथ्य भी हमें समझ लेना चाहिए। अर्थात् लक्षणों के साहचर्यवश काव्य में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य आ जाती है जैसा कि छठें पक्ष की व्याख्या में ही इसे सोदाहरण स्पष्ट किया जा चुका है। इतना ही नहीं, वरन् ये लक्षण 'भेदक' तत्व भी कहे जाते हैं, क्योंकि भरत प्रोक्त केवल तीन अलंकारों—उपमा, दीपक एवं रूपक—को अनन्त रूप देना, इन लक्षणों का ही कार्य है।[3] यह तथ्य भी आचार्य अभिनव ने स्वयं 'अनुवृत्त' लक्षण के व्याख्यान में शब्दशः स्वीकार किया है—

---

१. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्यजीवितम्।।
(औचित्य० श्लो० १५)।

२. परे त्वभाषन्त-अलंकारादिनिरपेक्षेणैव निसर्गसुन्दरो योऽभिनयविशेषः काव्येषु-दृश्यते, अमरुकश्लोकेष्वपि, तत्सौन्दर्यहेतुर्यो धर्मः स एव चार्यः काव्यशरीरविशेषरूपो लक्षणम्।
(अभि०, पृ० २९७)।

३. उपमादीपकरूपकाणामानन्त्याद् भेदमाहुः (नवम पक्ष का ही अंश द्रष्टव्य अभि०, पृ० २९७)।

"तत्तेनोपमानशरीरस्योपमेयशरीरस्यवा वैचित्र्यं लक्षणानामेव व्यापारः, इत्येवमुपमारूपकदीपकानां त्रयाणामलंकारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षण योगात् लक्षाणानामपि नचैकद्वित्र्याद्यवान्तरविभागभेदादानन्त्य केन गणयितुं शक्यम्। इदानीं शतसहस्राणि वैचित्र्याणि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम्'—(अभि०, पृ० ३१७)।

अपने इस मत की पुष्टि करने के लिए अभिनव ने, परिदेवन लक्षण के प्रसंग में अपने उपाध्याय (भट्टतौत) का मत भी प्रस्तुत किया है (पृ० ३२१) जिसे कि यथाप्रसंग आगे निरूपित किया जायगा।

इस प्रकार जब लक्षणों को 'वैचित्र्यवर्धन' का कारण स्वीकार कर लिया गया तो यह तथ्य स्वयमेव प्रतिष्ठित एवं सिद्ध हो जाता है कि शब्द एवं अर्थ की पारस्परिक संघटना से उत्पन्न (चतुर्विध गुणालंकार रूप) विचित्रता ही लक्षण हैं।[1] इन विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नवाँ पक्ष पूर्णतः 'त्रिविध अभिधा-व्यापार' के अंगों से ही सम्बद्ध है और यही 'व्यापार' कल्पना लक्षणों के सिद्धान्त क्षेत्र में अभिनव गुप्त की अपनी मौलिक देन है। डॉ० राघवन ने इस पक्ष को तीन भागों में कल्पित करके उनकी व्याख्या 'दशपक्षी' के तीन स्वतन्त्र पक्षों के रूप में किया है, सम्भव है ऐसी कल्पना 'मद्रास पाण्डुलिपि' के ही कारण की गई हो। इस पक्ष के व्यवस्थापकत्व के बारे में पूर्ववर्ती समस्त आलोचक मौन रहे हैं, किन्तु जैसा कि ऊपर युक्तियों सहित इसका समाधान प्रस्तुत किया है, आचार्य अभिनव ही इस मत के प्रतिष्ठापक प्रतीत होते हैं।

दशमपक्ष का सिद्धान्त, तुलनात्मक दृष्टिकोण से सर्वाधिक सरल एवं बोधगम्य है। इसका मूल कारण इस पक्ष का मर्यादित एवं स्थूल होना है। अभिनवभारती के प्रामाण्यानुसार—**'इतरेषां तु मतं यथा तन्त्रप्रसंगबाधातिदेशादि मीमांसाप्रसिद्धं वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षणं तथा काव्य विशेषव्यवच्छेदकं भूषणादिलक्षणजातम् इति त्वयं पक्षो द्वितीयपक्षान्न भिद्यते।'**

अर्थात् जैसे मीमांसाशास्त्र में, तन्त्र-प्रसंग-बाधा एवं अतिदेश इत्यादि 'वाक्यविशेष' हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी भूषण-अक्षरसंघात आदि तत्व विशेष हैं। इस निर्देश से स्पष्ट हो जाता है कि इतिवृत्त (अथवा काव्यशरीर) का विभाजन ही इस मत का लक्ष्य है। इसी कारण अभिनवगुप्त स्वयं कहते हैं कि—दशम पक्ष द्वितीय से भिन्न नहीं है, क्योंकि द्वितीय पक्ष में भी लक्षणों को 'इतिवृत्तखण्डात्मक' (सान्ध्यंगक) कहा गया है।

मीमांसा के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्य 'अभिप्राय' (सप्तमपक्ष) शब्द की व्याख्या में उपस्थित किये गये हैं। ये उच्चावच अभिप्राय, वस्तुतः वेदमन्त्रों के स्वरूप हैं, जिनमें आशी, स्तुति, संख्या, प्रलपित एवं परिदेवनादि भावों का निबन्धन किया गया है। नाट्यशास्त्र के भी लक्षण बहुत कुछ, इसी प्रकार के भावों का उपस्थापन करते हैं। प्रसंग-बाधादि भी

---

१. (तु) शब्देन अर्थेन चित्रत्वं लक्षणमिति। (द्रष्टव्य, अभि० पृ० २९७)।

इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र के अंगभूत तत्व हैं, जिनसे 'लक्षणों' का साम्य है। अतः निश्चित है कि इस मत का व्यवस्थापक आचार्य परम साहित्यरसिक किन्तु साथ ही साथ विदग्ध-मीमांसक रहा होगा। डॉ० राघवन भट्टनायक को इस रूप में स्वीकार करते हैं, जिसके विषय में कोई आपत्ति सम्भव नहीं प्रतीत होती।

इस प्रकार दशपक्षी के विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि अभिनव के पूर्व ही लक्षणों के स्वरूप-निर्धारण में अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं, जिनमें से दश का सांकेतिक विवरण आचार्य ने प्रस्तुत किया है। सम्भव है कि और भी एकाध पक्ष रहे हों, जिन्हें अभिनव न जान सके हों। किन्तु 'पूर्वपरम्परा' के अनुसार यह स्पष्ट है कि कवियों के अभिप्रायों अथवा प्रबन्धधर्मों के रूप में लक्षण भरत से भी पूर्व अत्यन्त प्राचीन युग में प्रादुर्भूत हुए। मीमांसा एवं निरुक्त में उन्हें स्थायित्व मिला और ईसापूर्व तृतीय शती में वे एक प्रख्यात 'काव्यतत्व' के रूप में आचार्य भरत द्वारा प्रतिष्ठित हुए। उनका एक सुदृढ़ किन्तु अपरिस्फुट सिद्धान्त भरत ने स्थापित करके उनके ३६ प्रकारों का निर्देश किया। आचार्य भरत के पश्चात् (द्वितीय पंचम एवं षष्ठ पक्ष) दण्डी, आनन्दवर्धन (आठवाँ औचित्यपक्ष) कुन्तक (तीसरा : वस्तुवर्णनाभंगि पक्ष) भट्टनायक (सप्तम एवं दशम : अभिप्राय तथा तंत्र बाधादि संबंधी पक्ष) भट्टतौत (चतुर्थः कविव्यापार पक्ष) तथा अन्त में अभिनवगुप्त (प्रथम एवं नवम : त्रिविध अभिधाव्यापार पक्ष) ने स्वयं, लक्षण संबंधी मान्यताओं की परम्परा को उज्जीवित किया। चूंकि लक्षणों के सिद्धान्त भामह एवं दण्डी के ही युग में अपने मौलिक रूप में स्थिर न रह सके, अतएव परवर्ती युग में इनका प्रचलन प्रकारान्तर से ही होता रहा। दशपक्षी के व्याख्यान में प्रायः इस तथ्य को स्थान-स्थान पर स्पष्ट किया गया है।

आचार्य अभिनव के पश्चात् लक्षणों पर स्वतन्त्ररूप से अथवा गौणरूप से (प्रसंगतः) विचार-विमर्श करने वाले अनेक आचार्य, कवि एवं टीकाकार हुए जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ डॉ० राघवन कृत शोधनिबन्ध के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।[१] अभिनव के समकालिक विद्वानों में, राजा भोज (शृंगारप्रकाश में ६४ लक्षणों की व्याख्या) तथा उनके ही राजकवि धनंजय (दशरूपक ४।८३-८४ में भूषणों का अलंकारों में अन्तर्भाव-सूचन) आते हैं। इसके पश्चात् शारदातनय (भावप्रकाशन अष्टमाधिकार में 'भूषण' नाम से ५४ लक्षणों की व्याख्या) जयदेवपीयूषवर्ष, (चन्द्रालोक : तृतीयमयूख में, स्वतंत्र रूप से दश लक्षणों का विवेचन) शिंगभूपाल, (रसार्णवसुधाकर, तृतीयविलास 'भूषण' नाम से ३६ लक्षणों की व्याख्या) विश्वनाथ, (साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद में, ३६ लक्षणों का विवेचन) राघवभट्ट (शाकुन्तल टीका में कुल चौदह लक्षणों का व्याख्यान) जगद्धर (मालती० टीका में ६ लक्षणों का विवेचन) रुचिपति, (अनर्घराघव टीका में दो लक्षणों का नाट्यालंकार के नाम से

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—डॉ० राघवन-कृत ग्रन्थ Some Concepts of Alankara Shastra, पृ० २५-३९।

विवेचन), राजानक अलक (रत्नाकरकृत हरविजय टीका, २१।५७ में काव्यव्यवस्थास्थापक के रूप में ३६ लक्षणों का उद्देश्यमात्र), बहुरूप मिश्र (दशरूप टीका में नाट्यालंकार एवं लक्षण विवेचन), कुम्भकर्ण (स्वकृत 'संगीतराज' में लक्षणविवेचन), सर्वेश्वर (साहित्यसार, तृतीय प्रकाश में ३६ लक्षण विवेचन), अच्युतराय (साहित्यसार सप्तम परिच्छेद के अन्त में १८ लक्षणों की व्याख्या) आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में लक्षण-सिद्धान्त का संवर्द्धन किया।[1]

लक्षणपरम्परा तथा संख्याविषयक वैमत्य प्रदर्शित करने के पश्चात् दो प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शेष बचते हैं—एक तो लक्षणों का अभिनय (नाटक) तथा काव्य से सम्बन्ध, और दूसरा लक्षणों का अलंकारत्व। वस्तुतः इन समस्याओं पर व्याख्यान प्रस्तुत करने में शोध-कर्ता का एकमात्र स्वारस्य 'अरुन्धतीदर्शन न्यायेन' अपने प्रधान विषय (अर्थात् अन्योक्ति का उद्भव) का मूल्यांकन करने में है। अस्तु—

नाट्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य भरत की यह युगान्तरकारी कृति, बहुविध सूचनाओं का एक विशाल विश्वकोश (Encyclopaedia) है। परवर्ती युग में प्रचलित 'काव्य-काव्यांग' कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं जो अपने मूल रूप में नाट्यशास्त्र में न स्थित हो। वस्तुतः सत्य तो यह है कि आचार्य भरत के समक्ष 'दृश्य एवं श्रव्य' रूप काव्य-विभाजन जैसी कोई समस्या ही नहीं थी। इसी कारण उन्होंने जितने तत्त्वों का उपदेश दिया, उन सबका व्याप्ति क्षेत्र नाटक भी है, काव्यबन्ध भी है। इस स्थल पर हम लक्षणालंकार, दोष तथा गुण के ही विषय में उनकी एतद्विषयक धारणा का स्पष्टीकरण कर लें। अवधेय है कि ये चारों तत्त्व सोलहवें अध्याय में ही वर्णित हैं।

लक्षणों के लिए, पन्द्रहवें अध्याय में ही आचार्य ने कहा था—'काव्यबन्धस्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः (अभि०, पृ० २९२) सोलहवें अध्याय के चतुर्थ पद्य में पुनः उन्होंने 'काव्येषु. . .सम्यक्प्रयोज्यानि' द्वारा यही तथ्य स्पष्ट किया है। किन्तु आगे चलकर आख्यान (१६।२१, पृ० ३१०) प्राप्ति (१६।३२, पृ० ३१६) तथा उपपत्ति (१६।३५, पृ० ३१८) को उन्होंने स्पष्टतः 'नाटकाश्रय' के रूप में परिभाषाबद्ध किया है।[2] इनमें से यद्यपि एकाध का सम्बन्ध वास्तव में अभिनय से है (उदा० प्राप्ति); किन्तु अन्य तो केवल उपचारतः 'नाटकाश्रय' कहे गये हैं, जो वस्तुतः भरत के काव्यनाट्यैक्य संबंधी दृष्टिकोण के ही सूचक हैं।

---

१. प्रो० भट्टाचार्य जी ने अपने शोध निबन्ध में आचार्य मातृगुप्त, महाकवि श्रीहर्ष, सागरनंदिन, कवि कर्णपूर तथा चन्द्रालोक की 'शरदागम' नाम्नी टीका के प्रणेता श्री प्रद्योतन भट्ट को भी लक्षण सिद्धान्तों के व्याख्याता रूप में स्वीकार किया है।

२. आख्यानमिति तज्ज्ञेयं लक्षणं नाटकाश्रयम्।
प्राप्तिं तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम्॥
सा ज्ञेया ह्युपपत्तिस्तु लक्षणं नाटकाश्रयम्॥

अलंकारों को भी आचार्य भरत 'काव्य' से ही सर्वप्रथम संयुक्त करते हैं। चालीसवें पद्य में—उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः।।[१] (ना० पृ० ३२१) किन्तु विशिष्ट अलंकारों के वर्णन में उपमा का सम्बन्ध कभी काव्य से और कभी नाटक से जोड़ते हैं।[२] दीपक को एक ही साथ 'काव्यनाटक' में प्रयुक्त मानते हैं।[३] दशविध यमक को 'नाटकाश्रय' तथा मालायमक के विज्ञातृ रूप में 'काव्यकोविदों' को उपस्थित करके आचार्य ने उन्हें काव्याश्रय बताया है।[४]

दोष निरूपण में लक्षण अलंकार की ही भाँति, सर्वप्रथम काव्याधिकार ही आचार्य ने दर्शित किया है—"गूढ़ार्थमर्थान्तिरमर्थहीनं...शब्दच्युतं वै दशकाव्यदोषाः (ना० १६।८८, पृ० ३३१) किन्तु उपसंहार करते हुए कहा है—'एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः' (ना० १६।९५, पृ० ३३३) इसी प्रकार 'भिन्नार्थ' दोष की व्याख्या में उन्होंने 'भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः' (पृ० ३३२) कहा है।

शेष बचे गुण, जिन्हें आचार्य भरत पूर्वव्याख्यात तत्त्वों की भाँति 'काव्यधर्म' के ही रूप में प्रस्तुत करते हैं—'श्लेष प्रसाद...कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दर्शते' (ना० १६।९६, पृ० ३३४) किन्तु इनके नाट्यानुवर्तित्व का निदर्शन नहीं प्राप्त होता।

किन्तु उपर्युक्त समस्त व्याख्यानों से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग, षोडशाध्याय का 'उपसंहार' है जहाँ भरत ने स्पष्टतः काव्य एवं नाटक को पर्याय रूप में प्रयुक्त किया है। कारिका ११४ (पृ० ३४४) में वे नाट्यज्ञों द्वारा वीररौद्राद्भुताश्रय काव्य प्रणीत किये जाने की प्रेरणा देते हैं।[५] इसी प्रकार ११६वीं कारिका में नाटकाश्रय काव्य किये जाने का प्रस्ताव भी उन्होंने उपस्थित किया है।[६] कवि को चाहिए कि वह नाट्याश्रय कृतियों में प्रमदाभिधेय, उदारमधुर शब्दों का प्रयोग करे, ताकि उसके 'काव्यबन्ध' पृथ्वी में शोभा प्राप्त करें, जैसे राजहंस से विकसित पद्माकर प्राप्त करते हैं।[७]

---

१. पाठभेद—'अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।।'

२. 'यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते उपमा नाम सा ज्ञेया...' (पृ० ३२१) तथा 'एकस्य बहुभिः सा स्यादुपमा नाटकाश्रया' (पृ० ३२२)।

३. 'प्रसृतं मधुरं चापि गुणैस्सर्वैरलंकृतं काव्यं यन्नाटके विप्रास्तद्दीपकमिति स्मृतम्। (ना० १६।५४, पृ० ३२४)।

४. 'एतद्दशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम्' (ना० १६।६२, पृ० ३२७) तथा 'तन्मालायमकं नाम विज्ञेयं काव्यकोविदैः' (ना० १६।७८३, पृ० ३३०)।

५. लघ्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम् काव्यं कार्यं तुनाट्यज्ञैर्वीररौद्राद्भुताश्रयम्।। (ना० १६।११४, पृ० ३४४)।

६. रूपदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयं शृंगारे तु रसे कार्यं काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम्। (ना० १६।११६, पृ० ३४४)।

७. शब्दानुदारमधुरान्प्रमदाभिधेयान् नाट्याश्रयासु कृतिषु प्रयतेत कर्तुम्।

इस प्रकार लक्षणों, अलंकारों, गुणों तथा दोषों को समान रूप से काव्य एवं नाटक से संयुक्त करना इस बात का साक्षी है कि आचार्य भरत ने काव्य एवं नाटक में कोई भेद नहीं किया था। नाट्यज्ञों द्वारा काव्यबन्धों का प्रणयन (ना० १६।११४) अथवा 'नाट्याश्रय काव्यबन्ध' (ना० १६।१२१) इन दोनों अभिव्यक्तियों से बड़ा और कोई नहीं प्रमाण हो सकता जो यह न सिद्ध कर दे कि आचार्य भरत के लिए काव्य एवं नाटक परस्पर पर्याय थे।

किन्तु आचार्य भरत की यही मान्यता और यही दृष्टिकोण परवर्ती युग में एक प्रचण्ड वितण्डा के रूप में उठ खड़ी हुई। आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि समस्त आलंकारिक आचार्यों में गुण, दोष, अलंकार अथवा संघटना (रीति) के प्रति बड़ी आस्था थी, इसी कारण नाटक के व्यतिरिक्त 'काव्य' के व्याख्यान में उन्होंने उपर्युक्त तत्त्वों को बिना किसी 'ननु नच' के काव्यधर्म रूप में स्वीकार कर लिया। किन्तु 'लक्षण' जिनका सुदृढ़ प्राकार स्वयं भरतमुनि नहीं निर्मित कर सके थे और जिसकी 'स्वतन्त्र सत्ता' में भरत के शिष्यों ने ही अड़ंगा लगा दिया था,[1] एक विचित्र उभयतोपाश (between the two horns of a dilemma) में पड़ गये। लक्षण तथा अलंकार की एकता का जो बीज स्वयं लक्षणकार ने बोया था[2] और भामह ने 'वक्रोक्ति' के रूप में जिसको मान्यता देकर उसी पर अपने अलंकार सम्प्रदाय की नींव डाली, वही आचार्य दण्डी की यह घोषणा बनकर प्रकट हुई कि लक्षणादि तत्त्व हमें अलंकार रूप में ही इष्ट हैं।[3] इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में 'लक्षणों' की मान्यता 'अलंकार रूप' में होने लगी। आगे इन लक्षणों के अलंकारत्व पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

किन्तु जिन आचार्यों ने भामहोत्तर युग में केवल नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया, उन्होंने लक्षणों का 'स्वतंत्र विवेचन' प्रस्तुत किया। केवल दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ही इस परम्परा के अपवाद हैं।[4] अलंकार अथवा अन्यान्य सम्प्रदायों को भी मानने वाले जिन आचार्यों ने अपगे ग्रन्थ में 'नाट्य-विवेचन' को स्थान दिया, उन्होंने यदि स्वान्तः सुखाय नहीं तो भरतोपदिष्ट होने के ही कारण, श्रद्धावश लक्षणों को एक पृथक् सत्ता के रूप में व्याख्यात किया।[5]

तैर्भाविता भुवि विभान्ति हि काव्यबन्धाः पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः। (ना० १६।१२१, पृ० ३४५)।

१. कुछ विद्वानों का मत है कि ३६ लक्षणों के अतिरिक्त जो लक्षण अनुबन्ध में मिलते हैं और जो आचार्य भरत की मान्यता के विपरीत भी हैं, उनके शिष्यों द्वारा संपादित किये गये हैं।

२. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र १६।५२ (पृ० ३२४)।

३. द्रष्टव्य—काव्यादर्श २।३६५ (लक्षणादि तत्त्वों का अलंकार में अन्तर्भाव)।

४. द्रष्टव्य—दशरूपक ४।८३-८४ (लक्षणादि तत्त्वों का अलंकार में अन्तर्भाव)।

५. एवञ्च लक्षणनाट्यालंकाराणां सामान्यतः एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डलिका-

इस प्रकार काव्य तथा नाटक (श्रव्य एवं दृश्य) के बीच कोई भेद न करने के ही कारण, भरत प्रोक्त काव्य-तत्त्वों में से लक्षणों की स्थिति, परिस्थितिवश (अलंकारों से अभिन्न होने के कारण) उभयथा हो गई। 'देहलीदीपकन्यायेन' लक्षण काव्य (अलंकार रूप में) तथा नाटक (भूषण रूप में) दोनों ही वर्गों के मान्य तत्त्व बने। काव्य में तो उनकी स्थिति आगे चलकर अस्तप्राय-सी हो गई, केवल चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव ने उनका स्वतन्त्र विवेचन किया[1] और विश्वनाथ ने प्रसंगवश ! किन्तु नाट्य में लक्षणों की स्थिति प्रायः स्वतन्त्र रूप से ही रही, यद्यपि उनकी संख्या तथा अन्य तत्त्वों से उनका मिश्रण आदि समस्याएँ कम नहीं हुई।

लक्षण सम्बन्धी इन दोनों धाराओं का स्रोत हमें अभिनव प्रोक्त 'दशपक्षी' में ही प्राप्त हो जाता है। दशपक्षी के कुछ अंश सर्वात्मना नाट्य से, कुछ सर्वात्मना काव्य से और कुछ स्पष्टतः दोनों से ही सम्बद्ध हैं। इस तथ्य का निर्देश भी तत्तत्प्रसंगों में हो चुका है। प्रो० भट्टाचार्य जो का यह कथन—"The three aspects of the Kāvya, the शब्दनीय, the वर्णनीय, and the कवि-कर्म are the three परिस्पन्द s noted in the fourth view, effect as much the श्रव्यकाव्य s as the दृश्यकाव्य s P. 25" सर्वथा उचित एवं प्रसंगानुकूल है। वस्तुतः काव्य तथा नाटक के विषय में आचार्य भरत का वास्तविक मत, उनके बाद ग्रहण ही नहीं किया गया।[2]

किन्तु लक्षण सम्बन्धी ये दोनों वर्ग (काव्य वर्ग, नाट्य वर्ग) कालान्तर बाद समकक्ष नहीं रह सके। भामह, दण्डी अलंकार सम्प्रदाय के व्यवस्थापक ही थे और साथ-ही-साथ वे लक्षणों को अलंकारों में अन्तर्भूत भी कर चुके थे। अभिनव के गुरु, भट्टतौत भी लक्षणों को ही अलंकार वैचित्र्य का कारण मानते थे।[3] अभिनव स्वयं इस मत के पोषक थे कि लक्षण काव्य के शोभाकारक तत्त्व हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में लक्षण सिद्धान्त के विरुद्ध एक ऐसी आँधी चली कि वे सब दिन के लिए ध्वस्त हो गये। यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र के आचार्य धनञ्जय ने भी लक्षणों को अलंकारों में अन्तर्निविष्ट मान लिया। किन्तु यह सब

प्रवाहेण। एषु च केषांचिद् गुणालंकारभावसन्ध्यंगविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्त्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः। एतानिच-पंचसन्धि. . .कविः कुर्यात्तु नाटकम्' इति मुनिनोक्तत्वाद् नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव (नाट्यालंकारविवेचन) साहित्यदर्पण, परि० ६।

१. द्रष्टव्य—

इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः।
स्वर्गभ्राजिष्णुभानुत्वप्रभृतीव महीभुजः॥ चन्द्रालोक ३।११

२. डॉ० लाहिरी का शोध-ग्रन्थ।

३. द्रष्टव्य—अभि०, पृ० ३२१।

जान लेने के पश्चात् एक प्रश्न उठता है कि 'ऐसा हुआ क्यों?' लक्षण अलंकार कैसे बन गये? उसका आधार क्या था?

इन प्रश्नों का हल पाने के लिए हमें पुनः 'नाट्यशास्त्र' में उतरना चाहिए। लक्षण सम्बन्धी पूर्वव्याख्यानों में यह स्पष्ट हो चुका है कि अलंकारों का सारा वैचित्र्य लक्षणों के ही कारण होता है। लक्षणों में अनेक ऐसे हैं भी जो तकनीकी ढंग से (Technically) परवर्ती युग में प्रचलित अलंकारों से या तो साम्य रखते हैं या फिर सर्वथा उनके अनुकूल हैं, उदा० मनोरथ, आक्रन्दना अथवा तुल्यतर्कादि लक्षण अप्रस्तुतप्रशंसा से साम्य रखते हैं जबकि आशीः आदि पूर्णतः एक रूप ही हैं। इसी प्रकार 'अक्षर-संघात' में श्लेष की तो 'प्रिय' में व्याजस्तुति की गन्ध मिलती है। और सच बात तो यह है कि शायद ही ऐसा कोई लक्षण हो जिसमें उपमा तथा रूपक अलंकार न हों।

आचार्य भरत स्वयं लक्षण को अलंकार का भेदक तत्त्व मानते थे, इसका एक प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसकी ओर डॉ० देशपाण्डे जी ने भी इंगित किया है। आचार्य भरत ने उपमालंकार के पाँच उपभेद (प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी एवं किञ्चित्सदृशी) स्वीकार किये हैं, जिसके अन्त में वे कहते हैं—

उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदाः समासतः।
ये शेषा लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या लोककाव्यतः॥

बड़ौदा संस्करण में यद्यपि 'लक्षणैर्नोक्ताः' पाठ छपा है, किन्तु है यह गलत। क्योंकि अभिनव भारती की संगति 'लक्षणेन उक्ताः' पाठ से ही बैठती है जो कि बड़ौदा संस्करण में भी पादटिप्पणी (४) के रूप में दिया गया है! इस कारिका में आचार्य भरत स्पष्टतः कहते हैं कि 'उपमा के ये (पाँच) भेद विद्वानों को संक्षेपतः जान लेने चाहिए, शेष जो भेद (दण्डी आदि द्वारा गृहीत ३३ भेद)[१] लक्षणों द्वारा कहे गये हैं, उन्हें स्वयं लोक एवं काव्य से गृहीत करना चाहिए। अभिनव भारती का साक्ष्य भी इसी मत का प्रतिपादन करता है—

'लोके काव्ये च तद्भेदाः दृश्यन्ते। ते लक्षणद्वारेणोक्ता इति ग्राह्याः स्वयं स्वीकर्तुं शक्याः। अस्मिन्ये नोक्ताः ते लोकात्काव्याच्च ग्राह्या इत्यन्ये शेषा इत्यत्र पुनरुक्तम् (अभि०, पृ० ३२४)।

भरत के इस प्रमाण के बाद हम आचार्य भट्टतौत की वह विशिष्ट मान्यता भी देख लें जिसके अनुसार समस्त अलंकारवैचित्र्य का मूल कारण लक्षण ही है। उपमालंकार की प्रस्तावना में भरतोपदिष्ट अलंकार की संख्या पर विचार करते हुए अभिनव गुप्त ने उनका मत उद्धृत किया है—

---

१. आचार्य अभिनव ने पृ० ३०५ पर इस तथ्य का निर्देश किया है—

"ननूपमेयमलंकारः, किमतः, उक्तं ह्यलंकाराणां वैचित्र्यं लक्षणकृतमेव। एत एव शिक्षितैरपि दण्डिप्रभृतिभिर्ये निरूपिता उपमाभेदाः तत्र यो भेदकोंऽश आचिख्यासासंश्रय-निर्णयादिरर्थः स तादृक् पृथगलंकारतया गणितः॥"

'उपाध्यायमतं तु—लक्षणबलादलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथा हि गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात्प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्नातिशयोक्तिः मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः, सिद्ध्या तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणानां च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः यथा, प्रतिषेधमनोरथयोः संम्मेलनादाक्षेपः इति। उपमाप्रपंचश्च सर्वोऽलंकार इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव।'—अभि० पृष्ठ ३२१।

भट्टतौत के इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारों के विकास में लक्षणों का कितना योगदान रहा है। अध्यायारम्भ में लक्षण संबंधी आचार्य भरत के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते समय ही विस्तारपूर्वक यह बताया जा चुका है कि लक्षण को 'भूषण' (अलंकार) क्यों कहते हैं। ऐसी दशा में, जबकि लक्षण तथा अलंकार दोनों काव्य के शोभाकारक तत्त्व हों, यह पूर्ण सम्भावना थी कि लक्षणों का सिद्धान्त पीछे रह जाता। क्योंकि अलंकारों की स्थापना तथा उनका सिद्धान्त दोनों ही लक्षणों की अपेक्षा अधिक बोधगम्य, सुदृढ़ एवं काव्योपयोगी प्रतीत होते हैं। दूसरी बात यह है कि भरत से लेकर अभिनव के बीच का युग संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अत्यन्त क्रान्तिकारी तथा महत्त्वपूर्ण रहा है। क्योंकि रस-अलंकार-रीति-ध्वनि तथा वक्रोक्ति जैसे काव्य सिद्धान्तों का उद्भव इसी युग में हुआ और इसी कारण इस सान्ध्य युग में उत्पन्न आचार्यों (लगभग १२) के हृदय में या तो रसालंकार के प्रति निष्ठा थी अथवा स्वचालित सम्प्रदाय विशेष के प्रति मोह। ऐसी दशा में आद्याचार्य भरत द्वारा स्थापित लक्षणों का अविचारित रमणीय सिद्धान्त यदि परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं परिवर्द्धित नहीं हो सका तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं।

दशपक्षी के व्याख्यान में द्वितीय पक्ष की नाट्यवर्तिता स्पष्ट की गयी है। उसी प्रसंग में व्याख्येय लक्षणों के अतिरिक्त प्रतिपाद्य रूप में प्रयुक्त होने वाले अन्य नाटकीय तत्त्वों की युगपत् चर्चा भी की गयी है। वे तत्त्व इस प्रकार हैं—अर्थप्रकृति, अवस्था, सन्धि, सन्ध्यंग, सन्ध्यन्तर, वृत्ति-वृत्यंग, लास्यांग, वीथ्यंग तथा नाट्यालंकृतियाँ। इन दश नाट्यतत्त्वों में से प्रथम तीन तथा छठे तत्त्व को छोड़कर शेष छह तत्त्वों के विषय आंशिक रूप से भरत प्रोक्त ३६ लक्षणों से ऐक्य रखते हैं। द्वितीय पक्ष के अनुसार तो 'सन्ध्यंग एवं वृत्यंग' ही लक्षण थे। नाट्य ग्रन्थों के आधार पर सन्ध्यंगों की संख्या चौंसठ, सन्ध्यन्तरों की संख्या इक्कीस, वृत्यंगों की सोलह, लास्यांगों की (संगीतांग ?) दश, वीथ्यङ्गों की तेरह तथा नाट्यालंकारों की तैंतीस है। यहाँ यह प्रदर्शित करने का अवसर नहीं है कि इन भिन्नसंख्यक नाट्यांगों के क्या नाम हैं और इनमें से कितने, किन-किन लक्षणों के समान हैं। किन्तु निष्कर्ष रूप में इतना अवधेय है कि भरत द्वारा काव्य-नाटक की ऐक्यस्थापना के ही कारण जो लक्षण उभयनिष्ठ (काव्य-नाटक) रहे, उनके तत्त्व, सन्ध्यंग-वृत्यंग, सन्ध्यन्तर, लास्यांग, वीथ्यंग तथा नाट्यालंकार इन छहों में भी संक्रित हो गये। अतः परवर्ती युग में जब लक्षणों का अन्तर्भाव अलंकारों में किया गया तब सजातीय एवं एकपक्षीय होने के कारण इन नाट्यांगों को भी उन्हीं के साथ घसीट लिया गया। आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम इस कार्य का श्रीगणेश किया। द्वितीय

परिच्छेद (अलंकारवर्ग) के उपसंहार में आचार्य ने स्पष्टतः सन्ध्यंग, वृत्यंग तथा लक्षणादि को अलंकार में अन्तर्भूत करने की घोषणा की। वस्तुतः दण्डी की अलंकार धारणा अत्यन्त व्यापक थी, जिसमें गुणालंकार सब आ गये।—

यच्च सन्ध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः।। काव्या० २।३६४।

'लक्षणादि' पद में 'आदि' शब्द की व्याख्या करते हुए सिंहल टीकाकार आचार्य श्रीज्ञान ने दण्डी का मन्तव्य इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

'तदेतदादिर्यस्यान्यस्यापि तादृशस्य लास्यांगवीथ्यंगादेस्तत्तथा (व्या) वर्णितमधिकारे विस्तरेण अनेकधा चर्चितम्'...काव्यशोभाकरत्वेन तल्लक्षणयोगात् अलंकरणाद्वा, अलंकार इत्येव। न सन्ध्यंगादित्वेन काव्यार्थत्वेन वा पृथगलंकारात्। काव्यशोभाकरं हि तथा तादृशं कथमलंकारतामतिक्रामेत ?'

इसी प्रकार प्रभा टीका (श्री रंगाचार्य) में—

'तदिदं सर्वं नः अलंकारतयैवेष्टम्। तत्र केषांचित् स्वभावाख्यानादौ अन्तर्भावः केषांचिद् भाविके इति यथायथं विषयानुरोधेन ज्ञातव्यम्'।।

टीकाकारों के उक्त साक्ष्य से यह सिद्ध है कि दण्डी का अभिप्राय न केवल सन्ध्यंग वृत्यंग तथा लक्षण मात्र को ही अलंकारों में अन्तर्भूत करने का था, प्रत्युत उस कोटि के समस्त नाटकीय अथवा काव्यगत तत्त्वों को भी। दण्डी के युग में भी अलंकारों की संख्या नियत नहीं हो सकी थी, वे सब-के-सब विकल्पों के रूप में थे। किन्तु जैसा कि आचार्य ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि उनकी संख्यावृद्धि का बीज, पूर्वाचार्यों ने ही बो दिया था। अपनी इस अभिव्यक्ति द्वारा दण्डी ने निश्चित रूप से आचार्य भरत की ही ओर इंगित किया था—

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।।
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः।।"—काव्या० २।१-२

दण्डी के पश्चात् दूसरे अन्तर्भावक आचार्य धनञ्जय हुए। दण्डी ने सन्ध्यंग वृत्यंग, लक्षण तथा लास्यांग, वीथ्यंग (श्रीज्ञान) का अन्तर्भाव अलंकारों में किया था। आचार्य धनञ्जय ने लक्षणों के साथ-ही-साथ एक नवीन तत्त्व, सन्ध्यंतर का भी विलयन अलंकारों में किया—

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः।
लक्ष्यसन्ध्यन्तरांगानि सालंकारेषु तेषु च।। ४।८४ (दश०)

ऊपर गिनाये गये नाट्यतत्त्वों में से केवल नाट्यालंकार बचता है। आचार्य विश्वनाथ

ने अलंकारों के साथ पहले तादूप्य सिद्ध करके बाद में उसका भी अन्तर्भाव मुख्यतः अलंकारों में ही कर दिया—

"एवां च लक्षणनाट्यालंकाराणां सामान्यतः एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डलिकाप्रवाहेण। एषु च केषांचिद् गुणालंकारभावसन्ध्यंगविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः।"

—साहित्यदर्पण, परि० ६ नाट्यालंकार प्रसंग

उपर्युक्त प्रमाणों से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि लक्षण सहित नाटक के सन्ध्यंगादि छह तत्त्व सब-के-सब अलंकारों में विलीन हो गये।[1] अन्तिम सत्ता काव्यशास्त्र में अलंकारों की रह गयी। अब हम यह विचार करें कि अलंकारों के साथ लक्षण की क्या स्थिति रही? और कौन-कौन-से लक्षण, किन-किन अलंकारों के रूप में प्रख्यात हुए?

लक्षणों एवं गुणालंकारों में वस्तुतः इतना अधिक साम्य है कि दोनों में 'तादूप्य'-सा प्रतीत होता है। अलंकारों का विवेचन करने के पश्चात् उपसंहार करते हुए आचार्य भरत का यह कथन—'एभिरर्थैः क्रियापेक्षैः काव्यं कुर्यात्तु लक्षणैः' भी क्षण भर के लिए हमें चिन्तन-विविधा में डाल देता है कि क्या आचार्य अलंकारों को लक्षण तो नहीं मानते? इसी प्रकार भूषण लक्षण के विषय में 'अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलंकृतं भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्" (१६।१५) इत्यादि कथन भी डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी को यह निर्णय देने के लिए बाध्य कर देता है—

"It seems that भरत's definition and classification of लक्षण, अलंकार and गुण are somewhat dogmatic......Apparently an early writer like भरत does not mean to employ any theoretic distinction between लक्षण गुण s and अलंकार s, but accepts and repeats traditional nomenclature and takes them all as beautifying factors of poetry generally just as in भामह, and partly in दण्डिन् the distinction between गुण and अलंकार is not very sharply indicated."

किन्तु डॉ० लाहिरी के उपर्युक्त मत, अंशतः सत्य होते हुए भी संगतिपूर्ण नहीं हैं। क्योंकि आचार्य भरत का 'लक्षण-गुणालंकार' भेद न तो उनका 'स्वमताभिमान' (Dogmatism, कट्टरता) ही है और न ही पारम्परिक संज्ञाओं की स्वीकृति तथा पुनरुक्ति है। यदि आचार्य का इस काव्यांगत्रयी के प्रति कोई विवेकपूर्ण-दृष्टिकोण न होता तो उनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता ही क्या थी? दूसरी बात यह कि एक ही कार्य करने से भिन्न

---

१. डॉ० डे का मत देखिए : Even as a नाटकधर्म connected with सन्ध्यङ्ग s, it had little individuality and the attitude of दशरूपक in not considering it separately but including it in अलंकार and भाव is significant.—Some Problems of Sanskrit Poetics, p. 6.

पैर, नाक, आँख, गाल, पेट, पीठ, शिर आदि कितने ही अंग हैं और पिन चुभोने पर इनमें से प्रत्येक 'पीड़ानुभूतिसंवेदन' रूप कार्य करता है। तो क्या इतने मात्र से ही वे सब एक हो सकेंगे? कभी नहीं। ठीक इसी प्रकार 'लक्षण' भी आचार्य अभिनव के अनुसार 'काव्य शरीर' हैं। शब्द-अर्थ उनके अंग हैं जैसे हाथ-पैर आदि शरीर के अंग हैं। शब्दार्थ ही परिस्थिति-विशेष में गुणालंकार बन जाते हैं। किन्तु कार्य सब का एक ही है--संघटनावैचित्र्य अथवा काव्य का अलंकरण। गुणालंकार कृत शोभा का श्रेय अथवा दायित्व 'लक्षण' को ही है क्योंकि वह अंगी है[1] सामान्य (genus) है। हाथ-पैर द्वारा भी तो पीड़ा-संवेदन कराये जाने पर हम प्रायः उनका नाम न लेकर उन्हें 'शरीरस्थित' ही स्वीकार करते हैं— 'हमारे शरीर में पिन चुभ गई!!' एक तीसरी बात और उल्लेखनीय है, वह यह है कि भामह-दण्डी का साक्ष्य, भरत के प्रसंग में देना उचित नहीं। क्योंकि अलंकारादि के पक्ष में दोनों के दृष्टिकोण में प्रभूत अन्तर है। एक रससम्प्रदाय का व्यवस्थापक है तो दूसरा अलंकार सम्प्रदाय का। एक गुणालंकार एवं लक्षण को, रसानुभूति में सहायक (एभिरर्थ-क्रियापेक्षैः) मानता है किन्तु दूसरा अलंकार को ही रस रूप मान कर (रसादि अलंकार) लक्षणादि सब को उसी में अन्तर्निविष्ट कर देता है। फिर दण्डी के आधार पर भरत का मूल्यांकन कहाँ तक उचित कहा जा सकता है?

इस विषय में तो वस्तुतः यही स्पष्ट धारणा बननी उचित है कि आचार्य अभिनव के अतिरिक्त किसी ने आज तक भरत को समझने की चेष्टा ही नहीं की और इसी कारण समझा भी नहीं। जो तथ्य पूर्वोद्धृत आलोचक ने निर्दिष्ट किया है उसे अभिनव भी समझ चुके थे कि दण्डी के अनुसार समस्त काव्य शोभावह धर्म (चाहे गुण अलंकार या लक्षण कुछ भी हो) अलंकार है, किन्तु इसके बावजूद भी उन्होंने लक्षण गुण एवं अलंकार का भेद स्पष्ट किया। वह भी कोई अपनी ओर से नहीं प्रत्युत आचार्य भरत ने स्वयं ऐसा निर्देश किया था। उपमालंकार के प्रसंग में नाट्यशास्त्र (१६।४१) की यह कारिका देखिये—

> यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
> उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥

यहाँ उपमा अलंकार का 'काव्यबन्ध' लक्षण का तथा 'गुणशब्द' गुणों का प्रत्यक्ष वाचक है।

'काव्य-बन्ध' का अर्थ काव्य-शरीर है। इसी को 'त्रिविध अभिधाव्यापार' तथा 'लक्षण' भी कहा गया है। अतएव जैसे शरीर को भूषित करने के लिए अलंकारादि हैं, उसी प्रकार काव्य-शरीर को अलंकृत करने के लिए गुण एवं अलंकार। इसी कारण अभिनव गुप्त ने स्पष्टतः कहा—

"काव्ये तावल्लक्षणं शरीरं तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी

---

१. काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः। ना० १६।२

विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धिचंचलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक्-सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालंकारः।' (अभि०, पृ० ३२१)।

इसी प्रसंग में आगे व्याख्याकार ने अलंकार-त्रैविध्य बताते हुए अन्य वैचित्र्यों (अर्थात् उपमा, रूपक, दीपक के अतिरिक्त अन्य अलंकारों) को भी उपलक्षित किया है। वैचित्र्यसिद्धि के लिए अपने गुरु भट्टतौत का मत उद्धृत करते हुए अभिनव ने यह भी स्वीकार किया है कि उपमा ही समस्त अलंकार-प्रपंच का मूल है।[1] इसी तथ्य का निर्देश अभिनव के पूर्ववर्ती आचार्य वामन ने भी किया था।[2]

उपर्युक्त कारिका में लक्षण तथा अलंकार के बाद 'गुणाकृतिसमाश्रया' पद आता है। अभिनव के अनुसार इस पद के द्विविध अर्थ हैं, एक तो विस्तीर्ण भाव में दूसरा संकीर्ण भाव में। पहला अर्थ वस्तुतः समस्त काव्य के लिए है, जैसे महापुरुषों में गुणों का होना अनिवार्य है (क्योंकि वे आत्मा के धर्म हैं) ठीक उसी प्रकार काव्य में माधुर्यादि गुणों का। उनके बिना काव्य का रूप ही सम्भव नहीं। उनकी 'अहेयता' बताने के लिए ही, उन्हें (प्रसादादि को) गुण कहा जाता है। इसके विपरीत अल० का काव्य में होना अनिवार्य नहीं (क्योंकि वे शरीर के ही धर्म हैं) इस स्थल पर अभिनव का साक्ष्य देखिये—

गुणशून्य तु न काव्यं किंचिदपि। इयति च महापुरुषो दृष्टान्तः।।

अहेयत्वप्रदर्शनार्थमेव हि प्रसादादीनां गुणवाचोयुक्त्या व्यवहारः तद्विना काव्यरूपत्वाभावात्। सुन्दरास्पदं तु शरीरमुपलक्षणम्। उपमाद्यन्तरेण तु भवत्येव काव्यमिति प्रकटीकर्तुम् उपमादीनामलंकारत्वेन व्यवहारः, न तु लोक इव स्फुटात्र पृथक् सिद्धिरस्ति। तथा हि दण्डिना काव्य-शोभावहा धर्मा अलंकारा सर्वे उक्ता इति केचित्।'' (अभि०, पृ० ३२२)।

आचार्य अभिनव कृत गुणों का संकीर्ण भाव में तात्पर्य इवादि शब्दों से है जो उपमा में आश्रय पाते हैं—'गुणः सम्बन्धः आक्रियते द्योत्यते अनेनेति गुणाकृतिः। इवादिशब्दः आश्रीय-

---

१. उपमाप्रपंचश्च सर्वोऽलंकार इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव। (अभि०, पृ० ३२२)।

२. वामनकृत काव्यालंकारसूत्र में ५ अधिकरण हैं। चतुर्थ में अलंकार निरूपण जिसमें कुल ३ अध्याय हैं, प्रथम में शब्दालंकार, द्वितीय में अर्थालंकार (केवल उपमा) तथा तृतीय में अर्थालंकार (उपमाप्रपंच)।

(अ) (द्वितीय अध्यायारम्भ में) सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते।

(ब) (लुप्तोपमा प्रसंग में) उपमानोपमेयलोपस्तु उपमाप्रपंचे द्रष्टव्यः।

(स) (तृतीय अध्यायारम्भ में) सम्प्रत्युपमाप्रपंचो विचार्यते। कः पुनरसावित्याह-प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः (४।३।१)।

(द) (अध्यायोपसंहरण में) एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैवं प्रपंचिता।।

माणो यस्यामिति (गुणाकृतिसमाश्रया)—अभि०, पृ० ३२२। इसके अतिरिक्त आगे अभिनव भारती (गुणानुवाद लक्षण की टीका, पृ० ३०५) में आचार्य अभिनव ने लक्षण-गुण तथा अलंकार का सविवेक व्याख्यान, एक रमणीय दृष्टान्त देकर किया है जो कि उपर्युक्त व्याख्या की पुष्टि के लिए यथेष्ट है—'यथा हि राजता विभज्य विचार्यमाणा इत्यमवतिष्ठते—मुकुटाद्यलंकारः शौर्यादिर्गुणो, व्यूढोरस्कत्वादिर्लक्षण-समुदायो, राजा अलंकार्यश्च, गुणवांश्च, लक्षणीयश्च तथा काव्यमपि। तेन गुणालंकार-व्यतिरिक्ताः सर्वे लक्षणम् (?) इति मन्तव्यम्।'

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह शंका निर्मूल हो जाती है कि भरत प्रोक्त गुण-अलंकार एवं लक्षण-भेद कट्टरता के कारण हैं अथवा 'पारम्परिकसंज्ञा' का निर्वाह मात्र है। वस्तुतः आचार्य अभिनव द्वारा व्याख्यात, यह गुणालंकार विवेक ठीक वही है जिसे आचार्य मम्मट आदि ने स्वीकार किया और ध्वनिसम्प्रदाय के नेतृत्व में भी जिसे, अप्रतिहत मान्यता मिली।[1] अतः निश्चित है कि लक्षणों का विलयन इस कारण नहीं हुआ कि उनका कोई 'सिद्धान्त या व्यक्तित्व' नहीं था बल्कि इसलिए कि बिना उनके विलय हुए 'अलंकार सम्प्रदाय' की स्थापना ही नहीं हो सकती थी। आचार्य भरत ने वस्तुतः लक्षणों को काव्य में सर्वोच्च पद पर अभिषिक्त किया था। वे काव्य-शरीर भी थे, गुणालंकारों की समष्टि भी थे और रसनिष्पत्ति के साधन भी थे। किन्तु जैसे स्वयं उत्पन्न किये गये पुत्र-पौत्रों में सद्गुणों के संक्रान्त हो जाने पर उन्हीं के जन्मदाता पिता का अधिकार एवं माहात्म्य समाप्त हो जाता है, कालक्रमानुसार वही गति लक्षणों की भी हुई।

लक्षणों के विलीन होने पर अलंकारों की सृष्टि हुई। आचार्य भट्टतौत ने अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रशंसोपमा, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, तुल्योगिता तथा आक्षेप का जन्म क्रमशः मनोरथ, गुणानुवाद, अतिशय, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि तथा प्रतिषेधमनोरथ मिश्रण से स्वीकार किया है। इसी प्रकार चन्द्रालोक के टीकाकार श्री गागाभट्ट (विश्वेश्वरोपनामक) ने आचार्य जयदेव द्वारा प्रतिपादित दश लक्षणों (चन्द्रालोक, तृतीय मयूख) में से ६ का अन्तर्भाव अलंकारों में दिखाया है। उनके साक्ष्यानुसार समासोक्ति, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक तथा परिणाम अलंकारों का उद्भव क्रमशः अक्षरसंहति, हेतु, प्रतिषेध, सिद्धि, युक्ति तथा कार्य नामक लक्षणों से हुआ है।

इस प्रकार दोनों साक्ष्यों के अनुसार कुल दश अलंकारों का प्रामाणिक पूर्ववृत्त हमें प्राप्त होता है। अपह्नुति तथा तुल्ययोगिता उभयनिष्ठ हैं किन्तु अन्तर यह है कि भट्टतौत ने जहाँ अपह्नुति की सृष्टि मिथ्याध्यवसाय से मानी है, (राकागमकार) गागाभट्ट ने वहाँ हेतु से। इसी प्रकार भट्टतौत ने प्रतिषेध (मनोरथ) से आक्षेप की किन्तु गागाभट्ट ने हेत्वपह्नुति की सर्जना स्वीकार की है। स्वयं आचार्य अभिनव ने भी इसी दृष्टि से

---

१. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥
—काव्यप्रकाश ८।१-२।

लक्षणों का व्याख्यान करते हुए, औचित्यानौचित्य का स्पष्टीकरण किया। ऐसा करते समय उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने गुरु भट्टतौत का भी विरोध किया है और उनकी मान्यता के विपरीत अतिशय लक्षण को अतिशयोक्ति अलंकार से पूर्णतः भिन्न माना है। इसी प्रकार सारूप्य, दृष्टान्त, आशीः तथा प्रिय इन चार लक्षणों को उन्होने उपमा, उपमारूपक, आशीः तथा व्याजोक्ति अलंकार नहीं स्वीकार किया। किन्तु प्रोत्साहन-मनोरथ तथा अनुवृत्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा का तथा युक्ति को 'प्रतीयमान रूपक' का मूल अभिनव ने भी स्वीकार किया है। गागाभट्ट ने 'युक्ति' से व्यतिरेक की उत्पत्ति मानी है। निष्कर्ष यह है कि इन ग्यारह अलंकारों की भाँति ही परवर्ती युग में प्रचलित समस्त अलंकारों का विकास इन्हीं लक्षणों से हुआ। आज यदि हम आचार्य मम्मट द्वारा प्रोक्त समस्त अलंकारों को सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निश्चय ही उनके अन्तराल में कोई-न-कोई लक्षण, अथवा लक्षणांश दिखाई पड़ेगा। डॉ० देशपाण्डे जी ने भारतीय साहित्यशास्त्र के तृतीय अध्यायारम्भ में इसी आधार पर कुछ अभिनव लक्षणों का अलंकार रूप प्रस्तुत किया है।

अन्योक्ति का उद्भव भी 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के रूप में इन्हीं लक्षणों से हुआ। इस विषय में आचार्य भट्टतौत एवं अभिनवगुप्त का साक्ष्य भी पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। प्रथम अध्याय के अन्त में इस तथ्य का निर्देश भी हुआ है कि अन्योक्ति का उद्भव भरत-प्रोक्त 'मनोरथ' नामक लक्षण से ही हुआ। किन्तु पिछले अनुच्छेद में व्याख्यात 'अभिनव-भारती' के अनुसार प्रोत्साहन तथा अनुवृत्ति में भी अन्योक्तिमूलकता प्राप्त होती है। यदि हम थोड़ी और सूक्ष्मगति से लक्षणों का अध्ययन करें तो प्रतीत होता है कि अन्य अनेक ऐसे लक्षण हैं जिनमें 'अन्योक्ति' के तत्त्व प्राप्त होते हैं।

'अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुतप्रशंसा' जिसका मान्यता-प्राप्त स्वरूप प्रथमाध्याय में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है, कुछ वैशिष्ट्यों से युक्त है। वे वैशिष्ट्य मुख्यतः तीन हैं (क) वाच्य अप्रस्तुत द्वारा व्यंग्य प्रस्तुत का व्यंजना द्वारा बोध (ख) प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के इतिवृत्त में साम्य तथा (ग) प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के विशेषणों में असमानता। इनमें से प्रथम तत्त्व ही मुख्यतः इस अलंकार का प्रमुख तत्त्व है जिसे विस्तृत अर्थ में अन्योक्ति की संज्ञा दी गयी है। भरत अथवा उनके पूर्ववर्ती युग में इसी तत्त्व को अन्यापदेश नाम दिया गया है।

अन्योक्ति के इस पारिभाषिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर जब हम आचार्य भरत प्रोक्त ३६ लक्षणों का अध्ययन करते हैं तो मुख्य रूप से पाँच लक्षण ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें अन्योक्ति के तत्त्व पूर्णतः तथा अंशतः प्राप्त होते हैं। प्रामाणिकता की दृष्टि से इन पाँचों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—प्रधान मूल तथा गौण मूल। प्रधान मूल में मनोरथ लक्षण आता है जिसे आचार्य अभिनव तथा उनके गुरु भट्टतौत ने स्पष्टतः अप्रस्तुतप्रशंसा (अन्योक्ति) का रूप माना है, केवल संज्ञामात्र का भेद है। गौण मूल में हम प्रोत्साहना, अनुवृत्ति, आक्रन्दना तथा तुल्यतर्क को रख सकते हैं। प्रियोक्ति, अनुनय, सहेतु तथा विचार

नामक लक्षणों का सम्बन्ध भी यथाकथंचित् अन्योक्ति से हो सकता है किन्तु प्रत्यक्षतः नहीं। अब इन्हीं लक्षणों का संक्षिप्त विवरण अन्योक्ति के उद्भव की दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है।

विवेचन प्रस्तुत करने के पूर्व एक आवश्यक सूचना दे देनी उचित होगी। वह यह कि भरत प्रोक्त लक्षणाध्याय (१६वाँ) का एक अन्य पाठ भी प्राप्त होता है जिसे अनुबन्ध रूप में हम जानते हैं। यह पाठभेद आचार्य अभिनव के ही युग में प्रचलित था। अतः अपने लक्षण व्याख्यान में उन्होंने यथास्थान उनका भेद भी प्रदर्शित किया है।[1] एक पाठ में लक्षणों की गणना उपजाति छन्द में की गयी है, दूसरे में अनुष्टुप छन्दों में। अभिनवभारती उपजातिक्रम का अनुकरण करती है। दोनों पाठों में कुछ लक्षण नामभेद से और कुछ संज्ञा-साम्य रहने पर भी परिभाषा-भेद से युक्त हैं। अभिनव ने अपनी टीका में अनुष्टुपक्रम के अनेक लक्षणों का अन्तर्भाव उपजाति क्रम में दिखाया है और जहाँ ऐसी सम्भावना नहीं वहाँ केवल पाठभेद ही निर्दिष्ट कर दिया है। 'अन्योक्ति-सम्बद्ध' प्रस्तुत व्याख्यान इन दोनों ही क्रमों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। यह ज्ञातव्य तथ्य है।

'मनोरथ' लक्षण वहाँ होता है जहाँ 'हृदयस्थ भावों' का (प्रस्तुत का) सुश्लिष्ट अर्थ प्रदर्शन, अन्यापदेश कथनों द्वारा (अप्रस्तुतप्रशंसा) किया जाय। भरत के मतानुसार— हृदयस्थस्य भावस्य सुश्लिष्टार्थप्रदर्शनम् अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृतः।। ना० १६।२० अर्थ-प्रदर्शन (अथवा प्रकाशकम् प्रदर्शकम्, पाठभेद) पद यहाँ पूर्णरूप से व्यंजनयावबोध का सूचक है, अन्यथा 'वाचक' आदि अभिधासम्बद्ध पद का प्रयोग भी किया जा सकता था। इस प्रकार प्रस्तुत लक्षण में अन्योक्ति के तीनों ही तत्त्व अविकल रूप से प्राप्त होते हैं। अभिनव गुप्त ने इसका उदाहरण दिया है—

णिग्गन्ध दुरारोहि पुत्तआ (मा) पाडलिं समारूढ़।
आरूढणिपडिआ के इमी एण कआ इहग्गामे।।[2]

अत्र पादपमारोहन्नेव वृद्धविदग्धया कश्चिद्दुराशयपुंश्चलीसंगमोत्सुकः स्वाभिप्रायद्योतनेन प्रबोध्यते, तत्प्रस्तुतमेवान्यदपदिश्य। अतएवाप्रस्तुतप्रशंसा, सापि चात्रैवान्तर्भूता। नन्वलंकारे ह्यलंकार्यत्वं ह्यसत् इति केऽयं युक्तिः, लक्षणंतु भवति लक्षणत्वादेव। अभि०, पृ० ३१०। अभिनव के इस व्याख्यान से मनोरथ तथा अन्योक्ति का सर्वात्मना सारूप्य स्पष्ट

---

१. तथा च मतान्तरेण भरतमुनिरेवान्यथाऽप्युद्देशलक्षणेन नामान्तरैरपि व्यवहारं करोति, तत एव पुस्तकेषु भेदो दृश्यते। तं च दर्शयिष्यामः। पठितोद्देशक्रमस्त्वस्मदुपाध्यायपरम्परागतः।
—अभि०, पृ० २९८।

२. (निर्ग्रन्थ) निर्गन्धदुरारोहां पुत्रक मा पाटलीं समारोह।
आरूढ़निपतिताः के अनया न कृता इह ग्रामे।।

हो जाता है। 'अनुबन्ध पाठ' में भी मनोरथ का यही लक्षण प्राप्त होता है। केवल प्रथम अर्द्धाली का उत्तर भाग 'गूढ़ार्थस्य विभावकम्' रूप में प्राप्त होता है जो कि 'व्यंजनयाबोधत्व' का सफल सूचक है। टीकाकार ने एक प्रसिद्ध अन्योक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

मनोरथो यथा विकटनितम्बाप्रहसने विकटनितम्बाह-
अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धान (म) नामरजसं कलिकामकाले बालां कदर्थयसि किं नवमालिकायाः॥

यहाँ नायिका अपने ही मनोभावों को (जो प्रस्तुत हैं) भ्रमर एवं नवमालिका-कली (जो सर्वथा अप्रस्तुत है) के व्यपदेश से व्यंजनया व्यक्त कर रही है। क्योंकि दोनों के विशेषण सर्वथा भिन्न हैं, केवल इतिवृत्त में साम्य है, अतः यह अन्योक्ति का ही उदाहरण है। नाट्यशस्त्र का यही 'अन्यापदेश' बाद में अन्योक्ति माना गया।[१]

परवर्ती युग के ग्रन्थकारों ने भी 'मनोरथ' की जो परिभाषा दी है, उसमें अन्योक्ति के तीनों तत्त्व विद्यमान हैं। शारदातनय (भावप्रकाशन, अष्टमाधिकार) ने इसे 'मनोरथोऽन्यापदेशैः स्वाभिप्रायस्य सूचनम्, तथा शिंगभूपाल (रसार्णवसुधाकर तृतीय विलास) ने 'मनोरथस्तु व्याजेन विवक्षितनिवेदनम्' कहकर उदाहरण रूप में 'शाकुन्तल' (तृतीयांक) का एक प्रख्यात वाक्य प्रस्तुत किया है। (आचार्य के ही शब्दों में :—

यथा शाकुन्तले-शकुन्तला (पदान्तरे गत्वा परिवृत्य प्रकाशम्) भो लदाधरअ ! संदावहार ! आमन्तेमि तुमं पुणो दंसणस्स।' अत्र लतामण्डपव्याजेन दुष्ष (ष्य) न्तामन्त्रणं मनोरथः।

विश्वनाथ ने 'स्वाभिप्राय की भग्यन्तर-उक्ति' को ही मनोरथ माना है। तथापि उनका उदाहरण—'रतिकेलिकलः किंचिदेष मन्थरमन्थरः। पश्य सुभ्रु ! समालम्भात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम्' भी अप्रस्तुत निबन्धना द्वारा प्रस्तुत का ही बोध करा रहा है। सर्वेश्वर (साहित्यसार तृतीय प्रकाश) का मत शब्दान्तरयुक्त होकर भी आचार्य भरत से व्यतिरिक्त नहीं है—

मनोरथो यथाभूतं स्वाभिप्रायस्य शंसनम्।
साध्यतार्थस्य सम्बन्धो युक्तिर्वस्तुभिरिष्यते॥

भाव सुस्पष्ट है। अब गौण मूलों का प्रसंग आता है—

गौण मूलों में सर्वप्रथम प्रोत्साहना लक्षण देखिए। आचार्य भरत के अनुसार—उत्साहजननैः स्पष्टैरर्थैरौपम्यसंश्रयैः। प्रसिद्धैरुपगूढं च ज्ञेयं प्रोत्साहनं बुधैः। ना० १६।१०८

---

१. We can see the value of **भट्टतौत**'s suggestion in such cases. The **लक्षण** called **मनोरथ** has in its definition the word **अन्यापदेश** and is actually the **अन्यापदेश** of later literature i. e. **अन्योक्ति**—Dr. Raghavan.

पृ० ३०३। आचार्य अभिनव ने उदाहरण रूप में अपने काव्यगुरु भट्टेन्दुराज का यह श्लोक प्रस्तुत किया है—

हरवृषभ तवैव तस्य माता जयति जगत्यसमानसूतिरेका।
निवसति परमेश्वरोऽपि यस्मिन्सहतनयः सगणः सहावरोधः॥

इसके अनन्तर ही आचार्य ने अपना मत देते हुए लिखा है—

अप्रस्तुतप्रशंसाप्यत्र। तद्वैचित्र्यं प्रोत्साहनत्वलक्षणकृतमेव। केवलं त्वियं यथा लक्ष्मीरिति स च भवान् मुरारिरित्यादि।' अभि०, पृ० ३०३।

उपर्युक्त उदाहरण अनेक संस्कृत संग्रह ग्रन्थों (Anthologies) में अन्योक्ति रूप में उद्धृत किया गया है। अन्योक्ति से प्रोत्साहन का सबसे बड़ा साम्य यही है कि इसमें भी औपम्यादियुक्त स्पष्ट एवं प्रसिद्ध अर्थों (अप्रस्तुत वाच्य) द्वारा उपगूढ़ (अर्थात् व्यंजनयाव-बोध्य प्रस्तुत) का ज्ञान होता है।

शारदातनय-प्रोक्त लक्षण—'त्वरानिवेदनं यत्तु तत्प्रोत्साहनमुच्यते' विश्वनाथ-प्रोक्त लक्षण—'प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम्' तथा सर्वेश्वर-प्रोक्त लक्षण–अनाहत्य ब्रह्नर्थान् हेतुरिष्टार्थसाधनम्। प्रीत्युत्साहकरैरर्थैरुक्तिः प्रोत्साहनं भवेत्॥ प्रायः सब आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट 'उत्साहजननैः' का निर्वाह मात्र करते हैं किन्तु उनमें अन्योक्ति का वह तत्त्व नहीं है जिसे ऊपर स्पष्ट किया गया है अर्थात् 'अप्रस्तुत वाच्य द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना।' इसका कारण यह है कि परवर्ती आचार्य लक्षणों के औचित्य पर उतने ध्यानस्थ न हो सके जितना कि उनके शाब्दिक अर्थ पर। यही कारण है कि 'प्रोत्साहन' की व्याख्या उत्साह बढ़ाने के अर्थ में की गयी। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आचार्य विश्वनाथ ने प्रोत्साहन को लक्षणों के बजाय नाट्यालंकारों के वर्ग में रखा है जो कि उन्हीं के प्रमाणानुसार लक्षणों से भिन्न नहीं हैं।[१]

यद्यपि आचार्य अभिनव ने 'प्रोत्साहन' की व्याख्या करने के बाद 'इदमन्यत्र प्रियवचन-मिति पठितम्' कह कर अनुबन्ध में स्थित 'प्रियवचन' लक्षण की 'प्रोत्साहन-समकक्षता' का निर्देश किया है किन्तु 'प्रियवचन' का अध्ययन करके हम उसमें अन्योक्ति संबंधी कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं पाते जिससे कि उसे भी इस कोटि में रख सकें।

'अनुवृत्ति' का लक्षण नाट्यशास्त्र (१६।३४, पृ० ३१७) के अनुसार—'प्रश्रयेणार्थसंयुक्तं यत्परस्यानुवर्तनं। स्नेहाद्दाक्षिण्ययोगाद्वा सानुवृत्तिस्तु संज्ञिता॥ यहाँ अन्य पदों का तो नहीं, किन्तु 'यत् अर्थसंयुक्तं परस्यानुवर्तनम्' पदसमूह का स्पष्ट संकेत अप्रस्तुत प्रशंसा की ओर है और इसी कारण अभिनव ने उदाहरण रूप में भट्टेन्दुराज का

१. द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण, परि० ६ (नाट्यालंकार प्रसंग)।
२. वही।

श्लोक[1] उपन्यस्त करते हुए उसमें अप्रस्तुतप्रशंसात्व की कल्पना की है—अप्रस्तुतप्रशंसात्वेऽपि हि यदप्रस्तुतस्य शरीरवैचित्र्यं तल्लक्षणकृतमेव, लक्षणं हि शरीरमित्युक्तम्। अभि०, पृ० ३१७। भट्टेन्दुराज का यह पद्य भी अनेक सुभाषित ग्रन्थों में अन्योक्तिरूप में उद्धृत किया गया है।

शारदातनय (अभ्यर्थनानुवृत्तिर्या साऽनुवृत्तिरुदाहृता), विश्वनाथ (प्रश्रयादनुवर्तनम् अनुवृत्तिः यथा शाकुन्तले—राजा (शकुन्तलां प्रति) अपि तपो वर्धते? अनसूया-दाणिं अदिधि-विसेसलाहेण इत्यादि) तथा सर्वेश्वर (दुर्जनोक्तिषु तीव्रासु क्षमा स्यादविकारता—प्रश्रयेणा-न्यथार्थोक्तिरनुवृत्तिरिति स्मृता) आदि द्वारा प्रदत्त अनुवृति की परिभाषाएँ प्रोत्साहना की ही भाँति उसके अन्योक्ति तत्त्व को नहीं स्पष्ट करती। हाँ, सर्वेश्वर कृत लक्षण में अन्यथार्थोक्ति अवश्य ही 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के कुछ समीप है।

आचार्य अभिनव ने प्रोत्साहन की ही भाँति अनुवृत्ति को भी 'अनुनय' से मिला हुआ माना है। किन्तु 'प्रियोक्ति' की ही भाँति 'अनुनय' भी अनुवृत्ति से साम्य भर ही रखता है। वस्तुतः उसमें अन्योक्ति तत्त्वों का कोई संकेत नहीं है।

प्रोत्साहन तथा अनुवृत्ति के बाद अन्योक्ति-मूलक दो लक्षण और शेष बचते हैं—आक्रन्दना तथा तुल्यतर्क। इनमें से पहला अभिनव द्वारा उपजातिक्रम में सोदाहरण व्याख्यात किया गया है और दूसरा आक्रन्द में ही अन्तर्भूत किया गया है। वस्तुतः हैं वह अनुबन्धाध्याय या अनुष्टुप क्रम का। आक्रन्द के विषय में हमें प्रोत्साहनादि की भाँति अभिनव का कोई मत नहीं प्राप्त है कि यह अप्रस्तुतप्रशंसा रूप हो सकता है। किन्तु इनके अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि वस्तुतः इनका अन्योक्ति से प्रभूत साम्य है। आक्रन्दना में ठीक अन्योक्ति की ही भाँति कोई तथ्य आत्मभाव को उपन्यस्त करके (जो प्रस्तुत होता है) परसादृश्य-युक्तियों से (अप्रस्तुत वाच्य द्वारा) 'तीव्र' अर्थात् व्यंजना द्वारा व्यक्त किया जाता है। आचार्य भरत एवं अभिनव के प्रमाणानुसार—आत्मभावमुपन्यस्य परसादृश्ययुक्तिभिः तीव्रार्थभाषणं यत्स्यात् आक्रन्दः स तु कीर्तितः॥ ना० १६।१९ (अभि०)...तीव्रः साक्षादवाच्यो योऽर्थस्तस्य परं प्रति सादृश्ययोजनप्रकारैरात्माभिप्रायं प्रमुखे दत्त्वा तत्समन्ततः भाषणं स्फुटकथनं तन्निज-भावाविष्करणप्रधानत्वादाक्रन्दो नामलक्षणम्।' अभि०, पृ० ३०९।

अभिनव की व्याख्या तथा बाद में दिये गये उदाहरण[2] से भी यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि आक्रन्द में अन्योक्ति के तीनों ही तत्त्व प्राप्त होते हैं, अतः उसकी अन्योक्ति

---

१. राज्ञा यद्यनुरुध्यसे यदि भवेद्वाच्यं पुरो मादृशां तत्संक्रन्दनगोप किंचन मनाक् पृच्छत्यधीरो जनः। अग्रेरोहणचारिणां सरभसं संचूर्यमाणश्चिरं कं प्रत्याययितुं प्रयासरसिको यत्नेन रत्नायसे?—अभि०, पृ० ३१७।

२. किं पान्थ त्वरसे विलोकय निशां या ह्युन्मुखी पाण्डुरा
चन्द्रं चुम्बितुमीहते प्रकटयन्त्यग्रे सरागां स्थितिम्।

मूलकता में कोई विचिकित्सा सम्भव नहीं। शारदातनय (आक्रन्दोऽभीष्टविषयः शोकालाप उदाहृतः) विश्वनाथ (आक्रन्दः प्रलपितं शुचा।। यथा वेण्याम् कंचुकी—हा देवि कुन्ति राजभवनपताके! इत्यादि) के आक्रन्दविषयक मत सर्वथा आचार्य भरत के प्रतिकूल शब्दार्थ पर आधारित हैं। हाँ, आचार्य सर्वेश्वर ने भरत का ही अनुवर्तन किया है—

तीव्रःसाक्षादवाच्योऽर्थो यत्राभिप्रायगोचरः।
आख्यायतेऽन्यथाऽन्यस्य स एवाक्रन्द उच्यते।।

स्पष्ट है कि सर्वेश्वरकृत परिभाषा में भरत एवं अभिनव के मतों का (तीव्र+साक्षादवाच्य) मंजुल समन्वय है। अनुबन्ध० (१६।२१) में 'तुल्यतर्क' का लक्षण इस प्रकार है—

रूपकैरुपमाभिर्वा तुल्यार्थाभिः प्रयोजितः।
अप्रत्यक्षार्थसंस्पर्शस्तुल्यतर्कः प्रकीर्तितः।।

यहाँ अप्रत्यक्षार्थ का अर्थ 'प्रस्तुत' से है, जिसका 'संस्पर्श' अर्थात् व्यंजनयाबोध होता है, (अभिधया प्रतिपादन नहीं) कैसे? 'रूपकैः...तुल्यार्थाभिः' अर्थात् समानेतिवृत्त वाले अप्रस्तुत द्वारा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आक्रन्दना एवं तुल्यतर्क में प्रत्यंग साम्य है। शिंगभूपाल द्वारा भरतप्रोक्त परिभाषा ही बिना किसी परिवर्तन के अपनायी गयी है। किन्तु विश्वनाथ ने शाब्दिक अर्थ के आधार पर इसकी परिभाषा निर्मित की है, जैसा कि उन्होंने प्रायः समस्त लक्षणों के विषय में किया है—

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिनो यथा तत्रैव (वेणीसंहारे) प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः। शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम। यहाँ स्पष्टतः 'तर्क' का अर्थ 'चिन्ता' अथवा 'वितर्क' मात्र से लिया गया है।

इन व्याख्यात लक्षणों के अतिरिक्त सहेतु[२] (ना० १६।१४) तथा विचार[३] (षोडशानु-

---

यद्वा नागरभोगदुर्ललितकैर्न्यस्तापि न ज्ञायते
ग्रामे ग्राम्यजनोपभोगसुभगं निर्व्याजरम्यं सुखम्।।—अभि०, पृ० ३०९।

१. तुल्यतर्क का प्रस्तुत उदाहरण शुद्ध अन्योक्ति है—

नवार्कभापल्लवितामलोदरे सुगन्धिरेणूत्करकेसरोज्ज्वले।
रसामृतज्ञो भ्रमरः सरोरुहे किमर्कपुष्पे प्रणयं करिष्यति?

—अभि० पृ० ३५५।

२. बहूनां भाषमाणानां त्वेकस्यार्थविनिर्णयं। सिद्धोपमानवचनं हेतुरित्यभिसंज्ञितः।।

—ना० १६।१४।

३. पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनैः। अनेकोपाधिसंयुक्तो विचारः परिकीर्तितः।।

—ना० १६।२५ (अनुबन्ध)।

बन्ध ।२५) आदि और भी इतर लक्षण ऐसे हैं जिनमें कि अन्योक्ति तत्त्वों का उपन्यास हुआ है किन्तु वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं कि स्वतंत्र व्याख्यान किया जाय। हाँ, अन्योक्ति तत्त्वों की ओर उनका संकेत अवश्य है।

सारांश यह है कि आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में वस्तुतः नाट्य एवं काव्य (दृश्य एवं श्रव्य) दोनों का बिना किसी भेदबुद्धि के प्रतिपादन किया। काव्यांगों के रूप में—गुण, दोष, अलंकार एवं लक्षण तथा नाट्यांगों के रूप में-वृत्ति, वृत्त्यंग, सन्ध्यंग इत्यादि। इनमें से 'लक्षण' एक ऐसा काव्यतत्त्व था जिसे आचार्य ने सर्वोच्च स्थान दिया। लक्षणों की संख्या भरत के युग में ३६ थी, जो कि तब से लेकर १९वीं शती तक घटती-बढ़ती रही। लक्षण सामान्यरूप (genus) तथा गुणालंकारादि उसके विशेष (species) रूप थे। किन्तु लक्षणों का अलंकारों एवं गुणों के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध एवं तात्त्विक साम्य था कि अलंकार सम्प्रदाय के उदय के साथ-ही-साथ उनका विलयन भी इन्हीं अलंकारों में प्रारम्भ हो गया। इस कार्य का श्रीगणेश, आचार्य भामह ने, लक्षणों की समकक्ष वक्रोक्ति की स्थापना करके तथा आचार्य दण्डी ने लक्षण, वृत्त्यंगादि सब को अलंकार मात्र मान कर किया। दण्डी के बाद भोज, शारदातनय, जयदेव, शिंगभूपाल, विश्वनाथ तथा सर्वेश्वरादि आचार्यों ने जितना ही प्रयत्न लक्षणों के स्वतन्त्र विवेचनार्थ किया विरोधी दल ने उतना ही प्रयत्न उनके विलयनार्थ किया। फल यह हुआ कि समस्त लक्षण, साथ-ही-साथ उनसे यथाकथंचित् सम्बद्ध, सन्ध्यंगादि नाट्यतत्त्व भी अलंकारों की गर्त में डूब गये। उनकी केवल स्मृति ही रह गयी।

आचार्य अभिनव के युग तक भी लक्षणों की सैद्धान्तिक सरणि स्थिर नहीं हो सकी थी। उनके स्वरूप के विषय में नाना प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ, शंकाएँ एवं रूढ़ियाँ पैदा हो चुकी थीं। अभिनव ने उन्हें 'दशपक्षों' के रूप में सर्वप्रथम उपन्यस्त करके भरत के तद्विषयक दृष्टिकोण का ही मूल्यांकन प्रस्तुत किया। इसी को 'दशपक्षी' सिद्धान्त कहते हैं।

इन्हीं लक्षणों से अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुतप्रशंसा का उद्भव हुआ। इस विषय में आचार्य भट्टतौत तथा अभिनव के प्रमाण भी प्राप्त हैं। यद्यपि अन्योक्ति का उद्भव मुख्यतः 'मनोरथ' लक्षण से ही हुआ, किन्तु 'मनोरथ' के अतिरिक्त अनेक ऐसे अन्य लक्षण भी हैं, जिनमें अन्योक्ति के तत्त्व प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से उन समस्त लक्षणों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—प्रधान तथा गौण। प्रधान में मनोरथ लक्षण तथा गौण वर्ग में प्रोत्साहन अनुवृत्ति आक्रन्दना तथा तुल्यतर्क आयेंगे। इन्हीं लक्षणों द्वारा निर्मित एक उर्वर क्षेत्र-विशेष से अन्योक्ति का उद्भव हुआ और उसी को सर्वप्रथम आचार्य भामह ने एक स्वतन्त्र अर्थालंकार की मान्यता दी।

तृतीय अध्याय

अन्योक्ति का सैद्धान्तिक विकास

[पूर्व-मम्मट युग]

आचार्य भरत से लेकर भामह तक का मध्यवर्ती युग संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त अन्धकारमय है। ऐसी दशा में, काव्यशास्त्र की किसी समस्या अथवा उसके किसी भी अंग का यथावत् परिशीलन, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आधुनिक विद्वानों की शोध मीमांसा भी, इस दृष्टि से, मूलग्रन्थ के प्रतिपाद्य से बाहर नहीं जा पाती, हम सतत ग्रन्थों में संकलित-सामग्री की ही सूचना, उनमें भी पाते हैं। काव्यशास्त्र में प्रचलित, रस-अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य, इन छह सम्प्रदायों में से परवर्ती चार अपेक्षाकृत अधिक मर्यादित एवं सिद्धान्ततः स्पष्ट हैं, क्योंकि उनका पूर्वरूप, उनका उद्भव, सिद्धान्त एवं व्यवहारपक्ष, उनकी सीमाएँ एवं उनके विधायक आचार्य भी प्रायः स्थिर हो चुके हैं। शेष दो सम्प्रदायों में से, रस भी मानव की सहज चैतस अनुभूतियों के इतना समीप है कि उसकी सत्ता कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु 'अलंकार-सम्प्रदाय' के कुछ अपने पृथक् वैशिष्ट्य रहे हैं, जिनके कारण उसका रूप ही दुरूह एवं दुर्बोध बन गया। इस दृष्टि से विचार करने पर, आलंकारिक मान्यताओं की अनेक कोटियाँ, जो अनेक युगों में अनेक आचार्यों द्वारा परिष्कृत एवं परिवर्द्धित होती रहीं और जो आलंकारिक दुर्बोधता का कारण भी हैं, हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाती हैं।

ई० शती के पूर्व ही आचार्य भरत ने गुणों, दोषों, अलंकारों एवं लक्षणों की स्थापना तथा व्याख्या नाट्यशास्त्र के षोडशाध्याय में प्रस्तुत की थी। किन्तु जैसा कि पिछले अध्याय में प्रमाण उपस्थित किया जा चुका है, आचार्य भरत ने अलंकारों को अन्य तीनों तत्त्वों से विविक्त मानते हुए भी उनमें आन्तरैक्य स्थापित कर दिया था। गुणों तथा अलंकारों में उन्होंने कोई भेद नहीं स्पष्ट किया, साथ-ही-साथ अलंकारों के 'वैचित्र्य' का कारण भी लक्षणों को माना। वैचित्र्य का अर्थ 'शोभा' तथा 'संख्याभेद' दोनों ही लिया जा सकता है।[1] इन दोनों

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी-कृत व्याख्यान, उनका शोधग्रन्थ अध्याय २, पृ० ८ से २० तक। ढाका विश्वविद्यालय, सन् १९३७ ई०।

मान्यताओं के कारण अलंकार, नाट्यशास्त्र एवं भरत के युग में भले ही सीमित रहे, किन्तु परवर्ती युग में गुणों एवं लक्षणों को अपनी केंचुली में ही समेटकर विशाल हो गये।

आचार्य भामह एवं दण्डी, भरत की भाँति नाट्यशास्त्र के व्याख्याता नहीं थे, प्रत्युत उनका सारा मनोबल अलंकार को ही 'काव्यसर्वस्व' अथवा 'काव्यात्मा' रूप सिद्ध करने में लगा था। ऐसी बात भी नहीं कि वे रस से अथवा उसके अंगभूत विभावानुभावादि से परिचित नहीं थे। वे 'रस' तथा उसके अनुभव या परिपाक से पूर्णतः अवगत थे। किन्तु उन्हें भान ही नहीं हो सका था कि 'रस अथवा ध्वनि' काव्यात्मरूप हो सकती है। वे अलंकार को ही 'काव्यचारुता' का हेतु मानते थे और इसी कारण रस को भी अलंकार रूप मानने तथा रस-वत् अलंकार स्थापित करने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई। भरत की ही भाँति, भामह एवं दण्डी ने भी गुणों, अलंकारों में कोई विशिष्ट भेद नहीं प्रदर्शित किया। भाविक अलंकार को दोनों ने 'गुण' रूप में मान्यता दी, जिससे गुणालंकार साम्य स्पष्ट हो जाता है (भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्-काव्या० ३।५३ तथा काव्यादर्श २।३६१)।

वस्तुतः आचार्य दण्डी काव्य-शोभाकर समस्त धर्मों को, चाहे वे अलंकार, गुण, लक्षण, सन्ध्यंग अथवा वृत्त्यंग कुछ भी हों, अलंकार ही स्वीकार करते थे। इसी कारण काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों की—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते' (२।१) रूप में परिभाषा देकर, आचार्य ने प्रथम परिच्छेद में वर्णित कुछ अलंकारों की ओर संकेत किया था—'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः' (२।३)। यहाँ आचार्य का संकेत स्पष्टतः वैदर्भ-गौड मार्गों के विवेचन में प्रतिपादित, श्लेष-माधुर्यादि गुणों की ओर था। अपनी इसी आलंकारिक धारणा के आधार पर दण्डी ने भरत से भी आगे बढ़ते हुए, केवल गुणों एवं लक्षणों को ही नहीं, प्रत्युत सन्ध्यंगादि समस्त तत्त्वों को अलंकारों में ही अन्तर्भूत कर दिया—यच्च सन्ध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः।।

इन अलंकारों में से अनेक ऐसे थे, जो 'व्यंजना अथवा ध्वनि' के सन्निकट थे, किन्तु जैसा कि आचार्य रुय्यक तथा जगन्नाथ[1] ने भी स्वीकार किया है, आचार्य

---

१. द्रष्टव्य—इह तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिर्क्षिप्तं मन्यन्ते।...उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् (अलंकारसर्वस्व, पृ० ३)...ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादिशब्दाः न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यंग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अगत्या च सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानंगीकारो भवति (रसगंगाधर, पृ० ४१५) काव्यमाला संस्करण १८८८।

दण्डी आदि उस प्रतीयमानार्थ (व्यंजना अथवा ध्वनि) को वाच्योपस्कारक होने के कारण, अलंकार-पक्ष में ही निविष्ट करते थे।

भामह तथा दण्डी के पश्चात् (सातवीं शती तक) आचार्य वामन (आठवीं शती) ने एक बार पुनः अलंकारों की नये सिरे से व्याख्यानुव्याख्या करने का प्रयत्न किया। उन्होंने काव्योपादेयता का मूलकारण 'अलंकार' को ही स्वीकार किया—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' (काव्या० १।१।१) किन्तु आचार्य वामन ने यहाँ जिस अलंकार की चर्चा की है, वह स्पष्टतः उपमादि अलंकारों से भिन्न है, क्योंकि उपमा अनुप्रास एवं यमकादि अलंकार केवल एक-देशीय हैं, अतः उन्हें काव्योपादेयता का कारण स्वीकार करना कल्पना-गौरव मात्र है। इसी कारण आचार्य ने अलंकारों को एक विशिष्ट-परिभाषा में निबद्ध किया—'सौन्दर्यमलंकारः' (काव्या० १।१।२)। यहाँ वामनाभिप्रेत 'सौन्दर्य' का अर्थ है—'काव्य का स्वभावगत सौन्दर्य' न कि किसी अलंकार-विशेष द्वारा उत्पन्न किया गया काव्यचारुत्व। वामन प्रोक्त यह काव्य-सौन्दर्य 'व्याप्ति एवं प्रभावशालिता' के माने में बहुत कुछ आचार्य भामह की 'वक्रोक्ति' की भाँति है जिसे उन्होंने समस्त काव्य का तथा समस्त अलंकारसर्जना का मूल स्वीकार किया था।[1] इसी प्रकार वामनप्रोक्त काव्यसौन्दर्य, दण्डी-अभिमत अलंकारस्वरूप के भी सर्वथा अनुकूल है। यही स्वाभाविक काव्यसौन्दर्य जब नियमित एवं संकुचित रूप से शब्दार्थ मात्र में अवस्थित हो जाता है तो इसे शब्दार्थालंकार की संज्ञा प्राप्त हो जाती है—'अलंकृतिरलंकारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।' आगे वामन ने यह भी स्पष्ट किया है कि ये शब्द एवं अर्थ के अलंकार, दोषपरित्याग अथवा गुणाधान से प्राप्त हो सकते हैं। वस्तुतः आचार्य के अनुसार 'काव्य' शब्द का समावेश, मुख्यरूप से, गुणालंकार संस्कृत शब्द एवं अर्थ में है और लक्षणया हम शब्दार्थ मात्र में ही 'काव्यत्व' मान कर उसे 'शब्दार्थौ-काव्यम्' कह देते हैं।

वामनाचार्य के इन विचारों से यह रहस्य सुस्पष्ट हो जाता है कि भरत के लक्षण, भामह की वक्रोक्ति तथा दण्डी के अलंकार की ही भाँति, उनका अभीष्ट अलंकार भी 'काव्य का सहजसौन्दर्य' होने के कारण, अत्यन्त विशाल एवं विस्तृत है। उपमादि अलंकार उसकी विशिष्ट कोटियाँ मात्र हैं। 'गुण' भी उस सामान्य सौन्दर्य के आधायक मात्र हैं, अतः उसके अंग-विशेष हैं। इस दशा में हम यह उद्भावना कर सकते हैं कि वामन ने 'काव्य के सामान्य सौन्दर्य' को अलंकार का स्वरूप मानकर, दण्डी के मत को अपेक्षाकृत और परिनिष्ठित एवं स्थायी बनाया। क्योंकि आचार्य दण्डी ने 'काव्यशोभाकरत्व' के ही उभयनिष्ठ होने से गुणा-लंकार में ऐक्य स्थापित किया था, किन्तु वामन ने दोनों में इस कारण ऐक्य स्वीकार किया क्योंकि गुण (शब्द एवं अर्थगुण) एवं अलंकार (उपमादि, शब्द एवं अर्थ अलंकार) दोनों ही,

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना?—काव्या० २।८५।

अपने से भी बड़े एक सामान्य में अन्तर्भूत हैं और वह 'सामान्य' वामन की स्वतन्त्र-विद्वत्ता का प्रसवभूत 'काव्य-सौन्दर्य' है।

आलंकारिक मान्यता की चतुर्थ कोटि संस्थापित करने का श्रेय राजा भोज को है जिन्होंने पूर्ववर्ती इन तीनों ही आचार्यों का अतिक्रमण करते हुए 'रसनिष्पत्ति' तक को अलंकार ही स्वीकार किया। भोज, काव्यशास्त्रीय विवेचन में, प्रायेण आचार्य दण्डी के अनुयायी रहे हैं। रस की अलंकाररूपता का भाव भी उन्हें 'काव्यादर्श' में व्याख्यात रसवदादि अलंकार से ही मिला, यह निश्चित है। किन्तु जो समस्याएँ आचार्य (भामह एवं) दण्डी के ग्रन्थ में बीजरूप में थीं, सरस्वतीकण्ठाभरण एवं शृंगारप्रकाश में वे ही वृक्ष रूप में आयीं। वस्तुतः भोज ने दण्डी की 'अलंकारधारणा' को बृहत्तम रूप देकर, पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

भोज ने समस्त अलंकार-वर्ग को त्रिधा विभाजित किया—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति। अलंकार-प्राधान्य होने पर वक्रोक्ति, गुण-प्राधान्य होने पर स्वभावोक्ति तथा रस-प्राधान्य होने पर रसोक्ति होती है।[1] किन्तु ये तीनों ही उक्तियाँ अलंकारवर्ग में ही अन्तर्भूत हैं, यह अवधेय तथ्य है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों है?

इस प्रश्न का हल पाने के लिए हमें भोज की एक 'व्यक्तिगत धारणा' को समझ लेना आवश्यक है। भोज 'नानालंकारसंसृष्टि' को अलंकारों के दायरे में, संभवतः सर्वोत्कृष्ट स्थान देते हैं और उनका यह सिद्धान्त तर्कसंगत भी है क्योंकि कोई भी अलंकार व्यावहारिक रूप में अकेले मिलता नहीं। उसके साथ कोई-न-कोई अन्य अलंकार अवश्य मिला रहता है। संसृष्टि का यह सिद्धान्त, भोज ने दण्डी (काव्यादर्श २।३५७: नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते) से ही लिया और उसी का पल्लवन सरस्वती० के पंचम परिच्छेद में किया। भोज के अनुसार 'संसृष्टि' नानालंकारसंकर मात्र है (द्रष्टव्य सरस्वती० ४।८७-८९) वह व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त तीन प्रकार की होती है।

पाँचवें परिच्छेद में, इसी संसृष्टि की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा है—'नानालंकारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः इत्युक्तम्। तत्र अलंकारसंसृष्टेः इत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलंकारत्वात् यदाह—'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।'...तत्र काव्यशोभाकरान् इत्यनेन श्लेषोपमादिवत् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनपि उपगृह्णाति। मार्गविभागकृद्गुणानामलंक्रियोपदेशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिव अलंकारत्वमपि ज्ञापयति—श्लेषः प्रसादः समता, आदि (सर० पृ० ३५५, बारौह संस्करण, कलकत्ता १८८४ ई०)।

---

१. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥—सरस्वती० ५।८।

उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि गुणों एवं रसभावादिकों को भी भोज ने अलंकार ही माना, क्योंकि रसभावादि भी नानालंकारसंसृष्टि से पृथक् नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि आचार्य दण्डी ने पहले ही रसवत् एवं प्रेयस् आदि को अलंकारों में निविष्ट कर दिया था।[1] अतः भोज ने यह जानते हुए भी कि—रसों को अलंकार कहना उचित नहीं है, इसी संसृष्टि एवं पूर्व प्रामाण्य के बल पर उन्हें अलंकार कोटि में अन्तर्भूत किया—ननु च सर्वेषामप्युपादेयानां काव्यशोभाकरत्वाद् अलंकारत्वे व्यवच्छेद्याभावात् संकरः संसृष्टिरित्येव वाक्यं (च्यं) भवति। विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति विभावादिसंकरस्यापि संसृष्टित्वं प्राप्नोति। तदलंकारग्रहणेन निवर्तयते। नहि विभावादयोऽलंकाराः अपितु भावरसतदाभासानामलंकाराणामभिनिष्पत्तिहेतवः अर्थविशेषाः (शृंगारप्रकाश, पृ० ३७०)।

गुण, रस, भावादि की अलंकारता स्वीकार करने में भोज का समस्त प्रयत्न कुछ तो दण्डी के सिद्धान्त पर आधारित है और अधिकांश तो उनकी अपनी विस्तारप्रिय बुद्धि का ही उन्मेष मात्र है। यदि हम भामह एवं दण्डी के युग की तुलना, भोज के युग से करें तो भोज का यह मत न्याय एवं अनुकरणीय नहीं सिद्ध होता है। भामह एवं दण्डी का युग, अलंकारों के विकास एवं वैभव का युग था। तब आचार्यों को 'ध्वनि' का माहात्म्य नहीं ज्ञात हो सकता था। और चूँकि, किसी वस्तु का अभाव अपेक्षा से ही प्रतीत होता है, अनपेक्षा से नहीं (अनपेक्षा की सीमित चारदीवारी में प्रत्येक वस्तु सुडौल एवं सर्वाङ्गपूर्ण ही होती है) इसी कारण अलंकार के युग में अलंकार ही सर्वस्व रहे। इसी प्रकार रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति प्रभृति काव्यसम्प्रदायों के युग में उन्हीं की प्रभुता एवं व्याप्ति रही। अन्य काव्य-तत्त्व भले ही उनसे उत्कृष्ट रहे हों, किन्तु युग-विशेष की परिधि में उनके सहायक या गौण ही बने रहे। ठीक यही दशा दण्डी के युग में अलंकारों की थी। अतः दण्डी द्वारा लक्षण, गुण, सन्ध्यंग, वृत्त्यंग तथा अन्यान्य काव्यतत्त्वों का अलंकारों में अन्तर्भाव समयसापेक्ष एवं उचित ही कहा जायगा।

किन्तु भोज? ऐसा तर्क भी तो नहीं दिया जा सकता कि भोज काव्य के अन्य सिद्धान्तों से अवगत नहीं थे। भोज का समय सुस्पष्ट ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ईसा की ग्यारहवीं शती है। उनके पूर्व वामन का रीति सिद्धान्त विद्यमान था। संस्कृत साहित्यशास्त्र को एक नवीन सरणि सुझाने वाले, आचार्य आनन्दवर्द्धन का ध्वनिसिद्धान्त भी भोज के बहुत पहले ही विकसित एवं शक्त हो चुका था। ऐसी दशा में भी भोज का यह कार्य यदि उनका 'अन्धानुकरण' नहीं तो और क्या है? क्योंकि कोई भी सहृदय व्यक्ति

---

१. अयुक्तन्त्विदमुक्तं रसानामलंकारता इति। तेषां गुणानामिव अलंकारव्यपदेशाभावात्। नायुक्तम् उक्तोत्कर्षाणामूर्जस्विरसवत्प्रेयसामलंकारेषूपदेशात्। (सरस्वती०, पृ० ३५५)।

'रस (ध्वनि) एवं अलंकार' को एक नहीं स्वीकार कर सकता। एक स्वानुभवसंवेद्य, ब्रह्मानन्दसहोदर, काव्यात्मरूप तथा अवाच्य है और दूसरा शब्दार्थवाच्य मात्र। एक व्यंजनाव्यापारगम्य, दूसरा अभिधया वाच्य? फिर दोनों में ऐक्य की संभावना कैसे की जा सकती है।

भोज का यह सिद्धान्त ध्वनिकार के सर्वथा विपरीत भी है। क्योंकि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'ध्वनि' को ही काव्यात्मा मान कर उसके, वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि—तीन भेद किये। इनमें भी प्राधान्य 'रसध्वनि' का ही है। जो कि काव्य का प्राणभूत तत्त्व है। वस्तु एवं अलंकार भी रसध्वनिपर्यवसायी होने के ही कारण, उसमें अन्तर्भूत हैं। पृथक् रूप में उनका वह मूल्य कभी नहीं है जो कि ध्वनि का अंग बनने पर है। प्रथम अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत हो चुका है कि किस प्रकार आचार्य अभिनव ने भट्टनायक के ध्वनिविरोधी मत का खण्डन करके, वस्त्वलंकार-ध्वनि मानने के लिए उन्हें बाध्य किया।[१] इसके विपरीत भोज ने अलंकार में रसों का अन्तर्भाव करना चाहा है। शृंगार-प्रकाश, पृ० ३७२ पर उनका एक उद्धरण इस प्रकार है—'नन्वेवं सति विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरित्यादिना न भवितव्यमेवालंकारेण। नैवम्। त्रिविधः खल्वलंकारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः, रसोक्तिरिति। तत्र उपमालंकारप्राधान्ये (वक्रोक्तिः। सोऽपि गुणप्राधान्ये) स्वभावोक्तिः। विभावानुभावसंचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति।'

वस्तुतः भोज संस्कृत काव्यशास्त्र में एक समन्वयवादी आचार्य के ही रूप में प्रख्यात हैं। वे मौलिक सिद्धान्तयिता न होकर संकलयिता मात्र हैं। इसी कारण, उनके अपने व्यक्तिगत विचार एवं दृष्टिकोण भी, उनके व्यर्थ विस्तारों के जाल में पड़कर परिस्फुट नहीं हो सके। सरस्वतीकण्ठाभरण में, किसी भी समस्या के व्याख्यान में पदे-पदे उदाहरण प्रस्तुत करना तथा प्रत्येक वस्तु का षोढा विभाजन आदि तथ्य, उनकी इसी प्रवृत्ति के प्रमाण हैं। अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के मतों का सदुपयोग करने के साथ ही उन्होंने काव्य-शास्त्रीय परम्पराओं की प्रतिपद अवहेलना भी की है। नवीन दोषों की उद्भावना, बाह्य तथा आभ्यन्तर के ही साथ वैशेषिक गुणों की स्थापना, जाति, गति, रीति, वृत्ति एवं छाया आदि को शब्दालंकार मानना, उपमादि अर्थालंकारों को 'शब्दार्थ' दोनों का अलंकार स्वीकार करना आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो हमें आश्चर्य एवं कौतूहल में डाल देते हैं। कहाँ तो आचार्य वामन की रीति, जो काव्यशास्त्र में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का श्रीगणेश करती है और दूसरी ओर भोज द्वारा उसकी एक शब्दालंकार रूप में मान्यता। ऐसी दशा में हम यह कह सकते हैं कि अपनी दृष्टि से भोज ने भले ही संस्कृत-साहित्य को अपनी नवीन प्रतिभा का परिपाक सौंपा किन्तु अन्य आचार्यों की विरासतों की दृष्टि से उन्होंने प्राचीन परम्पराएँ तोड़ीं, नव्यता प्रस्तुत करने का साहसमात्र किया।

---

१. द्रष्टव्य—ध्वन्यालोकलोचन, १।४ का व्याख्यान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भरत से लेकर भोज तक के बीच, लगभग १२०० वर्षों में अलंकार की मान्यताएँ चार बार परिवर्तित हुईं। इस परिवर्तन के साथ-ही-साथ जाने कितने अलंकार उद्भूत और जाने कितने तिरोहित भी हो गये। जाने कितने दूसरे अलंकारों के पेट में समा गये और जाने कितने अपने अंगियों से पृथक् होकर बाहर भी आ गये। इस दृष्टि से जब हम अन्योक्ति के 'वृत्त' पर विचार करते हैं तो विश्वास हो जाता है वह अन्य अलंकारों की भाँति शतायु अथवा सहस्रायु न होकर अनादि एव अनन्त रूपा है। आचार्य भरत के लक्षण 'मनोरथ' से लेकर आज तक के आलंकारिक ग्रन्थों में विद्यमान उसकी सत्ता दो हजार वर्षों के नैरन्तर्य में, सामयिक कायाकल्पों के बावजूद भी, अक्षुण्ण रही है। शेष बचा उसका आदि और अन्त, जो दोनों ही हमारी चिन्तन-शक्ति द्वारा गृहीत नहीं हो पाते, अतः कल्पनातीत हैं। पिछले अध्याय में नाट्य-आचार्य भरत के ही साक्ष्य पर उसकी प्राचीनतम सत्ता वैदिक ऋचाओं में ही स्वीकार की गयी है।

ऐसी दशा में यह सोचना ही एक समस्या बन जाती है कि अन्योक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन हम कहाँ से प्रारम्भ करें? अध्यायारम्भ में ही इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा चुका है कि भरत और भामह के बीच का युग अत्यन्त अन्धकारपूर्ण रहा है। कुछ ज्ञात नहीं कि इस मध्यान्तर में कितने नक्षत्र काव्यशास्त्र के आकाश में उदित एवं अस्त हुए। आचार्य भामह ने काव्यालंकार १।१३ (रूपकादिलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः) १।१४ (रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षतेऽपरे) १।२४ (उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्यविस्तरः) १।३१ (वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे) आदि कारिकाओं में प्रयुक्त अन्य तथा पर शब्द से ऐसे ही अनेक आचार्यों की ओर संकेत किया है, जो कि निश्चितरूप से भामह के पूर्ववर्ती तथा भिन्न मत वाले थे। उदात्त अलंकार के लक्षणविषयक वैमत्य में यह तथ्य और स्पष्ट हो गया है। इन आलंकारिक आचार्यों के अतिरिक्त, भामह ने अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का भी परिचय प्रस्तुत किया है, जिनमें मुख्यतः शाखवर्द्धनकृत राजमित्र (२।४५ महाकाव्य?) रामशर्मन् कृत अच्युतोत्तर (२।१९-५८ प्रहेलिका ग्रन्थ) अश्मकवंश (रघुवंश की भाँति काव्यविशेष, १।३३) रत्नाहरण काव्य (३।८) तथा न्यासकार (६।३६) आदि हैं।

काव्यालंकार द्वितीय परिच्छेद की चतुर्थ कारिका में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा, इन पाँच अलंकारों को गिनाते हुए आचार्य भामह ने कहा है—इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः। इस कथन से भी उपर्युक्त उद्भावना और सुदृढ़ हो जाती है कि भामह के पूर्व कोई-न-कोई प्रख्यात आचार्य अवश्य रहा होगा। और वह आचार्य नाट्यशास्त्रकार भरत का परवर्ती तथा उनसे भिन्न भी रहा होगा। क्योंकि भरत के विषय में तो साधिकार यह कहा जा सकता है कि उन्होंने केवल चार अलकार स्वीकार किये थे—यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा।[1] भामह स्वयं ३८ अलंकार मानते हैं, अतः पाँच अलंकारों

१. द्रष्टव्य : नाट्यशास्त्र १६।४० (पृ० ३२१)।

को मान्यता देने वाला आचार्य निश्चितरूप से भरत एवं भामह का मध्यवर्ती ही रहा होगा।

भामह ने काव्यालंकार में स्थान-स्थान पर, एक ऐसे ही आचार्य का उल्लेख किया है जिनका नाम है—मेधाविन्! कारिका २।४० (त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः) तथा २।८८ में (संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्) में मेधाविन् विषयक स्पष्ट प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। ऐसी दशा में, भामह द्वारा प्रकटित समस्त मतवैषम्यों के कारण-भूत मेधाविन् ही थे, ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती। पाँच अलंकारों की मान्यता, उदात्तविषयक दूसरी परिभाषा, भाविक तथा आशीः को अलंकारत्व देना, उत्प्रेक्षा को 'संख्यान' कहना आदि पूर्वोक्त तथ्य यही सिद्ध करते हैं कि उनके प्रवर्तक कोई आचार्य भामह के पूर्व थे और पूर्ण संभव है कि वह आचार्य मेधाविन् ही हों।

रुद्रटीय काव्यालंकार (१।२) की टीका में आचार्य नमिसाधु ने एक स्थल पर कहा है—'ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि'। इस वाक्य से सिद्ध होता है कि मेधाविन् की ही अपर संज्ञा 'मेधाविरुद्र' भी थी। क्योंकि केवल 'रुद्र' नाम का कोई भी प्रख्यात-आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र में भामह के पूर्व नहीं हुआ है, यह निश्चप्रच है। अतः महामहोपाध्याय डॉ० काणे जी का यह मत सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि जैसे धर्मकीर्ति एवं भर्तृहरि को 'कीर्ति तथा 'हरि' की ही प्रसिद्धि मिली, ठीक वैसे ही मेधाविरुद्र को भी मेधाविन् की।[१]

रुद्रटीय काव्यालंकार (११।२४) में ही उपमादोषों के व्याख्या-प्रसंग में आचार्य नमिसाधु ने स्वयं मेधाविरुद्र के स्थान पर केवल 'मेधावी' के मत का उल्लेख किया है—अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इतिग्रहणान्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा—लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यसंभवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः।' नमिसाधु द्वारा वर्णित सातों उपमादोष वही हैं जो भामह द्वारा काव्यालंकार (२।३९) में गिनाये गये हैं, केवल कारिका भर का भेद है। अतः इस प्रमाण से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि नमिसाधु के मतानुसार मेधाविन् तथा मेधाविरुद्र दोनों एक ही थे और टीकाकार ने इन संज्ञाओं का प्रयोग पर्याय रूप में ही किया है।

किन्तु डॉ० काणे ने मेधाविन् का समय दण्डी के बाद तथा भामह के पूर्व स्वीकार किया है जो कि स्वीकार्य-मान्यता के सर्वथा विपरीत है। यहाँ अवसर नहीं है कि हम सप्रमाण दण्डी-मेधाविन् तथा भामह के पौर्वापर्य का निर्णय करें, किन्तु काव्यालंकार एवं काव्यादर्श में ही प्राप्त अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर तथा आधुनिक अन्य आलोचकों के प्रामाण्य से प्रायः सब की यह दृढ़ धारणा बन चुकी है कि आचार्य भामह, दण्डी के पूर्ववर्ती तथा मेधाविन् के परवर्ती हैं।[२] आचार्य भरत का समय (कालिदास के पूर्व) ई० पू० द्वितीय

---

१. History of Sanskrit Poetics, p. 61-62.

२. द्रष्टव्य—श्री कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी कृत प्रतापरुद्रीय प्रस्तावना, पृष्ठ २५-३८। बाम्बे १९०९ ई० तथा डॉ० सुशीलकुमार डे आदि।

तृतीय शती तथा मेधाविन् के अभ्युदय का युग भी संभवतः तब से लेकर चतुर्थ शती ईसवी तक का मध्यवर्ती कोई समय रहा होगा। चूँकि आधुनिक विद्वानों के परस्पर-विरोधी प्रमाण, केवल उन-उन आचार्यों की पुस्तकों पर ही आधारित हैं, अतः ऐसा कोई सुदृढ़ कारण नहीं है कि उनकी मान्यताओं को हम मान ही लें। उनकी श्रद्धा ने यदि उन्हें दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानने की प्रेरणा दी है, तो हमारी श्रद्धा इसका वैपरीत्य भी स्वीकार करने के लिए हमें प्रेरित कर सकती है।

डॉ० काणे जी ने मेधावी को दण्डी का परवर्ती सिद्ध करने के लिए, काव्यालंकार की २।८८ कारिका का रूप 'संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्' के स्थान पर 'संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षादिभिहिता क्वचित्' स्वीकार किया है। ताताचार्य द्वारा प्रकाशित ग्रन्थसंस्करण में भी यही पाठ स्वीकार किया गया है। उपर्युक्त पंक्ति का बाद वाला रूप मान लेने पर, इसकी संगति दण्डी के मत से बैठ जाती है क्योंकि दण्डी के अनुसार 'यथासंख्य' अलंकार को ही 'संख्यान' तथा 'क्रम' भी कहते हैं (यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि-काव्यादर्श २।२७३) किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पाठभेद स्वीकार करने के पीछे, व्यक्तिगत स्वारस्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आचार्य भामह ने काव्यालंकार २।८८ में कहा है—यथासंख्य और उत्प्रेक्षा ये दो अलंकार और स्वीकार्य हैं (क्योंकि इसके पूर्व वे ११ अलंकारों की व्याख्या कर चुके थे) किन्तु 'संख्यान' को ही मेधावी ने कहीं-कहीं (अपने ग्रन्थ में) उत्प्रेक्षा भी कह दिया है। इस कथन से सिद्ध हो जाता है कि कम-से-कम आचार्य भामह 'यथासंख्य' तथा 'संख्यान' को पर्यायरूप समझते थे। और यह निश्चित है कि भामह के परवर्ती दण्डी ने 'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि' केवल इसीलिए कहा, क्योंकि उन्हें पूर्वाचार्य भामह का प्रमाण प्राप्त था। जहाँ तक मेधावी का प्रश्न है, सम्भव है उन्होंने कहीं 'यथासंख्य को उत्प्रेक्षा' कह दिया हो क्योंकि पिछले अध्याय में हम यह प्रमाण पा चुके हैं कि एक ही लक्षण से कई अलंकारों का उद्भव हुआ है अतः सगोत्रीय दो या तीन अलंकारों को कोई आचार्य कहीं एक ही मान ले तो इसमें आश्चर्य क्या है?

किन्तु आचार्य भामह इस तथ्य को सूचित कर देना आवश्यक समझते थे क्योंकि यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। परन्तु इसके विपरीत श्री तातात्राचार्य अथवा डॉ० काणे की इस उद्भावना का कोई औचित्य नहीं ज्ञात होता कि मेधावी ने उत्प्रेक्षा कहीं नहीं कहा है? क्या प्रमाण की मेधावी ने उत्प्रेक्षा नहीं स्वीकार किया था? यदि हम थोड़ी देर के लिए उन्हें दण्डी का ही परवर्ती मान लें तो पूर्वाचार्य द्वारा प्रोक्त किसी अलंकार को परवर्ती आचार्य द्वारा पूर्णतः उपेक्षित किया जाना कहाँ तक सम्भव है? क्योंकि दण्डी ने स्पष्टतः उत्प्रेक्षालंकार का व्याख्यान 'काव्यादर्श' में (२।२१९-२३२ तक) अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है।

वस्तुतः यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो भरत-मेधाविन्-भामह तथा दण्डी

का कालानुक्रम अन्तःसाक्ष्यों के ही आधार पर स्पष्ट हो जाता है। आचार्य भरत ने चार अलंकार, मेधाविन् ने पाँच (अथवा अधिक) भामह ने इन अलंकारों का उल्लेख करते हुए ३८ अलंकार (२+३६) तथा अन्त में दण्डी ने भी इन्हीं अलंकारों को गिना कर (इति वाचामलंकाराः दर्शिताः पूर्वसूरिभिः---काव्या० २।७) पुनर्व्याख्यान प्रस्तुत किया। इन चारों आलंकारिक आचार्यों के पश्चात् तथा आचार्य मम्मट के पूर्व अथवा उनके युग तक जितने आचार्य हुए हैं, उन सब का जीवनकाल, प्रायः अन्तरंग एवं बहिरंग प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। इन आचार्यों में, जिनकी संख्या लगभग बीस है, अनेक तो ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ आज प्राप्त नहीं हैं, उदाहरणार्थ भट्टतौत कृत काव्यकौतुक, भट्टनायक कृत हृदयदर्पण तथा आचार्य मंगलकृत ग्रन्थ। अनेक ऐसे हैं जो 'अलंकारव्याख्यान' को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं देते अथवा प्रसंगतः उनकी व्याख्या करते हैं, उदाहरणार्थ आचार्य आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, मुकुलभट्ट, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, महिमभट्ट एवं क्षेमेन्द्र आदि। अग्निपुराण तथा विष्णु-धर्मोत्तर पुराण सदृश पुराण ग्रन्थ एवं भट्टि-सरीखे महाकवि ने भी प्रसंगतः अलंकारों का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

ऐसी दशा में यह बता देना आवश्यक है कि अन्योक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन प्रत्याचार्य अथवा प्रतिग्रन्थ न होकर एक सीमित क्षेत्र से ही सम्बद्ध है। यहाँ तो शोधकर्ता का केवल लक्ष्य यह है कि उसके प्राचीनतम रूप को मूल मानकर परवर्ती युगों में हुआ उसका विकासक्रम, उसकी रूढ़ियाँ, उसके मोड़, उसके सैद्धान्तिक परिवर्तन सब स्पष्ट हो जायँ। अतः इसी दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय में केवल उन्हीं आचार्यों के उद्धरण प्रस्तुत किये जायेंगे जो वस्तुतः अन्योक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त तत्त्वों के व्यवस्थापक अथवा व्याख्याता हैं। ऐसे आचार्यों में--भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, भोज एवं अभिनव-गुप्त आते हैं।[1]

प्रस्तुत व्याख्यान में एक दूसरे दृष्टिकोण को भी अपनाया गया है। इतना तो स्पष्ट ही है कि साहित्यशास्त्र के अधिकांश सम्प्रदाय मम्मटाचार्य के पूर्व ही उद्भूत हो चुके थे। मम्मट के पश्चात् उनका पल्लवन मात्र हुआ, अथवा यही कहा जाय कि केवल ध्वनिसम्प्रदाय ही अपने पूर्वस्थ समस्त सिद्धान्तों पर अधिकृत होकर बढ़ा। ऐसी स्थिति में यह तथ्य द्रष्टव्य होगा कि विभिन्न काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की छत्रच्छाया में 'अन्योक्ति' का क्या रूप रहा? अस्तु---

भामह के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि उनके पूर्व आचार्य मेधाविन् प्रसिद्ध हो चुके थे। उपमा संबंधी उनके उद्धरणों से यह भी निश्चित है कि उनका ग्रन्थ अलंकार शास्त्र पर ही रहा होगा। किन्तु प्रमाणों के अभाव में हम इस विषय में कोई स्थायी धारणा नहीं बना सकते कि सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-क्रम क्या रहा होगा? हाँ, इतना अवश्य

---

१. आचार्य मम्मट से लेकर अद्यावधि, अन्योक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत किया जायगा।

कहा जा सकता है कि उपमा प्रभृति अलंकारों के व्याख्यान से सम्बद्ध होने के कारण वह ग्रन्थ 'अन्योक्ति' का भी आदि-व्याख्याता रहा होगा और सम्भवतः भामह की ही भाँति मेधाविन् के ग्रन्थ में भी उसकी संज्ञा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ही रही होगी। अतः 'अन्योक्ति को सर्वप्रथम आलंकारिक मान्यता मेधाविन् से ही मिली' ऐसी उद्भावना करने में कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता है।

आचार्य भामह इस दृष्टि से भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों में प्राचीनतम हैं जिनका अलंकार-ग्रन्थ आज उपलब्ध है। ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' है जिसमें कुल छह परिच्छेद तथा कारिकाओं (लक्षण एवं उदाहरण) की संख्या ४०० है। ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद (का० २९) में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के रूप में अन्योक्ति का व्याख्यान उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है।

भामह के मन्तव्यानुसार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' तात्विक रूप से समासोक्ति की ही प्रतियोगिनी है। काव्य में प्रायः किसी-न-किसी तथ्य अथवा भाव का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। वह वर्णनीय विषय, प्रतिपादन की दृष्टि से दो प्रकार का होगा (अभिधया) वाच्य अथवा (व्यंजनया) गम्य। जो विषय काव्यवर्णन में वाच्य होगा, एक प्रकार से वह उस प्रसंगविशेष का अधिकारी होगा। इसी कारण उसे 'अधिकार-प्राप्त' भी कहा गया है। इसके विपरीत जिस वर्ण्यविषय का अभिधया प्रतिपादन नहीं होता है उसे 'अधिकारादपेत' कहते हैं। यह शब्द अलुक समास द्वारा जनुषान्धा तथा परस्मैपद आदि शब्दों की भाँति निष्पन्न हुआ है। इसी 'अधिकारादपेत' को 'अप्रस्तुत' भी कहते हैं। परवर्ती युग में विभिन्न आचार्यों ने 'अधिकारप्राप्त' विषय के लिए प्रस्तुत, वाच्य, प्रक्रान्त, उपमेय पक्ष, प्रकृत, प्रासंगिक अथवा प्राकरणिक आदि संज्ञाएँ प्रयुक्त की हैं। इसी प्रकार 'अधिकारादपेत' के लिए अप्रस्तुत, अवाच्य (व्यंग्य), अप्रक्रान्त, उपमान पक्ष, अप्रकृत, अप्रासंगिक, अप्राकरणिक अथवा अन्य आदि शब्दों के प्रयोग किये गये हैं। आगे यथाक्रम यह साक्ष्य प्रस्तुत होगा कि किन-किन आचार्यों ने किन-किन शब्दों का प्रयोग किया है और उनके अपने-अपने पृथक् दृष्टिकोण क्या रहे हैं?

समासोक्ति तथा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का शरीर-निर्माण इन्हीं दोनों तत्त्वों से हुआ है। आचार्य भामह के अनुसार ये दोनों अर्थ के ही अलंकार हैं। केवल भोज ने ही इन्हें उभयालंकार की कोटि में रखा है। अन्यथा अलंकारशास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने परवर्ती युग में भामह के ही पक्ष का अवलम्बन लिया है। अर्थालंकार होने के ही कारण समासोक्ति अथवा अप्रस्तुत० में 'शब्दपरिवृत्त्यसहत्त्व' का कोई स्थान नहीं है।

काव्य में वर्णनीय विषय का जो उभयथा विभाजन आचार्यों ने किया है, उसकी सार्थकता भी है, क्योंकि अनेक अलंकार ऐसे हैं, जो शुद्ध अभिधा को ही स्थान देते हैं जैसे यमक, श्लेष, उदात्त आदि। इसी प्रकार कुछ ऐसे हैं जो 'अभिधा-व्यंजना' दोनों को ही स्थान देते हैं। 'अभिधा' द्वारा उनका वाच्यार्थ प्रकट होता है और व्यंजना शक्ति द्वारा

उसके अनेकानेक व्यंग्यार्थ ध्वनित होते हैं। यह पार्थक्य एक स्थूल दृष्टि से किया जा रहा है, अन्यथा व्यंजना का समस्त व्यापार अभिधा पर ही आश्रित रहता है और इसी प्रकार 'लक्षणा' भी अभिधा के ही अशक्त हो जाने पर एक सम्बन्ध विशेष से प्रस्फुटित होती है। 'अभिधा तथा व्यंजना' दोनों ही शक्तियों का संवरण करने वाले मुख्य अलंकार, आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार––समासोक्ति, आक्षेप, (अनुक्तनिमित्ता) विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति अपह्नुति, दीपक, संकर एवं अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि हैं।

भामह के अनुसार 'जब काव्य में अधिकारादपेत अर्थात् 'अन्य' वस्तु की प्रशंसा या वर्णना हो तब अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है[1], उदाहरणार्थ––

'प्रीणितप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु। विना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम्'।। काव्या० ३।३० प्रस्तुत उदाहरण में वृक्षों के उस फल की वर्णना प्रस्तुत की गयी है, जिसने अपनी रसमाधुरी से प्रेमी बटोहियों को परितुष्ट किया था और जो यथोचित ऋतु के आते ही बिना किसी परिश्रम के अत्यन्त परिपक्व हो उठा था।

किन्तु यदि कोई परम सहृदय व्यक्ति, सूक्ष्म दृष्टि से, इस पद्य का भावाकलन करने बैठे तो स्पष्टतः प्रतीत होगा कि इस 'प्रशंसा या वर्णना' के पीछे कवि का एक संकेत या अभिप्राय भी निगूढ़ रूप में वर्तमान है। वस्तुतः कवि एक ऐसे परोपकारी व्यक्ति का वर्णन पाठकों के समक्ष उपन्यस्त करना चाहता है जिसने सब दिन मनसा-वाचा-कर्मणा निरीह जनों का उपकार किया है और अब, बिना किसी आयास के ही विपुल-वैभव से सम्पृक्त हो उठा है। परोपकारी का यही वृत्त वस्तुतः 'कविसंरम्भगोचर' है और इसी को उपनिबद्ध करने के लिए उसने इस शैली-विशेष का आश्रय लिया है। यदि वह अभिधया अपना मनोभिप्राय व्यक्त करना चाहता तो वृक्ष के उपर्युक्त वृत्तान्त को और भी रूप में उपस्थित कर सकता था। किन्तु उसने ऐसा न कहकर व्यंजना शैली का आश्रय लिया है। व्यंजना शैली का आश्रय लेने से उसके दो मन्तव्य एक ही साथ सिद्ध हो जाते हैं, एक तो अप्रस्तुत पदार्थ का वर्णन, जो उसका अभीष्ट तो नहीं है किन्तु वर्ण्यतया 'काव्यस्वरूप' बन जाता है और दूसरा प्रस्तुत की व्यंजना जो यथार्थतः उसका अभीष्ट वर्ण्य-विषय है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि प्रस्तुतार्थनिबन्धन ही कवि का लक्ष्य है तो वह उसे अभिधया क्यों नहीं व्यक्त करता ताकि सामान्य कोटि के जन भी अर्थ-प्रतीति कर सकें?

इसका उत्तर यह है कि अभीष्ट विषय को व्यंजनया व्यक्त करने में उसकी प्रभाव-शालिता द्विगुणित हो उठती है, साथ-ही-साथ वर्णनीय विषय का स्वहृदयसंवादन करने वाले सहृदयों का मनोरंजन भी होता है। प्राचीनकाल से ही भावाभिव्यक्ति की यह परिपाटी रसिकों की कण्ठहार बनी हुई है। श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत अंश में गोपियों द्वारा उद्धव

---

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा ॥ काव्या० ३।२९

के प्रति कही गयी टेढ़ी-मेढ़ी किन्तु गागर में सागर भर देनेवाली उक्तियाँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। मूर्ख अथवा अल्पज्ञ व्यक्ति भले ही व्यंजना का प्रेमी न हो (क्योंकि वह उसे समझ ही नहीं सकेगा) भले ही वह प्रत्यक्ष कथन को महत्त्व दे किन्तु सहृदय-वर्ग तो तब तक नहीं सन्तुष्ट हो सकता, जब तक कि उसे विचित्र 'वाग्भंगिमा' सुनने को न मिले। वस्तुतः ऐसे सहृदय व्यक्ति दैवी प्रकृति के होते हैं अतः उनकी व्यवहार भाषा भी उन्हीं के अनुकूल वक्रोक्तिमयी एवं इन्द्रियाह्लादकारिणी होती है और यह शक्ति 'अन्यापदेश' के अतिरिक्त अन्य किसी भी काव्यतत्त्व में स्वभावतः सम्भव नहीं है। 'भंगीभणिति' ही अन्योक्ति का प्राण है, अतः इसका लोकोत्तर महत्त्व भी है, क्योंकि किसी भी वस्तु के प्रकाशन में कवि का प्रमुख यत्न उस काव्य में विशिष्ट 'भंगीभणिति' से ही होता है। यदि कविता में कोई 'वैचित्र्य' या कोई 'वाग्वैदग्धी' न रही तो वह 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठत्यग्रे' की भाँति एक नीरस वर्णन मात्र होगा। किन्तु 'साहित्य' केवल शब्द एवं अर्थ का सहज-साहचर्य मात्र नहीं है, वरन् 'वैचित्र्य युक्त साहचर्य है।'[1] इस वैचित्र्य का विधायक 'कवि' ही होता है, यह तथ्य भी प्रथम अध्याय में स्पष्ट हो चुका है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का एक उद्धरण इसी तथ्य का निर्देशन करता है—'तदिदमत्र तात्पर्यम्। यत्र वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामधिरोप्यन्ते'—वक्रोक्ति० ३।२ की वृत्ति।

किन्तु, 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के परवर्ती रचना-विधान अथवा सिद्धान्त को देखने पर स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आचार्य भामह का लक्षण 'अपूर्ण' ही रहा है। क्योंकि उसमें अप्रस्तुत के समस्त तत्त्वों का उल्लेख नहीं है। पिछले दोनों अध्यायों में अप्रस्तुत की 'वैशिष्ट्यत्रयी' का व्याख्यान किया जा चुका है, जिसके अनुसार उसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. वाच्य अप्रस्तुत द्वारा (अवाच्य) प्रस्तुत का व्यंजनयावबोध।
२. अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के इतिवृत्त में पूर्णतः साम्य, किन्तु—
३. दोनों के विशेषणों में, साम्याभाव, असंगति।

उपर्युक्त तीनों वैशिष्ट्यों में से अन्तिम दो अपेक्षाकृत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि अलंकार रूप में अन्योक्ति का समस्त सिद्धान्त इन्हीं दोनों तथ्यों पर आधारित है। यदि प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के इतिवृत्तों में साम्य तथा विशेषणों में भेद न हो तो अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना कभी हो ही नहीं सकती। किन्तु आचार्य रुद्रट के पूर्ववर्ती, किसी भी आचार्य ने इन तथ्यों का निबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में नहीं किया है। वामन एवं दण्डी (जो प्रस्तुत अलंकार को सिद्धान्तित करने में भामह तथा उद्भट से आंशिक अथवा पूर्ण वैमत्य रखते हैं) को छोड़कर, अन्य दोनों आचार्यों (भामह तथा उद्भट) में से, भामह ने तो अप्रस्तुत के प्रथम वैशिष्ट्य का ही सांगोपांग उपनिबन्धन लक्षण में नहीं किया है

---

१. द्रष्टव्य—वक्रोक्तिजीवितम् १।७ (बक्रकविव्यापारशालिनि)।

और इसी कारण तत्प्रोक्त अप्रस्तुत० का लक्षण 'अपूर्ण' है। प्रथम वैशिष्ट्य में अप्रस्तुतप्रशंसा के दो घटक तथ्यों का निर्देश है---अप्रस्तुत की प्रशंसा (अर्थात् अभिधया 'वाच्य' होना) तथा प्रस्तुत की व्यंजना। किन्तु भामह ने समस्त लक्षण में केवल इसी तथ्य का निर्देश किया है कि 'अधिकारादपेत अन्य वस्तु की स्तुति ही 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है।' इसमें 'अधिकारादपेत' तथा 'अन्य' दोनों एकार्थक एवं पर्याय रूप हैं। चतुर्थ चरण में व्यक्त की गयी शब्दावली 'सा चैवं कथ्यते यथा' लक्षण से सर्वथा व्यतिरिक्त, अतएव, आने वाले उदाहरण का परामर्श करती है। इस प्रकार, भामह कृत परिभाषा अत्यन्त शिथिल एवं लक्ष्य अलंकार का लक्षण न होकर उसका 'उपलक्षण' मात्र प्रतीत होती है।

भामहानुयायी आचार्य उद्भट (ई० आठवीं शती) ने भामह की परिभाषा को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सर्वप्रथम इस तथ्य का निर्देश किया कि (भामहनिर्दिष्ट) अधिकारादपेत अन्य वस्तु की स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा है, जो कि प्रस्तुतार्थ का निबन्धन करने वाली होती है।[1] अर्थात् 'प्रकृतार्थप्रतिपत्तिपरक' होती है। वह प्रतिपत्ति व्यंजनया होती है तथा इतिवृत्तसाम्य एवं विशेषण वैभिन्य के कारण होती है, ये दोनों ही तथ्य भामह एवं उद्भट--- दोनों की परिभाषाओं में शब्दशः नहीं व्यक्त किये गये हैं किन्तु उन्हें भावनया आहृत किया जा सकता है। इसका उदाहरण उद्भट ने अपने काव्य कुमारसंभव[2] से दिया है जिसका भाव इस प्रकार है---'दुर्ग-देश और वन की शोभा, फल पुष्प तथा समृद्धि से युक्त होकर भी उपभोक्ता के बिना अपने में ही (देह में ही) बुढ़ौती को प्राप्त हो जाती है।[3]

वस्तुतः इस श्लोक में कवि का अभिप्राय पार्वती के यौवन से है जो बिना उपभोक्ता (शंकर) के व्यर्थ हो रहा है। अतएव पार्वतीपरक अर्थ ही इस श्लोक में प्रस्तुत है, वही कवि का लक्ष्यभूत है। किन्तु यह प्रस्तुत अर्थ, श्लोक में वाच्यरूप में न आकर, व्यंजनया भासित हो रहा है। दुर्ग-देश तथा वनश्री आदि समस्त उपादान अप्रस्तुत या अप्रासंगिक हैं जिनकी प्रस्तुत श्लोक में अभिधयाभिव्यक्ति की गयी है और वे 'वाच्य' हैं। कवि ने यद्यपि दुर्गदेशादि का वर्णन काव्य में व्यक्त तो अवश्य किया किन्तु उसका वास्तविक ध्येय कुछ और ही था। वह ध्येय था उपभोक्ता के अभाव में व्यर्थ होते हुए गौरी के यौवन की ओर, पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना। इसी प्रस्तुतार्थ का निबन्धन कवि ने दृष्टान्तरूप में वर्णित दुर्गदेशादि की प्रशंसा या वर्णना द्वारा किया है। पार्वती तथा दुर्गदेशादि के वृत्तान्त

---

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी॥
—काव्यालंकारसारसंग्रह ५।१४॥

२. कुमारसम्भव की कर्तृता के विषय में प्रतीहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक के प्रमाण द्रष्टव्य। काव्यालंकारसारसंग्रह १।३१ की टीका।

३. यान्ति स्वदेहेषु जरामसम्प्राप्तोपभोक्तृकाः। फलपुष्पर्द्धिभाजोऽपि दुर्गदेशवनश्रियः।
—काव्या० ५।१५।

में इतिवृत्त तो दोनों में समान हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक उपभोक्ता के अभाव में व्यर्थ हो रहा है, किन्तु उनके विशेषणों में स्पष्टतः असमानता है। उदा० दुर्गदेश तथा वनश्री तो फल-पुष्पादि युक्त होती हैं किन्तु पार्वती स्पष्टतः इस प्रकार की नहीं हैं।

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने पूर्वव्याख्यात वैशिष्ट्यत्रयी में से प्रथम का स्थायी एवं सुस्पष्ट निबन्धन अपने लक्षण में किया। उद्भट प्रदत्त उदाहरण में, ऊपर इसकी चरितार्थता भी प्रस्तुत की गयी है। अब इसी सन्दर्भ में कुछ अवान्तर तथ्यों का भी स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है।

प्रथम अध्याय में डॉ० संसारचन्द्र जी की एक भ्रान्ति का उल्लेख किया गया है। लेखक ने अप्रस्तुतप्रशंसा सम्बन्धी भामहीय कारिका को इस रूप में उद्धृत किया है—

'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसा सा स्यात् त्रिविधा परिकीर्तिता।। (शोधग्रन्थ पृ० २७५) किन्तु जैसा कि उसी प्रसंग में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि लेखक की यह धारणा गलत है। क्योंकि अन्योक्ति के त्रिविधत्व का उल्लेख सर्वप्रथम ध्वनिकार ने ही किया है—'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्त-निमित्तिभावाद्वा, अभिधीयमानस्य अप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदा अभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्' (ध्वन्यालोक, प्रथमोद्योत)।

उक्त वाक्यांश की व्याख्या में टीकाकार आचार्य अभिनव ने सर्वप्रथम अप्रस्तुत-प्रशंसा का लक्षण उद्धृत किया है और बाद में उदाहरणों द्वारा उसके समस्त भेदों का स्वरूप स्पष्ट किया है। लक्षण इस प्रकार है—'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुत-प्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता'। यह कारिका अपने इसी रूप में कहाँ की है, यह तो निश्चित नहीं, किन्तु भामह अथवा उद्भट के लक्षणों से इसका प्रायः ताद्रूप्य-सा प्रतीत होता है। केवल चतुर्थ चरण (सा त्रिविधा परिकीर्तिता) भामह (सा चैवं कथ्यते यथा) अथवा उद्भट (प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी) से पूर्णतः भिन्न है किन्तु आनन्दवर्द्धन के अन्योक्ति-विभाग विषयक मत के सर्वथा अनुकूल है।

ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० संसारचन्द्र जी ने काव्यालंकार की मूलप्रति न देखकर ध्वन्यालोक से ही इस लक्षण को उद्धृत किया और चूँकि अभिनव ने अलंकारों के अधिकांश लक्षण भामह अथवा उद्भट से ही लिये हैं, इसी प्रमाण के आधार पर उन्होंने इसे भी भामह-कृत मान लिया है। किन्तु यह मत तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि आचार्य अभिनव ने इन लक्षणों को भामह एवं उद्भट से ग्रहण करते हुए भी यथास्थान उनमें संशोधन एवं परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन का एकमात्र कारण उनका ध्वनिकार के मत का प्रतिपदानुवर्तित्व है। चूँकि ध्वनिकार ने अप्रस्तुत० के तीन भेदों का व्याख्यान किया था, अतएव अभिनव ने भामह के ही लक्षण को लेकर उसमें 'सा त्रिविधा परिकीर्तिता' रूप संशोधन कर दिया।

दूसरी बात यह कि अभिनवकृत 'लोचन' पर 'कौमुदी' टीका लिखने वाले विद्वान् उत्तुंगोदय ने भी यह निर्देश नहीं किया है कि यह परिभाषा भामहीय ग्रन्थ से उद्धृत है,

जब कि अन्य अलंकारों के प्रसंग में वे इसका स्पष्ट निर्देश करते हैं।[१] उनके प्रमाण से भी यही सिद्ध है कि अभिनव ने आनन्दवर्द्धन का ही शब्दशः अनुवर्तन किया है—'अयं च प्रकार-त्रयनियमः 'यदा सामान्यविशेषभावात्' इत्यादिवृत्तग्रन्थक्रमेण तदनुवा (दा) त्सिध्यन्निह सुग्रहत्वाय ग्रन्थकृतोपवर्णितः।' (K. S. R. I. edition, P. 221, Madras, 1944.)

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि अप्रस्तुत० के उक्त लक्षण में 'त्रैविध्य-निर्देश' आचार्य अभिनव का अपना कार्य है। इस प्रकार विभाजन का सारा श्रेय ध्वनिकार तथा लोचन-कार को ही है, भामह अथवा उद्भट को नहीं। ध्वनिकार के पूर्ववर्तियों में दण्डी तथा वामन हैं, किन्तु एक ने अप्रस्तुत० का स्वरूप ही भिन्न माना है और दूसरे ने सूत्रों में परिभाषा दी है। अतः सा त्रिविधा परिकीर्तिता का श्रेय ध्वनिकार तथा अभिनव के अतिरिक्त और किसी को नहीं है। आचार्य रुद्रट भी त्रैविध्य का निदर्शन नहीं करते, साथ-ही-साथ अप्रस्तुत० की व्याख्या अन्योक्तिरूप में करते हैं।

ईसा की सातवीं शती में, अन्योक्ति की सैद्धान्तिक परम्परा में एक नवीन मोड़ आया जबकि आचार्य दण्डी ने भामहादि-सम्मत अप्रस्तुतप्रशंसा को 'समासोक्ति' का ही एक अंग मान लिया। आचार्य भामह एवं उद्भट के अनुसार जब 'प्रस्तुत' की वर्णना से अप्रस्तुत वृत्त का व्यंजना द्वारा बोध हो तो वहाँ समासोक्ति होती है।[२] जैसे अप्रस्तुत० में अप्रस्तुत मात्र के निबन्धन से प्रस्तुत की अवगति होती है, ठीक उसी प्रकार समासोक्ति में प्रस्तुत की वर्णना या प्रशंसा से अप्रस्तुत की। किन्तु दोनों के इस तात्त्विक अन्तर से यह भी स्पष्ट है कि अप्रस्तुतप्रशंसा का 'प्रस्तुत' पक्ष जहाँ 'कविसंरम्भगोचर' होता है, वहाँ समासोक्ति का नहीं। क्योंकि समासोक्ति में तो वह प्रस्तुत का निबन्धन स्वयं जानबूझकर, अभिधा के ही माध्यम से करता है।

भामह के उदाहरण से समासोक्ति का सिद्धान्त स्पष्ट हो जायेगा। आचार्य ने स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः। जातस्तरुरयं चोच्चैः पातितश्च नभस्वता' (काव्या० २।८०) श्लोक को उदाहरण रूप में दिया है, जिसमें एक ऐसे प्रभंजनभंजित वृक्ष का वृत्त उपस्थित किया गया है जो विशाल तनेवाला, सीधा, सर्पादिदोषों से मुक्त, स्थिर तथा अनेक फलों से युक्त था। इस उदाहरण में स्पष्टतः विशेषण उभयार्थवाची हैं। 'स्कन्ध' का अर्थ तना एवं शरीर, 'ऋजु' का अर्थ सिधाई तथा उदारप्रकृतित्व, 'अव्याल' का अर्थ सर्पा-

---

१. द्रष्टव्य—'संकरालंकार' में—'अत्राप्युद्भटाभिमतत्वं दर्शयितुं तदीयं वचनमाह'। 'पर्यायोक्त' में—'पर्यायोक्तस्योद्भटोद्भावितं लक्षणमाह।' समासोक्ति में—'यत्रोक्ते' इत्यादि भामहीयमिदं समासोक्तेर्लक्षणम्' (कुप्पूस्वामी संस्करण)।

२. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः। सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥ काव्या० २।७९। प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः। अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्ति-रुदाहृता॥ का० सा० संग्रह २।२१।

दिविहीन एवं दुष्टादिकों से मुक्ति आदि। किन्तु 'विशेष्य' (तरुरयम्) में कोई उभयार्थकता नहीं है। केवल विशेषण साम्य के ही कारण, एक ऐसे उदार एवं उन्नतमना व्यक्ति का व्यंजनया आभास हो रहा है जो कि वृक्ष की ही भाँति सुन्दर देह वाला, कुब्जत्वहीन, दुष्टों से दूर, बात का पक्का तथा अभ्युदयशील पैदा हुआ था, किन्तु विपत्तिरूपी वायु ने उसे धराशायी कर दिया।

इस प्रकार, समासोक्ति का अप्रस्तुतप्रशंसा से अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यदि हम आचार्य भामह एवं उद्भट की मान्यता स्वीकार करें तो प्रतीत होगा कि १. अप्रस्तुत० में अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यंग्य का बोध होता है, किन्तु समासोक्ति में प्रस्तुतवाच्य से अप्रस्तुत व्यंग्य का। २. अप्रस्तुत० में व्यंजनयाबोध का मुख्य कारण इतिवृत्तसाम्य तथा विशेषण-वैभिन्य है, किन्तु समासोक्ति में, उसका मुख्य कारण विशेष्य की समता तथा विशेषणों की श्लिष्टता है।

इन दोनों तथ्यों के अतिरिक्त समासोक्ति के अपने कुछ और वैशिष्ट्य हैं—यदि समासोक्ति में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के विशेषणों में साम्य है तो श्लेषालंकार की भी संभावना हो सकती है। किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि विशेष्य समासोक्ति में श्लिष्ट नहीं होता, वह केवल प्रस्तुतार्थ का ही वाचक होता है, इसी कारण समासोक्ति में श्लेषकल्पना का कोई स्थान नहीं। राजानक तिलक के शब्द प्रमाणार्थ द्रष्टव्य हैं— 'नन्वेवं श्लेषता प्राप्तेत्याह-तत्समान-विशेषणैः। विशेष्यपदं तु प्रस्तुतार्थाभिधाय्येव': उद्भटालंकार टीका २।२११। इसी प्रकार समासोक्ति उपमाध्वनि तथा रूपक से भी पृथग्भूत है। उपमाध्वनि में भी विशेष्य उभयार्थ-वाची होता है किन्तु समासोक्ति में वह एक ही रहता है, केवल विशेषण द्व्यर्थक होते हैं। रूपक में, उदाहरणार्थ 'मुखचन्द्रः' में अप्रस्तुत अथवा उपमान का प्रस्तुत अथवा उपमेय पर पूर्णतः आरोप होता है किन्तु समासोक्ति में केवल अप्रस्तुत के व्यवहार का ही प्रस्तुत पर समारोप होता है। एक में आरोप रूपदृष्ट्या, और दूसरे में व्यवहारदृष्ट्या होता है।

मुखचन्द्रः में 'मुख' में 'चन्द्र' का ही पूर्णतः आरोप है (न कि चन्द्रमा के किसी व्यवहार-विशेष का) किन्तु 'रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' (जो कि समासोक्ति का उदाहरण है) में चन्द्र में 'जारत्वादि व्यवहार' का समारोप है। और जैसा कि कुवलयानन्दकार का मत है,[1] समासोक्ति में यही 'अप्रस्तुत व्यवहारसमारोप' चारुत्व का हेतु भी है।[2] इस प्रकार

१. द्रष्टव्य, कुवलयानन्द, समासोक्ति-प्रकरण, पृ० १०५ कुम्भकोणम् १८९२ ई० (श्री हालास्यनाथ शास्त्री)।

२. अत्र (समासोक्तौ) प्रस्तुताप्रस्तुतसाधारणविशेषणबलात्सारूप्यबलाद्वा अप्रस्तुतस्य वृत्तान्तस्य प्रत्यायनं तत्प्रस्तुते विशेष्ये तत्समारोपार्थम्। सर्वथैव प्रस्तुतानन्वयिनः कविसंरंभगोचरत्वायोगात्। ततश्च समासोक्तौ अप्रस्तुतव्यवहारसमारोपश्चारुताहेतुः न तु रूपक इव प्रस्तुते अप्रस्तुतरूपसमारोपोऽस्ति (विद्याभूषण पण्डित रंगाचार्यकृत काव्यादर्श की प्रभाटीका)।

प्राचीनाचार्यों के अनुसार समासोक्ति का स्वरूप, तथा अप्रस्तुत० श्लेष, उपमाध्वनि तथा रूपक से उसका पार्थक्य भी सुस्पष्ट किया जा चुका। अब आचार्य दण्डी का मत निरूपणीय है।

आचार्य दण्डी संस्कृत काव्यशास्त्रियों में अत्यन्त मौलिक, प्रतिभाशील तथा क्रान्तिकारी हैं। पूर्ववर्ती आचार्य भामह द्वारा स्थापित सन्दिग्ध मान्यताओं, रूढ़ियों तथा कट्टरताओं का सतर्क खण्डन करके दण्डी ने अलंकारशास्त्र को स्थायित्व प्रदान किया। काव्यभेद में सर्वत्र मिश्र-साहित्य का सद्भाव तथा कथाख्यायिका का सर्वात्मना ऐक्य, वैदर्भ-मार्ग की प्रामाणिक मीमांसा तथा गुणों का उभयपक्षीय (गौड़-वैदर्भ) विस्तृत विवेचन, अलंकारों में—हेतु सूक्ष्म एवं लेश की स्थापना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव का अन्यालंकारों में अंतर्भाव, आवृत्ति अलंकार की स्थापना, समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा की नूतन सर्जना, यमकोपमा प्रपंच, तथा चित्र एवं प्रहेलिका काव्य का (भामह के विरुद्ध समर्थन) सविस्तर व्याख्यान आदि जाने कितनी नवीनताओं को दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में प्रतिविम्बित किया। यही उनकी क्रान्तिकारिता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य दण्डी का ध्यान, सर्वप्रथम समासोक्ति तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा की भ्रामक संज्ञाओं पर ही केन्द्रित हुआ होगा ; क्योंकि 'समासोक्ति' का शाब्दिक अर्थ है—'संक्षिप्त रीति से वस्तु का कथन'। सूक्ष्म गति से समझने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'संक्षेपकथनत्व' जैसे समासोक्ति में है ठीक वैसे ही अप्रस्तुतप्रशंसा में भी। एक में प्रस्तुतवाच्य से, विशेषण साम्य के कारण, अप्रस्तुत की व्यंजना होती है और दूसरे में अप्रस्तुत वाच्य से, इतिवृत्त साम्य के कारण, प्रस्तुत की व्यंजना। इस प्रकार दोनों में तक-नीक एक ही है, तात्त्विक अन्तर भले हो। तब फिर प्रश्न उठता है कि क्यों हम एक को 'समासोक्ति' कहें और दूसरी को न कहें ? क्योंकि समासोक्ति दोनों ही अलंकारों में 'तक-नीक' (विधान) का ही प्रतीक है।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' शब्द भी कम भ्रामक नहीं है। क्योंकि 'प्रशंसा' पद प्रायः निन्दा-विरोधी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु अलंकार रूप में इसका अर्थ भामहादि ने 'वर्णना' से लिया है, जिसके लिए 'प्रशंसा' शब्द 'अप्रयुक्तत्व' दोष से दूषित-सा प्रतीत होता है। 'अप्रस्तुत' की 'प्रशंसा' करने से, प्रस्तुत का निन्दाभाव भी अनायास ही स्फुट हो उठता है। यदि हम इन शंकाओं को स्मृति-पदवी में न भी उतारें तो एक विकट असंगति रह ही जाती है, जिसका सम्बन्ध समासोक्ति से है। पूर्वानुच्छेद में इन दोनों अलंकारों के तक-नीकी साम्य को स्पष्ट किया जा चुका है। एक में प्रस्तुत वाच्य से अप्रस्तुत व्यंग्य होता है और दूसरे में अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यंग्य। ऐसी दशा में जबकि 'प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत' दोनों ही क्रमशः दोनों अलंकारों में वाच्य होते हैं और जबकि 'प्रशंसा' का अर्थ आचार्यों ने स्पष्टतः 'वर्णना' से ही लिया है तब फिर 'अप्रस्तुतप्रशंसा' की ही भाँति हम समासोक्ति को भी क्यों नहीं 'प्रस्तुतप्रशंसा' कहते ?

निष्कर्ष यह है कि दण्डी के पूर्व युग तक समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में तीन तत्त्वों की उभयनिष्ठता रही—१. तकनीक या प्रतिपादनविधा के रूप में समासोक्ति (संक्षेपकथनत्व) का आश्रय दोनों में लिया गया और २. दोनों में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत के वाच्य होने के कारण उनकी (प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत) प्रशंसा या वर्णना की गयी। ३. 'समासोक्तित्व' का सम्बन्ध दोनों अलंकारों की तकनीक से तथा 'प्रशंसा' का सम्बन्ध उनके नाम से रहा।

किन्तु उपर्युक्त समताओं के रहते हुए भी इन दोनों अलंकारों के साथ न्याय नहीं किया गया, क्योंकि १. समासोक्तित्व के उभयनिष्ठ रहने पर भी एक को समासोक्ति कहा गया है और दूसरी को 'समासोक्ति' नहीं कहा गया (अप्रस्तुतप्रशंसा कहा गया) ठीक इसी प्रकार २. 'प्रशंसा' के उभयनिष्ठ होते हुए भी, एक को अप्रस्तुतप्रशंसा कहा गया और दूसरे को उसी साम्य पर 'प्रस्तुतप्रशंसा' नहीं कहा गया (समासोक्ति कहा गया)।

सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर, आचार्य दण्डी ने इन अलंकारों के संविधान में एक मौलिक परिवर्तन उपस्थित किया। उन्होंने इस विषय में दो महत्त्वपूर्ण काय किये—१. संक्षेपकथनत्व के उभयनिष्ठ होने के कारण दण्डी ने अप्रस्तुतप्रशंसा को भी समासोक्ति में अन्तर्भूत कर दिया। २. उन्होंने 'प्रशंसा' शब्द की अपेक्षा वश अप्रस्तुतप्रशंसा की एक नवीन रूपरेखा प्रस्तुत की।

एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि अप्रस्तुत० के विलयन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि दण्डी ने अपने ग्रन्थ में उसे सर्वथा लुप्त कर दिया। वरन् तात्पर्य यह है कि उन्होंने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के उस स्वरूप का समासोक्ति में अन्तर्निवेश किया जो आचार्य भामह को इष्ट था। वैसे उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा' की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार की, किन्तु उस रूप में नहीं, जिस रूप में कि आचार्य भामह ने उसे स्वीकार किया था। काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में समासोक्ति का लक्षण आचार्य दण्डी इस प्रकार करते हैं—

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥ का० २०५

इस परिभाषा द्वारा दण्डी का मन्तव्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। जहाँ भामह ने समासोक्ति की परिभाषा में 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः' कहा था और उद्भट ने 'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः अप्रस्तुतार्थकथनम्' द्वारा उसका स्पष्टतर उल्लेख किया था, दण्डी वहीं 'वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः उक्तिः' कह कर स्वमतोपस्थापन करते हैं। भामहीय लक्षण में 'उक्ते' तथा 'अन्यः' का तात्पर्य स्पष्टतः प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत मात्र से है। इसी प्रकार उद्भटीय लक्षण में भी 'प्रकृत' तथा अप्रस्तुत का सुस्पष्ट निर्देश हुआ है। किन्तु आचार्य दण्डी ने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का निर्देश न करके 'किंचित्' एवं 'तत्तुल्य' पदों द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया। क्योंकि किंचिदभिप्रेत्य में दोनों ही विकल्प सम्भव हैं—

प्रस्तुतमभिप्रेत्य तथा अप्रस्तुतमभिप्रेत्य। ठीक इसी प्रकार 'तत्तुल्यस्योक्तिः' में भी दोनों ही विकल्प सम्भव हैं--प्रस्तुतस्योक्तिः तथा अप्रस्तुतस्योक्तिः।

परिभाषा में दिया गया 'अन्यवस्तुनः' पद भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही पद इस रहस्य का सूचक है कि दण्डीसम्मत समासोक्ति के दो पक्ष हैं जिन्हें हम प्राचीनाचार्यों की दृष्टि से समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा कहेंगे। इस प्रकार 'अन्यवस्तुनः' को ही भेदक तत्त्व (Fundamentum divisionism) मान कर दण्डी द्वारा निर्दिष्ट समासोक्ति के दो पक्ष होंगे--एक तो 'अप्रस्तुतं (वस्तु) अभिप्रेत्य (मनसिकृत्य) तत्तुल्यस्य (अन्यवस्तुनः) प्रस्तुतस्य (संक्षेपरूपत्वात्) उक्तिः (समासोक्तिरिष्यते) और दूसरा--प्रस्तुतं (वस्तु) अभिप्रेत्य (मनसिकृत्य) तत्तुल्यस्य (अन्यवस्तुनः) अप्रस्तुतस्य (संक्षेपरूपत्वात्) उक्तिः (समासोक्तिरिष्यते)।

इनमें प्रथम रूप तो आचार्य भामह की 'समासोक्ति' है और दूसरा रूप (भामह की ही) अप्रस्तुतप्रशंसा है। किन्तु आचार्य दण्डी की दृष्टि से, दोनों ही समासोक्ति हैं। उदाहरण श्लोक द्वारा आचार्य ने अपने मत को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है--

पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपंकजे। अप्यसन्नद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम्॥२०६
इति प्रौढांगनाबद्धरतिलीलस्य रागिणः। कस्यांचिदपि बालायामिच्छावृत्तिर्विभाव्यते॥२०७

दण्डी ने समासोक्ति के कुल तीन भेद माने हैं--तुल्याकारणविशेषण, भिन्नाभिन्न-विशेषण तथा अपूर्व समासोक्ति। परवर्ती युग में भी विश्वनाथादि आचार्यों ने कार्य, विशेषण तथा लिंगसाम्य के आधार पर समासोक्ति की रचना स्वीकार की थी। यद्यपि आचार्य दण्डी इन सैद्धान्तिक रूढ़ियों से बिल्कुल अभिज्ञ नहीं हैं (क्योंकि उनके पूर्वाचार्य भी इस विषय में मौन ही रहे) तथापि उनके समस्त उदाहरण इन परिधियों में आ सकते हैं। इस दृष्टि से जो उदाहरण अभी व्याख्यात किया गया है वह कार्यसाम्य की ओर ही संकेत करता है। तुल्याकारविशेषण तथा भिन्नाभिन्न०--ये दोनों भेद विशेषणसाम्य के अन्तर्गत आयेंगे। दण्डी की अपूर्व समासोक्ति उनकी अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा की देन है किन्तु उसका लिंग-साम्य से कोई सम्बन्ध नहीं। वस्तुतः आचार्य ने लिंगसाम्य का कोई उदाहरण दिया ही नहीं है।

तुल्याकार तथा भिन्नाभिन्नविशेषण वाले भेदों की एक शर्त यह है कि दोनों में 'विशेष्य' पद भिन्न होगा। विशेष्य का तात्पर्य आचार्य श्रीज्ञान के अनुसार यहाँ उस 'वस्तु' से है जो 'ईदृशमिदं नान्यथा' के रूप में गुणादिकों द्वारा किसी वाक्य में व्यवस्थापित किया जाता है। अतः विशेष्य के विजातीय होने पर जब प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत (अथवा अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत) के विशेषण तुल्याकार हों तो वहाँ प्रथम भेद घटित होगा। उदाहरणार्थ--

रूढमूलः फलभरैः पुष्णन्ननिशमर्थिनः।
सान्द्रच्छायो महावृक्षः सोऽयमासादितो मया॥ २०९

प्रस्तुत उदाहरण में विशेष्य रूप वृक्ष, विवक्षित पुरुष (रूप अन्य विशेष्य) से सर्वथा भिन्न है। किन्तु 'रूढमूलः' 'सान्द्रच्छायः' आदि उदाहरण दोनों ही पक्षों में तुल्याकार हैं।

इसी प्रकार, विशेष्य के विजातीय होने पर जब विशेषण दोनों पक्षों में किंचिद्भिन्न तथा किंचिदभिन्न हों तो वहाँ द्वितीय भेद घटित होगा। इसमें विशेषण तुल्याकार नहीं होते। उदाहरणार्थ––

'अनल्पविटपाभोगः फलपुष्पसमृद्धिमान्। सच्छायः स्थैर्यवान् दैवादेष लब्धो मया द्रुमः ॥२१०।

यहाँ प्रथम भेद की ही भाँति विशेष्य भेद है किन्तु विशेषण, कुछ तो परस्पर (दोनों ही पक्षों में) अभिन्न (तुल्याकार) हैं जैसे 'सच्छायः' 'स्थैर्यवान्' आदि। और कुछ परस्पर भिन्न हैं–– जैसे––'अनल्पविटपाभोगः' तथा 'फलपुष्पसमृद्धिमान्'। क्योंकि ये दोनों विशेषण केवल वृक्ष के ही पक्ष में घटित होते हैं। आचार्य दण्डी स्वयं दोनों भेदों के इस अन्तर को स्वीकार करते हैं––

उभयत्र पुमान्कश्चित् वृक्षत्वेनोपवर्णितः। सर्वे साधारणाः धर्मा पूर्वत्रान्यत्र तु द्वयम् ॥२११।

समासोक्ति का तृतीय भेद भी 'विशेष्यमात्रभिन्न' होता है किन्तु पूर्व भेदों में इसका अन्तर केवल यही है कि इसमें उभयपक्षीय विशेषण न तो तुल्याकार ही होते हैं और न भिन्नाभिन्न। बल्कि वे अपूर्व होते हैं, अपूर्व का अर्थ है पूर्वधर्म का निवर्तन। उदाहरणार्थ––

निवृत्तव्यालसंसर्गः निसर्गमधुराशयः। अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशुष्यति ॥२१२।

इस स्थल पर यह अवधेय है, विशेष्य 'अम्भोनिधि' विवक्षित 'पुरुष' से सर्वथा भिन्न है। विशेषण प्रायः दोनों पक्षों में चरितार्थ होते हैं अतः तुल्याकार हैं, किन्तु 'समुद्र' के पक्ष में वे अपूर्व हैं। 'व्याल संसर्ग का निवर्तन' तथा 'निसर्गमधुराशयत्व' ये दोनों ही धर्म समुद्र के पक्ष में 'पूर्वश्रुत' नहीं हैं अतः अपूर्व हैं। इसी अपूर्व-साम्य के कारण इसे अपूर्व समासोक्ति कहते हैं।[1]

समासोक्ति के इन तीनों ही भेदों में 'विशेष्यमात्रभिन्न' का उल्लेख करने में आचार्य दण्डी का कुछ व्यक्तिगत स्वारस्य रहा है जिसका स्पष्टीकरण भी समासोक्ति का वैशिष्ट्य प्रस्तुत करते समय किया जा चुका है। राजानकतिलक का मत 'विशेष्यपदं तु प्रस्तुतार्थाभिधाय्येव' भी उसी रहस्य की ओर इंगित करता है किन्तु उद्भटीय समासोक्ति के, अपेक्षाकृत संकीर्ण होने के कारण, तिलक का मत भी, उतना ही संकीर्ण एवं सीमित है। अतः दण्डी के मतनिरूपण में उसका अनुवदन तब तक सार्थक नहीं है जब तक कि हम उसकी व्याप्ति वैकल्पिक रूप से, प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों में न समझ लें। उस रूप में यदि विशेष्य भी भिन्न न होकर तुल्याकार हो जाय (और तुल्याकार तभी होगा, जब श्लिष्ट हो) तो फिर पद्य के दोनों ही अर्थ प्रस्तुत (Pertinent) हो जायेंगे और तब 'श्लेषालंकार' होगा। इसी

---

१. **'इत्यपूर्वसमासोक्तिः पूर्वधर्मनिवर्तनात्'––काव्या० २।२१३।**

प्रकार यदि 'श्लिष्टविशेष्य' से एक वाच्य हो और दूसरा गम्य तो सीधे 'उपमाध्वनि' होगी। इन्हीं अतिव्याप्तियों से बचाने के लिए आचार्य दण्डी ने समासोक्ति भेदों में 'विशेष्य-भिन्नता' की स्थापना की है।

अप्रस्तुतप्रशंसा के लिए दण्डी ने अध्यायारम्भ में अलंकारों का उद्देश करते समय अप्रस्तुतस्तोत्र (विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने) तथा परिभाषा में 'अप्रक्रान्तस्तुति' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रशंसा' शब्द का प्रयोग तो लक्ष्य रूप में हुआ ही है। इस प्रकार 'स्तोत्र-स्तुति तथा प्रशंसा' का सजातीय एवं समानार्थीय प्रयोग इस तथ्य की सुदृढ़ व्यंजना करता है कि आचार्य दण्डी इन शब्दों के प्रयोग में अत्यन्त संकीर्ण थे। उनका यह शब्दप्रयोग साकूत एवं साभिप्राय था। पूर्वानुच्छेद में इस अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रति उनके दृष्टिकोण स्पष्ट हो चुके हैं। अतः निश्चित है कि दण्डी ने 'प्रशंसा-स्तोत्र एवं स्तुति' का अर्थ वर्णना रूप में न लेकर लोक-विश्रुत अर्थ में ही लिया। इस भावना के अनुसार जब हम उनकी अप्रस्तुतप्रशंसा की परिभाषा (अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः॥काव्या० २।३४०ब) देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी का सारा परिश्रम इस अलंकार की अन्वर्थता व्यक्त करने में ही लगा है।

यद्यपि लक्षण में आचार्य ने कहीं भी इस बात का संकेत नहीं किया है कि प्रस्तुत की निन्दा व्यंग्य होने पर ही अप्रस्तुतप्रशंसा होगी। किन्तु उदाहरण के बाद दिये गये श्लोक से उनका यह भाव स्पष्ट हो जाता है—

सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते।
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना॥३४३

इस श्लोक का स्पष्टीकरण करने के पूर्व ही हम दण्डी द्वारा उपन्यस्त उदाहरण को ही देख लें—

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः। अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभिः॥३४२॥

इस श्लोक में मृगवृत्ति की प्रशंसा अथवा (श्रीज्ञान के शब्दों में) संराधन किया गया है। किन्तु मृगवृत्ति इस पद्य में सर्वथा 'अप्रक्रान्त' या 'अप्रस्तुत' है। वस्तुतः प्रस्तुत यहाँ पर वह व्यक्ति विशेष है जो राजानुवर्तन-क्लेश से निर्विण्ण हो चुका है, किन्तु है वह मनस्वी! अतएव अपने भावों को वह मृगवृत्ति की प्रशंसा के व्याज से व्यक्त कर रहा है। निरीह मृग जो न किसी की चाकरी में हैं और न भोजन के कष्ट में! बिना किसी आयास के ही सुलभ जल-तृण एवं कुशांकुर ही जिनके भक्ष्य हैं, ऐसे वे सुखपूर्वक वन में निवास करते हैं। किन्तु वक्ता का अभिप्राय 'मृगवृत्ति की श्लाघा' में ही नहीं समाप्त होता, वरन् इस प्रशंसा के पीछे उसकी आत्मभर्त्सना, मृगों के प्रति ईर्ष्या अथवा अपनी राजकीय चाकरी के प्रति असन्तोष एवं निन्दा का भाव भी प्रतिध्वनित हो रहा है। वस्तुतः उसकी आभ्यन्तर आकांक्षा आचार्य

श्रीज्ञान के ही शब्दों में इस प्रकार है—'अपि नाम तादृशी वृत्तिरस्माकमपि स्यात् ? प्रतिपक्षपातः खलु प्रजायते। तादृशीं कल्याणीं वृत्तिं कल्पयतो हरिणेषु लक्ष्यते। इति' (दरभंगा संस्करण, पृ० १८५)।

समासोक्ति एवं अप्रस्तुतप्रशंसा के दण्डीसम्मत इन व्याख्यानों से उनका स्वरूप निर्विशंक एवं स्पष्ट हो जाता है। समासोक्ति की ही भाँति अप्रस्तुतप्रशंसा के भी लक्षण में आचार्य ने कोई 'उभयपक्षनिष्ठ' अथवा 'उभयकोटिक' सन्दिग्ध पदावली नहीं प्रयुक्त की है: किन्तु समासोक्ति में किंचित् एवं अन्य का प्रयोग उन्होंने इसी दृष्टि से किया है, जो कि 'प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत' दोनों पक्षों में वैकल्पिक रूप से चरितार्थ होता है। दण्डी स्पष्टतः अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में 'अप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः' तथा एक अन्य श्लोक में 'सेयमप्रस्तुतैवात्र' पदावली का प्रयोग करते हैं, जिनसे यह भाव व्याकीर्ण हो उठता है कि इस अलंकार के सम्बन्ध में उनकी सैद्धान्तिक आस्था एवं धारणा वास्तव में भिन्न तथा पूर्णतः निश्चित थी। दण्डी द्वारा निर्दिष्ट इन अलंकारों का पार्थक्य तर्क की कसौटी पर खरा ही उतरता है क्योंकि इस पार्थक्य को न स्वीकार करने पर वही आपत्तियाँ उठेंगी जिनका स्पष्टीकरण पूर्वानुच्छेद में किया जा चुका है।[1]

आचार्य दण्डी का दृष्टिकोण समझ लेने के पश्चात् अप्रस्तुतप्रशंसा का समासोक्ति के साथ (अथवा समासोक्ति का अप्रस्तुत० के साथ) कोई सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया जा सकता। यदि दोनों में कोई तुलनात्मक साम्य सम्भव है तो केवल इतना ही कि—१. समासोक्ति में प्रस्तुत या अप्रस्तुत वाच्य से तत्तुल्य, इतर-प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत वस्तु की व्यंजनया प्रतीति होती है और २. अप्रस्तुतप्रशंसा में (केवल) अप्रस्तुत वस्तु की प्रशंसा अथवा श्लाघा (न कि वर्णना) से प्रस्तुतार्थ की निन्दा का भाव व्यक्त होता है। 'प्रस्तुतार्थनिन्दा' को दण्डी के समस्त टीकाकारों ने प्रायः स्वीकार किया है जिससे उसकी पृथक्‌रूपता स्पष्ट हो जाती है।[2]

उपर्युक्त दो समताओं के अतिरिक्त एक साम्य और है, जिसका निर्देश टीकाकार श्रीरंगाचार्य जी ने पूर्वपक्ष के रूप में किया है। वह साम्य यह है कि ३. समासोक्ति में वाच्य तथा व्यंग्य के बीच उपमानोपमेय भाव होता है किन्तु अप्रस्तुत० में व्यंग्यार्थ की निन्दा

---

१. अर्थात् संक्षेपकथनत्व तथा प्रशंसा के उभयगत होने पर भी एक को 'समासोक्ति' तथा दूसरी को अप्रस्तुतप्रशंसा कहना।

२. अयमाचार्यदण्डी तु अप्रस्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य प्रतीतौ समासोक्तिः अप्रस्तुतप्रशंसया प्रस्तुतस्य निन्दा अप्रस्तुतप्रशंसा इति विषयविभागेनालंकारद्वयं स्वीकरोति। आचार्यमते अप्रस्तुतप्रशंसेति संज्ञाया अन्वर्थता भवति (रंगाचार्यकृता प्रभा टीका)
अन्ये त्विह प्रशस्यमेवाभिधीयते। तत्र तु निन्द्यमपीति विशेषं व्याचक्षते। तथैकान्तिको भेदोऽनयोर्निर्दर्शितः स्यादिति।—श्रीज्ञानकृत रत्नश्रीटीका।

अभिप्रेत होती है। परन्तु दोनों अलंकारों के बीच यह तुलनात्मक साम्य ठीक नहीं बैठता। क्योंकि आचार्य भामह के प्रामाण्य से यह सिद्ध है कि उपमा 'वैधर्म्य' के भी कारण होती है। उन्होंने उपमा दोषों में स्पष्टतः 'विपर्यय' रूप में इस तथ्य को स्वीकार किया। और थोड़ी देर के लिए यदि हम इसे न भी मानें तो कम-से-कम भामह के इस मन्तव्य को तो ठुकरा ही नहीं सकते कि—

'सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्। यथोपपत्तिकृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते।।
—काव्या० २।४३

उपमाविषयक इस शैथिल्य को दण्डी ने भी स्वीकार किया है—

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्।।'

इस प्रकार निश्चित है कि अप्रस्तुत की प्रशंसा तथा प्रस्तुत की निन्दा के बीच वैधर्म्य रहते हुए भी उपमानोपमेय भाव होगा। अतः ऐसी स्थिति में वह समासोक्ति के ही समान होगा। वस्तुतः जिन तीन तथ्यों का अभी निर्देश किया गया है और जिन्हें 'तुलनात्मक साम्य' की संज्ञा दी गयी है, वे साम्य के बजाय, उनके पारस्परिक भेदों का ही उद्‌घाटन करते हैं।

यदि हम विवेकबुद्धि से देखें तो 'समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा' दण्डी के मन्तव्यानुसार सर्वथा परस्पर पृथक् दिखेंगी। क्योंकि एक में (समासोक्ति में) अभिप्रेतार्थ के ही समान अर्थान्तर की प्रतीति होती है, किन्तु दूसरे में असमान अर्थान्तर की। इस दृष्टि से दोनों में महान् भेद है। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि 'विसदृश से अर्थान्तर की प्रतीति कैसे सम्भव है?' तो इसका समाधान यह है कि—ठीक वैसे ही जैसे कि 'सदृश' से! क्योंकि वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि के अनुसार अर्थप्रकरणादि[1] साधन, व्यंजना के स्रोत हैं। अतः इन तत्त्वों के साहाय्य से जैसे सदृशार्थ से अन्यार्थ की प्रतीति होती है, ठीक यों ही असदृशार्थ से भी अन्यार्थ (निन्दापरक) की प्रतीति सम्भव है।

अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रसंग में विषयोपसंहार करते हुए आचार्य ने एक विशिष्ट तथ्य का निर्देश किया है—सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते। इस कारिकार्द्ध में दण्डी का स्वारस्य लक्षित होता है। इसी तथ्य की कल्पनावश उपर्युक्त वाक्य की एक नवीन व्याख्या की जा सकती है। वस्तुतः इस वाक्य की व्यंजना दो प्रकार की है, एक तो वाक्य-व्यंजना, दूसरी शब्द-व्यंजना। 'वाक्य व्यंजना' समष्टि रूप में पूरे वाक्य से सम्बद्ध है, जिसका भावार्थ यह है

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।—वाक्यपदीय।

कि—सा इयं मृगवृत्तिः 'प्रशस्यते एव'। इसी प्रकार शब्दव्यंजना व्यष्टि रूप में एक शब्द-विशेष (अप्रस्तुता) से ही सम्बद्ध है, जिसका भावार्थ यह है कि—'सा इयं अप्रस्तुता एव' मृगवृत्तिः प्रशस्यते।

वस्तुतः इन दोनों व्यंजनाओं का सारा श्रेय 'एव' को ही है। प्रथम विकल्प का तात्पर्य यह होगा कि अप्रस्तुत की प्रशंसा ही की जाती है न कि निन्दा अथवा (समासोक्तिवत्) वर्णना मात्र। अतएव आचार्य का एक विशिष्ट मत यहाँ भासित होता है, जिसे हम 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' नाम की अन्वर्थता के अंगीकरण में उसका स्वारस्य कह सकते हैं। दूसरे विकल्प का भाव यह है कि अप्रस्तुत० में केवल अप्रस्तुत वस्तु की ही प्रशंसा होती है, न कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों की। उदाहरणार्थ—

याते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कं प्रति पान्थसन्ततिरसौ सन्तापमालाकुला।
इत्थं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते
धन्यं जीवनमस्य मार्गसरसो धिग्वारिधीनां जनुः॥

प्रस्तुत पद्य में, अप्रस्तुत मार्ग-सर तथा प्रस्तुत 'दाता' इन दोनों की ही प्रशंसा की गयी है, अतः दण्डी के मतानुसार यह प्रतीतिमात्र है। अतः 'समासोक्ति' का ही उदाहरण है। यदि यही 'प्रशंसा' केवल अप्रस्तुत की होती (प्रस्तुतनिन्दा की व्यंजना के साथ) तो अप्रस्तुत-प्रशंसा की पूर्ण सम्भावना होती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भामहादि सम्मत अप्रस्तुत-प्रशंसा के समस्त ऐसे उदाहरण जिनमें प्रस्तुत की निन्दा व्यंग्य होती हो, दण्डी सम्मत अप्रस्तुत० के उदाहरण होंगे, अन्यथा विपरीत दशा में वे समासोक्ति के ही उदाहरण होंगे।

ग्यारहवीं शती में राजा भोज ने एक बार पुनः दण्डी के इस मत का समर्थन एवं परिवर्द्धन किया। दण्डी के पश्चात् उत्पन्न आचार्यों में से उद्भट तथा रुद्रट ने प्रायः भामह का ही अनुकरण किया। वामन, आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तक ने स्वतन्त्र काव्यसिद्धान्तों का प्रारम्भ किया। प्रतीहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक ने उद्भट का तथा अभिनव ने आनन्दवर्द्धन का ही मत-विस्तार किया। राजानक तिलक को, मम्मट का ही समसामयिक होने के कारण, आगामी अध्याय में विवेचित किया जायेगा। इस प्रकार पूर्वमम्मट युग के आचार्यों में चरम स्थान भोज का ही है, जिन्होंने सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश में अलंकारों का विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया।

भोज की जिस विस्तारप्रियता का सालोचनोल्लेख कुछ पूर्वानुच्छेदों में किया जा चुका है, वही प्रवृत्ति उनके समासोक्ति अथवा अप्रस्तुतप्रशंसा सम्बन्धी व्याख्यानों में भी दीख पड़ती है। इस स्थल पर सर्वप्रथम भोजकृत अप्रस्तुतप्रशंसा के व्याख्यान को ही निरूपित कर लें। चूंकि भोज काव्यशास्त्रीय विवेचन में प्रायः दण्डी तथा वामन के ही अनुकर्ता रहे हैं इसी

कारण उनके मत, दण्डी तथा वामन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, स्थूल एवं निखारयुक्त हैं। दण्डी ने अप्रक्रान्तवस्तु की स्तुति को ही अप्रस्तुत० कहा है। इस तथ्य का भी उल्लेख किया जा चुका है कि केवल लक्षण देखने से यह ज्ञान नहीं होता कि दण्डी को, अप्रस्तुत-प्रशंसा के साथ-ही-साथ 'प्रस्तुत की निन्दा' भी अभीष्ट थी। आचार्य भोज ने दण्डी सम्मत लक्षण की इस अशक्तता को सुधारा और स्पष्टतम पदावली में 'अस्तोतव्य की स्तुति' को ही अप्रस्तुतप्रशंसा बताया।[1]

'अस्तोतव्य' पद का ग्रहण ही इस व्यंजना के लिए यथेष्ट है कि 'आत्मनिन्दा' अथवा स्तुत्य के प्रति ईर्ष्या का भाव अवश्य उद्दीप्त हो उठेगा। क्योंकि जो व्यक्ति स्तुति करने योग्य है ही नहीं, उसकी स्तुति करने से तो 'आत्मलाघव' का भाव अनायास ही उत्पन्न होगा। भोज ने अन्य अलंकारों की ही भाँति, अप्रस्तुत० का भी षोढा विभाजन किया जो कि 'प्रपंच-मात्र' कहा जा सकता है। उनके अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा का उदय धर्म, अर्थ तथा काम में से किसी एक की बाधा से होता है और चूँकि यह बाधभाव वाच्य अथवा प्रतीयमान दो प्रकार का हो सकता है अतः अलंकार के समस्त छह भेद हुए––१. धर्मबाधा-वाच्य २. धर्मबाधा-प्रत्येतव्य ३. अर्थबाधावाच्य ४. अर्थबाधाप्रत्येतव्य ५. कामबाधावाच्य तथा ६. कामबाधा-प्रत्येतव्य। इन भेदों का सोदाहरण व्याख्यान आचार्य ने ग्रन्थ में किया है।

भोज ने वक्ता की दृष्टि से भी अप्रस्तुतप्रशंसा के उद्भव में कुछ कारण स्वीकार किया है––'स्वाभिप्रायप्रसिद्ध्या वा जायमानेह दृश्यते।' अर्थात् स्वाभिप्राय एवं प्रसिद्धि! किन्तु इतना होने पर भी भोज का मत अत्यन्त शिथिल-सा प्रतीत होता है क्योंकि प्राचीन रूढ़ियों को न अपनाने की उनकी प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती रही है। इस कार्य में उन्होंने कहीं-कहीं अनौचित्य का भी संवरण किया है। उदाहरण के लिए अप्रस्तुतप्रशंसा सम्बन्धी उनका सिद्धान्त ही पारिभाषिक दृष्टिकोण से, दण्डी की अपेक्षा अधिक परिस्फुट होने पर भी, असंगत रहा है क्योंकि किसी भी प्राचीन अथवा नवीन काव्यशास्त्री ने धर्मार्थ काम की बाधा का उल्लेख इस प्रसंग में नहीं किया। थोड़ी देर के लिए हम इन तथ्यों को स्वीकार भी कर लें तो 'मोक्षबाधा' का निबन्धन न होना खटकता ही रहेगा। भोज द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय के एक अंग मात्र की उपेक्षा, उनकी संकीर्ण दृष्टि का प्रतीक है।

भोज का 'अस्तोतव्य' पद भी अप्रस्तुत का प्रतीक नहीं है, यह उनके मत की सबसे बड़ी कमी है। इस प्रसंग में भोज ने जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है उनमें से कुछ तो वास्तव में अप्रस्तुत अथवा दण्डी के शब्दों में 'अप्रक्रान्त' विषयक हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो किसी भी रूप में अप्रस्तुत नहीं हैं। एक उदाहरण लीजिए––

---

१. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः। कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते॥५२॥ सा च धर्मार्थकामानां प्रायोऽन्यतमबाधया। स्वाभिप्रायप्रसिद्ध्या च जायमानेह दृश्यते॥५३––(सरस्वती० परि० ४, बा० संस्करण)।

कालाक्षरदुःशिक्षित बालक रे! लग मम कण्ठे।
द्वयोश्च नरकनिवासः सममेव यदि भवति तद्भवतु॥

प्रस्तुत पद्य में कोई अविनयशीला पुंश्चली किसी धर्मशास्त्रपारंगत युवक को आलिंगनादि के लिए प्रेरित करती हुई यह इच्छा व्यक्त करती रहती है कि इस कुकृत्य के फलस्वरूप यदि नरकवास भी मिले तो कोई हानि नहीं। किन्तु एक साथ मिले। एक साथ मिलने की व्यंजना यह है कि भौतिक दृष्टि से उस दशा में नरक में भी हम लोगों को स्वर्ग सरीखा आनन्द प्राप्त होगा। भोज के अनुसार यह उदाहरण यहाँ प्रत्येतव्य धर्मबाधा का सूचक है क्योंकि इसमें 'परस्य दारान् मनसापि नेच्छेत्'—इस धर्मशास्त्रीय नियम का उल्लंघन किया गया है। दूसरी बात यह है कि ऐसा कुकृत्य करने वाले अस्तोतव्य युवक की व्यंजनया स्तुति भी की गयी है (इस रूप में कि नरक में भी हम स्वर्गानुभूति करेंगे)।

किन्तु विचार कीजिए कि क्या पुंश्चली द्वारा सम्बुद्ध युवक यहाँ अप्रक्रान्त है? वस्तुतः यहाँ वक्ता तथा संबोध्य व्यक्ति—दोनों ही प्रस्तुत हैं, अतः यहाँ तो दण्डी के अनुसार अप्रस्तुतप्रशंसा हो ही नहीं सकती। ऐसे स्थलों पर (जहाँ दोनों प्रस्तुत हों) तो प्रस्तुतांकुर अलंकार होना चाहिए जिसकी सर्जना कुवलयानन्दकार आचार्य अप्पय दीक्षित ने परवर्ती युग में की। इस विषय में, अगले अध्याय में व्याख्यान प्रस्तुत किया जायेगा। इसी प्रकार वाच्य अर्थबाधा के उदाहरण में भोज ने पंगु, अन्ध, मूक तथा बधिर की जो पारस्परिक वार्ता प्रस्तुत की है, उसमें भी सब प्रस्तुत ही हैं। ऐसी दशा में भोज की 'अस्तोतव्यस्तुति' दण्डी की अप्रस्तुतप्रशंसा से विपरीत प्रतीत होती है। अतः सिद्ध है कि आत्म—कौशल तथा विस्तृत व्याख्यान के अभिमानी आचार्य भोज ने अपने इसी प्रयास में आचार्य दण्डी के प्रतिपादानुकरण की भरपूर अवहेलना की है और निश्चित ही 'अस्तोतव्य' द्वारा निन्दाप्रतीति का निबन्धन करते हुए भी भोज अप्रस्तुत-प्रशंसा के सही दृष्टिकोण से बहुत दूर हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा की ही भाँति भोज का 'समासोक्ति-सिद्धान्त' भी अत्यन्त भ्रामक, असंगत तथा उनकी स्वतन्त्र सूझबूझ का प्रतीक मात्र है। यद्यपि अप्रस्तुतप्रशंसा को 'समासोक्ति' नाम से ही स्वीकार करने के कारण आचार्य भोज को दण्डी के अनुकर्ता रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु उनकी समासोक्ति को समझने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति यही निर्णय दे सकता है कि भोज का एतद्विषयक मत पूर्ववर्तियों के मत की 'खिचड़ी' मात्र है। 'समासोक्ति' संज्ञा का ग्रहण होने के कारण भले ही भोज का यह अलंकार समासोक्ति कहा जाय किन्तु इसके अन्तर्गत आचार्य ने जो सिद्धान्त व्याख्यात किया है, वह न तो आचार्य भामह की ही सैद्धान्तिक परम्परा के अनुकूल है और न दण्डी की ही परम्परा के अनुकूल! इस प्रकार, भोज न तो भामहपक्ष के ही हैं और न दण्डीपक्ष के ही। वस्तुतः जैसे उनका समस्त अलंकार-व्याख्यान अभिनव (बनाम असंगत) तथा विचित्र है, ठीक वैसे ही वे भी विचित्र हैं।

ऐसी स्थिति में भोज के अधिकांश व्याख्यान वैनोदिक चर्चा के विषय बन जाते हैं।

अप्रस्तुत० के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि अस्तोतव्य की स्तुति से निन्दाभाव व्यंग्य होने के कारण भोज का तद्विषयक मत दण्डी के अनुकूल स्थिति अवश्य प्राप्त करता है किन्तु अस्तोतव्य को अप्रस्तुतमात्र में ही सीमित न करने के कारण भोज दण्डी से दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार भोज, भामहादि आचार्यों की सरणि से भी दूर हैं क्योंकि अन्य वैषम्यों के रहते हुए भी, भामह तथा दण्डी का इस विषय में ऐकमत्य है कि अप्रस्तुत० अलंकार में केवल अप्रस्तुत की ही प्रशंसा होती है। जब कि यह सिद्ध हो चुका है कि भोज का 'अस्तोतव्य' विषय कहीं-कहीं केवल प्रस्तुतों की ही वर्णना में पर्यवसित होता है जो कि पूर्वनिर्दिष्ट पथों का अतिक्रमण मात्र है।

इसी प्रकार यदि कोई तुलनात्मक दृष्टि से भोज की समासोक्ति का व्याख्यान करना चाहे तो उसका रूप इस प्रकार होगा—१. भोज की समासोक्ति—अन्योक्ति, अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति सहित सिद्धान्त रूप में, भामह एवं उद्भटादि की अप्रस्तुतप्रशंसा के समान हैं, क्योंकि दोनों की परिभाषा एक ही है अर्थात् अप्रस्तुत (उपमान) से प्रस्तुत (उपमेय) की व्यंजना।[1]

२. भोज की समासोक्ति (तत्प्रोक्त) समाधि एवं मीलित अलंकारों सहित दण्डी की 'समासोक्ति' के समान है। क्योंकि दण्डी की 'समासोक्ति' के दो पक्षों में से एक ही पक्ष (अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना) भोज की 'समासोक्ति' में प्राप्त होता है। इसका दूसरा पक्ष (प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना) भोज के समाधि एवं मीलित अलंकार में प्राप्त होता है।[2]

उपर्युक्त द्विसूत्री निर्णय से स्पष्ट है कि भोज ने इन अलंकारों के विषय में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की पूर्णतः उपेक्षा की है अन्यथा भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्द्धन तथा कुन्तक जैसे महामहिम आचार्यों के साक्ष्यों के रहते हुए भी वे इस प्रकार का असंगत एवं दोषावह व्याख्यान न करते। वस्तुतः पूर्वमम्मट युग के आचार्यों की समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा सम्बन्धी जितनी सैद्धान्तिक उद्भावनाएँ प्रकाश में आयी हैं, उनके तीन मुख्य स्तर हम निर्धारित कर सकते हैं। उन स्तरों के व्यवस्थापक आचार्य भामह, दण्डी तथा भोज हैं, जिनमें कि आचार्य दण्डी को हम 'केन्द्रविन्दु' अथवा 'सान्ध्यायतन' मान सकते हैं। आचार्य भामह द्वारा उद्भावित तथा उद्भट द्वारा समर्थित यह सिद्धान्त दण्डी के व्याख्यान वैभव में पड़कर पिण्डरूप बना किन्तु भोज की व्याख्या में पुनः उभय रूप हो गया। इस प्रकार भामह की समासोक्ति दण्डी की समासोक्ति तथा भोज की समाध्युक्ति है और भामह की 'अप्रस्तुतप्रशंसा' दण्डी की 'समासोक्ति' तथा भोज की भी 'समासोक्ति' है। इस तथ्य को निम्न रूप से व्याख्यात किया जा सकता है—

---

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी ।
॥४।१४॥—उद्भट

यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते । अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः ।
॥४।४६ (भोज)

२. समाधिस्तत्र धर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः॥ सा० ४।४४ (भोज) ।

भामह की समासोक्ति = दण्डी की समासोक्ति = भोज की समाध्युक्ति
भामह की अप्रस्तुत० = दण्डी की समासोक्ति = भोज की समासोक्ति

यह विषय तुलनात्मक ढंग से विवेचित करने के लिए इतने विस्तार की अपेक्षा रखता है कि प्रस्तुत स्थल पर उसे उपस्थित नहीं किया जा सकता। अलंकारों के व्यक्तित्व समय-समय पर इतने कौतुकपूर्ण ढंग से बदलते रहे हैं कि उनमें तिल भर भी साम्य कल्पित नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'मीलित' अलंकार को ही देखिए। आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम इसका व्याख्यान 'वास्तव' अलंकार के रूप में किया—

तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि॥ काव्या० ७।१०६

रुद्रट के मतानुसार यह अलंकार हर्षकोपादि भावों का निगूहन मात्र है जो कि विशेषतः आंगिक अभिनय से सम्बद्ध है। किन्तु भोज ने इसी मीलित को स्पष्टतः समासोक्ति से अपृथक् स्वीकार किया है—(समासोक्ति का तात्पर्य भोज के 'समाधि' अलंकार से है, क्योंकि उनकी समासोक्ति का वास्तविक रूप भामहीय 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का है)—समाधिमेव मन्यन्ते मीलितं तदपि द्विधा। धर्माणामेव चाध्यासे धर्मिणां वान्यवस्तुनि॥ सरस्वती० ४।४५। इन पृथक् परिभाषाओं से सिद्ध होता है कि रुद्रट के 'मीलित' से भोज के 'मीलित' की कोई तुलना भी सम्भव नहीं, साम्यस्थापन तो दूर की बात है। समासोक्ति और अप्रस्तुत-प्रशंसा की भी ऐसी ही स्थिति संस्कृत काव्यशास्त्र में है जैसा कि पूर्वानुच्छेद में रेखांकन द्वारा उसका विकासक्रम प्रदर्शित किया है।

इस प्रकार विषमताओं का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अब भोज की समासोक्ति का व्याख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है। इस विषय में एक मूल तथ्य जान लेना आवश्यक है कि भोज केवल संक्षिप्त रूप से कहे जाने के कारण ही इस अलंकार को समासोक्ति कहते हैं और यह भी निश्चित है कि बस इसी साम्य पर उन्होंने अन्योक्ति अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति को भी समासोक्ति ही स्वीकार किया है।[1] किन्तु यदि हम प्रश्न-बुद्धि से यह विचार करें कि 'भोज समाधि तथा मीलित को भी शैली-साम्य के कारण 'समासोक्ति' ही क्यों नहीं मानते ?' तो इसका कोई भी सुदृढ़ उत्तर न तो आचार्य के ही पास है और न हम स्वयं उनके ग्रन्थ में इसका कोई आधार पा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि भोज के व्याख्यान मनमाने ढंग के हैं जिनकी सर्जना उन्होंने सम्भवतः केवल स्वान्तः सुखाय ही की है।

संक्षेपेणोच्यते यस्मात् समासोक्तिरियं ततः सैवान्योक्तिरनन्योक्तिरुभयोक्तिश्च कथ्यते॥ सर०४।५०।

---

१. द्रष्टव्य, सरस्वती० ४।४९।

भोज की इसी मान्यता के आधार पर इस प्रसंग में समासोक्ति, अन्योक्ति तथा उभयोक्ति का विमर्श प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य के अनुसार जहाँ उपमान से ही उपमेय की प्रतीति अथवा व्यंजना होती है उसे समासोक्ति कहते हैं। किन्तु इस व्यंजना का कोई आधार होना आवश्यक है, इसीलिए भोज का मत है कि 'अति प्रसिद्धि' के कारण वह व्यंजना होती है—

'यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते। अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः'॥सर० ४।४६

वस्तुतः उपमानोपमेय का प्रख्यात होना आवश्यक भी है अन्यथा 'व्यंजना' दुष्कर होती है। 'अतिप्रसिद्धेः' पद की संगति यद्यपि पृथक् रूप से भी सम्भव है और उस दशा में वाक्यार्थ इस प्रकार होगा—अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण इसे 'समासोक्ति' कहते हैं। किन्तु ऐसा स्वीकार कर लेने पर एक तो उपमानोपमेय व्यंजना निराधार-सी प्रतीत होगी और दूसरे, आगे की कारिका में निबद्ध भाव 'संक्षेपेणोच्यते यस्मात्समासोक्तिरियं ततः' पुनरुक्तमात्र प्रतीत होगा। अतः प्रथम विकल्प ही ग्राह्य है।[1]

उपमान तथा उपमेय अलंकारशास्त्र में 'अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत' के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। और सच बात तो यह है कि इस शब्दावली का उदय, भोज से बहुत पूर्व आठवीं शती में ही आचार्य वामन के ग्रन्थ में हो गया था, क्योंकि वही प्रथम एवं प्राचीनतम व्यक्ति हैं जो कि समस्त अलंकारों का मूल उपमा को ही मानते हैं। उपमान तथा उपमेय, प्रत्येक दशा में उपमा ही के अंग हैं। अतः ऐसी स्थिति में जब कि समस्त अलंकारों का मूल केवल 'उपमा' ही हो और उपमान तथा उपमेय ही उपमा के प्रमुख अंग हों, यह निश्चित है कि समस्त अलंकारों के पारस्परिक भेद उपमान तथा उपमेय के ही कारण होंगे और इसी आधार पर उन परिवर्तनों की अभिव्यक्ति भी उपमानोपमेयमुखेन ही होगी। प्रमाण के लिए यदि हम वामनकृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति का अलंकाराधिकरण देखें तो स्पष्टतः ज्ञात होगा कि उसमें प्रत्येक अलंकार की परिभाषा आचार्य ने उपमान तथा उपमेय के ही माध्यम से व्यक्त किया है। अतः निश्चित है कि भोज ने उपमानोपमेय शब्दावली को वामन से ही ग्रहण किया। भोज का समासोक्ति-लक्षण भी, उन्हीं के लक्षण पर आधारित है। किन्तु अप्रस्तुत० के विषय में भी ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वामन की समासोक्ति एवं अप्रस्तुत० प्रायः एकरूप हैं। केवल अन्तर यह है कि एक में उपमेय सर्वथा अनुक्त होता है (समा०) जब कि दूसरी में किंचिदुक्त (अप्र०) इसके विपरीत भोज की अप्रस्तुतप्रशंसा, 'अस्तोतव्यस्तुति' रूप है। आगे अभी इस विषय पर अपेक्षित प्रकाश डाला जायगा।

---

१. समासोक्ति के ही पाँचवें उदाहरण में भोज ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है—अत्राम्बुरुहसत्पुरुषयोः परस्परमुपमानोपमेयभावस्य अतिशयप्रसिद्धेः उपमानेनैव श्लेषवत्तुल्यविशेषणपदाभिधीयमानसादृश्यमुपमानमेव (?) अवगम्यते।

'मुखचन्द्रोऽयम्' में 'मुख' शब्द उपमेय तथा 'चन्द्र' उपमान है। उपमेय का तात्पर्य उस वस्तु-विशेष से है जिसकी या जिसके निमित्त कोई 'उपमा' प्रस्तुत की जाय और उपमान वह वस्तु-विशेष है जिसके द्वारा 'उपमा' प्रस्तुत की जाय। 'मुखचन्द्र' में मुख के निमित्त उपमा प्रस्तुत की गयी है, चन्द्र से। अतः दोनों में उपमानोपमेय भाव है। उपमेय सदैव प्रस्तुत या प्रासंगिक होता है, जब कि उपमान सदैव अप्रस्तुत अथवा अप्रासंगिक। प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का भेद, वक्ता की दृष्टि से ही प्रायः किया जाता है। चूँकि लक्ष्य व्यक्ति-विशेष का मुख वक्ता के समक्ष अथवा समीप है, अतः वह प्रस्तुत है। इसी प्रकार चन्द्रमा वक्ता से दूरवर्ती होने के कारण अप्रस्तुत है। अब भोज द्वारा निबद्ध 'उपमान तथा उपमेय' पद का आशय स्पष्ट हो गया। इसी उपमान पक्ष (अर्थात् अप्रस्तुत पक्ष) की वर्णना द्वारा जब उपमेय पक्ष (अर्थात् प्रस्तुत पक्ष) की प्रतीति हो तब समासोक्ति होती है। 'प्रतीति' पद का स्पष्ट अर्थ व्यंजनया बोध होने से है। भोज के इन शब्दों से स्पष्ट है कि उनकी समासोक्ति का प्रथम एवं चरम रूप यही है कि—उपमान (अप्रस्तुत) द्वारा उपमेय (प्रस्तुत) की प्रतीति (व्यंजना) और ठीक यही रूप आचार्य भामह एवं उद्भट की अप्रस्तुत-प्रशंसा का भी है जो राजानक तिलक के शब्दों में इस प्रकार का है—

अप्राकरणिकस्य प्राकरणिकार्थपरस्य यदर्थस्य कथनमसावप्रस्तुतप्रशंसा (उद्भट-व्याख्या ५।१४)

यदि भोज को हम आचार्य दण्डी का अनुकर्ता स्वीकार ही करते हैं और जैसा कि पहले स्वीकार भी किया है तो दण्डी की समासोक्ति का रूप देखते हुए अब यह कहना पड़ेगा कि भोज ने दण्डी का 'खण्डानुकरण' ही किया है, क्योंकि दण्डी की समासोक्ति भामह-प्रोक्त समासोक्ति तथा अप्रस्तुत० का योग होने के कारण उभयपक्षवती है, जिसमें से कि भोज ने केवल एक पक्ष (अप्रस्तुत० पक्ष) का ही निबन्धन अपनी समासोक्ति में किया है। अस्तु—

समासोक्ति के व्याख्यान में भोज ने जिन तथ्यों का समावेश किया है, उनके अनुसार, उसके अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु यहाँ प्रयोजन केवल सैद्धान्तिक रूढ़ियों के निदर्शन मात्र से है न कि भेद-प्रभेद वर्णन से ! इस दृष्टि से भोज द्वारा निर्दिष्ट समासोक्ति विषयक तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण, जहाँ उपमान से ही उपमेय की प्रतीति हो मनीषियों ने उसे 'समासोक्ति' कहा है।

(२) समासोक्ति प्रतीयमान (व्यंग्य) अथवा वाच्य सादृश्य में उत्पन्न होती है (सादृश्य उपमानोपमेय के ही बीच होगा। क्योंकि 'समासोक्ति' के उत्पादक तत्त्व भी वही दोनों हैं।)

(३) श्लाघा (प्रशंसा), गर्हा (निन्दा), उभयभाव तथा उभयाभाव ये चार समासोक्ति की उपाधियाँ हैं।

(४) तुल्याकार-विशेषण तथा तुल्यातुल्यविशेषण—ये दो उसके भेद (?) हैं किन्तु इन दोनों में ही विशेष्य भिन्न होंगे।

(५) चूँकि इसमें कथन संक्षिप्त रूप में होता है अतः इसे समासोक्ति कहते हैं। (समासेन उक्तिः समासोक्तिः। 'समास' का शाब्दिक अर्थ भी 'संक्षेप' ही होता है।)

(६) समासोक्ति ही अन्योक्ति, अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति कही जाती है।

उपर्युक्त तथ्यों में से चौथे और पाँचवें का आदान भोज ने सम्भवतः आचार्य दण्डी से ही किया है, क्योंकि दण्डी ने अपने समासोक्ति-व्याख्यान में इन भेदों की चर्चा की है। भोज ने दण्डीकृत तृतीय भेद 'अपूर्वसमासोक्ति' को अपने व्याख्यान में स्थान नहीं दिया है, सम्भवतः इसीलिए कि अन्य दो भेदों की भाँति वह प्रामाणिक एवं मौलिक नहीं है। दूसरी बात यह कि तृतीय भेद में प्रथम एवं द्वितीय के ही तत्त्व प्रकारान्तरेण सम्मिलित हैं। पाँचवाँ तथ्य अर्थात् 'संक्षेपेणोच्यते यस्मात्समासोक्तिरियं ततः' दण्डी तथा उनसे भी पूर्व भामह द्वारा स्थापित एवं व्याख्यात किया जा चुका है। किन्तु इन दोनों तथ्यों के अतिरिक्त समासोक्ति सम्बन्धी अन्य सभी तत्त्व भोज के अपने हैं।

प्रथम तथ्य के विषय में वक्तव्य प्रस्तुत किया जा चुका है, और द्वितीय तथ्य भी जिसके अनुसार समासोक्ति 'वाच्य अथवा प्रतीयमान' सादृश्य में होती है, प्रायः वही है जिसे भोज ने अपने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' व्याख्यान में स्पष्ट किया है। वस्तुतः यह प्रश्न विचारणीय है कि यह सादृश्य वाच्य अथवा प्रतीयमान क्यों कब और कैसे होता है? प्रथमाध्याय में रुद्रट के प्रामाण्य पर सामान्यतः अन्योक्ति का जो रूप अभीष्ट स्वीकार किया गया है और जिसके तीन वैशिष्ट्यों का व्याख्यान भी स्थान-स्थान पर किया गया है, उसके अनुसार अन्योक्ति में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत (उपमेयोपमान) के विशेषण सर्वथा परस्पर भिन्न होते हैं। जब कि समासोक्ति में ठीक इसका प्रतीप होता है। अन्योक्ति में उपमान से उपमेय की प्रतीति केवल 'इतिवृत्तसाम्यवश' होती है। इसी प्रकार समासोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति केवल विशेषणसाम्यवश होती है। यही दोनों का आभ्यन्तर भेद है।

दण्डी के समासोक्ति व्याख्यान में 'इतिवृत्त साम्य तथा विशेषण साम्य' दोनों एक साथ वर्णित किये गये हैं क्योंकि दण्डी की समासोक्ति, भामहसम्मत अप्रस्तुत० तथा समासोक्ति, दोनों का एकीकृत रूप है। दण्डी द्वारा निर्दिष्ट समासोक्ति के तीन भेदों में से प्रथम दो (तुल्याकार तथा भिन्नाभिन्नविशेषण) निश्चित ही 'विशेषणसाम्य' के प्रमाण हैं जिन्हें कि प्रदत्त उदाहरणों में स्पष्टतः देख सकते हैं। अतः इन भेदों में समासोक्ति तत्त्व की ही प्रबलता है। किन्तु तृतीय भेद (अपूर्व समासोक्ति) पूर्णरूप से इतिवृत्त साम्य पर ही आधारित है जिसका संकेत स्वयं दण्डी ने इस श्लोक द्वारा किया है—'इत्यपूर्वसमासोक्तिः पूर्वधर्मनिवर्तनात्। समुद्रेण समानस्य पुंसो व्यावृत्तिसूचने॥' समुद्र के समान ही पुरुष की विपत्ति सूचना का आशय उन दोनों के 'इतिवृत्तसाम्य' से ही है क्योंकि उदाहरणश्लोक में उसी का निबन्धन किया गया है—

निवृत्तव्यालसंसर्गो निसर्गमधुराशयः।
अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशोष्यते॥

इस पद्य में वस्तुतः वक्ता का अभिप्राय एक औदार्यशील व्यक्ति की दशा का वर्णन करना है जो कि कालगति के कुचक्रवश, दारिद्र्य-युक्त होता जा रहा है। यही वृत्त 'प्रस्तुत' है जो कि अप्रस्तुत समुद्र वर्णन के माध्यम से व्यक्त किया गया है। समुद्र एवं व्यक्ति के विशेषणों में कोई साम्य नहीं किन्तु दोनों का वृत्त पूर्णतः समानरूप है। और यही 'अन्योक्ति' का प्रधान लक्षण भी है। अतः निश्चित रूप से दण्डी की अपूर्व समासोक्ति में अन्योक्तिपक्ष का प्राबल्य है। टीकाकार श्रीज्ञान ने इस वृत्तसाम्य को स्वयं स्वीकार किया है—तेन समुद्रेण समानस्य पुंसः उभयोरपि शोषणलक्षणस्य विनाशस्य वृत्तेरुपात्तापेक्षया एतदुक्तम्' (काव्या० २।२११ की व्याख्या, दरभंगा संस्करण।)

उपर्युक्त तथ्यों के संकलन एवं आकलन का मुख्य ध्येय केवल यह बताना है कि साम्य अथवा सादृश्य 'वाच्य' तभी होगा या हो सकता है जब 'विशेषण' साम्य हो अर्थात् जब उपमान एवं उपमेय के बीच तुल्यविशेषणों का निबन्धन हो। क्योंकि जब तक ऐसा न होगा, तब तक श्लेष के बल से, उपमानोपमेय—दोनों ही पक्षों में घटित होने वाले अर्थ परिस्फुट न होंगे और जब तक ऐसे अर्थ न घटित होंगे, तब तक उपमानोपमेय के बीच का सादृश्य 'वाच्य' न होगा। अतएव 'सादृश्य' वाच्य होने के लिए 'अभिधा' का होना अनिवार्य है जो श्लेष के ही सहारे आ सकती है। इसके विपरीत सादृश्य 'प्रतीयमान' तभी होगा जब उपर्युक्त तत्त्व न हों। क्योंकि 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा'। तुल्यविशेषण न होंगे तो 'श्लेष' न होगा और श्लेष न होगा तो 'अभिधा' न होगी। और जब अभिधा न रहेगी तो उपमानोपमेय सादृश्य वाच्य भी न होगा। अन्योक्ति में ऐसा ही होता है।

किन्तु इतने स्पष्टीकरण के बाद भी यह समस्या हल नहीं होती कि भोज के 'समासोक्ति-व्याख्यान' की संगति हम किस प्रकार लगायें। यदि भोज ने निरपेक्ष रूप से 'उपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते' न कह कर, दण्डी की भाँति 'वस्तु किंचिदभिप्रेत्य' आदि कहा होता तो कोई बाधा ही नहीं थी क्योंकि 'किञ्चित्' पद से अन्योक्ति एवं समासोक्ति दोनों पक्षों का आहरण हो जाता, जैसा कि दण्डी के व्याख्यान में हुआ है। किन्तु भोज ने स्वयं 'उपमानादेव' में 'एव-कार' के प्रयोग से विकल्पों की सम्भावना को निरुद्ध कर दिया। इतना ही नहीं, वरन् समासोक्ति व्याख्यान के अन्त में वह स्वयं कहते हैं—'कः पुनः समासोक्तेः समाध्युक्तेर्वा विशेषः? उच्यते। यत्र प्राकरणिकेऽप्राकरणिको धर्मोऽध्यासते सा समाध्युक्तिर्यथा असहन्ति व्व.... इति। यत्र पुनरप्राकरणिके प्राकरणिको धर्म्मः सा समासोक्तिर्यथा–पिबन् मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपंकजे इति।' (सरस्वती० बारोह संस्क० पृ० २२५)।

इसका निर्गलितार्थ यही है कि भोज अपनी समासोक्ति को समाधि एवं अप्रस्तुत० से पूर्णतः पृथक् मानते थे। इतना जानबूझ कर भी जो आचार्य लक्षण उपस्थित करे प्रस्तुत-प्रशंसा का (भामह की दृष्टि से) और नाम एवं भेद प्रस्तुत करे समासोक्ति का (दण्डी की

दृष्टि से) उसे हम 'परानपेक्षी' छोड़कर और कह ही क्या सकते हैं ? रोचक बात तो यह है कि सादृश्य के वाच्य तथा प्रतीयमान होने का जो सम्बन्ध अभी पिछले अनुच्छेद में समासोक्ति तथा अन्योक्ति से क्रमशः जोड़ा गया है, आचार्य भोज को भी वह पूर्णतः ज्ञात था, किन्तु प्रकारान्तर से। समासोक्ति तथा समाधि का भेद बताते हुए आचार्य ने कहा है—"ननु धर्मिणोऽध्यासे समानमिति चेन्न। स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वमित्यादिषु, अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः इत्यादिषु च प्रव्यक्त एवाध्यासविशेषो दृश्यते। एकत्र मनसाऽन्यत्र तु वचसेति। सोऽयं समाध्युक्तेः समासोक्तेश्च भेदो भवति' (सर० बारौह संस्करण, पृ० २२५)।

इस उद्धरण में 'वचसा एवं मनसा' शब्द सम्भवतः वाच्यता एवं प्रतीयमानता के ही उपलक्षण हैं अतः स्पष्ट है कि 'समाधि तथा समासोक्ति' (जो भामह की समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा हैं। अथवा दण्डी की समासोक्ति) से उनका सम्बन्ध जोड़कर आचार्य भोज कुछ ठीक ही करते, किन्तु व्यवहार रूप में वे उसे ठीक नहीं उतार सके।[1] भामह एवं दण्डी की मान्यताओं में सैद्धान्तिक भेद नहीं के समान है, केवल उनके दृष्टिकोण में अन्तर है। शायद भामह भी दण्डी की भाँति इस तथ्य से अवगत रहे होंगे कि समासोक्ति तथा अप्रस्तुत० में 'संक्षेपकथनत्व' समान रूप में स्थित है। किन्तु इतना होने पर भी उन्होंने या तो पूर्वाचार्यों की परम्परा वश अथवा औचित्यनिर्वाह वश, दोनों का, पृथक् व्याख्यान किया। किन्तु दण्डी की दृष्टि सुधारवादी आचार्य होने के कारण, थोड़ी भिन्न थी। इसलिए उन्होंने दोनों में एक तत्त्व का ही प्राधान्य देखकर उन्हें (जरासन्ध की भाँति) एकरूप कर दिया। परन्तु दण्डी द्वारा की गयी दोनों अलंकारों की यह संधि नीरक्षीरवत् न होकर 'तिलतण्डुलवत्' ही रही क्योंकि दण्डी की समासोक्ति में मिल कर भी भामह की समासोक्ति तथा अप्रस्तुत० ने अपना व्यक्तित्व नहीं खोया, वरन् दोनों दो स्वतन्त्र विकल्पों के रूप में पड़ी रहीं। दण्डी के बाद ही उद्भट तथा वामनादि आचार्यों ने पुनः दोनों को उस पिण्ड से व्यतिरिक्त करके दो पृथक् छोरों पर स्थापित कर दिया।

किन्तु भोज दण्डी की कोटि के नहीं हैं। वे उस भोले-भाले बटोही की भाँति हैं जो यह अच्छी तरह जानता है कि उसे अमुक स्थान पर जाना है, सम्भवतः घर वालों ने उसे लक्ष्य-स्थान का विस्तृत स्वरूप भी बता दिया है। किन्तु उसे मार्ग का ज्ञान ही नहीं, जिसके फल-स्वरूप वह गहन गिरि-कान्तार में भटकने के साथ-ही-साथ कई बार पहाड़ी नदी में डूब भी जाता है किन्तु मरता नहीं। सत्य बात यह है कि रूढ़ियों को तोड़ना आसान कार्य नहीं है, इसमें बड़ा साहस चाहिए। दूसरी बात यह कि पलायनवादी व्यक्ति 'रूढ़िभंजक' नहीं बन सकता, जब कि आचार्य भोज में ये लक्षण अंशतः हैं।

---

१. क्योंकि उपर्युक्त दोनों उदाहरण अभिधीयमानतुल्यविशेषण हैं, अतः 'मनसा' की संगति बैठती नहीं।

इस प्रकार भोज ने समासोक्ति (अप्रस्तुत०) के जितने उदाहरण प्रस्तुत किये वे सब प्रायः प्रतीयमान सादृश्य वाले हैं। छह उदाहरणों में से केवल पाँचवाँ 'अभिधीयमानतुल्य-विशेषण' से युक्त है, क्योंकि इसमें कमल तथा पुरुष का वृत्तान्त श्लेषयुक्त, समान विशेषणों से व्यक्त किया गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि यह उदाहरण गलत है, क्योंकि इसमें उपमान से उपमेय की प्रतीति नहीं हो रही है, प्रत्युत उपमेय से उपमान की। और जैसा कि यह अभी स्पष्ट कर चुके हैं कि अभिधीयमानसादृश्य भामहीय समासोक्ति का विषय है न कि अप्रस्तुत प्रशंसा का। अतएव भोज को यह उदाहरण अपनी 'समाधि' (समासोक्ति) में ही रखना चाहिए था। वस्तुतः भोज द्वारा अपनी तथाकथित समासोक्ति में 'वाच्यसादृश्य का निबन्धन' ही उनकी अविवेक बुद्धि का सूचक है। पाँचवें उदाहरण के अतिरिक्त, श्लाघा-गर्हा उभयवर्ती-अनुभयवर्ती तथा अन्तिम पद्य, सब-के-सब अन्योक्तियों के ही शुद्ध उदाहरण हैं जो कि भोज के पश्चात् संग्रहग्रन्थों में बहुशः संकलित किये गये हैं।

अब, इसी प्रसंग में भोज-सम्मत 'अन्योक्ति' पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यद्यपि सरस्वती० २।३९ में भी छायालंकार के प्रसंग में आचार्य ने इस शब्द का उल्लेख किया है--'अन्योक्तीनामनुकृतिश्छाया सापीह षड्विधा'। किन्तु 'अन्योक्ति' का तात्पर्य यहाँ केवल 'परोक्ति' मात्र (दूसरे की अभिव्यक्ति) से है। समासोक्ति के प्रसंग में वर्णित अन्योक्ति इसके विपरीत, परोक्ति मात्र न होकर, रुद्रटीय अन्योक्ति के समकक्ष है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो भोज उसे समासोक्ति से अपृथक् स्वीकार ही न करते। किन्तु सूक्ष्म गति से परिशीलन करने पर भी यह स्थिर नहीं हो पाता कि वस्तुतः भोज की अन्योक्ति का क्या रूप है? आचार्य ने केवल उदाहरणों द्वारा अन्योक्ति का भेद-प्रदर्शन भले ही कर दिया है किन्तु सिद्धान्त के नाम पर भोज ने कोई विशेष बात नहीं कही है। हाँ, उनके वक्तव्यों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि अन्योक्ति में भी संक्षेपकथनत्व रूप तत्त्व होता है और बस इसी साम्य पर भोज दोनों को अभिन्न भी स्वीकार करते हैं।[1]

भोज के अनुसार 'अन्योक्ति' शब्द का तात्पर्य अध्यासविषयक तद्भावापत्ति से है।[2] 'अध्यास' का अर्थ अलंकारशास्त्र में प्रायः 'विलयन' से लिया गया है। समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में क्रमशः प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के वाच्य होने पर अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत पक्ष अध्यवसित ही होते हैं। जैसे 'एष ब्रह्मदत्तः' कहते ही ब्रह्मदत्त का स्वरूप (तद्भाव) आँखों के समक्ष आ जाता है भले ही दूर अथवा आड़ में रहने पर, उसकी देह सामने न हो (अध्यवसित हो) ठीक उसी प्रकार 'अन्योक्ति' का आशय उस अन्य प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पक्ष से है

१. द्रष्टव्य : सेयं स्वजातिविषयान्योक्तिः संक्षेपोक्तिरूपत्वात् समासोक्तिरेव।
—सरस्वती० पृ० २२३ बा० संस्क०

२. अन्योक्तिशब्देन इहाध्यासविषया तद्भावापत्तिरुच्यते यथैष ब्रह्मदत्तः इति।
—सरस्वती० पृ० २२३, बा० संस्क०

जो अध्यवसित होकर भी समक्ष आ जाय। यद्यपि भोजकृत 'समासोक्ति' लक्षण के अनुसार हमें केवल उपमेय अर्थात् प्रस्तुत मात्र की 'तद्भावापत्ति' जाननी चाहिए क्योंकि यदि अन्योक्ति तथा समासोक्ति, भोज के अनुसार एक हैं तो अन्योक्ति में भी 'उपमानादेवोपमेयप्रतीति' का निबन्धन होना चाहिए। किन्तु जैसा कि पूर्व व्याख्यान में यह देख चुके हैं कि भोज का 'समासोक्ति' लक्षण ऐकान्तिक नहीं है। क्योंकि लक्षण में तो भोज उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसापक्ष' में ही सीमित करते हैं, किन्तु उदाहरण दोनों ही पक्षों का देते हैं, अतः उनकी समस्त धारणाएँ सदोष हो गयी हैं। अन्योक्ति व्याख्यान में भी आचार्य की यही कमी परिलक्षित होती है।

भोज के अनुसार अध्यासविषयक तद्भावापत्ति दो प्रकार की होती है—शुद्ध एवं चित्र। किन्तु इन दोनों में जो अन्तर आचार्य ने बताया है वह भी किसी तर्कनिष्ठ एवं सुदृढ़ आधार पर नहीं स्थित है। भोज के ही शब्दों में—'एकस्यैव चाध्यासात् इयं शुद्धा इत्युच्यते'. . . 'अनेकाध्यासवैचित्र्याच्चित्रेत्युच्यते' (पृ० २२३) एक ही वस्तु के अध्यास का तात्पर्य यह है कि जब किसी वर्णन में केवल एक ही वस्तु के विषय में उपमानोपमेय भाव हो। ऐसा प्रायः भामहीय समासोक्ति में होता है, क्योंकि उसमें विशेष्य केवल एक रहेगा, शेष भाग तुल्यविशेषणों से युक्त होगा। यही शैली अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अपनायी जाती है। भोज का उदाहरण 'अभिधीयमानतुल्यविशेषणा' का होने के कारण समासोक्ति से ही सम्बद्ध है—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतां किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलपरिपाकप्रणयिनीम्।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मनाक् अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः॥

इस उदाहरण में केवल चन्द्रमा तथा नायिकामुख के उपमानोपमेयभाव की चर्चा की गयी है। पद्य का समस्त भाग तुल्यविशेषणों से युक्त है और नायिका के मुख पर केवल एक चन्द्रमा का आरोप किया गया है। इसके विपरीत—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

इस उदाहरण में कमल, कुवलय तथा कनकलतिका का अध्यास, नायिका के मुख, नेत्रद्वय तथा शरीर में किया गया है। अतः पूर्वोदाहरण, जहाँ कि केवल एक ही वस्तु का अध्यास है, से यह उदाहरण भिन्न है। ये दोनों उदाहरण भोज के अनुसार क्रमशः शुद्धा एवं चित्रा 'अध्यासविषयक तद्भावापत्ति' के हैं।

किन्तु एक बात यह समझ में नहीं आती कि भोज ने शुद्धा को 'अन्योक्ति' तथा चित्रा को 'अनन्योक्ति' क्यों कहा है? यदि भोज के अभिप्राय को ही स्वीकार करके कोई इस विषय में कुछ वक्तव्य उपस्थित करना चाहे तो उसका एकमात्र रूप यही होगा कि एक विषय के अध्यास को अन्योक्ति तथा बहुतों के अध्यास को अनन्योक्ति कहते हैं। किन्तु यह भेद,

निराधार, परम्पराविरुद्ध एवं अपुष्ट है और सच बात तो यह है कि भोज की 'अनन्योक्ति-कल्पना' ही व्यर्थ है, क्योंकि विषय की दृष्टि से वह अन्योक्ति से पृथक् नहीं हो पाती। भोज ने इन्हीं दोनों अलंकारों के योग को 'उभयोक्ति' माना है जो कि अन्योक्ति आदि की ही भाँति कल्पना-गौरव-मात्र प्रतीत होती है।

वस्तुतः संक्षिप्तकथन मात्र से समासोक्ति भाव स्वीकार करने के कारण भोज का एतद्विषयक सिद्धान्त अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो गया है। इस विषय में स्वयं भोज के विचार आकलन करने योग्य हैं। अन्योक्ति, अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति की व्याख्या करने के बाद ही आचार्य ने एक समस्या उपस्थित की है---उपलक्षणं चैतत्। तेनान्यापि योपमानोपमेयविषये संक्षेपोक्तिः सापि समासोक्तिरेव भवति यथा---

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमप्रभा।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥

—सरस्वती० पृ० २२४।

भोज के अनुसार यह उदाहरण 'उत्प्रेक्षोक्ति' का है। क्योंकि यहाँ चन्द्रमा का कज्जलाक्त होना, मृगवधुओं की आँखों का पथराना, मूँगे की लाली का म्लान होना, स्वर्णप्रभा की कालिमा, कोकिलालाप का पारुष्य तथा मयूरपिच्छों की अवमानना आदि उक्तियाँ उत्प्रेक्षामुखेन व्यक्त की गयी हैं। किन्तु यह भी ज्ञातव्य तथ्य है कि इन उक्तियों का कथन सीताशब्दवाच्य, मुखादि अंगों के आश्रय से ही हुआ है। अतएव मुखादि वे उपमेय यद्यपि पद्य में अनुक्त हैं तथापि इन्दु, मृग, विद्रुम, हेम, कोकिल, एवं शिखी के सहारे उनकी स्फुट प्रतीति हो रही है। भोज के अनुसार चूँकि यह भी संक्षेपोक्ति ही है अतः 'समासोक्ति' से बाहर नहीं।

भोज के इन परिपन्थी विचारों से सहमत होना अत्यन्त कठिन है। जो व्यक्ति आचार्य भामह से लेकर भोज के आसन्नपूर्ववर्ती अभिनवगुप्त तक की काव्यशास्त्रीय परम्परा समझ चुका हो, वह इन असंगतियों एवं थोथी उद्भावनाओं को हृदय में स्थान ही नहीं दे सकता। 'समासोक्ति' के ही प्रसंग में यदि हम आचार्य की उपर्युक्त धारणा स्वीकार कर लें तो बहुतेरे अलंकार उसी कोटि में आ जायेंगे। ऐसी दशा में एक ही पथ बचेगा कि हम भोज की समासोक्ति को एक विलक्षण काव्यतत्त्व स्वीकार करें जो कि कभी सम्भव नहीं। क्योंकि स्वयं भोज ने 'समासोक्ति' का व्याख्यान उभयालंकारों के एक प्रकारविशेष के रूप में किया है। अतः निश्चित है कि उनका प्रयत्न पूर्वपरम्परा का निर्वाह करने के साथ-ही-साथ कुछ नव्यता स्थापित करने की ओर भी रहा किन्तु इसी नव्यता के चक्कर में भोज अपनी सीमाओं को भूल गये और तभी पद-पद पर स्खलन भी हुआ।

यद्यपि अलंकार सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य रुद्रट का मतानुशीलन एक विशेष अभिप्रायवश आगे करेंगे। किन्तु थोड़े में यह प्रकाश डाल देना आवश्यक है कि अलंकार के अंग रूप में अन्योक्ति का क्या स्थान रहा? इस विषय पर अध्यायारम्भ में भी प्रभूत तथ्य कहा जा चुका है कि इस सम्प्रदाय के पोषक आचार्यों ने अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया था। दण्डी ने स्पष्टतः अलंकार को 'काव्यशोभाकर' धर्म स्वीकार किया जब कि परवर्ती आचार्यों ने उन्हें काव्यशोभा का आधायक अथवा वर्द्धक मात्र स्वीकार किया है। इस प्रकार शोभा के विषय में अलंकारों का कर्तृत्व स्वीकार करने में दण्डी की अन्तरेहा मूलतः उनकी आत्मा रूप मान्यता पर ही केन्द्रित रही। काव्यादर्श १।१९ में भी आचार्य ने भिन्न वृत्तान्तों से उपेत, लोकरंजक काव्य के कल्पान्तरस्थायी होने की घोषणा की है किन्तु कब? यदि वह सुन्दर अलंकारों से भरा-पुरा हो। काव्यं कल्पान्त-रस्थायि जायते सदलंकृति! इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का लोकानुरंजकत्व अथवा कल्पान्तरस्थायित्व दण्डी के अनुसार उसके 'सदलंकृति' होने पर ही सम्भव था। अतः अलंकार काव्य के अपरिहार्य धर्म स्वीकार करने योग्य है। दण्डी ने गुणों, लक्षणों अथवा एवंविध अन्य तत्त्वों में कोई भेद नहीं माना, क्योंकि सब के कार्य एकविध ही थे—काव्य का अलंकरण। भोज प्रभृति आचार्यों ने कैसे रस तक को अलंकार ही माना यह भी स्पष्ट हो चुका है।

अलंकारों का, काव्य से सम्बद्ध यह स्वरूप समझने के पश्चात् हम यह निर्णय कर सकते हैं कि यमक-अनुप्रास प्रभृति समस्त विशिष्ट अलंकार काव्य को शोभित करने के लिए ही कवियों द्वारा प्रयुक्त होते रहे हैं। किन्तु समस्या तो यह है कि एक ही कार्य करने के कारण, समस्त अलंकारों को एक ही होना चाहिए। फिर क्यों उनमें नाम-भेद है? क्यों कुछ अलंकार अथवा कोई अलंकार, काव्यालंकरण में अधिक सफल है, दूसरा नहीं? और क्यों कुछ अलंकार व्यञ्जनायुक्त तथा उत्तमोत्तम कोटि के हैं और अन्य अनुप्रास, यमकादि शुद्ध शब्दजाल-मात्र!

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि काव्यालंरण रूप कार्य करने के कारण अलंकारों की एकरूपता ग्राह्य अवश्य है, किन्तु चूँकि वे स्वयं काव्य में प्रयुक्त न होकर, प्रयोक्ता कवि द्वारा उचित स्थान पर, उचित रीति से, औचित्य पोषणार्थ ही विन्यस्त किये जाते हैं इसी कारण उनमें अनेक प्रकार का भेद उत्पन्न हो जाता है। अतएव अलंकारों के अधिक अथवा न्यून रामणीयक होने का, व्यंजना अथवा अभिधामात्र से युक्त होने का सारा श्रेय प्रयोक्ता कवि को ही है। आचार्य श्रीज्ञान के ये शब्द इसी युक्ति का समर्थन करते हैं—'सदलंकृति सत्यः शोभनाः सुप्रयुक्तत्वात्। न त्वलंकृतयः स्वरूपेण शोभना नाम' (काव्यादर्श० पृ० १३, दरभंगा) समासोक्ति एवं अप्रस्तुतप्रशंसा के वैभव की कथा भी यही है। इन दोनों अलं-कारों को अन्यों की अपेक्षा जो इतना अधिक सम्मान एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व मिला वह इसी कारण कि ये कवि का मानसपटल, प्रेङ्खोलित करने में सफल हो सके। और अप्रस्तुत-

प्रशंसा तो इतनी लोकप्रख्यात बनी कि अलंकारों से व्यतिरिक्त उसका एक स्वतन्त्र साहित्य ही बन गया।

यद्यपि पर्यायोक्त, व्याजस्तुति आदि अनेक अन्यालंकार कार्य की दृष्टि से अन्योक्ति से कुछ साम्य अवश्य रखते हैं किन्तु कवियों ने उन्हें अन्योक्ति के बराबर आदर नहीं दिया। क्योंकि वे लोकाभिव्यंजन के उतने समीप नहीं थे। वे काव्य का तथाकथित अलंकरण मात्र ही कर सके। किन्तु अन्योक्ति काव्य को अलंकृत करने के साथ-ही-साथ नीरक्षीरवत् स्वयं काव्यरूप हो गयी। उसका यही वैशिष्ट्य उसके व्यक्तित्व को द्विविध बना देता है, एक तो काव्यालंकार रूप, दूसरा काव्यरूप।

आचार्य वामन के विषय में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उन्होंने समस्त अर्थालंकारों की स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार करके, उन्हें उपमालंकार का ही प्रपंच (विस्तार) स्वीकार किया है। अपने लक्षणग्रन्थ के आलंकारिक नामक चतुर्थ अधिकरण में आचार्य ने अनेक बार अपने इस मन्तव्य को दुहराया है।[1] उपमा को ही मौलिक अलंकृति मानने के कारण आचार्य ने पूरे एक अध्याय में (काव्या० ४।२) उसी का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया है। वामन के अनुसार उपमान के साथ उपमेय की गुणलेशयुक्त समता ही उपमा है। उत्कृष्ट गुणवाला होने के कारण जो सादृश्य के लिए आमन्त्रित किया जाता है, उपमित होता है उसे 'उपमान' कहते हैं। इसी प्रकार न्यून गुण वाला होने के कारण, जिसकी उपमा दी जाती है उसे 'उपमेय' कहते हैं।[2] इसके अतिरिक्त वामन ने उपमा के त्रिविध भेदों, तीन प्रयोगस्थानों (स्तुति-निन्दा एवं तत्त्वाख्यान) तथा छह दोषों का विधिवत् व्याख्यान भी किया है।

इस प्रकार आचार्य वामन उपमा को ही समस्त अर्थालंकारों का मूल मानते हैं। उनका यही मत परवर्ती युग में आचार्य अप्पय दीक्षित ने सविस्तर पल्लवित किया।[3] उपमामूलक होने के ही कारण वामन द्वारा व्याख्यात अर्थालंकारों के पारिभाषिक दृष्टिकोण में

---

१. द्रष्टव्य--सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमा इति सैव विचार्यते (काव्या० ४।२) + + उपमानोपमेयलोपस्तु उपमाप्रपंचे द्रष्टव्यः (का० ४।२) + + + सम्प्रत्युपमाप्रपंचो विचार्यते। कः पुनरसावित्याह-प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः (का० ४।३।१) + +
एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपंचिता॥ (का० ४।३)

२. उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा (४।२।१) उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्। यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्। उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यं यदसावुपमेति।

३. द्रष्टव्य--चित्रमीमांसा में उपमाप्रपंच, पृ० ६, ७। श्रीरामशास्त्री मानवल्ली सम्पादित संस्करण, काशी, सन् १८९१ ई०।

प्रभूत अन्तर आ गया है, क्योंकि वे सब-के-सब स्वतन्त्रविचार अथवा पूर्वाचार्यों द्वारा संचालित पारम्परिक सिद्धान्तों की प्रसूति न होकर एक विशेष बन्धन में बँधे हैं, अर्थात् उपमा-सापेक्ष हैं। उपमान तथा उपमेय ही उपमा की काया हैं। इनके अस्तित्व में ही उपमालंकार होता है और किसी एक के न रहने पर अनेकविध अलंकारों की सृष्टि होती है, जैसे—प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, सन्देह आदि। इस प्रकार वामन द्वारा प्रोक्त कोई भी अलंकार अपने-आप में पूर्ण नहीं है, निरपेक्ष नहीं है। वरन् प्रत्येक अलंकार अपने पूर्ववर्ती अलंकार के ही प्रसंग में तथा उसी की आधारशिला पर विन्यस्त प्रतीत होता है। वस्तुतः अलंकार-पुष्पों को उपमा के डोरे में संग्रथित करके वामन ने एक नवीन सैद्धान्तिक सरणि अवश्य स्थापित की, किन्तु व्यष्टिदृष्ट्या उनका 'अलंकारविवेचन', दण्डी की भाँति सशक्त न हो सका। अन्योन्याश्रित होने के कारण उसमें शिथिलता की गंध आती है।

अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय में भी यही तथ्य सत्य है। 'किंचिदुक्तौ अप्रस्तुतप्रशंसा' भर कह देने से तथाकथित अलंकार का कोई स्थूल रूप भी हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि 'किंचिदुक्तौ' पद का संकेत उसके पूर्ववर्ती अलंकारों के लक्षणों में स्थित तथ्यों की ओर है। जब तक उनका स्पष्टीकरण या प्रकाशन नहीं हो जाता तब तक अप्रस्तुत० एक गूढ़सत्ता ही बनी रहेगी। अतएव यह विचारणीय विषय है कि 'किंचित्' पद द्वारा संकेतित तथ्य कौन है, जिनके बिना वामनप्रदत्त अप्रस्तुतप्रशंसा की परिभाषा अपूर्ण-सी प्रतीत होती है ?

'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' के चौथे अधिकरण में वामन ने अलंकारों का विवरण प्रस्तुत किया है। अधिकरण के तीन अध्यायों में प्रथम का विषय शब्दालंकार (अनुप्रास तथा यमक) तथा द्वितीय का विषय एकमात्र अर्थालंकार उपमा है। शेष, लगभग तीस अर्थालंकारों की चर्चा, उपमाप्रपंच के रूप में वामन ने तृतीय अध्याय में की है। प्रतिवस्तूपमा-समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा ये तीन अलंकार ऐसे हैं जो सर्वप्रथम इसी क्रम में व्याख्यात किये गये हैं। वामन ने यह क्रम अध्याय के पहले ही सूत्र में स्पष्ट कर दिया था—'प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः' (४।३।१)।

वामन की व्याख्या के अनुसार प्रतिवस्तु, समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा इन तीनों में ही समान वस्तु का न्यास होता है किन्तु विभिन्न दशाओं में। प्रतिवस्तूपमा में उपमेय (अथवा प्रस्तुत) के उक्त या वाच्य होने पर, समासोक्ति में अनुक्त या अवाच्य होने पर तथा अप्रस्तुत० में किंचिदुक्त अर्थात् अंशतः वाच्य होने पर। समानवस्तु का अभिप्राय यहाँ अप्रस्तुत पक्ष या उपमान पक्ष से है जो कि तीनों में सर्वदा वाच्य ही रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वामन के मत से उपमानोपमेय दोनों के वाच्य रहने पर प्रतिवस्तु, अप्रस्तुतवाच्य तथा प्रस्तुत-अवाच्य (व्यंग्य) रहने पर समासोक्ति तथा अप्रस्तुतवाच्य एवं प्रस्तुत किंचिद्वाच्य (अंशतः व्यंग्य) रहने पर अप्रस्तुत० होती है। इन्हीं तीनों अलंकारों (त्रिक) के साम्य को 'वामनीय-त्रिकसाम्य-पद्धति' की संज्ञा दी जा सकती है। वामन के अनुसार प्रतिवस्तु का स्वरूप इस

प्रकार है—उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु (४।३।२) 'प्रति' का अर्थ है 'प्रतिद्वन्द्वी'। अतः प्रतिवस्तु का अर्थ है--एक वस्तु के वाक्यार्थरूप रहने पर उसी के समकक्ष दूसरी वस्तु का न्यास। पहला वाक्यार्थ उपमेय रूप होता है (प्रस्तुत या प्रासंगिक) और दूसरा वाक्यार्थ उपमान रूप (अप्रस्तुत या अप्रासंगिक) किन्तु होते हैं दोनों वाक्यार्थ रूप ही न कि पदार्थ-रूप। वाक्यार्थोपमा से इसका यही भेद है कि वहाँ तो उपमानोपमेय दोनों ही समन्वित होकर केवल एक वाक्यार्थ बनते हैं किन्तु प्रतिवस्तु में दोनों दो स्वतन्त्र वाक्यार्थ बनते हैं उदाहरणार्थ—

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपांकितं रत्नम्॥

यहाँ प्रथम पंक्ति का वाक्यार्थ उपमेय (साथ ही प्रस्तुत भी) तथा दूसरा उपमान (साथ ही अप्रस्तुत भी) पक्ष है। 'न खलु परिभोगयोग्यम्' आदि समानवस्तु है, जिसका कथन उपमेय-कथन के बाद ही किया गया है।

प्रतिवस्तु से समासोक्ति का भेद प्रदर्शित करने के लिए वामन समासोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—'अनुक्तौ समासोक्तिः' (४।३।३) 'अनुक्तौ' के प्रसंग में 'उपमेय' का अध्याहार स्वयं हो जाता है, क्योंकि प्रतिवस्तु में हम इसका प्रमाण पा चुके हैं। अतः इसका अर्थ यह हुआ कि जब उपमेय (अथवा प्रस्तुत पक्ष) सर्वथा अनुक्त रहे तब समानवस्तु (वाले अप्रस्तुत या उपमान पक्ष) का न्यास, समासोक्ति है। पूर्ववर्ती आचार्यों की ही पद्धति का अनुसरण करते हुए वामन ने भी 'संक्षेपवचन' को समासोक्ति नाम पड़ने का मूल कारण स्वीकार किया है--'संक्षेपवचनात् समासोक्तिरित्याख्या।' उदाहरण से वामन की धारणा स्पष्ट हो जायेगी—

'श्लाघ्या ध्वस्ताध्वगग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः। धिङ्मेरौ कल्पवृक्षाणामव्युत्पन्नार्थिनां श्रियः॥'
यहाँ मरुस्थल में करील स्थिति की प्रशंसा और सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्षों की स्थिति की निन्दा करने से उनके उपमेयभूत, परोपकारप्रवण निर्धन की प्रशंसा तथा परोपकारविमुख धनिकों की निन्दा बिना कहे भी, संक्षेप में प्रस्तुत की गयी है, इसीलिए यहाँ 'समासोक्ति' अलंकार है।

जैसे, प्रतिवस्तु से पार्थक्य मात्र प्रदर्शित करने के ध्येय से वामन ने समासोक्ति का लक्षण किया था, ठीक उसी प्रकार—(समासोक्तेरप्रस्तुतप्रशंसाया भेदं दर्शयितुमाह) किंचि-दुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा (४।३।४) अर्थात् जब किसी पद्य में उपमेयपक्ष या प्रस्तुत का आंशिक कथन हो, लिंगमात्र से कथन हो और तब समानवस्तु (उपमान पक्ष) का न्यास हो, तब वहाँ अप्रस्तुत० अलंकार होता है। वामन ने शाब्दिक अर्थ लेते हुए—अप्रस्तुतार्थ की प्रशंसा-स्वरूप होने के कारण इसे अप्रस्तुतप्रशंसा माना है। उदाहरणार्थ—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि काचनेयं यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

यहाँ स्नानार्थ आगत किसी रमणी के प्रति विदग्धजन की उक्ति प्रकट होती है। लावण्य-सिन्धु के वर्णन द्वारा कवि समस्त उपमानों (वाक्यार्थरूप) को (चन्द्रोत्पलद्विरदकुम्भकदलिकाण्डमृणालदण्डादि) एकत्रित करता है। किन्तु यहाँ इन शब्दों का अर्थ केवल चन्द्रोत्पल प्रभृति शब्दों (पदार्थों) तक ही नहीं सीमित है, वरन् 'काचनेयं' के अनुसार एक युवती के अंगों को भी संकेतित करता है।[1]

यहाँ अवधेय तथ्य यह है कि वाक्यार्थ रूप ये उपमेयतत्त्व न तो प्रतिवस्तूपमावत् स्पष्टतः शब्दों में अभिव्यक्त किये गये हैं और न तो समासोक्तिवत् स्पष्टतः अनुक्त ही हैं। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा में वे संकेत रूप में व्यक्त किये गये हैं, किंचिदुक्त हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि उपमेय की सर्वथा अनुक्ति में समानवस्तु की वर्णना 'समासोक्ति' किंचिदुक्ति में 'अप्रस्तुत०' तथा पूर्णतः उक्ति में 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार होते हैं। किन्तु इस उपमेय रूप वाक्यार्थ के समान (अन्य—अप्रस्तुत) वस्तु का न्यास तीनों में सामान्यरूप से ही होता है, यही तीनों का पारस्परिक साम्य है।

आचार्य वामन की 'त्रिकसाम्यपद्धति' समझ लेने के पश्चात् कई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। यद्यपि वामन ने एक 'उपमेय' की ही 'उक्ति-अनुक्ति या किंचिदुक्ति वश' प्रतिवस्तु प्रभृति अलंकारों की भिन्नता प्रदर्शित की है, किन्तु यदि हम वामन के पूर्वाचार्यों की दृष्टि से चिन्तन करें तो प्रतीत होगा कि आचार्य ने भामह एवं दण्डी दोनों की ही सैद्धान्तिक वीथियों का तिरस्कार करके, एक तीसरी वीथी की शरण ली है। हम जानते हैं कि प्राचीन परम्परा के अनुसार अप्रस्तुतवाच्य से प्रस्तुत की व्यंजना को 'अप्रस्तुतप्रशंसा' तथा प्रस्तुत वाच्य से अप्रस्तुत की व्यंजना को समासोक्ति कहते हैं। इसी सिद्धान्त को आचार्य भामह, दण्डी तथा उद्भट ने स्वीकार किया। दण्डी की विशेषता केवल यह है कि उन्होंने 'संक्षेपवचनत्व' के उभयनिष्ठ होने के कारण इन दोनों अलंकारों को एक रूप ही स्वीकार किया, किन्तु सिद्धान्त रूप में अलग-अलग अप्रस्तुत० तथा समासोक्ति के प्रति उनकी आस्था भामह की ही भाँति रही। इस विषय पर प्रभूत प्रकाश पूर्वानुच्छेदों में डाला जा चुका है। परन्तु इन पूर्व प्रमाणों के रहते हुए भी वामन ने समासोक्ति एवं अप्रस्तुतप्रशंसा की व्याख्या एक नूतन दृष्टिकोण से की जो कि असमंजस-सी प्रतीत होती है। दोनों के बीच प्रदर्शित भेद भी किसी सुस्थिर नियामक तथ्य पर आधारित नहीं है। वामन के ये दोनों अलंकार उनकी दृष्टि से भले पृथक् हों किन्तु पूर्व परम्परा की दृष्टि से दोनों सम्मिलित रूप से भामहीय अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न नहीं हैं। प्रश्न यह है कि

---

१. किन्तु रुद्रटालंकार २।८ की टीका में आचार्य नमिसाधु ने (वामन के इस अभिप्राय के विरुद्ध) इस पद्य को अवाचक दोषयुक्त माना है—'अत्र शशिशब्देन मुखम् उत्पलशब्देन नेत्रे, द्विरदकुम्भाभ्यां स्तनौ कदलिकाण्डशब्देनोरू मृणालदण्डशब्देन बाहू कवेर्विवक्षितौ। न च शब्दास्तथावाचकाः? न च मुखादिषु शशिप्रभृतीनि पदानि यौगिकानि रूढानि वेत्यवाचकान्येव। उपमेयपदाप्रयोगाच्च रूपकभ्रान्तिरपि नास्ति।

वामन ने ऐसा किया क्यों? व्यक्तिगत दृष्टिकोण की पुष्टि करने के लिए अथवा किसी समकक्ष एवं विरुद्ध मत वाले आचार्य द्वारा स्थापित अप्रस्तुतप्रशंसा के सिद्धान्त में अपनी अनास्था व्यक्त करने के लिए? लगता ऐसा ही है कि वामन की इस नवीन स्थापना का मूल कारण उनकी महत्त्वाकांक्षा तथा उनका स्वमताभिमान ही था, क्योंकि पहले ही वह भामहादि द्वारा संचालित अलंकार सम्प्रदाय के स्थान पर रीति सम्प्रदाय को अनुमोदित कर चुके थे। ऐसी दशा में प्रतिपद नवीनताप्रदर्शित करने का मोह-संवरण करना उनके लिए दुष्कर हो गया होगा। रीति का काव्यात्मत्व, गुण विवेचन तथा अलंकारों की उपमामूलकता आदि तथ्य उनकी इसी भावना के पोषक प्रमाण हैं। दूसरी बात यह कि अलंकार सम्प्रदाय के प्रचण्डमनीषी उद्भटाचार्य स्वयं उनके समयुगीन तथा साथ रहने वाले थे। अतः यह सम्भव है कि उद्भटस्थापित मान्यता से अपनी व्यतिरिक्तता दिखाने के ही लोभवश आचार्य ने अप्रस्तुतप्रशंसादि के विषय में यह नवीन दृष्टिकोण अपनाया और अपने इसी गाम्भीर्यहीन विवेचन के कारण आचार्य नरेन्द्र-प्रभसूरि (१३वीं शती ई०) का कटाक्ष भी परवर्ती युग में उन्हें मिला—'केचित् पुनः 'लावण्यसिन्धु... दण्डाः' इत्यादावप्यप्रस्तुतप्रशंसां मन्यन्ते। तदसत्। यत्रोत्पलानीत्यादौ भेदेऽभेदरूपयाऽतिशयोक्त्याऽलंकृत्याऽत्मनो लावण्यसिन्धुरपरैव हीत्यत्राभेदेभेदरूपाया अतिशयोक्तेर्व्यतिरेकस्य वा विषयत्वात्।'—अलंकारमहोदधि अष्टमतरंग, पृ० २८२ (श्रीलालचन्द्रभगवानदास गांधी सम्पादित, बड़ौदा संस्करण, सन् १९४२ ई०)।

उद्भट तथा वामन दोनों कश्मीर नरेश महाराज जयापीड (ई० ७७९-८१३ तक) के आश्रय में रहे, ऐसा राजतरंगिणीकार का साक्ष्य प्राप्त होता है। वामन उनके प्रधानामात्य तथा उद्भट सभापति थे, एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय (रीति) का व्यवस्थापक और दूसरा अलंकार सम्प्रदाय का प्रबल समर्थक। ऐसी दशा में पूर्ण सम्भावना है कि दोनों विद्वानों में सैद्धान्तिक मतभेद रहा हो और सम्भवतः इसी स्पर्द्धावश, समकालिक होते हुए भी दोनों आचार्यों में से एक ने भी अपने ग्रन्थ में दूसरे का उल्लेख नहीं किया।[1] जो भी हो, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि आचार्य वामन ने समासोक्ति तथा अप्रस्तुत० का जो स्वरूप सिद्धान्तित किया, वह प्राचीनाचार्यों की मान्यता का विरोधी है। समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थात् उपमेय पक्ष सर्वथा वाच्य होता है और अप्रस्तुत या उपमान पक्ष सर्वदा व्यंग्य। किन्तु वामन की समासोक्ति में ठीक इसका उल्टा है जो कि प्राचीन विद्वानों के अनुसार अप्रस्तुत० का स्वरूप है।

वस्तुतः वामन द्वारा व्याख्यात समासोक्ति एवं अप्रस्तुत० दोनों में ही, समान वस्तु-रूप 'अप्रस्तुत' वाच्य होता है और उपमेय अथवा 'प्रस्तुत' सर्वथा अवाच्य अथवा किंचिद्वाच्य। उपमेय चाहे सर्वथा अवाच्य हो अथवा किंचिद्वाच्य हो, दोनों ही दशाओं में वह व्यंग्य तो होगा ही। अतः ये दोनों ही रूप 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के ही होने चाहिए। इन दोनों में भी

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—डॉ० पी० वी० काणे कृत 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स' पृ० १३८, प्रथम संस्करण, १९५१ ई०।

वामन का समासोक्ति सिद्धान्त पूर्णतः अप्रस्तुत० का ही स्वरूप है—सिद्धान्त से भी और आचार्य द्वारा प्रदत्त उदाहरण से भी। वामन का यही सिद्धान्त, आचार्य भोज ने बाद में अविकल रूप से ग्रहण किया जिसका विस्तृत व्याख्यान पीछे उपस्थित किया जा चुका है। किन्तु जैसा कि भोज की 'मधुकरवृत्ति' भी स्पष्ट की जा चुकी है, उन्हें जिस आचार्य का जो मत अभीष्ट रहा चाहे वह अयुक्त ही क्यों न रहा हो, किन्तु निश्शंक भाव से बिना कोई भूमिका प्रस्तुत किये, उन्होंने उसे बलात् आत्मसात् करने की कोशिश की है और उनका यही प्रयत्न अनभीष्ट मत को त्यागने में भी द्रष्टव्य है। वामन का ही दृष्टान्त लीजिए—भोज ने उनकी समासोक्ति को तो ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया किन्तु वामन की अप्रस्तुत० को उन्होंने दूध में पड़ी मक्खी की तरह उपेक्षित किया। वामन प्रदत्त अप्रस्तुत० के उदाहरण को भोज ने उभयोक्ति मानकर उसके रूप को ही कवलित कर दिया। इसी प्रकार दण्डी की अप्रस्तुत० को भोज ने अविकल भाव से ग्रहण किया किन्तु उनकी समासोक्ति का निर्वाह वे युक्तितः न कर सके। आचार्यों की इन दुर्व्यवस्थाओं को एक सर्वमान्य संविदा-रेखा पर ला सकने में असमर्थ होने पर बड़ी खीझ भी उत्पन्न होती है।

आश्चर्य इस बात पर होता है कि प्रत्येक आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य के सिद्धान्त का, बिना कोई कारण बताये, उल्लंघन क्यों किया अथवा जिन लोगों ने किसी पूर्वाचार्य का समर्थन ही किया, उन्होंने विरोधियों की उद्भावनाओं का खण्डन ही क्यों नहीं किया? वस्तुतः ऐसी परम्परा अपनाने वाले आचार्य केवल अभिनवगुप्त ही हुए, जिन्होंने ध्वनिकार का समर्थन करने के साथ-ही-साथ विरोधियों का मुँहतोड़ जवाब भी दिया। यही कार्य उन्होंने नाट्यशास्त्र में भरत एवं भरतविरोधी आचार्यों के सन्दर्भ में किया। किन्तु साहित्य-शास्त्र का अलंकारक्षेत्र, विशेषकर पूर्व मम्मटयुगीन अलंकारक्षेत्र ऐसी प्रतिभा से हीन ही रहा। भोज की दृष्टि भी पूर्वाचार्यों के मतालोचन की ओर थी, किन्तु स्वार्थसिद्धि के विषम-जाल में पड़कर वह 'पूर्वमतखण्डन' रूप न होकर 'स्वमतमण्डन' रूप बन गयी।

पूर्वाचार्यों की सरणि छोड़कर वामन ने अप्रस्तुत० के व्याख्यान में जो नूतन दृष्टि-कोण अपनाया अर्थात् प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत आदि का माध्यम छोड़कर, उपमानोपमेय माध्यम स्वीकार किया, क्या वह असंगत है? इसका उत्तर नकारात्मक ही है, क्योंकि इस नवीन दृष्टि को अपना कर भी वामन ने अप्रस्तुतप्रशंसा विषयक पूर्वमान्य तत्त्वों में से किसी का भी प्रत्याख्यान नहीं किया। क्योंकि भामहादि की ही भाँति वामन के मतानुसार भी अप्रस्तुत० में अप्रस्तुत अथवा उपमानपक्ष (समानवस्तुरूप) का न्यास (प्रशंसा) तथा 'प्रस्तुत अथवा उपमेयपक्ष' की 'किंचिदुक्ति' (व्यंजनयावबोध) होती है। यही उपमेयपक्ष का प्रतिपादन अथवा ज्ञान 'कविसंरम्भगोचर' भी होता है।

हाँ एक बात अवश्य सत्य है कि वामन द्वारा निरूपित समासोक्ति भी अप्रस्तुतप्रशंसा से पृथक् नहीं, क्योंकि उसमें भी उपमेय पक्ष सर्वथा अनुक्त (व्यंग्य) तथा उपमान (समान वस्तु रूप) न्यस्त अथवा वाच्य होता है। सर्वथा अनुक्त होने से ही वामन की समासोक्ति

अधिक स्पष्टता के साथ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' प्रतीत होती है। अतः सिद्ध है कि उक्त दोनों अलंकार सर्वात्मना एक ही हैं, अन्तर केवल उपमेयपक्ष (प्रस्तुत) के अनुक्त अथवा किंचिदुक्त होने का है जो कि कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। वामन ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' रूप तत्त्व को स्वीकार तो किया किन्तु उन्होंने आचार्य उद्भट की भाँति यह नहीं कहा कि वह प्रशंसा प्रस्तुतार्थ-प्रतिपत्तिपरक (प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी) हो। आचार्य ने स्पष्टतः एक नवीन तथ्य प्रस्तुत किया—'समानवस्तुन्यास' जिसका सांकेतिक अभिप्राय, अप्रस्तुत की ही ओर था। अप्रस्तुत-प्रशंसा को एक बृहत् स्वरूप देने वाले आचार्य मम्मट का 'तदन्यस्यवचस्तुल्ये' वामन के 'समान-वस्तुन्यास' का ही प्रतीक है।

भामहादि-सम्मत समासोक्ति रूप, वस्तुतः वामन अपने आक्षेप अलंकार में उपस्थित करते हैं—'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः' (काव्या० ४।३) उपमानस्याक्षेपः आक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः। यथा—'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण. . .चकार' अत्र शरद् वेश्येव, इन्दुं नायकमिव रवेः प्रतिनायकस्येव इत्युपमानानि गम्यन्ते। आक्षेप का तात्पर्य भी प्रायः व्यञ्जनयावबोध से ही है क्योंकि आक्षेप (अध्याहार) उसी वस्तु का होता है जो प्रत्यक्ष (प्रतिपादित) न हो। समासोक्ति में भामह के अनुसार प्रस्तुतवाच्य से अप्रस्तुत की व्यंजना होती है। यही बात वामन भी 'इत्युपमानानि गम्यन्ते' द्वारा व्यक्त करते हैं। इस पद्य में शरत् आदि उपादान प्रस्तुत वर्णना के अंगभूत हैं जब कि उनसे नायक-नायिका रूप (जो कि उपमान स्वरूप—अप्रस्तुत है) व्यंग्य हो रहा है। सम्भवतः यही विचार आचार्य अभिनवगुप्त का भी था जब कि उन्होंने आक्षेपालंकार की व्याख्या में उपमानाक्षेप के रूप में इसी पद्य को उद्धृत करके अन्त में स्पष्टतः कहा—यदि वोपमानस्याक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्। यथा—ऐन्द्रं धनुषः पाण्डु पयोधरेण. . .चकार। 'इत्यत्रेर्ष्याकलुषितनायकान्तरमुपमानमाक्षिप्तमपि वाच्यार्थमेवालंकरोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव।'—ध्वन्यालोकलोचन प्रथमोद्योत।

इतना ही नहीं, वरन् आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत आक्षेपोदाहरण 'अनुरागवती सन्ध्या' आदि की व्याख्या में उन्होंने पुनः स्पष्टतः कहा—'तत्रोदाहरणत्वेन समासोक्तिश्लोकः पठितः।. . वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोः युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद्ग्रन्थकृत्। एषापि समासोक्तिर्वास्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्? सर्वथालंकारेषु व्यंग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यमित्यत्राशयोऽत्र ग्रन्थेऽस्मद्गुरुभिर्निरूपितः।'

'ऐन्द्रं धनुः' श्लोक के प्रसंग में कौमुदीकार आचार्य उत्तुंगोदय ने भी लिखा है—एवं वामनमतेनाक्षेपालंकारत्वमभिधाय भामहमतेन समासोक्तित्वं स्थापयति। इन प्रमाणों से यह तथ्य निश्चित हो जाता है कि आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार वामन का आक्षेपालंकार, भामह की समासोक्ति से बिलकुल पृथक् नहीं था और यदि हम उनके उपर्युक्त प्रमाण पर विश्वास करें तो यह भी सिद्ध हो जाता है कि स्वयं आचार्य आनन्दवर्द्धन भी यही मत मानते थे और इसी अभिप्रायवश उन्होंने 'अनुरागवती सन्ध्या' सरीखा उदाहरण प्रस्तुत

किया था, जो कि वामनीय आक्षेप अथवा भामहीय समासोक्ति दोनों का ही दृष्टान्त बन सकता था।

अतः निश्चित है कि जैसे भोज के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि उनका समासोक्ति व्याख्यान भ्रामक बन गया, क्योंकि 'समासोक्ति' नाम देकर भी उन्होंने उसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' को सिद्धान्तित किया और वास्तविक समासोक्ति सिद्धान्त भोज के समाधि एवं मीलितालंकार में तिरोहित रहा, ठीक उसी प्रकार, वामन ने भी 'समासोक्ति' नाम रखकर भी उसमें अप्रस्तुतप्रशंसा को सिद्धान्तित किया और वास्तविक समासोक्ति सिद्धान्त वामन के आक्षेपालंकार में तिरोहित रहा। इन दोनों अलंकारों के सैद्धान्तिक विवेचन से सिद्ध होता है कि 'समासोक्ति' के जीवन में अप्रस्तुत० की अपेक्षा अधिक विपत्तियाँ आयी हैं। अप्रस्तुत० का रूप भले ही समय-समय पर परिवर्तित, संशोधित एवं परिवर्द्धित हुआ किन्तु उसकी संज्ञा सब दिन अक्षुण्ण रही, किन्तु 'समासोक्ति' के वास्तविक रूप को तो ऐसे शीर्षकों के भीतर रखा गया कि कोई उन्हे पहचान ही न सका और जहाँ लोगों ने 'समासोक्ति' नाम देखकर उसे पहचानने की चेष्टा की वहीं उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' से अभिन्न पाया।

प्रथमाध्याय में विस्तारपूर्वक आचार्य रुद्रट के अन्योक्ति सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की जा चुकी है, अतः इस स्थल पर उसकी पुनरावृत्ति न करके हम यह देखेंगे कि अप्रस्तुतप्रशंसा के इस अभिनव नामकरण में आचार्य का स्वारस्य क्या था? इस नाम की सार्थकता क्या है? वस्तुतः आचार्य रुद्रट की काव्यशास्त्रीय प्रतिभा का एकमात्र परिचायक प्रमाण उनका 'अर्थालंकार-विभाजन' ही है। जिन पूर्वाचार्यों ने अपने अलंकारव्याख्यान में कोई-न-कोई विशेष तत्त्व स्थापित किया था, उन्हीं को संकलित करके आचार्य रुद्रट ने नवमशती में एक नवीन सरणि का परिचय दिया। अतएव रुद्रट के मत का परिशीलन करने से पूर्व ही उनके पूर्ववंश्यों पर एक दृष्टि डाल लेनी ठीक होगी—

(क) भामह ने 'अतिशयोक्ति' को ही समस्त अलंकारों का प्राणतत्त्व स्वीकार किया था—'इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः। सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥ काव्या०॥ २।८४।

(ख) भामह के बाद, आचार्य दण्डी ने अतिशयोक्ति की सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए अपना एक स्वतन्त्र मत दिया। वह मत था—श्लेष को समस्त अलंकारों का पोषक तत्त्व मानना—अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणं। वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ २।२२०

श्लेषः सर्वासुपुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियं। भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥२।३६३ (काव्यादर्श)

(ग) आचार्य वामन ने इन दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया या नहीं? यह तो हम युक्तिपूर्वक नहीं कह सकते, किन्तु उनकी यह घोषणा कि—'समस्त अर्थालंकार उपमा

मात्र के प्रपंच (विस्तार) हैं, एक अभिनव उद्भावना एवं मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य है। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।३ का उपसंहरण करते हुए वामन का कथन है—

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः। शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपंचिता॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत अलंकारशास्त्र की तीन स्वर्णशतियों में (ई० छठी सातवीं तथा आठवीं) अवतरित, इन तीन मौलिक आचार्यों ने अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति, श्लेष तथा उपमा को स्थापित करके एक क्रान्ति पैदा की। किन्तु यदि हम भामह तथा दण्डी के मतों का सूक्ष्मानुशीलन करें तो प्रतीत होगा कि 'स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति' भी इसी कोटि के व्यापक तत्त्व हैं। दण्डी ने तो स्पष्टतः वाङ्मय को इन्हीं दोनों तत्त्वों में अन्तर्भूत किया (काव्या० २।३६३) जब कि आचार्य भामह ने 'स्वभावोक्ति' को सहज वर्णन (Natural description) तथा वक्रोक्ति को भंगीभणिति अथवा 'वाग्वैदग्घी' (A skillful utterance or a clever presentation) रूप में स्वीकार किया। भामह की वक्रोक्ति का मूल्यांकन भी द्वितीय अध्याय में आचार्य भरत प्रोक्त 'लक्षण' के समकक्ष काव्य-तत्त्व के रूप में किया जा चुका है जो कि अत्यन्त व्यापी काव्यतत्त्व है तथा किसी भी काव्यालंकार के अणु-अणु में व्याप्त है। स्वभावोक्ति का तात्पर्य है किसी भी वस्तु का यथातथ्येन उपस्थापन, वस्तु का अपना स्वरूप अर्थात् जैसी कोई वस्तु हो, स्वभाव हो या पदार्थ प्रकृति हो, ठीक उसी का प्रदर्शन, बिना उस वस्तु के विषय में कोई अतिशयोक्ति किये, बिना कोई श्लेष संयुक्त किये अथवा बिना किसी औपम्यस्थापन के।

ऐसी दशा में जैसे अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति (भामह) श्लेष (दण्डी) अथवा उपमा (वामन) का उत्कर्ष या अधिकार माना जा सकता है, उसी प्रकार 'स्वभावोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' का भी। क्योंकि वे भी अत्यन्त व्यापी काव्यतत्त्व हैं, अतिशयोक्ति आदि की भाँति। 'स्वभावोक्ति' की ही अपर संज्ञा वास्तव भी है, क्योंकि 'वास्तव' का भी अर्थ 'वस्तु के रूप' से है जो कि स्वभाव से अभिन्न ही है। इन्हीं दोनों सम्भाव्य तत्त्वों को अलंकारों का मूल कल्पित करके, संस्कृत अलंकारशास्त्र में पुनः एक क्रान्ति की लहर उठी, कुछ ही समय का अन्तर देकर। यह क्रान्ति थी—पूर्वाचार्यों की एतद्विषयक मान्यताओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने की। भामह की अतिशयोक्ति, दण्डी का श्लेष तथा वामन की उपमा, सब अधुना अस्तप्राय-से थे किन्तु अस्तगामी रवि की भाँति उनका शास्त्रव्यापी प्रभाव, उनकी सुदृढ़ आधारशिला अब भी समस्त प्रतिक्रियाओं को सहने के लिए तत्पर थी। नये क्रान्तिकारी आचार्यों के समक्ष अब दो ही विधा थी—

(१) या तो वे पूर्वाचार्यों के मतों को यथाकथंचित् स्वीकार करके, अपनी मान्यता भी लोक के समक्ष स्वीकृत्यर्थं प्रस्तुत करते। यह पथ समझौते (compromise) का था।

(२) अथवा बिना किसी यश एवं अपयश की परवाह किये, वे अपनी मान्यता को दृढ़तापूर्वक विद्वन्मण्डल के समक्ष रखते। जैसी उनकी प्रतिभा या पहुँच होती, अपने

विषय में वैसी ही उस सिद्धान्त की स्थापना भी सम्भव थी। किन्तु यह पथ समझौते का न होकर प्रतिक्रिया (Reaction) का था।

क्रान्ति की ये लहरें नवम तथा एकादश शती में उठीं। पहली का नेतृत्व आचार्य रुद्रट ने किया। समझौते का पथ अपनाते हुए उन्होंने भामहादि द्वारा उपदिष्ट अतिशयोक्ति-श्लेष तथा उपमा को अलंकारों का मूल स्वीकार किया साथ-ही-साथ अपना यह स्वतन्त्र मत भी विद्वल्लोक के समक्ष रखा कि 'स्वभावोक्ति' अथवा 'वास्तव' को भी अलंकारों का मूल माना जाय। इसी प्रकार दूसरी क्रान्ति का नेतृत्व राजानक कुन्तक ने किया। प्रतिक्रिया का पथ अपनाते हुए उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा[1] स्थापित उपर्युक्त मान्यताओं को पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया और इन सब के विरोध में अपना यह सुदृढ़ मत स्थापित किया कि एकमात्र वक्रोक्ति (वाक्यवक्रता) ही समस्त अलंकारों का मूल है—

"वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा। यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।
—वक्रो० १।२०

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रबल झंझावात ने एक बार आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा आरोपित प्रचण्ड ध्वनि रूपी वटवृक्ष को भी आमूलचूड प्रकम्पित कर दिया।

इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने अर्थालंकारों का चतुर्धा विभाजन प्रस्तुत किया—वास्तव-मूलक, अतिशयमूलक, श्लेषमूलक तथा औपम्यमूलक। चूँकि राजानक कुन्तक, रुद्रट के परवर्ती थे अतः वक्रोक्तिमूलकता का प्रश्न उनके लिए उठता ही नहीं। किन्तु इस विभाजन के बाद भी रुद्रट का शास्त्रीय पथ प्रशस्त नहीं था क्योंकि कठिनाई इस बात की थी कि पूर्वाचार्यों द्वारा व्याख्यात लगभग चालीस अलंकारों में से कौन-कौन अलंकार किस-किस कोटि में रखे जायँ? यह निर्णय कैसे हो कि किस अलंकार में, इन चारों में से कौन तत्त्व प्रबल है? इस विषय में पूर्ववर्तियों का कोई संकेत भी नहीं प्राप्त था क्योंकि उन्होंने तो अपने सीमित अलंकारव्याख्यान के बीच एक सामान्यसिद्धान्त (general or generalised theory) का सूत्रपात किया था। ऐसी विषम परिस्थिति में आचार्य रुद्रट ने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का उपयोग किया। फलतः,

(क) समस्त अर्थालंकार (रुद्रट के अनुसार कुल ६६) तेईस वास्तव, इक्कीस औपम्य, बारह अतिशय तथा दश श्लेष अलंकारों में विभक्त हो गये। अनेक अलंकार उभयनिष्ठ, त्रितयनिष्ठ या सर्वनिष्ठ रहे।

(ख) अनेक नवीन अलंकारों का उद्‌भव हुआ जो कि पहले सिद्धान्त अथवा संज्ञा रूप में नहीं थे।

---

१. यद्यपि आचार्य भामह ने कुन्तक के बहुत पूर्व ही वक्रोक्ति की व्यापकता स्वीकार की थी। किन्तु उन्होंने अपरिस्फुट रूप में ही उसे स्वीकार किया।

(ग) तत्त्व-प्राधान्य की दृष्टि से अलंकारों का चतुर्धा विभाजन करने से एक वर्ग के अलंकारों की तुलना अन्य वर्ग से सर्वथा असम्भव हो गयी। अतः प्रत्येक अलंकार को रुद्रट ने एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दिया।

अप्रस्तुतप्रशंसा, रुद्रट के औपम्य-वर्ग का ही एक विशिष्ट अलंकार है जिसे आचार्य ने सर्वप्रथम 'अन्योक्ति' नाम दिया। अन्योक्ति में उक्तोपमान द्वारा अनुक्तोपमेय की व्यंजना मात्र होती है, उपमानोपमेय कहकर रुद्रट ने वामन की शब्दावली का ही अनुकरण किया है, यह स्पष्ट है। यद्यपि आचार्य ने सर्वप्रथम अन्योक्ति को अलंकार रूप में प्रतिष्ठित किया, किन्तु जहाँ तक इसके नामकरण का प्रश्न है, प्राचीन आचार्यों का ऋण मानना आवश्यक है। डॉ० संसारचन्द्र जी 'काव्य और अन्योक्ति' शीर्षक में लिखते हैं—'कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति में 'वक्रा' का अर्थ 'व्यतिरेकिणी' अर्थात् 'अन्य' किया है। ध्वनिवादियों की ध्वनि भी 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' अर्थात् अन्य ही होती है। रसवादियों का रस भी सभी लौकिक पदार्थों से अन्य ही माना गया है। इस तरह वक्रोक्ति पर मतभेद रहने पर भी काव्य के क्या कलापक्षीय क्या भावपक्षीय, सभी निर्मापक तत्त्वों में 'अन्यता' सर्वसम्मत ही है। किन्तु इतने व्यापक महत्त्व वाली अन्योक्ति की ओर प्राचीन साहित्यकारों का ध्यान नहीं गया, यह एक आश्चर्य की बात है। पूर्वोक्त सभी काव्य-सम्प्रदायों का अध्ययन करके यदि हम यह कहें कि —'सैषा सर्वगतान्योक्तिः किं काव्यमनया विना' तो भला इसमें क्या दोष हो सकता है?'—शोधग्रन्थ पृ० ११।

किन्तु लेखक का उपर्युक्त दृष्टिकोण अनुचित-सा प्रतीत होता है। क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र में तो 'अन्य' शब्द पद-पद पर आया है तो क्या हम उन सब स्थानों पर 'अन्योक्ति' को ही घुसेड़ने का प्रयत्न करें? आचार्य कुन्तक अथवा आनन्दवर्द्धन ने जिस स्थान पर 'अन्य' शब्द का निबन्धन किया है, वह हमारी 'अन्योक्ति' से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण वस्तु है। किन्तु डॉ० संसारचन्द्र जी के लिए जैसे उन महामहिम आचार्यों ने 'अन्य' कहकर बड़ी भूल की? दूसरी बात यह कि लेखक ने कुन्तक के 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' की जो छीछालेदर (पृ० १०) करने की कोशिश की है, वह उल्टे उन्हीं की अज्ञता का प्रतीक बन जाती है, चाहे वह डॉ० नगेन्द्र का साक्ष्य दें चाहे किसी और का। अनजानी राह चलना और गलती करना यह तो बड़े-से-बड़े विद्वान् के लिए सम्भव है।

संसारचन्द्र जी का यह वाक्य एकमात्र उनके आत्मगौरव के और कोई अर्थ नहीं रखता—'इतने व्यापक महत्त्व वाली अन्योक्ति की ओर प्राचीन साहित्यकारों का ध्यान नहीं गया। यह एक आश्चर्य की बात है, सम्भव है कि लेखक के लिए आश्चर्य की बात हो, किन्तु दूसरों के लिए इसमें आश्चर्य करने लायक कोई तत्त्व नहीं है क्योंकि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज तक अन्योक्ति अलंकार का विवेचन निरन्तर होता रहा है। आचार्य मम्मट ने तो 'अन्योक्ति' को इतना व्यापक एवं बृहत् बनाया कि उससे अधिक की कल्पना ही नहीं की जा सकती। फिर भी यदि बीसवीं शती का एक शोधक विद्वान् असन्तुष्ट रह जाय,

इसमें, प्राचीन साहित्यकारों का हम कोई दोष नहीं देखते क्योंकि 'यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः ?' और फिर डॉ० संसारचन्द्र जी के मस्तिष्क में जिस प्रकार की 'व्यापक महत्त्व-वाली' अन्योक्ति नाच रही है, उसका रूप अभी प्रथम अध्याय में प्रस्तुत ही किया जा चुका है। उसमें नान्दीपाठ, मुकरियाँ, पहेलियाँ, प्रतीक, संकेत, रूपक (Allegory), दृष्टान्त (Parable), आख्यान (Fable) तथा तत्त्वकथादि (Motif) सब सम्मिलित हैं। तो फिर ऐसी 'अपूर्व अन्योक्ति' तथा उसकी ओर ध्यान देने वाले साहित्यकार मिल ही कैसे सकते हैं ?

वास्तव में 'अन्योक्ति' नामकरण कई सौ वर्षों के आलंकारिक तत्त्वमन्थन का परिणाम है। इसके पीछे आचार्य भरत से लेकर वामन तक की अन्योक्ति-व्याख्याओं का इतिहास स्थित है जिसके प्रामाण्य पर ही आचार्य रुद्रट ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' की यह नवीन संज्ञा रखी। भरत प्राचीनतम आचार्य हैं जिन्होंने 'मनोरथ' लक्षण के रूप में अप्रस्तुत का व्याख्यान किया। 'मनोरथ' का प्रमुख लक्षण 'अन्यापदेशैःकथनम्' पर केन्द्रित है। और अन्यापदेश का शाब्दिक अर्थ है—अन्य (दूसरा या अप्रस्तुत) का अपदेश (बहाना, उक्ति या प्रशंसा) वस्तुतः 'अन्यापदेश' शब्द भावाभिव्यक्ति की शैली को ही द्योतित करता है, साथ-ही-साथ भामहीय अप्रस्तुतप्रशंसा से पूर्णतः अभिन्न है।

भरत के पश्चात् आचार्य भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण प्रस्तुत किया-'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः' आदि जिसमें कि उन्होंने भरत के 'अन्यापदेश कथन' की ही भाँति 'अन्यस्य स्तुतिः' (अन्योक्ति) रूपतत्त्व को पुनः स्वीकार किया।

दण्डी चूँकि अप्रस्तुतप्रशंसा को समासोक्ति का ही अंग स्वीकार करते हैं इसलिए उनका मत पूर्वाचार्यों से पृथक् अवश्य है। किन्तु तब भी उन्होंने 'समासोक्ति' के दोनों पक्षों (अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की व्यंजना) में अन्योक्ति तत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया—वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः। उक्तिः संक्षेपरूपत्वात्सा समासोक्तिरिष्यते॥ यहाँ 'अन्य (वस्तुनः) उक्तिः' का स्पष्ट तात्पर्य अन्योक्ति से ही है।

आचार्य उद्भट भामह के ही मत का अनुकरण करते हुए 'अन्यस्य या स्तुतिः' के रूप में इस 'अन्योक्ति-तत्त्व' को स्वीकार करते हैं। शेष बचे आचार्य वामन, जिन्होंने 'अन्योक्ति' शब्द विशेष का तो अपने अलंकार व्याख्यान में कहीं जिक्र नहीं किया किन्तु 'अप्रस्तुत की प्रशंसा' को उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया जो कि अन्योक्ति की ही अपर संज्ञा है। वामन चूँकि समस्त अर्थालंकार को उपमा का ही प्रपंच स्वीकार करते थे इसी कारण उनका लक्षण भी आचार्य ने उपमानोपमेय के ही माध्यम से व्यक्त किया है। 'त्रिकसाम्यपद्धति' के रूप में इस विषय का व्याख्यान कुछ पूर्व ही हो चुका है। अप्रस्तुत० के लिए वामन का मत इस प्रकार है—उपमेयस्य किंचिल्लिंगमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासेऽप्रस्तुतप्रशंसा। यदि हम रुद्रटीय लक्षण में टीकाकार नमिसाधुकृत 'अपि' शब्द की व्याख्या देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि—'किंचिदुक्त' होने का तथ्य आचार्य रुद्रट को भी मान्य था। टीकाकार के शब्दों में—'अपि

सब्दार्तिकंचित्समानविशेषणत्वेऽपि क्वापि भवतीति सूच्यते।' इस दृष्टि से रुद्रट वामन के ही मतानुयायी हैं।

इस प्रकार, भरत से लेकर वामन तक की अन्योक्ति विषयक मान्यताओं का विधिवत् परिशीलन करने के पश्चात् ही आचार्य रुद्रट अप्रस्तुत० के अभिनव नामकरण तथा लक्षण में प्रवृत्त हुए होंगे। किसी भी वस्तु को लक्षणबद्ध करने के लिए दो बातें अपेक्षित हैं—एक तो उसका सामान्य धर्म (genus) और दूसरा—उसका अन्यव्यवच्छेदक गुण (Quality of Differentium) वस्तुतः यही अन्यत्व गुण ही परिभाषा का प्राण होता है, क्योंकि उसी के कारण कोई पदार्थ अपने अन्य सजातियों से पृथक् हो पाता है। उदाहरणार्थ गाय की परिभाषा में 'पशुत्व' उसका सामान्य धर्म तथा 'सास्नादिमत्व' अन्यत्व गुण है, अतः गाय का लक्षण होगा—'सास्नादिमान् पशु'। इसी सास्ना या गलकम्वल के कारण गाय अपने सजातीयों (भैंस, बकरी, घोड़ी आदि) से पृथक् होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसी कारण परिभाषा के विषय में कहा था कि—Genus et differentium is equal to definition.

इस दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतिमान होता है कि अलंकारों के प्रपंच का कारण भी यही 'अन्यत्वगुण' है। प्रत्येक अलंकार में कोई-न-कोई 'अन्यव्यवच्छेदक गुण' अवश्य है जैसे रूपक में 'पदों का अभेद' तो उत्प्रेक्षा में 'संभावना'। सन्देह में 'उपमानोपमेय की उभय-कोटिकस्थिति' तो आक्षेप में 'उपमानाक्षेप'। इसी अपने विशिष्ट गुण के कारण एक अलंकार अपने सजातीय अन्य अलंकारों से सर्वथा पृथग्भूत स्वरूप धारण करता है। अब हमें यह देखना है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का 'अन्यत्वगुण' क्या है जिसके कारण वह अन्य समस्त अलंकृतियों से वैलक्षण्य प्राप्त करती है?

इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य भरत से लेकर वामन तक का अप्रस्तुत० का इतिहास, हमारी आँखों के समक्ष आ जाता है। किन्तु समस्त तत्त्वों अर्थात् हृदयस्थ भाव का सुश्लिष्टार्थ प्रदर्शन (भरत) अधिकारादपेत अन्य वस्तु की स्तुति (भामह एवं उद्भट) संक्षेपरूपेण उक्ति (दण्डी) उपमेय की किंचिदुक्ति (वामन) आदि के समान रहने पर भी, केवल एक ही तत्त्व प्रज्ज्वलित नक्षत्र की भाँति, अप्रस्तुतप्रशंसा-समासोक्ति अथवा भरत के मनोरथ लक्षण में दृष्टिगोचर होता है, जिसे हम अन्य किसी भी अलंकार में किसी रूप में भी नहीं पाते हैं। यही तत्त्व 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का अन्यव्यवच्छेदक गुण है जिसे भरत ने 'अन्यापदेशैः कथनम्' भामह ने 'अन्यस्य या स्तुतिः' दण्डी ने 'अन्य वस्तुनः उक्तिः' उद्भट ने 'अन्यस्य या स्तुतिः' तथा वामन ने उसी को प्रकारान्तर से अप्रस्तुत (अन्य) प्रशंसन (उक्ति) कहा।

आचार्य रुद्रट ने अप्रस्तुतप्रशंसा के इस 'प्राणभूततत्त्व' को समझा और समझा ही नहीं वरन् उसका मूल्य भी पहचाना। अतएव उन्होंने इस अलंकार के इतर तत्त्वों को मान्यता न देकर उसके इस प्राणतत्त्व (अन्यत्वगुण) को ही स्वतन्त्र एवं शक्त पद पर अभिषिक्त

किया। दण्डी ने बहुत समय पूर्व ही अप्रस्तुतप्रशंसा का रूप विकृत कर दिया था, समासोक्ति में उसे बिलीन करके। ऐसी दशा में रुद्रट को अप्रस्तुत० को एक सर्वमान्य स्थायी स्वरूप देना था, एक सुदृढ़ एवं तर्कसंगत संज्ञा देनी थी जो अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति भ्रामक अथवा एकांगी न होती। इसी कार्य को आचार्य रुद्रट ने नवीं-दशवीं शती में पूरा किया।

रुद्रट के पूर्ववर्ती कवि भल्लट अपना अन्यापदेशशतक लिख चुके थे, जिससे प्रतीत होता है कि अन्यापदेशों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति की परिपाटी तब तक लोक में विश्रुत एवं प्रचलित हो चुकी थी। भरत ने 'मनोरथ' की परिभाषा में इसी रहस्य की ओर इंगित किया था। अतः आचार्य रुद्रट के लिए ये घटनाएँ प्रमाणस्वरूप रही होंगी, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। पूर्ववर्तियों को इन्हीं उपलब्धियों से प्रेरित होकर तथा अप्रस्तुत० के अन्यत्व-गुण का सम्यंगाकलन करके ही आचार्य रुद्रट ने उसका एक अभिनव नामकरण किया—जो तब से लेकर अब तक 'अन्योक्ति' कही जा रही है। इस प्रकार भरत के अन्यापदेश, भामह एवं उद्भट की 'अन्यस्तुति' तथा दण्डी की 'अन्य उक्ति' की ही कल्पना जो बीजरूप में शतियों पूर्व से ही मनोरथ, अप्रस्तुत० तथा समासोक्ति के गंभीर अन्तराल में संकुचित एवं दबी पड़ी रही, अब साधार एवं साकार होकर संस्कृत काव्यालंकारों के बीच एक स्वतन्त्र स्थिति को प्राप्त हुई। यही 'अन्योक्ति' अभिधान का काव्यशास्त्रीय इतिवृत्त है।

आचार्य रुद्रटकृत यह प्रयास बहुत सफल भी रहा क्योंकि 'अन्योक्ति' संज्ञा इतनी सार्थक तथा संक्षिप्त है कि उच्चारण मात्र से उसका स्वरूप हमारी चिन्तनशक्ति में भासित हो उठता है। अप्रस्तुत० तथा समासोक्ति की भाँति 'अन्योक्ति' सापेक्ष संज्ञा नहीं है, वरन् उसका अपना निजी निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। रुद्रट के पश्चात् अन्योक्ति एक प्रख्यात अलंकार के रूप में सुस्थिर हो गयी।

परवर्ती आचार्यों में यद्यपि आनन्दवर्द्धन, राजशेखर, मुकुल, भट्टतौत, भट्टनायक, कुन्तक, अभिनव, महिमभट्ट, धनञ्जय, भोज एवं क्षेमेन्द्र आते हैं जो कि पूर्व मम्मट युग के हैं। किन्तु अलंकारों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, अभिनव एवं भोज का ही है। इनमें से भोज ने अन्योक्ति संज्ञा को अपनाया साथ-ही-साथ अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति आदि द्वारा उसका समर्थन किया। आचार्य धनञ्जय, भोज के पितृव्य महाराज मुंज के राजकवि थे जिन्होंने 'दशरूपक' नामक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में 'पताकास्थानक' का लक्षण देते हुए आचार्य ने कहा है—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥

इसमें आचार्य ने पताकास्थानक के दो स्रोतों को निर्दिष्ट किया है, एक तो तुल्यसंविधान अर्थात् अन्योक्तिमूलक और दूसरा तुल्यविशेषण अर्थात् समासोक्तिमूलक। आगे आचार्य

ने अन्योक्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है[1] उससे यह सिद्ध हो जाता है कि धनञ्जय आचार्य रुद्रट की अन्योक्ति से, सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों ही रूपों में पूर्ण परिचित थे। क्योंकि धनञ्जय का 'तुल्यसंविधान' अक्षरशः रुद्रट के 'समानेतिवृत्तमुपमेयम्' को लक्षित करता है। इसी प्रकार 'तुल्यविशेषण' का साम्य रुद्रट के 'सकलसमानविशेषणमेकम्' में हम पाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) अमृतानन्दयोगिन् (१३वीं शती) तथा वाग्भट द्वितीय (१५वीं शती) आदि मम्मटोत्तर युग के अनेक आचार्यों ने रुद्रट के इस अभिनव नामकरण का ही अभिनन्दन किया और इस प्रकार अन्योक्ति कुछ परवर्ती वरिष्ठ आचार्यों द्वारा अप्रस्तुत० के ही रूप में गृहीत की जाने पर भी प्रसिद्धि की उत्तुंग शिखराली पर चढ़ती ही गयी और मम्मटोत्तर युग में तो वह इतनी प्रख्यात हो गयी कि अप्रस्तुत० को लोग भूल गये। अधिकांश हिन्दी कवियों एवं आचार्यों ने भी इसी नाम (अन्योक्ति) को आश्रय दिया।

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम अप्रस्तुतप्रशंसा को विभाजित करने का सफल प्रयत्न किया और उनके व्याख्याकार आचार्य अभिनव ने उस विभाजन को सोदाहरण व्याख्यात करके उसे वैज्ञानिक स्तर पर सुस्थिर किया। पूर्वमम्मटयुगीन आचार्यों में इन दोनों के अतिरिक्त एक मीमांसक विद्वान् और बचता है जिसने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की छत्रच्छाया में अप्रस्तुत० को व्याख्यान्वित किया—आचार्य कुन्तक।

ध्वन्यालोक, प्रथमोद्योत की तेरहवीं कारिका में ध्वनि का लक्षण प्रस्तुत करने के बाद आचार्य आनन्दवर्द्धन के समक्ष पूर्वपक्षियों की एक 'युक्ति' आयी कि 'कामनीयकमनितवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः।' किन्तु ध्वनिकार ने इस धारणा को असमीचीन बताते हुए प्रबल शब्दों में अपना मतोपन्यास किया—वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्यव्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्यांगभूता न तु अंगिरूपा एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। परिकरश्लोकश्चात्र-व्यंग्यव्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतयाध्वनेः वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः॥' ध्वन्या० १।१३ की वृत्ति।

ध्वनिकार की दृढ़ धारणा थी कि व्यंग्य-प्राधान्य होने पर ही ध्वनि होती है और चूँकि समासोक्ति प्रभृति किसी भी अलंकार में व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर वाच्यार्थोपस्कारक मात्र रह जाता है, अतएव वे सब-के-सब ध्वनि के उदाहरण नहीं बन सकते। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए आचार्य ने ध्वनि के संभाव्य क्षेत्रों अर्थात् समासोक्ति, आक्षेप (अनुक्तनिमित्ता) विशेषोक्ति, पर्यायोक्त अपह्नुति, दीपक, संकर एवं अप्रस्तुतप्रशंसा में से एक-एक को क्रमशः सोदाहरण उद्धृत करके यह सिद्ध किया कि इनमें से कोई भी ध्वनि की

---

१. यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति॥
—दशरूपक १।१४ की वृत्ति।

महनीय स्थिति का भाजन नहीं है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि हम आनन्दवर्द्धन के उपर्युक्त निर्णय को निःशब्दतया स्वीकार ही कर लें तथापि इतना निश्चित है कि आचार्य का यह प्रसंग काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से रोचक एवं मूल्यवान् है।

आलंकारिक विवेचनाओं में ध्वनिकार प्रायः भामह एवं उद्भट के ही मतानुयायी रहे हैं, इसी कारण रुद्रट की अन्योक्ति जो संस्कृत काव्यशास्त्र में एक नूतन प्रक्रिया का साकार रूप बन कर आयी थी, के रहते हुए भी उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा नाम को ही अपने व्याख्यान में स्थान दिया। अपनी सूक्ष्मतत्त्वविमर्शिणी तथा गवेषणात्मक प्रवृत्ति के बलवती रहने पर भी आनन्दवर्द्धन ने 'अन्योक्ति' नाम के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई और न कोई प्रतिक्रियात्मक मन्तव्य ही उपस्थित किया, अतः सिद्ध होता है कि या तो आचार्य भामहीय परम्पराओं का अतिशय अनुरागी था, जिसके कारण उसने रुद्रट के 'नूतन-अभियान' का समादर नहीं किया अथवा आचार्य रुद्रट ही उसके युग तक प्रख्यात न हो सके थे जिससे कि उनकी नवीनता ध्वनिकार से तिरोहित रही।

आनन्दवर्द्धन ने अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेदों का निर्देश किया है—सामान्य-विशेष भाव, निमित्तनिमित्ति भाव तथा सारूप्यमात्र भाव। चूंकि इस अलंकार में अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत प्रतीयमान का व्यंजनयावबोध होता है अतः निश्चित है कि उन दोनों के बीच या तो सामान्य-विशेष भाव होगा या कार्यकारणभाव, या फिर सारूप्य (तुल्यता) का भाव। किन्तु ध्वनिकार की मान्यता इस विषय में यह है कि अभिधीयमान अप्रस्तुत का जब प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है तो उन दोनों में 'समप्राधान्य' की ही स्थिति रहती है अर्थात् वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ एक-दूसरे के अतिशायी न होकर परस्पर समान स्थिति वाले हो जाते हैं। फलतः व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं बन पाता और इसी कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ध्वनि की कोटि में नहीं आ पाती। अतः निश्चित है कि जब तक वाच्यमात्रानुयायी व्यंग्य अप्रस्तुत० प्रभृति अलंकारों में अप्रधान रहता है तब तक वहाँ गुणीभूतध्वनिमात्र होगी, ध्वनि नहीं।[1]

आचार्य अभिनव ने ध्वनिकार के उपर्युक्त त्रिधाविभाजन को और विस्तृत रूप दिया। प्रथम दो भेदों में चार पृथक् उपभेदों की कल्पना तो स्वतः सम्भव थी ही, क्योंकि सामान्य-विशेष तथा कार्य-कारण, क्रमशः अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत बन जायेंगे। किन्तु आचार्य अभिनव ने सारूप्य कोटि को भी उभयरूप स्वीकार किया है—एक तो वह, जहाँ अप्रस्तुत-वाच्य से ही चमत्कार उत्पन्न हो तथा व्यंग्यार्थ वहाँ वाच्य के प्रति उपसर्जनीभूत हो। अभिनव के अनुसार पहले चार भेद तथा यह चरम भेद, ये पाँचों ही प्रतीयमानता अथवा व्यंजना से दूर हैं, इनमें व्यंग्य वाच्योपस्कारक अथवा गुणीभूत होता है, अथवा वाच्य के साथ उसका समप्राधान्य होता है, अतः 'ध्वनि' से वे सब-के-सब दूर हैं।

---

१. व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यामात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥ ध्वन्या० प्रथमो०।

किन्तु छठें भेद में अभिनव प्रत्यक्षतः 'वस्तुध्वनि' स्वीकार करते हैं क्योंकि इसमें आक्षिप्यमाण प्रस्तुतार्थ ही चमत्कारकारी होता है,[१] उदाहरणार्थ--
'भावव्रातहठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्भंगीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य संक्रीडसे। स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो। मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्।।'

प्रस्तुत उदाहरण में एक ऐसे विदग्ध व्यक्ति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है जिसे लोक मूर्खतावश 'जड' कहता है किन्तु इतना होने पर भी उसका लोकोत्तर चरित (प्रस्तुत) व्यंग्यतया प्राधान्येन प्रकाशित हो रहा है। उसका हृदय कोई जान नहीं पाता कि वह कैसा है? तो इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तुतः वह एक निकृष्ट कोटि का व्यक्ति है वरन् इससे यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि वह महागम्भीर, अतिविदग्ध, सुष्ठु गर्वहीन, अतिशय-क्रीडाचतुर अथवा आचार्य उत्तुंगोदय के शब्दों में--'अलोकसाधारणगुणशाली' है। इन्हीं गुणों के कारण लोक द्वारा उसके प्रति प्रयुक्त 'जडत्वोक्ति' अन्ततः स्तुति रूप धारण कर लेती है।

किन्तु एक तथ्य हमें यहीं समझ लेना चाहिए कि अप्रस्तुतप्रशंसा का यह उदाहरण जब ध्वनि का उदाहरण बनेगा तब अलंकार रूप में उसकी सत्ता पूर्णतः निरस्त हो जायगी। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने कहा था कि 'यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धः तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वना वेवान्तःपातः। इतरथा त्वलंकारान्तरत्वमेव'--ध्वन्यालोक प्रथमो० (अप्रस्तुत०-प्रसंग)। आचार्य अभिनव ने भी इसी मत का समर्थन किया है कि व्यंग्य-प्राधान्य होने पर किसी भी रूप में अलंकारता सम्भव नहीं है। यदि हम ध्वनिव्यवस्थापक की दृष्टि से देखें तो उनका उपर्युक्त मत ठीक ही ज्ञात होता है किन्तु प्रश्न तो यह है कि हम अप्रस्तुतप्रशंसा में स्थित उस ध्वनि का मूल्य क्या ध्वनि की ही दृष्टि से समझ सकते हैं अलंकार की दृष्टि से नहीं? वस्तुतः ध्वनि का मूल्यांकन हमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार की ही दृष्टि से करना चाहिए, क्योंकि जब तक सारूप्य-निबन्धन तथा अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यंग्य का व्यंजनयावबोध रूप संघटना ही नहीं होती है तब तक तथाकथित व्यंग्यप्राधान्य आ ही कैसे सकता है? अतः ध्वनि का उदाहरण बनना, अप्रस्तुत० के लिए एक महान् गौरव तथा श्रेय की बात है। किन्तु अपना व्यक्तित्व छोड़कर एकमात्र ध्वनि में ही विलीन हो जाना, यह स्वीकार करना अटपटा-सा प्रतीत होता है। ध्वनि होने से अप्रस्तुत० का व्यक्तित्व नहीं नष्ट होता जैसा कि ध्वनिकार को अभिमत है, ठीक उसी प्रकार जैसे राजपद पाने से किसी व्यक्ति का

---

१. 'यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासंभाव्यमानतदर्थविशेषणेन अप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ'।

—लोचन, अप्रस्तुत० प्रसंग।

नाम, वंश एवं वैशिष्ट्य, विनष्ट नहीं होता। आचार्य श्रीज्ञान ने समासोक्ति के लिए इसी दृष्टि से उद्गार व्यक्त किया है—'तस्मादियं गुणीभूता अर्थान्तरं स्फुटयति न तु स्वार्थतन्त्रा। इयमेव चान्यैः ध्वनिरिति व्यवह्रियते। यदाहुः—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ- व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।'

(काव्यादर्श २।२०३ की व्याख्या, द० सं०)

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव द्वारा उपदिष्ट अप्रस्तुतप्रशंसा का यह षोढा विभाजन ही प्राचीनतम वर्गीकरण कहा जा सकता है। इसके पूर्व जैसा कि अन्य आचार्यों का एकैकशः परिशीलन करते समय देख चुके हैं, अप्रस्तुतप्रशंसा अपने एकविध लक्षण में ही प्रायेण सीमित रही। दण्डी तथा भोज के वर्गीकरण भी कुछ हद तक यथार्थ-वेदी अवश्य हैं किन्तु उनमें वैज्ञानिकता तथा ठोस आधार का सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से ध्वनिकार का यह विवेचन अत्यन्त सुदृढ़ एवं टकसाली है। अभिनवकृत सारूप्यभेद का उभयथा व्याख्यान भी न केवल सैद्धान्तिक अपितु व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी उत्तम वर्गीकरण का परिचायक है।

आचार्य कुन्तक के अप्रस्तुतप्रशंसा सम्बन्धी विचारों को समझने की पहली शर्त है कि हम उनका वक्रोक्ति-सिद्धान्त हृदयंगम कर लें। क्योंकि कुन्तक के प्रामाण्यानुसार समस्त अलंकार समुदाय 'वाक्यवक्रता' के ही परिणाम हैं। वाक्यवक्रता आचार्य द्वारा निर्दिष्ट छह वक्रताओं में से अन्यतम है। ग्रन्थ के तृतीयोन्मेष में शब्द एवं अर्थ की वक्रता का निर्देश करने के पश्चात् कुन्तक ने समष्टि रूप में शब्दार्थ (वाक्य) वक्रता का व्याख्यान किया है। वाक्यवक्रता का स्वरूप प्रायः इस आभाणक से अभिन्न है—"Style is the man himself". कुन्तक के अनुसार सुकुमार-विचित्र तथा मध्यम मार्गों में विद्यमान शब्द, अर्थ, गुण एवं अलंकार सम्पत्ति (सौन्दर्य) से सर्वथा पृथग्भूत, एक विशिष्ट कथन परिपाटी या शैली ही जिसका प्राण है वही 'वाक्यवक्रता' है। जैसे किसी रमणीय भित्ति पर अंकित चित्र के रंगों की सुन्दरता से भिन्न, चित्रकार का मनोहारी तूलिका नैपुण्य कहा नहीं जा सकता किन्तु एक रहस्यपूर्ण ढंग से दर्शक का दृष्टि-पथ आक्रान्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार 'वाक्यवक्रता' में कवि का समूचा व्यक्तित्व एक अनिर्वचनीय रूप में विद्यमान रहता है। उसका हम अनुभव भर कर सकते हैं, अभिव्यक्ति नहीं।[1] कुन्तक के शब्दों में ही उस वक्रता का स्वरूप इस प्रकार है—"तदिदमत्र तात्पर्यम्। यथा चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलापव्यतिरेकि सकलप्रकृतपदार्थजीवितायमानं चित्रकारकौशलं पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते तथैव वाक्यस्य मार्गादिप्रकृतपदार्थसार्थव्यतिरेकि कविकौशललक्षणं किमपि सहृदयसंवेद्यं सकलप्रस्तुतपदार्थ- स्फुरितभूतं वक्रत्वमुज्जृम्भते॥'

—(वक्रोक्ति० तृतीयोन्मेष का० ४ की वृत्ति)

---

१. द्रष्टव्य, वक्रो० ३।३-४।

वस्तुतः वाक्यवक्रता का मूलकारण या स्वरूप 'कविकौशल' मात्र है। कुन्तक की दृष्टि में कविकौशल का बड़ा महत्त्व है, इसी कारण पद-वाक्य अथवा इनके एक देश में भी जो कुछ वक्रता या सौन्दर्य है, उन सबका कारण आचार्य 'कविकौशल' को ही मानता है। वक्रता से कुन्तक का तात्पर्य 'काव्य की रमणीयता' सहजसौन्दर्य अथवा भंगीभणिति से है जो कि कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का पवित्र परिपाक होता है।[१] काव्य का जीवित-स्वरूप यह कविकौशल रस, अलंकार अथवा स्वभाव (वर्ण्य विषय) किसी से भी सम्बद्ध हो सकता है ऐसी कुन्तक की अपनी मान्यता है। किन्तु इन तीनों में भी अलंकार तो बिना कवि-कौशल के सम्भव है ही नहीं, क्योंकि स्वभाव (वर्ण्य विषय) तथा रस, दोनों ही बहुत कुछ 'अपनेपन' के ही कारण वैचित्र्यविधायक होते हैं। कुन्तक ने 'स्वभावोक्ति' को अलंकार न मानकर अलंकार्य ही स्वीकार किया है। इस विषय में उनकी स्पष्ट धारणा है कि 'तथा चैत-स्मिन् विषये सर्वाकारमलंकार्यं विलासवतीव पुनरपि स्नानसमयविरह-व्रतपरिग्रहसुरतावसानादौ नात्यन्तमलंकरणसहतां प्रतिपद्यते स्वाभाविकसौकुमार्यस्यैव रसिकहृदयाह्लादकारित्वात्'— वक्रो० ३।१ की वृत्ति।

इस प्रकार निश्चित है कि स्वाभाविक सौकुमार्य में स्वयं 'रसिकहृदयाह्लादन' की शक्ति होती है। इसी प्रकार विभावादि संयोग से निष्पन्न रस की भी सहृदयाह्लादन शक्ति लोकविश्रुत है। किन्तु जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है, उनकी तो समस्त संघटना 'कविकौशल' पर ही निर्भर है। जब तक विदग्ध कवि की प्रतिभा से उल्लिखित भावों का उपनिबन्धन इन अलंकारों में नहीं होता तब तक वे रसोल्वणत्व के भाजन नहीं होते और न पाठक का हृदय ही आवर्जित कर पाते हैं।[२] उदाहरण के लिए यह पद्यांश देखें—'दूर्वाकाण्डमिव श्यामा तन्वी श्यामा लता यथा'। इसमें 'कविकौशल' के सर्वथा न रहने के कारण केवल सादृश्य मात्र का उपनिबन्धन कोई चमत्कार-विशेष नहीं उत्पन्न कर पा रहा है। किन्तु इसके विपरीत ऐसे भी पद्य हैं जो कवि की नूतन कल्पना के कारण मनोहारी, लोकोत्तरविन्यसनविच्छित्ति के कारण विशिष्ट शोभातिशयवाले तथा तद्विदाह्लादकारी हैं, उदा० महाकवि कालिदास का उर्वशी सौन्दर्यवर्णनपरक 'अस्याः सर्गविधौ' आदि श्लोक।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार 'कविकौशल' के ही योग से अलंकारों का चमत्कार

---

१. यस्मादाकल्पमेवैषां तावन्मात्रस्वरूपनियतनिष्ठतया व्यवस्थितानां स्वभावालंकरण-वक्रताप्रकाराणां नवनवोल्लेखविलक्षणं चेतनचमत्कारकारि किमपि स्वरूपान्तरमेतस्मादेव समुज्जृम्भते। (वक्रो० ३।४ की वृत्ति)।

२. यद्यपि रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितं तथाप्यलंकारस्य विशेषतस्तदनुग्रहं विना वर्णनाविषयवस्तुनो भूषणाभिधायित्वेनाभिमतस्य स्वरूपमात्रेण परि-स्फुरतो यथार्थत्वेन निबध्यमानस्य तद्विदाह्लादविधानानुपपत्तेर्मनाङ्मात्रमपि न वैचित्र्य-मुत्प्रेक्षामहे प्रचुरप्रवाहपतितेतरपदार्थसामान्येन प्रतिभासनात्। (वक्रो० ३।४ की वृत्ति)।

प्रतीत होता है और कविकौशलाधीन होने के कारण ही अलंकारवक्रता के पृथक् सम्भव होने पर भी आचार्य ने उनका अन्तर्भाव 'वाक्यवक्रता' में किया है जो कि पदादिवक्रता से सर्वथा विलक्षण साथ-ही-साथ असंख्य भेदों वाली हो सकती है। कुन्तक के अनुसार समस्त अलंकार वर्ग इसी अद्भुत 'वाक्यवक्रता' में अन्तर्भूत है।[1]

आचार्य कुन्तक ने अप्रस्तुतप्रशंसा में 'प्रशंसा' पद को अर्थप्रकाशादिवत् (विपरीत लक्षणा से) प्रयुक्त किया है।[2] इसका आशय यह है कि जैसे दर्शन में विज्ञानयुक्त आत्मा ही प्रकाशयुक्त है और घटादि पदार्थ अचेतन होने के कारण अप्रकाशरूप हैं किन्तु ज्ञान के समय आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण 'अर्थप्रकाशित होता है' ऐसा कहा जाता है ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत अलंकार में भी अप्रस्तुत की तो निन्दा ही होती है, प्रशंसा केवल प्रस्तुतार्थ की ही होती है जो वस्तुतः 'कविसंरम्भगोचर' है किन्तु विपरीतलक्षणया हम 'अप्रस्तुतप्रशंसा' शब्द का व्यवहार करते हैं। कुन्तक का यह मत आचार्य दण्डी के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का ही समर्थन करता है।

कुन्तक के अनुसार जहाँ रूपकोपयोगी साम्य अथवा अन्य किसी सम्बन्ध के आश्रय से असत्यभूतवाक्यार्थ अप्रस्तुत होकर भी प्रस्तुत अथवा वर्ण्यमान के सौन्दर्य को उत्पन्न करता हुआ वर्णनीयता को प्राप्त होता है उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार कहते हैं।[3] यदि पूर्वाचार्यों की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्टतः प्रतीत होगा कि उक्त अलंकार का मुख्य लक्षण कुन्तक ने भामह एवं उद्भट से तथा सम्बन्ध की कल्पना आचार्य आनन्दवर्द्धन से ली है। किन्तु इतना होने पर भी कुन्तक का व्याख्यान स्वतः नवीन-सा प्रतीत होता है।

कुन्तक की नवीनता का वरिष्ठ उदाहरण उनका 'प्रस्तुतविभाजन' है। प्रस्तुत अथवा प्रासंगिक जिसे वामनादि आचार्यों ने 'उपमेयपक्ष' भी कहा है, अप्रस्तुत० में सदा व्यंग्य होता है साथ-ही-साथ कवि का 'लक्ष्यभूत' होता है। आचार्य ने इसे उभयरूप बताया है एक तो वह जो वाक्य में अंतर्भूत पदों भर से ही ध्वनित होता है और दूसरा जो समस्तवाक्य में व्यापक कार्यरूप हो तथा नाना प्रकार के अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से विभूषित हो। इसी उभयरूप प्रस्तुतपक्ष को प्रतीयमान रूप में कल्पित करके कविगण अप्रस्तुत पदार्थान्तर को वर्णनीय बनाते हैं, क्यों? ताकि प्रस्तुत की विच्छित्ति-सम्पत्ति बँट सके। यह कार्य साम्य अथवा

---

१. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥ (वक्रो० ३।४ की वृत्ति)।

२. प्रशंसाशब्दोत्र अर्थप्रकाशादिवत् विपरीतलक्षणया वर्तते।

३. अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन्।
यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तर मेववा॥२३
वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा प्राप्यते वर्णनीयतामप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलंकृतिः॥२४
(वक्रोक्ति० तृतीयोन्मेष)।

सम्बन्धान्तर के आश्रय से पूर्ण होता है। 'साम्य' का तात्पर्य कुन्तक के मन्तव्यानुसार रूपकालंकार में प्राप्त होने वाले तदुपकारी समत्व से है। इसी प्रकार 'सम्बन्धान्तर' में आचार्य ने 'निमित्तभावादि' की गणना की है। 'आदि' शब्द ग्रहण करने की स्पष्ट ध्वनि यही है कि कुन्तक को ध्वनिकारोपदिष्ट कार्यकारण तथा सामान्यविशेष सम्बन्धी विचार ज्ञात एवं स्वीकार थे। इतना ही नहीं, वरन् आचार्य द्वारा दिये गये अप्रस्तुत० के तीसरे उदाहरण 'इन्दुर्लिप्त इवांञ्जनेन' आदि में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के बीच स्पष्टतः विपरीतलक्षणा का निबन्धन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि 'सम्बन्धान्तर' द्वारा आचार्य कुन्तक ने ध्वनिकार आदि की अपेक्षा और भी अन्य सम्बन्धों को मान्यता दी थी। इस दृष्टि से अप्रस्तुत० के सैद्धान्तिक विकास में उन्होंने एक नवीन कड़ी संयुक्त की, यह निर्विवाद विषय है।

वस्तुतः साम्य एवं सम्बन्धान्तर का जो स्वरूप कुन्तक ने कल्पित किया है उससे अप्रस्तुतप्रशंसा का व्याप्तिक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है क्योंकि 'साम्योपादान' से रूपक मूलक अलंकारों की अनेक कोटियाँ इसमें अन्तर्भूत हो जाती हैं (अगले अध्याय में इस विषय का सिद्धान्त सविस्तर निरूपित करेंगे) इसी प्रकार सम्बन्धान्तर की कल्पना से विपरीतलक्षणा, लक्षणा के अन्य प्रकार तथा कार्यकारणादि भाव, सब अप्रस्तुत० के ही अंग बन जाते हैं। इसी कारण आचार्य ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है—'तदेवमप्रस्तुत-प्रशंसाव्यवहारः कवीनामतिविततप्रपंचः परिदृश्यते। तस्मात् सहृदयैश्च स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयः।' वक्रोक्ति० ३।२३ की वृत्ति।

परिभाषा में 'असत्यभूत' पद भी आचार्य ने साभिप्राय रखा है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने इस पद को अप्रस्तुत० के लक्षण में स्थान नहीं दिया है। 'असत्यभूत' का आशय अप्रस्तुत पक्ष से है। कुन्तक ने 'कविसंरम्भगोचरत्व' की ही दृष्टि से अप्रस्तुतार्थ को असत्यभूत कहा है। क्योंकि अप्रस्तुत० में कवि की सारी शक्ति केवल प्रस्तुतार्थ को व्यंजनयाभिव्यक्त करने में रहता है। और सच बात तो यह है कि प्रस्तुतप्रकाशन ही कवि का एकमात्र विवक्षित कार्य होता है, अतः वही 'सत्य' भूत होता है। इसके विपरीत, अप्रस्तुतपक्ष, जिसका ग्रहण कवि केवल प्रस्तुत (विवक्षितार्थ) की शोभा बढ़ाने के लिए करता है, स्पष्टतः असत्यभूत है। अतः असत्य का आशय यहाँ अप्रस्तुतार्थ के अनौचित्यादि से न होकर केवल गौण या अपेक्षा-कृत सदुपयोगी न होने से है।

चतुर्थ अध्याय

अन्योक्ति का सैद्धान्तिक विकास

(मम्मटोत्तर युग)

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा उनके प्रबल समर्थक श्री अभिनवगुप्तपाद ने सर्वप्रथम अन्योक्ति का विभाजन प्रस्तुत किया, इस तथ्य का निर्देश तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। आचार्य कुन्तक ने भी, शब्दशः तो नहीं, किन्तु भावनया ध्वनिकार के ही मत का समर्थन किया क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा के विधायक अंगों के बीच में साम्यादि-सम्बन्ध की कल्पना का स्पष्ट संकेत उसी ओर है। अभिनव-प्रणीत लोचन में इस विभाजन का स्पष्टतर उल्लेख भी प्राप्त होता है, जहाँ पर कि आचार्य ने 'सारूप्य-निबन्धना' अप्रस्तुत-प्रशंसा की भी उभयथा प्रवृत्ति प्रस्तुत की है। किन्तु इन समस्त प्रयत्नतिथियों की पूर्णिमा ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रणीत, आचार्य मम्मट की यशःकृति 'काव्यप्रकाश' में ही प्रकाशित हुई जबकि अन्योक्ति ने अपना बृहत्तम स्वरूप धारण किया।

ईसा की तीसरी शती से लेकर तेरहवीं तक कश्मीर-प्रदेश विद्याविचक्षण, काव्या-लंकार-विवेचक, रीत्यात्मवादी, रसध्वनिप्राधान्यवादी, सहृदय पण्डितोत्तम आचार्यों तथा उस विद्या के अध्ययन-अध्यापन में निरन्तर व्यापृत, बहुश्रुत मनीषियों से भरा रहा। भामह, उद्भट, वामन, आनन्दवर्द्धन, शंकुक, लोल्लट, भट्टनायक, अभिनव, कुन्तक तथा महिमभट्ट जैसे महामहिम आचार्यों ने असंख्य आत्मोपज्ञ अर्थों को अध्येयपरम्परा में ला रखा और तभी वे अर्थ रस-अलंकार-गुण-रीति तथा ध्वनि सरीखे सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं विवेचित होने लगे। काव्य-गोष्ठीप्रवर्त्तक, इन्हीं आचार्यों के ग्रन्थों में निविष्ट अर्थों का पुनस्संग्रथन मम्मटाचार्य ने ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में, परिष्कृत एवं सुगमशैली में, अपने ग्रन्थ काव्य-प्रकाश में 'स्रक्सूत्रन्यायेन' किया। मम्मट की इसी, मधुकरीवृत्ति के परिणामस्वरूप, काव्य-प्रकाश तब से लेकर आज तक, एक सुव्यवस्थित आकर ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा।

किन्तु अलंकार-शास्त्र का ऐतिह्य इस रहस्य का साक्षी है कि मम्मट के किंचित्पूर्व अथवा ज्येष्ठ समसामयिक एक और प्रख्यात आचार्य थे जिनकी काव्यशास्त्रीय विद्वत्ता ही सम्भवतः मम्मट के लिए प्रेरक शक्ति बनी और जिसके कारण ही वे 'वाग्देवतावतार' बन सके। वह आचार्य थे—राजानक तिलक, जिन्हें हम अलंकारसर्वस्वकार राजानकरुय्यक के पिता तथा उद्भटालंकार के टीकाकार के रूप में जानते हैं। उद्भटीय ग्रन्थ की दो प्रामाणिक

टीकाएँ प्रचलित हैं—एक तो प्रतीहारेन्दुराज कृत लघुवृत्ति तथा दूसरी राजानकतिलक कृत उद्भटविवेक। इनमें से प्रथम टीका का प्रकाशन श्री बनहट्टी महोदय ने पूना नगर से सन् १९२५ में किया तथा दूसरी का प्रकाशन श्री रामस्वामी शास्त्री ने बड़ौदा से सन् १९३१ में किया। राजानक तिलक प्रणीत टीका, जो बनहट्टी महोदय के उपर्युक्त प्रकाशन के समय ही केरलीय पण्डित श्री नारायण नम्बूदरीपाद के घर प्राप्त हो चुकी थी, के विषय में उक्त लेखक का स्पष्ट मत है[1] कि वह राजानक प्रणीत तथाकथित टीका नहीं है। डॉ० सुशील-कुमार डे के विचार भी कुछ ऐसे ही भावों के द्योतक हैं।[2] किन्तु विद्वान् सम्पादक श्री राम-स्वामी शास्त्री के प्रबल प्रमाणों से विरोधी विचार निरस्त हो जाते हैं। क्योंकि रुय्यक के टीकाकार आचार्य जयरथ ने विमर्शिनी टीका में दो बार 'उद्भटविवेक' तथा तीन बार उसके कर्त्ता 'तिलक' का स्मरण किया है। स्मरण करते समय आचार्य ने तिलक का आशय भी शब्दों में व्यक्त किया है। ये आशय क्रमशः आक्षेपालंकार तथा अन्य दो स्वतन्त्र प्रसंगों से सम्बद्ध हैं, जो कि अविकल रूप में जैसे-के-तैसे प्रस्तुत टीका में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त टीका-कार की विद्वत्ता ही अकेले, उन्हें राजानक तिलक से अभिन्न सिद्ध करने में समर्थ है। पुनरुक्त-वदाभास, उपमा-दोषवियुक्तोपमा, लक्षणपरिष्करण, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विरोध, अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रेय, पर्यायोक्त तथा सन्देहसंकर अलंकारों के प्रसंग, जहाँ राजानक तिलक, प्रतीहारेन्दु की व्याख्या से बहुत दूर, विद्वत्ता की दृष्टि से बहुत सूक्ष्म तथा क्लिष्ट हो जाते हैं, इस बात

---

1. From this we can decide that the author of this उद्भटालंकार-विवृति came after Mammata, although how long after, we have at present no means to decide. The writer mentions by name उद्भट, भामह, रुद्रट and वामन, but not मम्मट. We are inclined to think that he must have lived shortly after Mammata. The उद्भटालंकारविवृति is evidently a distinct work from उद्भट-विवेक or विचार of Rajanaka Tilaka mentioned by Jayaratha. (Introduction).

2. That this anonymous commentary is evidenced not only by its content but also by its citations of राजशेखर's Viddhāshalabhanjikā as well as by its obvious appropriation of Mammata's standard work. Its value as an exegetical work cannot be placed too high.—History of Sans. Poetics, P. 77.

किन्तु डॉ० डे द्वारा तिलककृत टीका को नवीन सिद्ध करने के लिए राजशेखर का प्रमाण देना कोई संगतिपूर्ण तर्क नहीं, क्योंकि उद्भट के प्राचीनतम टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज भी प्रायः राजशेखर के परवर्ती ही हैं। इसके अतिरिक्त जो तथ्य लेखक ने आचार्य मम्मट के पक्ष में व्यक्त किया है, वही तिलक के बारे में भी कहा जा सकता है।

के प्रमाण हैं कि वह कोई साधारण टीकाकार नहीं। पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रेयस्वत्, संकर तथा काव्यलिंग के प्रसंग में तिलक द्वारा लघुवृत्तिकार श्री प्रतीहारेन्दुराज का मौन किन्तु भरपूर खण्डन भी उनके तिलकत्व का ही साक्षी है।

राजानक रुय्यक ने अपने ग्रन्थ 'सहृदयलीला' में राजानक तिलक को अपना पिता कहा है—'समाप्तेयं सहृदयचमत्कारिणी सहृदयलीला कृतिः श्रीमद्विपश्चिद्वरराजानक-तिलकात्मजश्रीमदालंकारिकसमाजाग्रगण्यश्रीराजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽ-लंकारसर्वस्वकृतः' (काव्यमाला, पंचम गुच्छक) इसके अतिरिक्त, जयरथ द्वारा निर्दिष्ट तथा मम्मट कृत काव्यप्रकाश की आत्मकृत टीका 'संकेत' के द्वितीय श्लोक में स्वयं रुय्यक द्वारा स्वीकृत, उनका 'तिलकादधीतसाहित्यविद्यत्व' भी इस तथ्य के साक्षी हैं कि राजानक तिलक तथा मम्मट दोनों ही रुय्यक के पूर्ववर्ती हैं। श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के प्रणेता तथा कश्मीर नरेश जयसिंह (सन् ११२८-४९) के 'सान्धिविग्रहिक' श्री मंखक कवि रुय्यक को अपना गुरु स्वीकार करते हैं—

> तं श्री रुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
> सौहार्दप्रश्रयरसस्रोतस्सम्भेदमज्जनम् ॥
>
> —श्रीकण्ठ० २५।३०

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि महाराज जयसिंह के शासनकाल की दृष्टि से रुय्यक का समय भी बारहवीं शती का प्रथम चतुर्थांश तथा उनके पिता श्री तिलक का भी समय लगभग २५ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १०७५ से ११२५ के बीच का होना चाहिए। इधर, आचार्य मम्मट भी काव्यप्रकाश (१०।२९) में उदात्तालंकार के उदाहरण श्लोक में महाराज भोज का स्मरण करने के कारण, उनके परवर्ती, अर्थात् सन् १०५४ ई० (भोज के शासन की चरम सीमा) के बाद के ही सिद्ध होते हैं। ऐसी दशा में तिलक एवं मम्मट की समसामयि-कता को किसी प्रकार भी अमान्य नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह है कि इनमें से पूर्ववर्ती है कौन? श्री बनहट्टी महोदय तथा डा० डे की धारणा उपर दी जा चुकी है। किन्तु अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समकालीन होते हुए भी तिलक, मम्मट से कुछ समय पूर्व के ही रहे होंगे। श्री रामस्वामी जी ने उद्भटालंकार की प्रस्तावना में इस विषय पर यथेष्ट सामग्री एकत्रित की है। इस विषय में उनके समस्त तर्कों से व्यतिरिक्त एक नवीन साक्ष्य का निर्देश कर देना उचित ही होगा, वह यह कि अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का विभाजन दोनों ही आचार्यों ने किया है और जहाँ तक सामान्य-विशेष, कार्यकारण, तथा सारूप्य, इन तीन सम्बन्धों का प्रसंग है, दोनों आचार्य समान हैं किन्तु सारूप्य के प्रसंग में राजानक तिलक ने केवल एक भेद को ही प्रस्तुत किया है जब कि मम्मट उसके छह भेद देते हैं। इससे यह भले न सिद्ध हो कि विकास-क्रमानुसार, मम्मट तिलक के परवर्ती हैं किन्तु यह अवश्य सिद्ध होता है कि यदि तिलक मम्मट के परवर्ती होते या काव्यप्रकाश

अपनी टीका लिखने के पूर्व ही पढ़ सके होते तो अवश्य ही इन भेदों के पक्ष या विपक्ष में कुछ कहते जैसा कि मम्मट के बाद ही राजानक रुय्यक ने उनका यथेष्ट अनुकरण किया है।

सारांश यह है कि दोनों ही आचार्यों का विस्फूर्जनकाल ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही है। किन्तु तिलक तथा उनका 'उद्भटविवेक' दोनों ही, मम्मट एवं उनके 'काव्य-प्रकाश' से किंचित् ज्येष्ठ हैं। यह भी सम्भव है कि मम्मट ने तिलक की टीका अथवा उनके अन्य ग्रन्थों का विमर्श किया हो, जो कि स्वयं तिलक द्वारा संकेतित किन्तु अप्राप्त हैं।[१] दोनों आचार्यों की परस्पर वार्ताभिज्ञता के ही कारण उनकी कृतियों में अधिकांश समान अभि-प्राय, ऐकमत्य अथवा अनुवदन प्रतीत होता है। अतः निश्चित है कि तिलक ने सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ का प्रणेयन किया और बाद में मम्मट ने उन्हीं के द्वारा कहे गये, अविरुद्ध अर्थों को संग्रहीत करके अपने ग्रन्थ को अनुप्राणित किया और समान तथ्यों में, एक ही रूप के वाक्यों तथा उदाहरणों की योजना की। इसी प्रकार का वाक्यानुवादसम्प्रदाय हेमचन्द्र, माणिक्यचन्द्र तथा रुय्यकादि के ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है। किन्तु केवल इस अनुवाद के ही आधार पर हम बिना गम्भीर विचार किये, किसी आचार्य के विषय में, काल-सम्बन्धी कोई विशिष्ट-निर्णय नहीं दे सकते। जहाँ तक परस्पर नाम लेने का प्रश्न है, उसके विषय में भी हम कोई नियामक धारणा नहीं बना सकते। संस्कृत-साहित्य इस माने में अत्यन्त शिथिल है। इसमें जहाँ बाणभट्ट, बिल्हण तथा जगन्नाथ जैसे कवि एवं आचार्य अपना विस्तृत परिचय ग्रन्थों में देने वाले हैं वहीं कालिदास, दण्डी तथा उद्भटादि जैसे चुप्पी साधने वाले लोग भी हैं और बहुमत भी मौनव्रतियों का ही है। अतः जैसे महाराज जयापीड के ही शासन में सभाजित, उद्भट एवं वामन एक-दूसरे का नाम तक अपने ग्रन्थों में नहीं ले सके, ठीक उसी प्रकार तिलक एवं मम्मट भी। अस्तु—

पिछले अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अन्योक्ति का सर्वप्रथम वर्गी-करण ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ही किया। उनके पूर्व, अप्रस्तुतप्रशंसा अथवा अन्योक्ति के रूप में उसका केवल एक ही भेद आचार्यों द्वारा व्याख्यात होता रहा। यही तथ्य आचार्य उद्भट के भी विषय में सत्य है। किन्तु टीकाकार तिलक ने उद्भट प्रदत्त परिभाषा की व्याख्या में ध्वनिकार कृत वर्गीकरण का पुनर्व्याख्यान प्रस्तुत किया। सम्भवतः इसकी प्रेरणा उन्हें 'ध्वन्यालोक तथा लोचन' में स्थित आनन्द तथा अभिनव के व्याख्यानों से ही मिली। अन्यथा पूर्वटीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने केवल उद्भटीय कारिका का खण्डान्वय करने के अतिरिक्त, कोई नवीन तथ्य व्यक्त नहीं किया है। सामान्य दृष्टि से देखने पर भी प्रतीहारेन्दुराज में तिलक जैसी आलोचनात्मक दृष्टि का सर्वथा अभाव है।

---

१. विशेषोक्ति के प्रसंग में जयरथ द्वारा निर्दिष्ट, तिलक का एक व्याख्यान, उद्भट-विवेक में नहीं मिलता, अतः निश्चित है कि वह व्याख्यान तिलकप्रणीत किसी अन्य ग्रन्थ में था।

यह अवधेय तथ्य है कि ध्वनिकार ने अप्रस्तुतप्रशंसा का केवल वर्गीकरण मात्र प्रस्तुत किया है न कि सोदाहरण व्याख्यान। यह कार्य तो उनके व्याख्याता अभिनव ने ही किया। अभिनव का समय, उन्हीं के प्रमाणों के अनुसार लगभग ९५० से १०२० ई० तक स्वीकार किया जाता है। अतः यह भी सम्भव है कि वे महाराज भोज के समकालिक रहे हों। इस दशा में स्पष्ट है कि राजानक तिलक का साहित्यिक जीवन अभिनव के अत्यन्त समीप का है। यह सामीप्य यद्यपि अभिनव की चरम तिथि (सन् १०२०) तथा तिलक की प्रारम्भ तिथि (सन् १०७५) के आधार पर ५० वर्षों के ओर-छोर पर है। किन्तु जब कोई लिखित प्रमाण नहीं प्राप्त है, तब इसे कम-से-कम पन्द्रह-बीस वर्ष की भी दूरी पर स्थित किया जा सकता है, क्योंकि सम्भव है कि तिलक और पहले उत्पन्न हुए हों अथवा आचार्य अभिनव ही अधिक समय तक जीवित रहे हों। वस्तुतः अभिनव-भोज-धनिकधनंजय महिमभट्ट-क्षेमेन्द्र तथा तिलक—इन समस्त आचार्यों का समय परस्पर मिला हुआ है, भले ही उन्होंने एक-दूसरे का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया।

इसका अर्थ यह है कि तिलक, आचार्य अभिनव से उतने प्रभावित नहीं हो सके थे जितना कि काव्यप्रकाशकार ! क्योंकि तिलक के युग तक अभिनव की विद्वत्ता कुछ संकुचित-सी रही और इसी कारण अप्रस्तुतप्रशंसा के व्याख्यान में अभिनव का जो प्रभाव मम्मट पर है वह तिलक पर नहीं। अभिनव द्वारा उदाहृत अप्रस्तुतप्रशंसा के श्लोकों में से तिलक ने एक भी उदाहरण अपने व्याख्यान में सम्मिलित नहीं किया है जबकि मम्मट ने तीन उदाहरण राजानक तिलक से तथा एक आचार्य अभिनवगुप्त से उद्धृत किया है। सारूप्य-निबन्धना का चूँकि तिलक ने एक ही स्वरूप स्वीकार किया है जबकि मम्मट ने उसके कई उपभेद माने हैं अतः आदान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तिलक ने आचार्य उद्भट द्वारा दिये गये मूल श्लोक में ही सारूप्य-निबन्धन का निर्देश किया है। इस आदान-प्रदान से भी तिलक एवं मम्मट के पौर्वापर्य पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः अभिनव एवं तिलक के पूर्ववर्ती होने के कारण आचार्य मम्मट को उदाहरण-श्लोक चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी और इसी कारण मम्मट को जिस आचार्य का जो अंश पसन्द आया उसे बिना किसी 'ननु नच' के स्वीकार कर लिया, अन्यथा अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का सदुपयोग किया। सारूप्य-निबन्धना के लिए राजानक तिलक भी पूर्वाचार्यों की भाँति, उसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं—'एषा च सरूपे प्रस्तुते सरूपस्याभिधाने'। किन्तु आचार्य मम्मट ने परिभाषा में 'तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्य' तथा उदाहरण में 'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने' कह कर 'सादृश्य' को उसके तीन स्रोतों में से अन्यतम स्वीकार किया है। मम्मट के अनुसार तुल्य प्रस्तुत रहने पर तुल्याभिधान तीन प्रकार से सम्भव है—श्लेष द्वारा, समासोक्ति द्वारा तथा सादृश्य द्वारा। 'सरूप एवं सदृश' शब्द प्रायः एक ही भाव के द्योतक हैं—व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी और प्रवृत्ति की भी दृष्टि से। इसी कारण अभिनव ने सारूप्य का जो विभाजन वाच्यानुगामी व्यंग्य तथा ध्वनि के रूप में किया है और मम्मट ने 'तुल्यनिबन्धन' का जो विभाजन प्रतीय-

मानार्थानध्यारोप आदि तीन रूपों में किया है उनमें तात्त्विक साम्य है। किन्तु श्लेष एवं समासोक्तिगत सारूप्य जो कि मम्मट के विभाजन में ही प्राप्त होता है तथा जो कि उनकी तुल्य-निबन्धना अप्रस्तुत० का ही एक अंगमात्र है, अभिनव तथा तिलक के व्याख्यान में बिलकुल अनुपस्थित हैं। ऐसी स्थिति में हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि आचार्य मम्मट की तुल्य-निबन्धना अप्रस्तुत० व्याप्ति की दृष्टि से अभिनवादि की सारूप्य-निबन्धना से बड़ी है। किन्तु चूँकि प्रसिद्धि 'सारूप्य' शब्द की ही है अतः मम्मटोत्तरयुगीन आचार्यों की उपलब्धियों के आधार पर, आगे भी इसी शब्द का प्रयोग किया जायेगा।

आचार्य मम्मट ने अन्योक्ति का बृहत्तम स्वरूप व्यवस्थित किया। 'बृहत्तम' संज्ञा देने का मूल अभिप्राय अन्योक्ति के उन समस्त भेदोपभेदों की समवायस्थिति से है जो पृथक् रूप से उसके सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों ही पक्षों के व्यवस्थापक थे। किन्तु आचार्य मम्मट ने अपने तद्विषयक विवेचन को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के ही ध्येय से उन समस्त भेदों को एकसूत्र में ग्रथित कर दिया। पिछले अध्याय में भी इस रहस्य का उद्घाटन किया जा चुका है कि लौकिक दृष्टि से अन्योक्ति के प्रथम चार भेद जो कि कार्यकारण एवं सामान्यविशेष सम्बन्धों से युक्त हैं, प्रायः शास्त्र अथवा उन काव्यों के प्रतिपाद्यों से सम्बद्ध हैं जिनकी रचना कवि पूर्वाग्रह अथवा किसी विशिष्ट अभिप्रायवश करता है। उसे जानबूझ कर ऐसी शब्दार्थ-संघटना करनी पड़ती है ताकि उसमें कार्यादि प्रस्तुत बन सकें। किन्तु सारूप्य-निबन्धन, लोक-जीवन का प्रतीक होने के कारण ही या तो निष्प्रयास अथवा अत्यल्प प्रयास मात्र से सिद्ध हो जाता है। मानव जीवन की विविध अनुभूतियों का स्फुट निबन्धन करने में कवि को न तो कोई पूर्व योजना बनानी पड़ती है और न ही विशिष्ट अभिप्राय दिखाने के लिए तदनुकूल भावार्थ संघटना।

वस्तुतः सारूप्य-निबन्धना अन्योक्ति ही अत्यन्त प्राचीन काल से मुक्तकों के रूप में व्यक्त होती रही है न कि कार्यादि-निबन्धना। क्योंकि कार्यादि-निबन्धना अन्योक्ति केवल प्रबन्धों में ही प्रयुक्त हुई है उपमा, दीपक, यमक आदि की भाँति। इससे यह भी स्पष्ट है कि ऐसा करने में कविगण प्रायः अन्योक्ति का अलंकार पक्ष ही सँजोते रहे हैं न कि उसका 'व्यवहार अथवा काव्य पक्ष।' इसके विपरीत जब-जब कवियों ने 'अन्योक्ति' को उसके आलंकारिक पक्ष से दूर कर उसे स्वयं काव्य रूप में व्यक्त किया है तब-तब उस अन्योक्ति-काव्य में अन्य अलंकार भी स्वतन्त्र गति से प्रयुक्त होते रहे हैं।

सारांश यह है कि आचार्य मम्मट के युग में 'अन्योक्ति' पूर्णतः अपने दुहरे स्वरूप में काव्य तथा लोक के बीच प्रकट हुई। अन्योक्ति का प्रथम व्यक्तित्व अलंकार-रूप था और चूँकि अलंकार काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं, अतः अन्योक्ति भी। कवियों द्वारा रघुवंशादि महाकाव्यों में प्रयुक्त होकर वह उनकी शोभातिशायिनी बनी। किन्तु इस परिस्थिति में उसके 'कार्यकारण एवं सामान्यविशेष निबन्धन ही प्रायः प्रयुक्त हुए। अन्योक्ति का दूसरा व्यक्तित्व स्वयं 'काव्य' रूप था और चूँकि काव्य अलंकार्य होता है अतः अन्योक्ति

भी कवियों द्वारा मुक्तक काव्यों में प्रयुक्त हुई और इतरेतर अलंकार इसके शोभाधायक तत्त्व बने। इस परिस्थिति में सारूप्य-निबन्धन ही अन्योक्ति काव्य का शरीर बना। एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा—

विधिरेव विशेषगर्हणीयः करट! त्वं रट कस्तवापराधः।
सहकारतरौ चकार यस्ते सहवासं सरलेन कोकिलेन!!

प्रस्तुत पद्य में कोई व्यक्ति ब्रह्मा की निन्दा के बहाने, साथ-ही-साथ तन्निर्मित काक निन्दा द्वारा उस प्रस्तुत विद्वान् प्रभु की निन्दा कर रहा है जिसने कि बिना किसी विवेक के एक मूर्ख व्यक्ति को विद्वान् के समकक्ष अभिषिक्त कर दिया है। कुवलयानन्दकार आचार्य अप्पय दीक्षित के मन्तव्यानुसार यहाँ 'व्याजनिन्दा' अलंकार है। किन्तु प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में सारूप्यनिबन्धन की परिपाटी देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उदाहरण अन्योक्ति का है। स्वयं आचार्य इस तथ्य को स्वीकार करते हैं—

'एवं च व्याजनिन्दामूलकव्याजनिन्दारूपेयमप्रस्तुतप्रशंसा इति चमत्कारातिशयः। एवमेव व्याजस्तुतिमूलकव्याजस्तुतिरूपाप्यप्रस्तुतप्रशंसा दृश्यते'—कुवलयानन्द, व्याज० प्रकरण। कुवलयानन्दकार द्वारा व्याख्यात तुल्ययोगिता, असम्भव, सम, पर्याय, विकस्वर, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, लेश तथा आंशिक रूप से गूढ़ोक्ति प्रभृति समस्त अर्थालंकार वस्तुतः प्रतिपाद्य की दृष्टि से, काव्यरूप अन्योक्ति की ही शोभा बढ़ाते हैं। इसी प्रकार आचार्य भट्टदेवशंकर (सन् १७६५) तथा नवीन आचार्य श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकालसंयमीन्द्र ने स्वतन्त्ररूप से अपने ग्रन्थ 'अलंकारमंजूषा' तथा 'अलंकार-मणिहार' में अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, श्लेष, समासोक्ति, अवज्ञा आदि अलंकारों को अन्योक्ति का 'उत्थापक' स्वीकार किया है। अध्यायान्त में इतर अलंकारों से अन्योक्ति का सम्बन्ध स्पष्ट करते समय इसका उदाहरण प्रस्तुत किया जायेगा।

अन्योक्ति में वाच्य अप्रस्तुत से गम्य प्रस्तुत का व्यंजनयावबोध होता है। वस्तुतः प्रस्तुतावबोध की यह प्रक्रिया 'प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत' के बीच में स्थित कुछ विशिष्ट सम्बन्धों के ही कारण सम्पन्न होती है। इन सम्बन्धों की तीन कोटियाँ हैं—कार्यकारण सम्बन्ध, सामान्य-विशेष सम्बन्ध तथा सारूप्य सम्बन्ध। इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर आचार्य अभिनव ने भामहीय अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में स्थित 'सा चैवं कथ्यते यथा' के स्थान पर 'सा त्रिधा परिकीर्तिता' पाठ स्वीकार किया था। चूँकि प्रथम दोनों सम्बन्ध दो-दो विषयों से संयुक्त हैं, अतः उनका एकैकशः निबन्धन करने पर अन्योक्ति के कुल पाँच भेद बनते हैं—कार्यनिबन्धना, कारण-निबन्धना, सामान्यनिबन्धना, विशेषनिबन्धना तथा सारूप्यनिबन्धना। इन्हीं पाँच प्रकारों को मम्मट के तीनों पूर्वाचार्यों ने (आनन्दवर्द्धन, अभिनव तथा तिलक) भी स्वीकार किया था और रुय्यकादि परवर्ती आचार्यों ने भी, इन्हीं तीन सम्बन्धों तथा पाँच भेदों को मान्यता दी।

कारणनिबन्धना अन्योक्ति का उदाहरण आचार्य मम्मट ने अमरूशतक (पद्य १०)

से प्रस्तुत किया है। प्रिय विदेश जाने के लिए उद्यत होता है किन्तु प्रियतमा की अविरल अश्रुधारा और उसके द्वारा सूचित उसका भावी मरणोत्साह, उसका कार्यक्रम भंग कर देते हैं। कोई परिचित मित्र नायक से पूछ बैठता है कि—अरे, तुम तो परदेश जा रहे थे? लौट क्यों आये? यहाँ मित्र द्वारा किया गया प्रश्न ही 'कार्यरूप' है तथा जिस परिस्थिति के वशीभूत होकर नायक विदेश नहीं जा सका, वही परिस्थिति कारण है। कवि इसी कारण का निबन्धन पद्य में शब्दशः करता है—

याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्तात्वया मत्कृते नो कार्या नितरां कृशासि कथयेत्येवं सवाष्पे मयि।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः॥

प्रस्तुत पद्य में मित्र द्वारा प्रस्थान-निवर्तन का कारण पूछने पर, नायक कारण रूप में पत्नी का वृत्तान्त उपस्थित करता है। किन्तु अवधेय तत्त्व यह है कि कवि की दृष्टि से नायक द्वारा वर्णित यह समस्त पद्य अप्रस्तुत है जो कि कविसंरम्भगोचर नहीं है। वस्तुतः कवि का लक्ष्य, इस पद्य से यह व्यंजना कराने में है कि किसी सहृदय मित्र ने नायक से लौट आने का कारण पूछा। अतः 'गमननिवृत्तिहेतु' का पूछना ही इस पद्य में प्रस्तुत साथ-ही-साथ गम्य है तथा गमननिवृत्तिहेतु अप्रस्तुत, साथ-ही-साथ प्रशंसित अथवा वर्णित है। इसी प्रकार कारण निबन्धना जो कि अभिधयावाच्य है, अप्रस्तुत होने के ही कारण, अभिधा मात्र में पर्यवसित न होकर उपर्युक्त कार्यरूप व्यंग्य में पर्यवसित होती है, क्योंकि वही प्रस्तुत है। किन्तु यह व्यंग्य ध्वनिकार के अनुसार वाच्योपस्कारक ही होने के कारण 'ध्वनि' रूप नहीं बन पाता। अतः 'गुणीभूत व्यंग्य' ही बन पाता है।

अन्योक्ति की इस कोटि में चूँकि कारण रूप अप्रस्तुत का 'वचन' अर्थात् अभिधया प्रतिपादन होता है, अतः इसे कारणनिबन्धना कहा जाता है। यद्यपि उक्त श्लोक के प्रस्तुतांश में प्रयुक्त 'किम्' शब्द सामान्य दृष्टि से कारण पूछने का ही चिह्न है किन्तु जैसा कि प्रदीपकार महामहोपाध्याय श्री गोविन्द ठक्कुर ने निर्देश किया है, यहाँ वह कारण के प्रस्तुत होने का प्रमाण नहीं बन सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि आचार्य द्वारा कहा गया 'किमिति निवृत्तोऽसि' वाक्य प्रस्तुत कार्य का ही सूचक है। अतः उसमें प्रयुक्त 'किम्' शब्द को कारण का सूचक मानकर पूछे जाने के कारण ही हमें कारण को 'प्रस्तुत' नहीं मानना चाहिए और उस प्रश्न का उत्तर होने के कारण 'याताः किन्न मिलन्ति' आदि को भी प्रस्तुत की प्रशंसा नहीं समझनी चाहिए। क्योंकि 'प्रस्तुत' तो यहाँ कार्य रूप है जो कि उक्त वाक्य के माध्यम से आचार्य द्वारा व्यक्त किया गया है और 'किम्' शब्द भी केवल प्रश्नसूचक है, कारण सूचक नहीं। प्रदीपकार का मत 'किं शब्दः प्रश्नार्थ इति न कारणप्रस्तावः' इसी तथ्य की पुष्टि करता है। कार्यकारण को ही स्पष्ट करते हुए अन्य टीकाकार नरहरि सरस्वतीतीर्थ का निर्णय इस विषय में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है—'प्रश्न

द्वारा कार्यप्रस्तावप्रस्थानस्य निर्णीतत्वात्कारणं मरणोपक्रमसूचनारूपमभिहितम् इत्यर्थः' (बालचित्तानुरंजिनी)

अन्य तीनों ही निबन्धनों में इसी परिपाटी का आश्रय लिया जाता है। अर्थात् कार्य-निबन्धना में कार्य अप्रस्तुत वाच्य तथा कारण प्रस्तुत व्यंग्य होता है। सामान्यनिबन्धना में सामान्य अप्रस्तुत वाच्य तथा विशेष प्रस्तुत व्यंग्य होता है। ठीक इसी प्रकार विशेष-निबन्धना में विशेष अप्रस्तुत वाच्य तथा सामान्य प्रस्तुत व्यंग्य होता है। सभी व्यंग्य-प्रस्तुत ही कवि के लक्ष्यभूत होते हैं। किन्तु या तो वे वाच्यार्थ के उपस्कारक मात्र होने के कारण अथवा समप्राधान्यस्थिति के कारण ध्वनिरूप न बनकर, गुणीभूत व्यंग्य ही होते हैं।

बलवान् नरेश की अभियान सूचना पाते ही निर्बल नरेश राजधानी छोड़कर सपरिवार जंगल में भाग जाता है। इधर, अन्तःपुर में पाला गया क्रीडाशुक पिंजरे में अकेला रह जाता है। कोई बटोही, उसे भूख-प्यास से तड़फड़ाता देखकर ज्यों ही लौहशलाका से मुक्त करता है कि वह उड़कर जनशून्य वलभी में पहुँच जाता है और चित्रस्थ राजा, देवी, राजदारिका, कुब्जा तथा कुमारादि को जीवित मान कर, उन्हें अपने प्रति बरती गयी निष्ठुरता का उलाहना देता है। कार्यनिबन्धना का यह उदाहरण देखिए—

राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते।
इत्थं नाथ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पंजरा-
च्चित्रस्थानवलोक्यशून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥'

इस पद्य में शुक के समस्त कार्यकलापों का अभिधया प्रतिपादन किया गया है। किन्तु प्रश्न यह है कि आखिर शुक के इन कृत्यों का आधार या कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान मम्मट के ही शब्दों में—'प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गताः' यही 'कारण' व्यंग्य एवं प्रस्तुत है जिसके अवबोधनार्थ कवि ने कार्यरूप अप्रस्तुतप्रशंसा की योजना की है। अतः इस पद्य में शत्रुपलायन रूप कारण प्रस्तुत तथा पंजरशुकवृत्तान्त रूप कार्य अप्रस्तुत है। किन्तु पूर्वश्लोक की ही भाँति व्यंग्यार्थ यहाँ भी वाच्यार्थ के प्रति उपसर्जनीभूत है, अतः उद्योतकार श्रीनागेशभट्ट के शब्दों में—

'अत्र व्यंग्याद्वाच्यस्याधिकचमत्कारकारित्वेन न ध्वनित्वव्यपदेशः।
किन्त्वलंकारव्यवहार एवेति बोध्यम्। एवमग्रेऽपि।'

यह पद्य भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण ४ तथा तिलककृत व्याख्यान में भी उपन्यस्त किया गया है।

भगवान् विष्णु द्वारा नरकासुर का वध कर दिये जाने पर, उसका मंत्री, अपने स्वामी के मित्र 'शाल्व' को विष्णु-वध के निमित्त प्रेरित करता है। किन्तु प्रत्यक्ष रीति से यह न

कह कर कि—'यदि कृष्ण को मार कर आप स्वामी नरकासुर की वधुओं का सन्ताप शान्त कर देते हैं तो आप सरीखा श्लाघ्य व्यक्ति कोई न होगा।' मंत्री एक सामान्य सिद्धान्त का उपदेश देता है—

'सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः।
स एव पूज्यः स पुमान्स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः॥'

वस्तुतः कवि की दृष्टि से यह अप्रस्तुत सामान्य केवल उपर्युक्त प्रस्तुतविशेष के अवबोधनार्थ निबद्ध किया गया है क्योंकि वही 'कविसंरम्भगोचर' अर्थ है। राजानक तिलक भी यही पद्य इस प्रसंग में उदाहृत कर चुके हैं, अतः मम्मट ने सम्भवतः यह आदान वहीं से किया।

विशेषनिबन्धना का उदाहरण आचार्य ने भल्लटशतक से उद्धृत किया है जो कि तिलकोद्धृत उदाहरण से भिन्न तथा अभिनवप्रदत्त उदाहरण से अभिन्न है। कवि कहना यह चाहता है कि—'अस्थाने जडानां ममत्वसंभावना भवति' जो कि एक सामान्य उद्गार है। किन्तु इस सामान्य तथ्य को वह वाच्य न बनाकर व्यंग्य रखता है। क्योंकि इस प्रक्रिया में उस सामान्य तथ्य का चमत्कारातिशायित्व, उसकी विच्छित्ति निश्चय ही द्विगुणित हो उठेगी। अतः इस लक्ष्यभूत सामान्य के अवगमार्थ वह एक अप्रस्तुत विशेष वृत्तान्त का निबन्धन प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ—

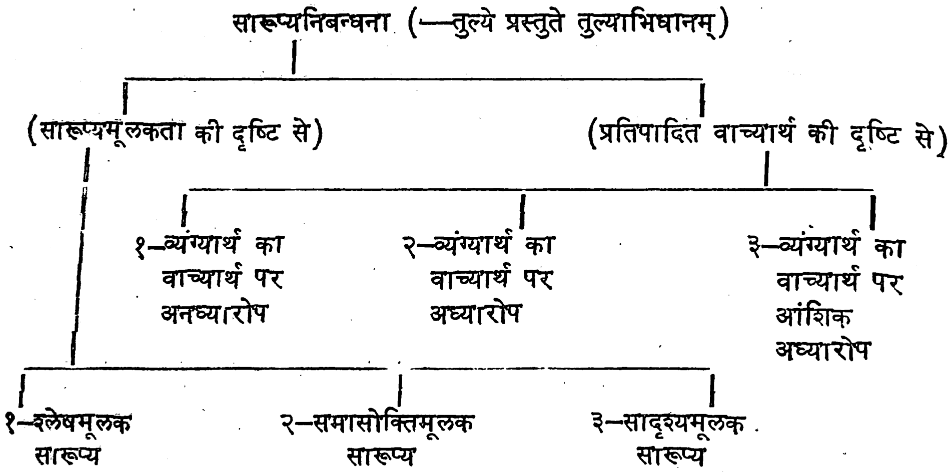
एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणंवारिणो यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अंगुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा॥

एक मूर्ख व्यक्तिविशेष जो कमलिनी के पत्ते पर पड़े जलबिन्दु को मोती समझता रहा और लोभवश अँगुली से छूते ही विनष्ट हो जाने पर, उसके पीछे पागल बना घूमता है। यह समझता है कि मोती छूते ही उड़कर कहीं चली गयी। यही इस पद्य का प्रतिपाद्य है। विशेषनिबन्धना का उदाहरण तिलक ने 'ऐरावणं स्पृशति मन्त्रयते मरुद्भिः' आदि श्लोक दिया है जो कि राजा के प्रति व्यक्त की गयी किसी कवि की अत्युक्तिपूर्ण चाटुकारिता होने के कारण रमणीय नहीं। सम्भवतः इसी कारण आचार्य मम्मट ने उस पद्य की उपेक्षा की।

आचार्य मम्मट की सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति ही उनके समस्त अन्योक्ति-विवेचन का प्राणतत्व है। क्योंकि मम्मट द्वारा उद्भावित सारूप्यनिबन्धन का यह स्वरूप न उनके पूर्व ही था और न उससे व्यतिरिक्त कोई नवीन स्वरूप परवर्ती युग में ही दृष्टिगोचर हुआ। उन्हीं द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को बाद वाले आचार्यों ने या तो अविकल रूप से अथवा किंचित्परिवर्तन के साथ स्वीकार किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है आचार्य मम्मट के सारूप्यनिबन्धन का क्षेत्र पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है। क्योंकि

मम्मटीय सारूप्य-निबन्धन) उन समस्त उपभेदों का भी उपलक्षण है जो आचार्य द्वारा 'तुल्य-निबन्धना' शीर्षक के अन्तर्गत रखे गये हैं।

तुल्य (वृत्तान्त) प्रस्तुत (व्यंग्य) रहने पर, इतर तुल्य (अप्रस्तुत) का अभिधान (अभिधया प्रतिपादन) तीन प्रकार से सम्भव है—श्लेष द्वारा, समासोक्ति द्वारा अथवा केवल सादृश्य द्वारा। आचार्य मम्मट के अनुसार तुल्यनिबन्धना में प्रतिपादित वाच्यार्थ की दृष्टि से सारूप्य के पुनः तीन उपभेद हैं—प्रथम, जहाँ व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ पर कोई आरोप न हो अर्थात् दोनों अर्थ स्वतःसम्भवी हों। दूसरा, जहाँ व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ पर अध्यारोप हो। अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ असम्भव हो और तीसरा, जहाँ व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ पर आरोप हो भी और न भी हो। अर्थात् वाच्यार्थ सम्भवासम्भव रूप हो। मम्मट कृत यह विभाजन इस प्रकार होगा—



श्लेषमूलक सारुप्यनिबन्धना का उदाहरण आचार्य ने भल्लटशतक से प्रस्तुत किया है। कवि किसी महापुरुष का उदात्तचरित्र वर्णित करते हुए कहता है कि—

पुन्स्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन॥

प्रस्तुत पद्य में ऐसी पदावली प्रयुक्त की गयी है कि जो श्लेष की शक्ति से दो अर्थ उपस्थित करती है—एक पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के पक्ष में तथा दूसरा महापुरुष के पक्ष में। भगवान् भी अमृतहरण के प्रसंग में पुन्स्त्व से विचलित हुए (नारी रूप धारण करने के कारण) वराहावतार में 'अधःलोक' अर्थात् पाताल गये, वामनावतार में बलि से याचना करने के लिए 'नमहान्' अर्थात् भिखारी बने, फिर भी विश्वोद्धार किया। ठीक इसी प्रकार महापुरुष भी लोकोपकार रूप अपने कार्याभियान में पुरुषार्थ से हीन, सम्पत्ति-भ्रष्ट तथा

याचनावश गौरवहीन होता है। यहाँ यद्यपि दोनों ही अर्थ अभिधया स्पष्ट हो रहे हैं, श्लेष की शक्ति से तथापि अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत भाव का निबन्धन होने के कारण, सारूप्य निबन्धना अन्योक्ति है। क्योंकि 'समुदाय की शक्ति ही अवयव की शक्ति से बलीयसी होती है' इस शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार श्लेष द्वारा विष्णुपरक अर्थ ही सर्वप्रथम उद्भासित होता है और चूँकि वह 'कवि सरम्भगोचर' नहीं होता है, गौण अथवा अप्रस्तुत होता है, इसी कारण अभिधया प्रतिपादित उस विष्णुपरक प्रथम अर्थ में विश्रान्त न होकर, व्यञ्जनयाक्षिप्त, महापुरुषगत प्रस्तुतार्थ में विश्रान्त होता है। अतएव श्लेष की स्थिति, इस पद्य में प्रधान नहीं है और इसी कारण यहाँ श्लेषध्वनि भी मान्य नहीं है, क्योंकि श्लेषध्वनि, अभिधामूलाध्वनि की ही एक कोटि है और वह तभी होती है जब कि श्लेष द्वारा प्रतिपादित दो अर्थों में से एक, प्रकरणादि दश साधनों द्वारा किसी विशिष्ट पक्ष में नियन्त्रित हो जाय तथा दूसरा अर्थ व्यञ्जनया उद्दीप्त हो उठे। प्रस्तुत पद्य में ऐसी कोई सम्भावना नहीं है, जैसा कि संकेतकार आचार्य रुय्यक स्पष्टतः कहते हैं—एष न शब्दश्लेषो मिधाय एकत्र नियमान्नियतत्वात्। नापि विशेष्यपदस्य श्लिष्टत्वे शब्दश्लेषमूलध्वनिर्भगवद्वृत्तान्तस्यात्र वाच्यत्वात्। तस्य चाप्रस्तुतत्वात्। प्रस्तुतार्थमुखेन यत्रा प्रस्तुतोर्थो विशेष्यद्वारेणावगम्यते स तस्य ध्वनेर्विषय इत्युक्तम्।' काव्यप्रकाश संकेत।

यही तथ्य, समासोक्तिमूलक सारूप्य निबन्धना के भी विषय में सत्य है। वस्तुतः समासोक्तिजनित सादृश्य भी श्लेषसादृश्य का ही अंग है। जहाँ श्लेष में विशेष्य एवं विशेषण दोनों श्लिष्ट होते हैं, वहाँ समासोक्ति में केवल विशेषण ही। इसी कारण परवर्ती युग में, साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने सारूप्य निबन्धना का विभाजन करते समय समासोक्तिमूलक सादृश्य को श्लेष के ही अन्तर्गत रखना उचित समझा।[1] समासोक्तिमूलकता का उदाहरण—

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मनागस्त्वेवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्निविस्फूर्जसे॥

प्रस्तुत पद्य में विशेष्यवाची चन्द्र पद स्पष्टतः श्लिष्ट नहीं है, किन्तु 'क्लान्तिं गमितः', 'प्रतिकर्तु युज्येत न पुनः पादग्रहः' आदि समस्त विशेषण दो-दो अर्थों के द्योतक हैं। इसी श्लिष्ट द्वयर्थकता के बल पर चन्द्र-सूर्य के इस गौण वृत्तान्त से, प्रस्तुतभूत सधननिर्धन-वृत्तान्त का आक्षेप हो रहा है, जो कि कवि का लक्ष्यभूत विषय है। श्लेष की ही भाँति चूँकि यहाँ भी विशेषणसाम्य के कारण अर्थान्तर की प्रतीति हो रही है, अतः इस विशिष्ट परिपाटी की दृष्टि से ही यहाँ समासोक्तिमूलक सादृश्य है। किन्तु निरपेक्ष रूप से यहाँ समासोक्ति का लेश भी नहीं। क्योंकि समासोक्ति तो प्रस्तुत से अप्रस्तुत के व्यंजनयावगम होने पर ही

---

१. द्रष्टव्य—साहित्य दर्पण, दशम परि० (अप्रस्तुत प्रशंसा प्रसंग)।

होती है, जोकि प्रस्तुत पद्य में कतई सम्भव नहीं। यहाँ तो अप्रस्तुत चन्द्र-सूर्य वृत्तान्त से प्रस्तुत निर्धनसवन वृत्तान्त की व्यञ्जना प्रतीति होने का प्रसंग है।

सादृश्यमूलक सारूप्य निबन्धना में प्रस्तुताक्षेप का एकमात्र कारण 'सदृशवृत्तान्त' ही होता है। पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में जहाँ प्रकृताक्षेप की सारी प्रक्रिया श्लेष साहित्य पर ही निर्भर है, प्रस्तुत उदाहरण में वह श्लेषराहित्य अर्थात् शुद्ध सारूप्यमात्र पर आधारित है। मम्मट के शब्दों की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार का कथन इसी व्यवस्था का निर्देश करता है--'प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। विशेषणविशेष्यवाचिनां सर्वेषामपि श्लिष्टत्वस्य, विशेषणमात्रवाचिनो वा श्लिष्टत्वस्य, श्लेषाभावेऽपि सादृश्यमात्रस्यैव वा प्रकृताक्षेपहेतुत्वात्।' उदाहरण से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जायगा--

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥

श्री नागेश भट्ट के निर्वचनानुसार यहाँ ग्रासकल्प परधन का अपहरण करके विफल व्यय करने वाला दुष्ट व्यक्ति ही प्रस्तुत तथा तत्समान वृत्तान्त वाला सागर अप्रस्तुत है। यद्यपि प्रस्तुत पद्य में निबद्ध सादृश्य न तो विशेषण विशेष्य की श्लिष्टता के कारण है और न विशेषणमात्र की श्लिष्टता के कारण अर्थात् वह सादृश्य न तो श्लेषमूलक है और न समासोक्तिमूलक, फिर भी साभिप्राय पदों का प्रयोग तो है ही। क्योंकि पद्य में आये हुए-मुख, अर्जित तथा दुरर्णवादि शब्द उभयार्थसूची हैं और क्रमशः सागर तथा दुर्जन व्यक्ति के पक्ष में घटित होते हैं। किन्तु किसी भी रूप में वे शब्द श्लिष्ट नहीं हैं और न दो अर्थों के वाचक। क्योंकि श्लिष्टपदों का प्रयोग होने से सादृश्यमूलक सारूप्य निबन्धना का वैशिष्ट्य ही क्या रह जाता है? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सारूप्यनिबन्धना के इस त्रिविध वर्गीकरण में आचार्य मम्मट का ध्यान केवल सादृश्य पर केन्द्रित रहा न कि 'श्लिष्टता' पर। इसका तात्पर्य यह है कि यह विभाजन, सादृश्य को ही भेदक तत्त्व मान कर किया गया है अतः श्लेष समासोक्ति अथवा सादृश्यमात्र से उत्पन्न होने के कारण, उसके तत्तन्मूलक तीन भेद हुए। इनमें से श्लेष का तात्पर्य 'श्लेषालंकार' से ही लेना चाहिए, अन्यथा भ्रम उत्पन्न होने की आशंका बनी रहती है। यदि मम्मटाचार्य ने 'श्लिष्टता' को ही भेदक तत्त्व मान कर यह वर्गीकरण किया होता तो श्लेष-समासोक्ति आदि संज्ञाओं की अपेक्षा ही न होती और 'श्लेष-अश्लेष' ये दो ही भेद सम्भव होते। अब यह दूसरी बात है कि मम्मटप्रोक्त सादृश्यमूलक सारूप्य निबन्धना में श्लिष्ट एवं अश्लिष्ट दोनों ही प्रकार की पदावली प्रयुक्त की जा सकती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रदीपकार आचार्य गोविन्द ठक्कुर ने एक नवीन उदाहरण दिया है। इस विषय में उनकी स्पष्ट सम्मति है--'अत्र श्लेषाभावेऽपि सादृश्यमात्रेणासत्पुरुषाक्षेपः। यथा वा मम आदि।' इससे स्पष्ट है कि सादृश्यमूलक सारूप्य निबन्धना में श्लेष का सर्वथा अभाव होता है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट द्वारा व्याख्यात अन्योक्ति का पञ्चधा वर्गीकरण सोदाहरण स्पष्ट किया जा चुका। उदाहरणों के कारण इतने विस्तार में जाने का मूल अभिप्राय, इस बात में निहित है कि अन्योक्ति के पाँचों निबन्धन स्पष्ट हो जायँ। क्योंकि, यह पञ्चधाविभाजन, ठीक इसी रूप में, मम्मट के युग से लेकर अब तक अक्षुण्ण बना रहा है। यदि परिवर्तन हुए तो केवल सारूप्य निबन्धना के उपभेदों में ही हुए, सो भी केवल नाममात्र के लिए। अन्यथा मम्मट द्वारा उदाहृत श्लोकों में उस विशिष्ट निबन्धना का प्रत्याख्यान कर देने से विभाजन पर कोई आक्षेप सम्भव नहीं। क्योंकि, इसके पीछे कभी-कभी व्यक्तिगत द्वेष अथवा सैद्धान्तिक मतभेद भी कारण रूप में गोचर होता है। आचार्य अप्पय दीक्षित के आलंकारिक उदाहरण श्लोकों का जगन्नाथ कृत खण्डन इस तथ्य का प्रमाण है।

इसके पूर्व कि सारूप्यमूलक या तुल्यनिबन्धना के अन्य तीनों भेद स्पष्ट किये जायँ, अन्योक्ति विषयक मम्मटीय व्यवस्था पर एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण डाल लेना अधिक उचित होगा। क्योंकि इसी प्रसंग में उन भेदों का व्याख्यान भी हो जायेगा। आलोचनात्मक दृष्टिकोण का तात्पर्य, 'अन्योक्ति के प्रत्येक अंगोपांग के विधिवत् अनुशीलन से है, ताकि उसका वास्तविक रूप साथ-ही-साथ उसके बारे में उठाई गयी विभिन्न आचार्यों की आपत्तियों का अन्तिम महल भी स्पष्ट हो जाय। वस्तुत: ये व्याख्येय अंग, स्वयं एक समस्या के रूप में है, जिनका निदान ढूँढ़ना आवश्यक है।' इस दृष्टि से, प्रस्तुत व्याख्यानसन्दर्भ में आने वाली कुछ समस्याएँ इस प्रकार हैं—अन्योक्ति में : अप्रस्तुत वर्णन का औचित्य, सामान्य-विशेषादि सम्बन्धत्रय का स्वरूप श्लेष एवं समासोक्ति विषयक तथ्य, वाच्यार्थ के त्रैविध्य का विचार, साधर्म्यवैधर्म्य तथा अन्यापदेशध्वनि।

तृतीय अध्याय में अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय में आचार्य दण्डी का दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है कि उनका सारा मनोबल इस अलंकार की अन्वर्थनामता पर ही केन्द्रित रहा। वास्तव में बहिरंग अथवा अन्तरंग किसी भी रुख से चिन्तन करने पर इस तथ्य का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता कि अप्रस्तुत की प्रशंसा या वर्णना की जाय। जो पदार्थ स्वयं अप्रस्तुत अथवा अनपेक्षित गौण स्वरूप वाला है, उसकी वर्णना में सिर खपाना किसी भी रूप में न्याय नहीं। अत: निश्चित है कि मानव मात्र के प्रत्येक अभियान की पृष्ठभूमि में कोई-न-कोई लक्ष्य अवश्य ही विद्यमान रहता है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' जैसे सुभाषित का यही भाव है। विशेष करके अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा में जहाँ कि कवि का समस्त प्रयत्न प्रस्तुत की व्यञ्जना में ही निहित रहता है, अप्रस्तुत का निबन्धन एक सारहीन प्रक्रिया का उन्मेष मात्र प्रतीत होता है साथ-ही-साथ असम्बद्धभासिता का भाव भी उदित होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा कि—'तथाहि पर्वतोपवर्णनायां कः समुद्रस्वरूपमुपवर्णयेत् ? उपर्णने वाशिष्टविगर्हणमवश्यम्भावि' (काव्यानुशासन ६।८ की टीका)।

यद्यपि अन्योक्ति में अप्रस्तुतनिबन्धन के अनौचित्य पर आचार्य मम्मट अथवा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने कोई लिखित उद्गार नहीं व्यक्त किया, केवल दण्डी की अव्यक्त भावना को प्रामाणिक माना जा सकता है। वस्तुतः इस प्रश्न पर सर्वप्रथम विचार-विमर्श अलंकारसर्वस्वकार राजानक रुय्यक ने (११३५-५० ई०) प्रस्तुत किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि अप्रस्तुत का वर्णन तभी युक्तियुक्त एवं संगत हो सकता है जब कि वह प्रस्तुत-परक हो। क्योंकि यदि अप्रस्तुत से बिना कोई सम्बन्ध रहे ही प्रस्तुतार्थ की प्रतीति होने लगे तब तो यह अतिप्रसंग होगा।[१] इस दशा में जितने भी अलंकारों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का निबन्धन होता है, सब अनवस्था दोष से दूषित हो जायँगे साथ-ही-साथ उनका पार्थक्य भी विनष्ट हो जायगा। एकावलीकार आचार्य विद्याधर ने रुय्यक का समर्थन करते हुए (चौदहवीं शती का पूर्वार्द्ध) बताया कि प्रस्तुतमुखी होने के ही कारण अप्रस्तुत का अनौचित्य दूर हो जाता है और चूँकि ऐसा करने में व्यंग्य प्रस्तुत, वाच्य अप्रस्तुत की सिद्धि में सहायक बनता है, इसी कारण अप्रस्तुत प्रशंसा में 'वाच्यसिद्ध्यंग' नामक गुणीभूत व्यंग्य का उदय भी होता है।[२]

इस प्रकार विद्याधर के ही शब्दों में—'सम्बन्धेन बिना पुनरप्रस्तुतप्रस्तुता वगतावतिव्याप्तिः स्यादित्यर्थान्तरप्रतिपत्तिनिमित्तेन भवितव्यं सम्बन्धेन।' अर्थात् कोई-न-कोई मध्यवर्ती सम्बन्ध होना अनिवार्य है। अन्यथा यदि प्रस्तुत की उपेक्षा करके अप्रस्तुत की वर्णना की जाती है तो वह उपहसनीयता से मुक्त नहीं हो सकती।[३] आचार्य रुय्यक के परवर्ती अनेक आचार्यों तथा टीकाकारों ने इसी असंगति को दुहराया है और सम्बन्ध स्थापना सम्बन्धी निर्णय में प्रायः सब समान ही रहे हैं। इस प्रकार अन्योक्ति में अप्रस्तुत निबन्धन, अनुचित अवश्य है किन्तु प्रस्तुतार्थ से उसे सम्बन्धित करने पर दोष-मार्जन भी हो जाता है। ये सम्बन्ध जैसा कि पीछे व्याख्यान उपस्थित किया जा चुका है, तीन होते हैं जिनका एकैकशः विस्तार करने पर संख्या पाँच हो जाती है। आगे, इस संख्याविषयक तथ्य पर विचार प्रस्तुत किया जायेगा।

किन्तु इस प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) द्वारा उत्थापित एक समस्या का प्रस्ताव अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि यदि अप्रस्तुत वस्तु, प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी होती

---

१. द्रष्टव्य—अलंकार सर्वस्व, पृ० १२२, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, सं० ४०, सन् १९१५।

२. द्रष्टव्य—एकावली उन्मेष ८, पृ० २६३, श्री पी० के० त्रिवेदी कृत बम्बई संस्करण १९०३ ई०।

३. 'ननु पै प्रस्तुतमुपेक्ष्याप्रस्तुतस्य कथने कोऽलंकारः। प्रत्युत वाजपेय शरद्वर्णनवत् परिहास हेतुरयं दोष एवेत्याशंकामनूद्य प्रस्तुतावगमकत्वान्न दोष इति परिहरति।'

—एकावली ८।२७ पर मल्लिनाथ कृत तरल टीका।

है, और इस स्थिति में यदि वहाँ अन्योक्तित्व स्वीकार्य है तो क्या दो भिन्न स्थलों (पद्यों) में भी निबद्ध यही भाव, 'अन्योक्ति' माना जायेगा? उदाहरणार्थ, सेतुबन्ध के पूर्व क्रुद्ध राम के प्रति समुद्र का—'त्वयैव मह्यमियं स्थितिर्दत्ता, यामनुपालयता मया भवान्विष्णुरारोषितः' यह कथन जो कि प्रस्तुत है तथा—

'विकसद्रजः कर्बुरं मकरन्दरसाध्मातमुखरमधुकरम् ऋतुना द्रुमाणां दीयते ह्रियते न पुनरात्मनैवकुसुमम्।'

अप्रस्तुतार्थ प्रतिपादक यह अन्य पद्य है। यहाँ, द्वितीय पद्य में उपवर्ण्यमान अप्रस्तुत अर्थ से वृत्तान्तर में उपनिबद्ध प्रस्तुतार्थ सम्बन्धित किया गया है, अतः विशेष की विवक्षा में सामान्य प्रस्तुत होने के कारण 'सामान्यनिबन्धना' अन्योक्ति सम्भव है।

परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि अन्योक्ति में एक वाक्य में ही किसी सम्बन्ध-विशेष का निबन्धन होता है, यही भामह से लेकर मम्मटादि आचार्यों तक की परम्परा रही है। अतः परम्परा का विरोध करके, अन्योक्ति के विषय में कोई निराधार निर्युक्ति सम्मति प्रस्तुत करना, केवल आत्मगौरव का परिचायक होगा। इसी कारण स्वयं आचार्य हेमचन्द्र ने इस तथ्य का खण्डन उपस्थित किया—

'नैवम्। यत्र हि तस्मिन्नेव वाक्ये भिधीयमानेनाप्रस्तुतेनार्थेन शब्दानुरूपारूटस्यापि प्रस्तुतस्यार्थस्य सारूप्यादिभिराक्षेपः सो न्योक्तेर्विषयः, तत्रत्वेकस्मिन्नेव वाक्ये वाक्यद्वये वा समर्थ्यसमर्थकतया बिम्बप्रतिबिम्बभावेन वा प्रस्तुताप्रस्तुतयोरभिधयैव संस्पर्शो वाक्यैकवाक्यता च सोऽर्थान्तिरन्यासस्य निदर्शनस्य वा विषयः' (हेमचन्द्र कृत काव्या० ६।८ की उन्हीं द्वारा प्रणीत टीका' अलंकारचूड़ामणि, पृ० ३६१, श्री पारिखकृत संस्करण, बम्बई १९३८ ई०)।

इसका निर्गलितार्थ यह हुआ कि अन्योक्ति में प्रस्तुत सर्वदा गम्य ही होता है, वाच्य नहीं। अतः अन्य समस्त अलंकारों से इसकी विजातीयता स्पष्ट हो जाती है। किन्तु यह विचारणीय प्रश्न है कि अप्रस्तुत का वर्णन आखिर अनुचित क्यों होता है? इसका उत्तर यही है कि 'अप्रस्तुत' वृत्त स्वरूप से ही दोषयुक्त होता है। अन्य अलंकारों में इस प्रकार के दोष अत्यल्प हैं। क्योंकि जिस वैशिष्ट्य के कारण वे एक अलंकृति-विशेष का गौरव पा सके हैं, वह वैशिष्ट्य निराधार एवं असंगत नहीं होता है। उदाहरणार्थ—'समासोक्ति' को समासोक्तित्व केवल इसलिए मिला है कि उसमें प्रस्तुतवाच्य से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, कैसे? संक्षिप्त रूप से। किन्तु यहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत का संक्षिप्त बोध जो कि समासोक्ति का वैशिष्ट्य है, निराधार नहीं है, क्योंकि श्लिष्ट विशेषणों के कारण वह सम्भव है। चन्द्रालोक के टीकाकार आचार्य गागाभट्ट ने तुलनात्मक दृष्टि से समासोक्ति का यही उत्कर्ष व्यक्त किया है—अत्रवाच्यार्थस्याप्रस्तुतत्वेना वर्णनीयतया तत्राभिधायाम-पर्यवसितायां तेनप्रस्तुतार्थाभिव्यक्तिः। समासोक्त्यादौ प्रस्तुतस्य वर्णनीयत्वेनाभिधायां पर्यवसितयामर्थसौन्दर्यबलेना प्रस्तुतार्थमानमिति—राकागमटीका, पृ० ८५, चौखम्बा संस्करण, सन् १९३८ ई०।

इसी प्रकार निदर्शना, तुल्ययोगिता, विरोधादि अलंकारों के वैशिष्ट्य भी साधार होने के कारण निर्दोष हैं। इस अनुपात में ज्यों ही हम अन्योक्ति के वैशिष्ट्य 'अप्रस्तुत से प्रस्तुतबोध पर' विचार करते हैं त्यों ही यह स्थिति खटक जाती है कि अप्रस्तुत से कैसे, किस आधार पर और क्यों, प्रस्तुत का ज्ञान होने लगा? क्योंकि अप्रस्तुत तो स्वयं अवर्णनीय होता है, अवाञ्छित एवं अनंगीकार्य भी। अतः उसके निबन्धन में कवि तब तक नहीं प्रवृत्त हो सकता है, जब तक कि उसे कोई ठोस प्रवृत्ति हेतु न प्राप्त हो जाय, यदि वह केवल प्रस्तुताभिव्यक्ति चाहता है, तब तो कोई श्रम ही नहीं, क्योंकि एकमात्र अभिधा से काम चल जायेगा। किन्तु यदि वह प्रस्तुतार्थ की अभिव्यक्ति एक अद्भुत रीति से करना चाहता है जिसमें कि चमत्कारातिशयित्व के साथ-ही-साथ द्विगुणितप्रभावशालित्व भी हो, और जो कि अन्योक्ति शैली में ही सम्भव है, तब तो उसे कोई-न-कोई सुदृढ़ पृष्ठभूमि खोजनी ही पड़ेगी, अन्यथा उसका समस्त अप्रस्तुत निबन्धन श्री गंगाधरवाजपेयीन् के शब्दों में 'उन्मत्त का प्रलापमात्र होगा।'[1] इसी असंगति से बचने के लिए अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत के बीच कार्यकारणादि सम्बन्धों का नियम प्राचीनकाल से ही आचार्यों ने किया और विवाद की यह परम्परा नंजराजयशोभूषणकार श्री अभिनव कालिदास के युग तक (सन् १७४० ई०) चलती रही।[2] किन्तु अप्रस्तुतार्थ निबन्धन के अनौचित्य विषयक विवादों के विविध रूप रहने पर भी, हल सब का एक ही है, अर्थात् प्रस्तुतार्थ से, कार्यकारणादि किसी भी रीति से सम्बद्ध अप्रस्तुत का ही निबन्धन अन्योक्ति में होता है और वही उचित भी है।'

यह सम्बन्ध आचार्य आनन्दवर्द्धन के ही युग से त्रिविध माना गया है। कार्यकारण, सामान्यविशेष तथा सारूप्य। किन्तु चूंकि प्रथम दो सम्बन्ध, दो-दो पक्ष के द्योतक हैं अतः व्यासशैली में विवेचन प्रस्तुत करते समय, उनका व्याख्यान भी उभयथा हो जाता है। आचार्य मम्मट के युग (१०५०-११०० ई०) से लेकर अप्पय दीक्षित (१५५४-१६२६ ई०) के पूर्व युग तक, अप्रस्तुत प्रशंसा के यही तीन सम्बन्ध प्रायः प्रतिष्ठित एवं व्याख्यात हुए। इनमें भी प्रथम दो सम्बन्धों के विषय में तो कोई प्रश्न कभी उठाया ही नहीं गया। हाँ, सारूप्य सम्बन्ध के विषय में विशेष करके उपभेदों की मान्यता के विषय में, कुछ आपत्तियां परवर्ती युग में अवश्य उठीं जिनका लिखित प्रमाण हमें आचार्य विश्वनाथकृत 'साहित्य दर्पण' में प्राप्त होता है।

---

१. 'तत्राप्रस्तुतवृत्तान्तवर्णनीयतया तद्वर्णनं प्रस्तुतगमकतामन्तरेणासम्बद्धार्थमुन्मत्तप्रलपितं स्यात्। अतस्तन्निवृत्तये प्रस्तुतगमकता वाच्या। सा च तयोस्सम्बन्धं विना दुर्घटा।' (कुम्भकोणम् संस्करण, सन् १८९२ ई०) (कुवलयानन्द की 'रसिकरंजनी' टीका पृ० १२३)।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—नंजराजयशोभूषणविलास, पृ० २०५-६। इम्बर कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित, ओरियण्टल इन्स्टीट्युट बड़ौदा संस्करण सन् १९३० ई०।

अन्योक्ति के कुल पाँच निबन्धनों का सोदाहरण व्याख्यान प्रस्तुत किया जा चुका है—उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—कारणनिबन्धना, कार्यनिबन्धना, सामान्यनिबन्धना, विशेष-निबन्धना तथा सारूप्यनिबन्धना। किन्तु ये पाँच भेद जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, व्यास विवेचन में ही सम्भव है, क्योंकि तब हम अप्रस्तुत को क्रमशः कारण, कार्य, सामान्य, विशेष तथा सारूप्य से अभिन्न समझ लेते हैं। अतः बजाय इसके कि हम 'अप्रस्तुत प्रशंसा' कहें हमें इन पाँचों भेदों को क्रमशः कारणप्रशंसा, कार्यप्रशंसा, सामान्यप्रशंसा, विशेषप्रशंसा तथा सारूप्यप्रशंसा ही कहना चाहिए। दूसरी दृष्टि से हम इन्हें कारणोक्ति, कार्योक्ति, सामान्योक्ति, विशेषोक्ति तथा सारूप्योक्ति भी कह सकते हैं। क्योंकि ऐसा करने से अन्योक्ति-गत पूर्वालोचित अनौचित्य भी, तिरोहित हो जाता है, साथ-ही-साथ संज्ञा स्मरण करने के कारण इन सब सम्बन्धों का स्वरूप भी सद्यः परिस्फुट हो जाता है। किन्तु यह तथ्य अवधेय है कि इन पदों का प्रयोग 'अन्योक्ति की मर्यादा' से बाहर नहीं हो सकता। अन्यथा अलंकार शास्त्र में प्रसिद्ध सामान्य एवं विशेषोक्ति अलंकारों से व्यतिक्रम होने की सम्भावना भी रहेगी। सारूप्य सम्बन्ध के पूर्व ही प्रथम दो सम्बन्धों की थोड़ी व्याख्या कर ली जाय, क्योंकि इनका स्वरूप अपेक्षाकृत गूढ़ है।

'सामान्य-विशेष तथा कारण-कार्य ये दोनों जुड़वे शब्द हैं जिनका प्रयोग लोक एवं शास्त्र दोनों में अमन्द गति से होता रहा है। किन्तु यहाँ जब हम इनके स्वरूप की बात करते हैं, तब इसका सम्बन्ध लोकपक्ष से ही रह जाता है, क्योंकि वैशेषिक दर्शन का 'विशेष' तथा अन्य शास्त्रों के कार्य-कारण आदि साहित्य शास्त्र की व्यञ्जना से बहुत दूर हैं। उदाहरणार्थ 'कारण' शब्द का ही अर्थ, भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ अद्‌भुत व्यञ्जना के साथ परिवर्तित होता है। कारण (परमाणु) कारणगुण, कारणभूत, कारणमाला, कारणवादिन, कारणवारि, कारणशरीर (वेदान्त) आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। किन्तु जब इसका लोक संकीण अर्थ लिया जायगा तब कारण शब्द, कार्य के पूर्व नियतरूप से उत्पन्न होने वाले तत्त्व-विशेष से ही होगा"[1] और यही तात्पर्य प्रस्तुत व्याख्यान में अभीष्ट भी है। इसी प्रकार कार्य का अर्थ भी कारण के पश्चात् उत्पन्न होने वाले नियत परिणाम से (An effect, the necessary result of a cause), 'विशेष' का अर्थ इकाई अथवा व्यक्तिगत भाव से (Individuality or particularity) तथा सामान्य का अर्थ सार्वजनीन भाव से (General characteristic, total) है। चूँकि इन दोनों जुड़वें शब्दों में अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है अतः उनका नियत साहचर्य लोकप्रख्यात है। इसी कारण, अन्योक्ति में जब उन्हें

1. According to J. S. Mill, the antecedent or concurrence of antecedents on which the effect is civariably and we conditionally consequent. (Apte's Dictionary, p. 145).

निविष्ट किया गया, तो उनके इसी 'नियत साहचर्य' के कारण उन्हें स्वतन्त्र रूप से एक 'सम्बन्ध' की मान्यता दी गयी।

किन्तु जब ये कारणकार्यादि अन्योक्ति में प्रयुक्त होते हैं तब उनका व्यक्तित्व आलंकारिक विच्छित्ति का मञ्जुल समन्वय प्राप्त करके एक कौतुकपूर्ण नवीनता से व्याप्त हो जाता है। अन्योक्ति में सदैव अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुतार्थ का आक्षेप होता है। किन्तु अवर्णनीय होने के कारण अप्रस्तुतार्थ, प्रस्तुत से सर्वथा पृथक् होकर दूर पड़ा रहता है। दोनों में कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता, इसी कारण दोनों का व्यक्तित्व निर्मूल्य बनकर छिटका रहता है। किन्तु ज्यों ही प्रतिभावान् कवि, वर्णन-चातुरी दिखाने के ध्येय से, कारण-कार्य अथवा सामान्य-विशेष के सहारे इन दोनों व्यक्तियों की सन्धि कराता है त्यों ही मणि-काञ्चन संयोग पाकर अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत एक भाव में विलीन हो जाते हैं। अन्योक्ति उसी विलयन अथवा एकीभाव का मूर्तिमान् रूप है। वस्तुतः कारण-कार्य सम्बन्ध वास्तविक तथा सारूप्य सम्बन्ध प्रातीतिक होता है जैसा कि आचार्य जयरथ ने अलंकार विमर्शिणी में स्वीकार किया है। यही इनका स्वरूप लक्षण भी है।

अन्योक्ति में विद्यमान ये तीनों सम्बन्ध आगे चलकर इतने प्रख्यात हो गये कि कुछ नवीन आचार्यों को उन सम्बन्धों में भी स्वतन्त्र अलंकार का दर्शन होने लगा। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न श्री चिरञ्जीव भट्टाचार्य ने अपने लक्षण ग्रन्थ 'काव्यविलास' की द्वितीय भंगि में 'सामान्य विशेष' अलंकार का निरूपण किया है। आचार्य ने स्वयं इस अलंकार को 'अप्रस्तुतप्रशंसा' (पूर्वव्याख्यात) का ही भेद स्वीकार किया है—'स्यात्सामान्यविशेषोक्तावलंकारः स एव हि। सामान्ये वक्तव्ये विशेषोक्तौ सत्यां स एव, सामान्यविशेष एवालंकारः, यथा—

धिगहो कामिपुरुषानलं परुषकर्मिणः।
जीवितान्यपि मुञ्चन्ति यदमी कामिनीकृते ॥'

अत्र कामिनः कामिनी कृते सर्वमेव त्यजन्तीति सामान्ये वक्तव्ये जीवितत्यागरूपविशेषोक्तिः कृतेति भवति सामान्य विशेषालंकारः।'

—पृ० ५२, श्री गोपीनाथ कविराज कृत सरस्वती भवन संस्क० काशी, सन् १९२५

श्री भट्टाचार्य की इस नव्योद्भावना की आलोचना करने से अधिक अच्छा है कि उनकी इस दाय का अभिनन्दन ही किया जाय। क्योंकि जब आचार्य अप्पय दीक्षित ने केवल संख्या

---

१. 'इत्यमेतत्सम्बन्ध द्वयं वास्तवम् सारूप्यं पुनः प्रातीतिकमेव। प्रतीतावेव सदृशेन वस्त्वन्तरेण सदृशस्य वस्त्वन्तरस्य प्रतीतिसिद्धेः। वस्तुत्वे हि वस्त्वन्तरप्रतीत्या वस्त्वन्तरप्रतीतिर्न स्यात्। अनयैव भंगयेति कारणात् कार्यस्य कार्याद्वा कारणस्य प्रतीतौ।'

—विमर्शिणी, पृ० १३३, काव्यमाला-३५, द्वितीय संस्क० सन् १९३९।

वृद्धि के मोहवश कुछ विशिष्ट मौलिक अलंकारों को ही अनायास खींचा-तानी करके एक सौ बीस तक पहुँचा दिया, तब फिर उन्हीं के समान एक अन्य आचार्य का यह साहस भी क्यों न स्वीकार्य हो ? हाँ, इतना अवश्य है कि जैसे दीक्षित-प्रोक्त 'प्रस्तुतांकुर' अन्योक्ति से भिन्न नहीं, वरन् उसका एक अंग मात्र है, ठीक उसी प्रकार 'सामान्य-विशेष' भी। इसी साम्य पर कार्य-कारण को तथा 'सारूप्य' को भी स्वतंत्र अलंकार माना जा सकता है। सामान्यप्रशंसा, विशेषप्रशंसा आदि पदों की बानगी वस्तुतः इसी ध्येय से व्यक्त की गयी थी।

सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति के व्याख्यान में 'सारूप्य' विषयक आचार्य मम्मट का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। सारूप्य श्लेष, समासोक्ति अथवा सादृश्यमात्र से उद्भूत होता है। आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुत वाच्य में प्रतीयमानार्थारोप की दृष्टि से इसके तीन उपभेद और किये हैं जिन्हें आगे प्रस्तुत किया जायगा। 'सामान्यविशेष तथा कारणकार्य' की ही भाँति 'सारूप्य' भी अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत के बीच होने वाला एक सम्बन्ध है। किन्तु जहाँ पूर्ववर्ती दोनों सम्बन्ध, एक विशिष्ट पारिभाषिक आयाम ही में व्याप्त होने के कारण अत्यन्त संकुचित हैं वहाँ 'सारूप्य' सम्बन्ध लोकव्यवहार के सर्वथा अनुकूल होने के कारण अत्यन्त व्यापक है। क्योंकि अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत इन दो वृत्तान्तों के बीच पूर्वोक्त दो सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कवि को प्रतिपाद्य-साम्य खोजना होगा, जब कि सारूप्य, अगणित संख्या में स्वयं अनाहूत उपस्थित रहेंगे। अतः अन्य दोनों सम्बन्धों की तुलना में सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति बहुत आगे है। सम्भवतः उसकी लोकप्रियता के ही कारण चौदहवीं शती में उत्पन्न आचार्य श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य ने अपने लक्षणग्रन्थ 'काव्यपरीक्षा' (पंचमोल्लास, पृ० ८९) में अन्योक्ति के अन्य भेदों का तिरस्कार किया और केवल सारूप्यनिबन्धना का ही व्याख्यान प्रस्तुत किया—'अस्याः बहुविषयत्वेऽपि तुल्ये प्रस्तुते तुल्यान्तरस्याभिधानेऽतीव चमत्कार इति तदेवोदाह्रियते यथा—गतिवितितादि।'[1]

आचार्य मम्मट ने सारूप्य निबन्धना का विभाजन मूलतः दो दृष्टियों से किया है—एक तो सारूप्यमूलकता की दृष्टि से और दूसरा वाच्यार्थ पर व्यंग्यार्थ के आरोप की दृष्टि से। प्रथम विभाजन में आचार्य मम्मट की दृष्टि सम्भवतः सारूप्य उत्पन्न करने वाले तत्वों पर रही। चूँकि सारूप्य या तो विशेषणों की श्लिष्टता से अथवा विशेषणविशेष्य दोनों की श्लिष्टता से अथवा केवल सादृश्य मात्र से सम्भव होता है अतः मम्मट ने इसके तीन भेदों का निर्देश किया—१. समासोक्तिमूलक, जिसमें कि केवल विशेषण श्लिष्ट होते हैं। २. श्लेषमूलक—जिसमें विशेषण-विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते हैं, तथा ३. सादृश्यमूलक, जिसमें केवल इतिवृत्त साम्य रहता है। समासोक्ति एवं श्लेष तत्तत् अलंकारों के सूचक हैं यह पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है किन्तु आचार्य ने यह जानते हुए भी कि अन्योक्ति के मूल में

१. श्री परशुरामशर्मा वैद्य कृत मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला—२ संस्करण, दरभंगा सन् १९५६।

'श्लेष एवं समासोक्ति' कभी संभव एवं उचित नहीं हैं, सम्भवतः केवल उनकी शैली के साम्य वश ही, अन्योक्तिमूलकता का गौरव उन्हें दिया। अन्यथा अन्योक्ति, समासोक्ति तथा श्लेष, ये तीनों ही एक-दूसरे से पूर्णतः व्यतिरिक्त हैं। अतः इस दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा (१७वीं शती) समासोक्तिमूलकता के प्रति उद्भावित आक्षेप यह सिद्ध करते हैं कि उन्होंने आचार्य मम्मट का भाव ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि सारूप्यनिबन्धना के तीन स्रोतों में, श्लेष तथा समासोक्ति को भी स्थान देकर आचार्य मम्मट ने अपना विभाजन सुस्थिर एवं सर्वाङ्गीण अवश्य बनाया किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उनके परवर्तियों ने उनका भाव हृदयंगम नहीं किया। इसी कारण जहाँ, आचार्य रुय्यक (संकेत टीका) गोविन्दठक्कुर (प्रदीप) नागेशभट्ट (उद्योत) वैद्यनाथ तत्सत् (प्रभा) नरहरि सरस्वती तीर्थ (बालचित्तानुरंजिनी) भट्टगोपाल (साहित्यचूडामणि) एवं भीमसेन दीक्षित (सुधासागर) प्रभृति प्रतिभासंपन्न विद्वान् टीकाकारों ने मम्मट के इस विभाजन का अनुमोदन करते हुए, श्लेष एवं समासोक्ति-मूलकता के प्रति उठायी गयी आपत्तियों का सहज समाधान प्रस्तुत किया है, वहीं कुछ स्वतन्त्र आचार्यों ने मम्मटीय विभाजन का स्वरूप परिवर्तित करके अपना मौन आक्रोश भी व्यक्त किया है। आचार्य हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ इसी कोटि में आयेंगे। इन आचार्यों का मतालोचन आगामी शीर्षक में किया जायगा।

इसके पूर्व ही एक और महत्त्वपूर्ण समस्या का निदान ढूँढ़ लेना अपेक्षित होगा। वह यह कि क्या अन्योक्तिगत अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत के बीच यही तीन ही सम्बन्ध होते हैं। क्या अन्यान्य सम्बन्धों की कोई सम्भावना नहीं है? इस प्रश्न पर विचार करने वाले प्रथम आचार्य श्री अप्पय दीक्षित जी हैं जिन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि—'वस्तुतस्तु तदतिरेकेऽपि न दोषः। न ह्यप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुताप्रस्तुतयोः पंचविध एव सम्बन्ध इति नियन्तुं शक्यते। सम्बन्धान्तरेष्वपि तद्दर्शनात्।' यथा—

तापत्रयौषधिवरस्य तव स्मितस्य निःश्वासमन्दमरुता निबुसीकृतस्य।
एते कडंगरचया इव विप्रकीर्णा जैवातृकस्य किरणा जगति भ्रमन्ति॥
—कुवलयानन्द, पृ० १३०

प्रस्तुत पद्य में कवि ने भगवान् चन्द्रमा की वन्दना करते हुए उनकी व्याकीर्ण किरणों में 'कडंगर' अर्थात् भूसे की सम्भावना की है। जैसे धान्य से छिलका हवा के सहारे पृथक् किया जाता है उसी प्रकार औषधियों के स्वामी चन्द्र भी अपने निःश्वास रूपी वायु से किरण रूपी भूसा पृथक् कर रहे हैं। रसिकरंजनीकार के अनुसार यहाँ 'औषधिवर' शब्द में रूपक एवं 'निबुसीकृत' शब्द में तदुत्थापित अतिशयोक्ति है। इसी प्रकार, समस्त श्लोक में रूपक एवं अतिशयोक्ति से फलित स्वरूपोत्प्रेक्षा तथा इन तीनों से अनुप्राणित अप्रस्तुतप्रशंसा है। किन्तु यहाँ अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के बीच कारणकार्य, सामान्यविशेष अथवा सारूप्य सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नहीं है, प्रत्युत आचार्य के ही शब्दों में 'न च धान्यकडंगरचययोः कार्यकारणभावादि सम्बन्धोऽस्ति। अतस्सहोत्पत्यादिकमपि सम्बन्धान्तरमाश्रयणीयमेव।'—कुवलयानन्द, पृ० १३०।

कुवलयानन्दकार की इस महनीय घोषणा का भावी युग में समुचित समादर भी हुआ। १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न आचार्य भट्टदेवशंकर पुरोहित ने अपने लक्षण ग्रन्थ 'अलंकारमंजूषा' पृ० १०३ पर अप्पय दीक्षित की सम्बन्धान्तर-निबन्धन विषयक पंक्ति का अक्षरशः अनुवाद किया है साथ-ही-साथ 'कस्त्वं दाशरथेः' आदि पद्य में 'सेव्यसेवकभाव' तथा 'राजधान्यपरमे' आदि पद्य में 'सहोत्पत्तिकत्व' सम्बन्ध का निर्देश किया है।[1] इसी प्रकार १९वीं शती में उत्पन्न अलंकारकौस्तुभकार आचार्य विश्वेश्वर पण्डित[2] तथा 'अलंकारमणिहार' कर्त्ता श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र ने भी आचार्य अप्पय के मत का भरपूर समर्थन एवं सोदाहरण पल्लवन किया है। आचार्य ब्रह्मतन्त्र ने अपने उदाहरणों में आधाराधेयभाव, सहावस्थानभाव, शेषशेषिभाव तथा प्रयोज्यप्रयोजकभाव का निबन्धन किया है[3] जो कि आचार्य दीक्षित की मान्यता को दृढ़तर पृष्ठभूमि पर स्थापित कर देते हैं।

अब इस विषय में एक ही प्रश्न और बचता है, वह यह कि आचार्य अप्पय को सम्बन्धान्तर निबन्धन की यह प्रेरणा मिली कहाँ से ? क्या नूतन अलंकारों की उद्भावना की ही भाँति यह भी उनकी मौलिक मनीषा का ही फल है अथवा इस विषय में वह किसी पूर्वाचार्य के ऋणी हैं ? इतना तो स्पष्ट ही है कि अप्पय के पूर्ववर्तियों अर्थात् तिलक, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, वाग्भट प्रथम, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, वाग्भटद्वितीय, विश्वनाथ तथा केशवमिश्र में से किसी ने भी लिखित रूप में ऐसा उद्गार व्यक्त नहीं किया है। किन्तु पूर्वमम्मटयुगीन आचार्यों के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि आचार्य कुन्तक ने अपने व्याख्यान में 'यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तरमेव वा' कह कर 'इन्दुर्लिप्त इवांजनेन' प्रभृति पद्य में विपरीतलक्षणया अन्योक्ति को स्वीकार किया था। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य सर्वाधिक महत्त्वसारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति को देता था किन्तु साथ-ही-साथ उसे पूर्वाचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रोक्त कार्यकारणादि सम्बन्ध भी ज्ञात थे। और इतना ही नहीं वरन् विपरीतलक्षणादि सम्बन्ध को भी वह अन्योक्ति में प्रयोजक मानता था। अतः संभव है कि आचार्य अप्पय ने कुन्तक के ही भावों को गृहीत करके नियम के रूप में उसे प्रतिष्ठित किया।

श्लेष एवं समासोक्तिमूलक सारूप्य, आचार्य मम्मट प्रोक्त सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा के दो भेद हैं। श्लेष में विशेष्य-विशेषण दोनों श्लिष्ट होते हैं, साथ ही दोनों अर्थ अभिधया वाच्य होते हैं। जब संयोग, विप्रयोग, साहचर्य आदि भर्तृहरि प्रोक्त तत्त्वों में से किसी एक द्वारा अभिधयावाच्य दोनों अर्थों में से कोई एक, किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के पक्ष में

---

१. द्रष्टव्य—श्री मनुभाई एन० मेहताकृत 'सिन्धिया ओरियण्टल सिरीज-१ संस्करण, उज्जैन, सन् १९४० ई०।

२. द्रष्टव्य—अलं० कौ० पृष्ठ २७४। काव्यमालासंस्करण—६६, बम्बई, सन् १८९८ ई०।

३. द्रष्टव्य—श्री शामशास्त्री सम्पादित, द्वितीय भाग, मैसूर विश्वविद्यालय संस्करण, मैसूर, सन् १९२१ ई०।

नियन्त्रित हो जाता है तथा दूसरा अप्रस्तुत अर्थ व्यंजना शक्ति के सहारे प्रतीत होता है तो उसी स्थल पर 'श्लेषध्वनि' होती है। इसी प्रकार समासोक्ति में प्रस्तुतवाच्य से अप्रस्तुतार्थ की व्यंजना होती है। प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहारों का समारोप होना, इसकी दूसरी विशेषता है। श्लेष तथा समासोक्ति के इस स्वरूप से यह भाव स्वयं उद्दीप्त हो उठता है कि अन्योक्ति का इनसे पूर्णतः भेद है। यदि कोई साम्य है तो केवल 'प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत पक्षों का निबन्धन भाव।' किन्तु प्रथम दोनों अलंकारों में जहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत का अवगम होता है, वहाँ 'अन्योक्ति' में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का।

सारूप्यमूलकता के सम्बन्ध में श्लेष तथा समासोक्ति को निबद्ध करने में आचार्य मम्मट का भाव यह कभी नहीं रहा कि वास्तव में यह सारूप्य उनके स्वरूपलक्षण से ही उत्पन्न होता है। वरन् उनका एकमात्र तात्पर्य केवल इस तथ्य में था कि अन्योक्ति के इस भेद में जो सादृश्य परिलक्षित होता है, वह श्लेष एवं समासोक्ति के तकनीक पर ही आधारित होता है। उदाहरणार्थ प्रत्येक संगीतज्ञ सारंगी, सितार तथा वंशी के मौलिक भेद को समझता है। किन्तु सिद्धहस्त वंशी का वादक, वंशी से ही जब सारंगी तथा सितार की मधुर-मूर्च्छनाएँ आलाप तथा आरोहावरोह प्रस्तुत कर देता है तब श्रोतृवर्ग से सैकड़ों कण्ठ बोल उठते हैं कि 'अरे, इसने तो सारंगी एवं सितार की ध्वनि बजाई।' वस्तुतः ऐसा कहने में श्रोता का भाव यह कभी नहीं रहता कि वंशी के अन्तराल में सारंगी एवं सितार ही स्थित थे, वरन् उसका एकमात्र 'तात्पर्य' वंशी पर उक्त दोनों वाद्यों की अनुरणनशैली के आरोप से होता है। ऐसी दशा में बिना इस रहस्य को सहृदयतापूर्वक समझे कोई आलोचक यह कहे कि 'नहीं, वंशी द्वारा सितार की ध्वनि बज ही नहीं सकती, यह बिलकुल गलत बात है आदि' तो इससे आलोचक की ही चैतसिक भ्रान्ति प्रत्यक्ष होती है।

किन्तु पूर्वाग्रही यदि अपना 'पूर्वाग्रह' त्याग ही दें तो वितण्डा क्यों उत्पन्न हो? प्रस्तुत प्रसंग में भी स्थिति कुछ इसी प्रकार की है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'सारूप्य' निबन्धना का विभाजन करते हुए कहा है—'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने द्वौ प्रकारौ। श्लिष्ट-विशेषणता सादृश्यमात्रं वा तुल्यान्तरस्याक्षेपहेतुः' (काव्यानुशासन, पृष्ठ ३६५) यद्यपि श्लिष्टविशेषणता 'समासोक्ति' का प्रमुख धर्म है, किन्तु आचार्य ने उपर्युक्त दृष्टिकोण के ही कारण 'तन्मूलकता' का उल्लेख न करके उसी तथ्य को प्रकारान्तर से कहा। इसी प्रकार श्री विश्वनाथ ने भी 'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा-श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च। श्लेषमूलापि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रश्लेषे श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा' (साहित्यदर्पण, पृ० ७१२) कहा, जिसमें कि प्रत्यक्ष एवं निरपेक्ष रूप से श्लेष एवं समासोक्तिमूलकता की चर्चा न करके प्रकारान्तर से वही तथ्य मतुप्प्रत्यय के सहारे व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार आचार्य जगन्नाथ भी सारूप्यनिबन्धना का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट करते हुए 'श्लिष्टविशेषणाप्येषा दृश्यते' की बात करते हैं। इन तीनों आचार्यों के मतों से सुस्पष्ट हो जाता है कि वे सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति के विभाजन में श्लेष एवं समासोक्ति संज्ञाओं का अस्तित्व किसी भी रूप में नहीं

चाहते थे। आचार्य विश्वनाथ ने तो मम्मट का प्रायशः अनुकरण ही किया है। मम्मट के विभाजन को ही प्रामाणिक मानते हुए उन्होंने केवल दृढ़तापूर्वक श्लेषादि की मूलकता अन्योक्ति में न दिखाते हुए, उनकी छाया अथवा आभास मात्र को प्रदर्शित किया है जो कि आचार्य मम्मट की अव्यक्त भावना का ही प्रकाशन है। किन्तु इसके विपरीत आचार्य हेमचन्द्र ने श्लेषमूलकता तथा मम्मटीय उदाहरण 'पुंस्त्वादपि प्रविचलेत्' आदि पद्य का सम्यग्रूप से खण्डन भी किया है। इस विषय में उनकी स्पष्ट धारणा है कि—'विशेष्यश्लिष्टता तु अन्योक्ति-प्रयोजकतया न वाच्या'। उक्त पद्य में आचार्य ने शब्दशक्तिमूल ध्वनि ही स्वीकार की है। 'श्लिष्टविशेषणा' को आचार्य ने स्वीकृत एवं उदाहृत अवश्य किया है किन्तु अन्योक्ति के ही व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के रूप में न कि समासोक्ति के धर्म रूप में।

आचार्य जगन्नाथ 'श्लेषमूलकता' को अपने व्याख्यान में कोई स्थान ही नहीं देते, क्योंकि उसकी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है। सम्भवतः इस विषय में उनका दृष्टिकोण हेमचन्द्र के ही अनुरूप था। 'श्लिष्टविशेषणा' को पूर्वाचार्य की ही भाँति जगन्नाथ अन्योक्ति का निजी धर्म स्वीकार करते हैं। इस विषय में उनकी स्पष्ट धारणा है कि—'समासोक्ति-रत्रानुग्राहिकेति तु न वक्तव्यम्। तस्याः प्रकृतालंकारविरुद्धात्मिकात्वेनानुग्राहिकात्वायोगात्।' इतना ही नहीं, वरन् मम्मटोदाहृत पद्य 'येनास्यभ्युदितेन चन्द्र' का खण्डन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि यहाँ प्रतीयमान का पुरुषवृत्तान्त यदि 'प्रस्तुत' है तो समासोक्ति न होगी (क्योंकि उसमें प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना होती है) और यदि 'अप्रस्तुत' है तो 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' न होगी (क्योंकि उसमें अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना होती है) क्योंकि इन विकल्पों को स्वीकार करने पर, मम्मट-प्रदत्त इन अलंकारों की परिभाषाएँ स्वयं असंगत हो जायेंगी। हाँ यदि श्लिष्टविशेषणों के बल से आक्षिप्त द्वितीयार्थ मात्र ही समासोक्ति हो, तो फिर मम्मटीय उदाहरण में 'समासोक्तिमूलकता' स्वीकार्य है।

किन्तु पण्डितराज के ये विचार केवल उनकी तत्त्वापेत तर्क-बुद्धि के ही सूचक हैं। यह तो साधारण-सी बात है कि 'श्लिष्टविशेषणों से उपक्षिप्त द्वितीयार्थ मात्र' समासोक्ति नहीं है क्योंकि समासोक्ति-सद्भाव की सबसे बड़ी शर्त 'प्रस्तुत से अप्रस्तुत' का बोध है। पहला तत्त्व, समासोक्ति होने का साधन है और दूसरा साध्य। अतः यदि ये दोनों ही लक्षण किसी पद्य में अथवा सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति में ही घटने लगें तो फिर अन्योक्ति होगी ही कैसे? क्या आचार्य मम्मट की दृष्टि, समासोक्तिमूलकता की स्थापना करते समय पण्डितराज की भी तरह सूक्ष्म नहीं रही?

वस्तुतः स्थिति तो यह है कि सारूप्य-निबन्धना अन्योक्ति में अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यंग्य का व्यंजनयावगम होता है। किन्तु इस अवगम की परिपाटी ठीक वही है जो कि समा-सोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुतावगम के समय रहती है। ऐसी दशा में 'साध्य' तो अन्योक्ति पक्ष से किन्तु उसका साधन समासोक्ति पक्ष से सम्बद्ध रहता है। अतः जैसे उचित विभावा-नुभावसंचारीभावों में निबद्ध स्थायी भाव 'रस' तथा विपरीत दशा में 'रसाभास' बनता है

ठीक उसी प्रकार 'श्लिष्टविशेषणत्व' जब प्रस्तुत से अप्रस्तुत व्यंजनाविधान में कवि द्वारा निविष्ट किया जाता है तभी 'समासोक्ति' की सर्जना करता है अन्यथा विपरीत दशा में (अप्रस्तुत से प्रस्तुत का व्यंजनया विधान—अन्योक्ति) 'समासोक्ति का आभास' मात्र बनता है। रुय्यक के टीकाकार आचार्य समुद्रबन्ध (१३०० ई०) ने इसी प्रसंग में—'अत्र... विशेष्यस्य साम्याभावाच्च समासोक्ति-व्यपदेशमात्रं न तु मुख्या समासोक्तिः। वाच्यस्याप्रस्तुतत्वात्' (अलंकार सूत्र, पृ० १२८ त्रिवेन्द्रम संस्क० १९२५ ई०) तथा आचार्य विश्वेश्वर (उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध) ने—'प्रकृतेऽप्रकृतव्यवहारारोपस्य तत्त्वात्। अत्र चाप्रकृते प्रकृतव्यवहारारोपात् समासोक्तिच्छाया' (अलंकारकौस्तुभ, पृ० २७२, काव्यमाला संस्क०) आदि कहा है जो कि उपर्युक्त व्याख्यान का ही पोषक प्रमाण है।

ठीक यही प्रक्रिया श्लेषमूलक सारूप्य में भी घटित होती है। 'पुंस्त्वादपि प्रविचलेत्' आदि पद्य में यद्यपि विष्णु एवं महापुरुष परक दोनों ही अर्थ अभिधया वाच्य हैं, किन्तु इनमें से कोई भी अर्थ संयोगादि द्वारा नियन्त्रित नहीं है और न तदितर अर्थ व्यंजना से प्रतीत ही हो रहा है अतः किसी भी रूप में यहाँ श्लेषध्वनि संभव ही नहीं, जैसा कि भ्रमवश, आचार्य हेमचन्द्र ने सम्भावना की है। वस्तुतः प्रसंग यहाँ अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुतावगम होने का है। किन्तु जब दोनों ही अर्थ अभिधयावाच्य हैं तो एक वाच्य और एक व्यंग्य कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि समुदाय की शक्ति अवयव की शक्ति से अधिक बलवती होती है। प्रकरणादि प्राप्त होने पर भी योगार्थ नहीं बलवान् होता वरन् रूढ्यर्थ ही। उक्त उदाहरण में भी 'पुरुषोत्तम' पद का रूढ अर्थ 'विष्णु' तथा यौगिक अर्थ 'महापुरुष' है। अतः अन्योक्ति प्रसंग में यद्यपि ये दोनों ही अर्थ अभिधया वाच्य हैं तथापि विष्णुपरक अर्थ बलवान् होने के कारण अप्रस्तुत होते हुए भी सर्वप्रथम उपस्थित होगा। किन्तु चूँकि वह अप्रस्तुत है अतः अभिधा मात्र में पर्यवसित न होकर उसके व्यंग्यार्थ 'महापुरुषपरक' अर्थ में ही विश्रान्त होगा। प्रदीपप्रभाकार श्री वैद्यनाथ तत्सत् की ये पंक्तियाँ इस प्रसंग में वस्तुतः उल्लेखनीय हैं—'तथा चोभयत्राभिधाव्यापारसत्त्वेऽपि रूढ्यर्थस्याप्रस्तुतस्यापि प्रथमावगतिमात्रेणाप्रस्तुतप्रशंसालंकारत्वमित्यर्थः। वस्तुतस्त्वत्राप्रकृतदृष्टान्तेन प्रकृतावबोधनं मुख्यं कवेस्तात्पर्यविषयः। श्लेषस्तु तदुपयोगितया गुण इति प्रधानेनैव व्यपदेशो युक्त इति ज्ञेयम्।'

सारूप्य-निबन्धना का तृतीय भेद आचार्य मम्मट के अनुसार 'सादृश्यमात्र' पर आधारित है। चूँकि श्लेष एवं समासोक्तिमूलक सारूप्यनिबन्धना की भाँति इसमें श्लेषता का सर्वथा अभाव है अतः इसे 'शुद्ध सारूप्य' भी कहा जा सकता है। पूर्वव्याख्यान में 'आदाय वारि परितः' प्रभृति पद्य में इसे सविस्तर निरूपित किया जा चुका है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सादृश्य में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना केवल इतिवृत-साम्य के ही कारण होती है। पण्डितराज जगन्नाथ के एतद्विषयक मत 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार के संदर्भ में उपन्यस्त किये जायँगे।

'सारूप्यमूलकता' की दृष्टि से सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति के तीन भेदों की आलोचना की जा चुकी। अब वाच्यार्थ पर व्यंग्यार्थ के आरोप की दृष्टि से भी, इसके अन्य तीन भेदों का व्याख्यान कर देना आवश्यक है। इसी को वाच्यार्थ का त्रैविध्य भी कहते हैं। वस्तुतः श्लेषादि भेद वाले विभाजन की ही भाँति प्रस्तुत विभाजन केवल सारूप्यनिबन्धना से ही सम्बद्ध है। क्योंकि कारणकार्यादि भेदों में वाच्यार्थ तथा प्रातीतिक अर्थ का सम्बन्ध सुस्पष्ट रहने से अध्यारोपादि का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु सारूप्यनिबन्धना, जहाँ कि वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध केवल श्लेष, समासोक्ति एवं सादृश्य मात्र पर आधारित होता है, में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इसका वाच्यार्थ स्वतःसम्भवी है अथवा नहीं? अप्रस्तुत वाच्य पर प्रस्तुत व्यंग्य का अध्यारोप तभी होगा, जब वह 'स्वतःअसम्भवी' होगा। अतः इस दृष्टि से वाच्यार्थ का सम्भव, असम्भव तथा सम्भवासम्भव होना ही प्रकारान्तर से उस पर प्रतीयमानार्थ का अनध्यारोप, अध्यारोप तथा आंशिक अध्यारोप के बराबर है।

'अध्यारोपादि' पदावली का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले आचार्य मम्मट तथा 'सम्भवादि' के प्रथम-प्रयोक्ता आचार्य रुय्यक हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इन दोनों शब्दावलियों की उपेक्षा करते हुए क्रमशः 'विवक्षित, अविवक्षित तथा विवक्षिताविवक्षित' शब्दों का प्रयोग किया है जो कि उन्हीं की व्याख्या के प्रामाण्यानुसार वाच्यार्थ-संभवादि के ही पर्याय हैं। आचार्य विश्वनाथ ने रुय्यक की शब्दावली का ही प्रयोग किया है किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्वोक्त समस्त संज्ञाओं को त्याग कर, उनके स्थान पर क्रमशः प्रतीयमानता टस्थ्य, प्रतीयमानाभेद तथा 'क्वचिच्च प्रतीयमानमपि किञ्चिदंशे वाच्यतादात्म्यं वाच्यं च किञ्चिदंशे प्रतीयमानतादात्म्यमपेक्षते' शब्दावली का प्रयोग किया है। किन्तु इन सब की व्यंजना एक ही है। जो वाच्यार्थ सम्भव होगा, वही विवक्षित भी होगा और उसी में अनध्यारोप तथा प्रतीयमानताटस्थ्य भी प्राप्त होंगे। वस्तुतः 'सम्भव तथा विवक्षित' शब्द अप्रस्तुत वाच्य की दृष्टि से तथा अन्य दोनों शब्द, प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की दृष्टि से, आचार्यों द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं।

प्रतीयमानार्थ के अनध्यारोप का उदाहरण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'अब्धेरम्भः स्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः पोतोपाया इह हि बहवो लंघनेऽपि क्षमन्ते।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः॥

यहाँ अप्रस्तुत समुद्रवृत्तान्त से इतिवृत्तसाम्यवश एक ऐसे उपमर्दनशील एवं निष्करुण व्यक्ति की व्यंजनया प्रतीति हो रही है जिसकी पूर्णता (समृद्धि) ही भली है न कि रिक्तता (दारिद्र्य) क्योंकि समृद्धि-युक्त होने पर भी जब वह दीनों को पददलित करता रहा है तो दारिद्र्य में निश्चय ही वह और 'भूखा भेड़िया' बन जायेगा। अतः उसकी 'अत्यन्तोपमर्दनशीलता' यहाँ व्यंग्य है जो कि वाच्यार्थ के प्रति गुणीभूत है। किन्तु यह अवधेय है कि इस पद्य में दोनों ही अर्थ परस्पर निरपेक्ष है, एक के संभव होने में दूसरे का कोई साहाय्य नहीं। अतः

वाच्यार्थ-दृष्ट्या यह संभव अथवा विवक्षितार्थ का तथा व्यंग्यदृष्ट्या अनध्यारोप या प्रतीयमानताटस्थ्य का उदाहरण है।

अध्यारोप का अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण मम्मट ने 'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतक' आदि पद्य दिया है जिसमें कि एक शाखोटक वृक्ष तथा बटोही का संवाद प्रस्तुत किया गया है जो कि निश्चय ही प्रदीपकार के शब्दों में अनुपपन्न है—'अत्र वाच्यशाखोटके संबोध्यत्वोन्नारयितृत्वादिकमनुपपन्नमिति प्रतीयमानाध्यारोपः।' (गोविन्द ठक्कुर) बालचित्तानुरंजिनीकार के मत से यह तथ्य और स्पष्ट हो जाता है 'अत्र अचेतनेन सह प्रश्नोत्तरयोरसम्भवाद्वाच्यस्यासम्भवः।' अतः यह वाच्यार्थ तब तक असम्भव रहेगा जब तक कि व्यंग्यार्थ का इस पर आरोप न हो जाय अथवा दोनों का जब तक अभेद न हो जाय। किसी धनी व्यक्ति के पड़ोसी, मनस्वी निर्धन का परिदेवन ही यहाँ व्यंग्य है अतः उसका अध्यारोप शाखोटकादि पर होता है।[1]

सम्भवासम्भव उदाहरण में उपर्युक्त दोनों रीतियों का मिश्रण प्राप्त होता है। इसमें वाच्यार्थ के कुछ अंश तो उपपन्न, सम्भव अथवा विवक्षित होते हैं और कुछ अनुपपन्न, असम्भव अथवा अविवक्षित। अतः इसी दृष्टि से वाच्यार्थ पर व्यंग्यार्थ का अध्यारोप भी तथाकथित असंभवांशों पर ही होता है। आचार्य मम्मट ने भल्लटशतक का प्रसिद्ध श्लोक 'सोऽपूर्वो रसनाविधिः' आदि उदाहृत किया है। अनेक आचार्यों ने इस सारूप्यभेद के लिए 'उभयरूप' शब्द का भी प्रयोग किया है,[2] जो कि उपर्युक्त भाव का ही 'संक्षिप्त-संकेत' कहा जा सकता है।

इस प्रकार सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति का मम्मट द्वारा प्रस्तुत यह द्वितीय वर्गीकरण इस तथ्य का परिचायक है कि आचार्य ने अत्यन्त सूक्ष्म रीति से इसका अध्ययन किया था। क्योंकि संस्कृत साहित्य में प्राप्त प्राचीनतम अन्योक्तियाँ प्रायः इन्हीं तीनों भेदों में समाविष्ट हो जाती है। श्लेष एवं समासोक्ति का निबन्धन भी बहुत कुछ कार्यकारणादि की भाँति प्रयत्नसाध्य ही होता है। किन्तु इतिवृत्तसाम्य के माध्यम से अथवा निर्जीव, जड़ पदार्थों के व्यपदेश से कवि किसी भी व्यक्ति का रहस्योद्घाटन क्षण भर में कर सकता है। इस दृष्टि से 'आरोपित' सादृश्य का अन्योक्ति में बहुत महत्त्व है। सदुक्तिकर्णामृतादि संग्रह-ग्रन्थों में संकलित तथा भ्रमर, कोकिल, कीर, खद्योत, जल, तिल आदि अचेतन प्राकृतिक उपादानों को लेकर प्रणीत लाखों अन्योक्तियाँ 'आरोपितसादृश्य' अथवा 'व्यंग्यार्थ के अध्यारोप' का ही परिस्फुरण हैं। आरोपितसादृश्य का निरूपण करने के बाद आचार्य गागाभट्ट ने सम्भवतः

---

१. द्रष्टव्य—'नहि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती संभवत इति अविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवासिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते।'—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ३६०।

२. 'वाच्योऽर्थस्त्रिधा तस्याः सम्भवासम्भवोभयैः'—अलंकारमहोदधि, पृ० २८६।

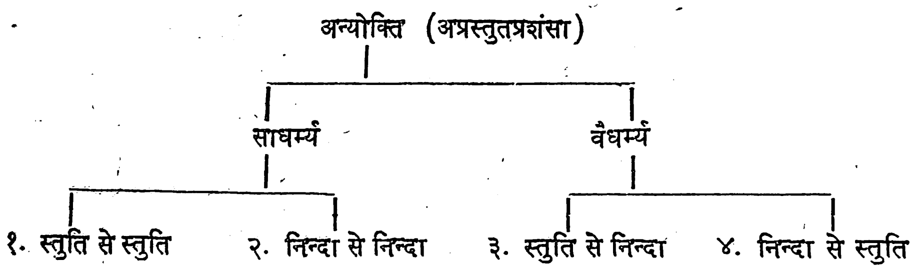
इसी दृष्टि से यह उद्गार व्यक्त किया था—'एवमन्यान्युदाहरणान्यूह्यानि। प्रायेण सर्वेऽप्यन्यापदेशा उदाहरणम्' (चन्द्रालोक की टीका 'राकागम' ५।६७ की व्याख्या)।

इसी प्रसंग में 'साधर्म्य-वैधर्म्य' शब्दों की व्यंजना भी स्पष्ट कर देनी चाहिए। इस विषय में ज्ञातव्य तथ्य यह है कि आचार्य मम्मट ने अपने अन्योक्ति-व्याख्यान में इन तथ्यों का कोई उल्लेख नहीं किया है। इनके पूर्व भी किसी आचार्य ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला। वस्तुतः 'साधर्म्य-वैधर्म्य' की चर्चा सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक ने 'सर्वस्व' टीका में की है। आचार्य मम्मट ने सारूप्यनिबन्धना अर्थात् अन्योक्ति के पाँचवें भेद का दो दृष्टियों से वर्गीकरण किया है, यह पहले देखा जा चुका है। उनके आसन्नतम अनुवर्ती आचार्य हेमचन्द्र ने उनकी इन दोनों ही दृष्टियों का समादर करते हुए, ईषद्भेद प्रदर्शन के साथ ही अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया है। किन्तु आचार्य रुय्यक ने पूर्वव्याख्यात श्लेष, समासोक्ति आदि भेदों की पूर्णतः उपेक्षा करते हुए, दो नई दृष्टियों से सारूप्य वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। एक दृष्टि से सारूप्य के दो भेद हैं—साधर्म्य एवं वैधर्म्य तथा दूसरी दृष्टि से—सम्भवादि तीन भेद हैं जो कि आचार्य मम्मट के ही द्वितीय भेद की छायामात्र हैं। अतः यह विचारणीय है कि साधर्म्य तथा वैधर्म्य का वास्तविक रूप क्या है?

साधर्म्य एवं वैधर्म्य का शाब्दिक अर्थ 'समान धर्म' तथा 'विरुद्ध धर्म' होता है। यद्यपि आचार्यों द्वारा साधर्म्य एवं वैधर्म्य के विषय में पारिभाषिक दृष्टिकोण से कोई व्याख्यान कहीं प्राप्त नहीं होता तथापि उनके उदाहृत पद्यों तथा उन पद्यों के निर्वचनों से यही प्रतीत होता है कि उनकी व्यंजना समान एवं विपरीत धर्म के निबन्धन से ही है। आचार्य रुय्यक तथा विश्वनाथ दोनों ने ही वैधर्म्य उदाहरण के रूप में—'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः। राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः?' श्लोक उद्धृत किया है। इस पद्य में वक्ता पंचवटी में विद्यमान भगवान् राम का स्पर्श करने वाले गन्धवाह की प्रशंसा करता है जो कि अप्रस्तुत है। किन्तु इस अप्रस्तुत से एक अव्यक्त प्रस्तुत की व्यंजना भी हो रही है, वह यह कि मैं स्वयं अभाग्यशील हूँ। इस प्रकार अप्रस्तुत में निबद्ध धन्यता का भाव, प्रस्तुत में 'अधन्यता' अथवा 'आत्मभर्त्सना' के रूप में परिणत होता है जिससे कि वैधर्म्य का भाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसके विपरीत जहाँ अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत के धर्मों में साम्य हो अर्थात् वाच्य प्रशंसा से व्यंग्य प्रशंसा तथा वाच्य भर्त्सना अथवा निन्दा से व्यंग्य निन्दा उपस्थित हो वहाँ साधर्म्य भाव होगा।

वस्तुतः साधर्म्य एवं वैधर्म्य के अन्तराल में स्तुति एवं निन्दा का ही भाव व्यवस्थित है। अतः निश्चित है कि अन्योक्तिगत अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत निबन्धन की व्यवस्था में स्तुति से स्तुति अथवा निन्दा से निन्दाभाव की व्यंजना होने पर ही साधर्म्य भाव होगा, अन्यथा स्तुति से निन्दा अथवा निन्दा से स्तुतिभाव की व्यंजना होने पर 'वैधर्म्यभाव।' किन्तु इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं कि दोनों ही परिस्थितियों में अन्योक्ति ही होगी। ईसा की सातवीं शती में ही भामहीय अप्रस्तुतप्रशंसा से व्यतिरिक्त एक नवीन 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का स्वरूपन्यास करके

आचार्य दण्डी ने घोषणा की थी कि निन्दापर्यवसायिनी अप्रस्तुतस्तुति ही अप्रस्तुतप्रशंसा है और साहित्यमीमांसाकार[1] (रुय्यक या मंखक ?) ने ठीक इसके विपरीत प्रशंसा अर्थात् स्तुति के व्यंग्य रहने पर अन्योक्ति स्वीकार की है—अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादन्त्ये तु व्यंग्या स्तुतिः। यथा शिखरिणी क्व नुनाम इत्यादि। किन्तु यदि हम मम्मटोत्तर युगीन इस सैद्धान्तिक सरणि को देखें तो प्रतीत होगा कि दण्डी अथवा साहित्यमीमांसाकार प्रोक्त अप्रस्तुतप्रशंसा इस नवीन अप्रस्तुतप्रशंसा के चार भेदों में से केवल एक है। चन्द्रालोक के टीकाकार आचार्य गागाभट्ट ने अप्रस्तुतप्रशंसा के इस नवीन रूप को देखते हुए ही, आचार्य दंण्डी के मत का खण्डन किया तथा साधर्म्यवैधर्म्य के आधार पर इसके नवीन चार भेदों का स्पष्टीकरण किया—'अप्रस्तुत-प्रशंसा स्यादप्रकाण्डे तु या स्तुतिः। स्तुतिरित्युपलक्षणं निन्दाया अपि। तेन यत्राप्रस्तुतस्य स्तुत्या निन्दया वा प्रस्तुतस्य स्तुतिर्निन्दा वा प्रतीयते तत्राप्यप्रस्तुतप्रशंसालंकारः।'—राकागम टीका (चन्द्रा० ५।६७) गागाभट्ट द्वारा व्याख्यात—इन चारों भेदों का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—



इस प्रकार सिद्ध है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में स्थित 'प्रशंसा' शब्द न केवल 'प्रशंसा' का प्रत्युत 'निन्दा' अर्थ का भी द्योतक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कुवलयानन्दकार श्री दीक्षित ने साधर्म्य की दोनों कोटियों को सोदाहरण व्याख्यात करने के पश्चात् कहा कि—'एवं च लक्ष्यलक्षणयोः प्रशंसाशब्दः स्तुतिनिन्दास्वरूपाख्यानसाधारणकीर्तनमात्रपरो द्रष्टव्यः' (कुवलयानन्द अप्र० प्रकरण)।

उपर्युक्त रेखा-विभाजन में प्रथमभेद स्तुतिरूपा अन्योक्ति का दूसरा निन्दारूपा अन्योक्ति का तथा वैधर्म्यगत दोनों भेद 'उभयरूपा' अन्योक्ति के रूप हैं। इसके अतिरिक्त श्री अप्पय दीक्षित ने 'प्रशंसा' शब्द की जो तीसरी व्यंजना 'स्वरूपाख्यान' प्रस्तुत की है वह स्तुति तथा निन्दा दोनों से मुक्त होने के कारण 'अनुभय रूपा' अन्योक्ति का उदाहरण है। अतः इसे भी मिलाकर साधर्म्य-वैधर्म्य के कुल चार भेद हुए—स्तुतिरूप, निन्दारूप, उभय-रूप तथा अनुभयरूप। यह तो हुई सैद्धान्तिक व्याख्या, किन्तु व्यवहार रूप में भी इन तीनों

१. सविस्तर द्रष्टव्य-साहित्यमीमांसा, प्रकरण—६, पृ० १०३, अनन्तशयन ग्रन्थावलि —११४ त्रिवेन्द्रम १९३४।

अथवा चारों का सोदाहरण व्याख्यान आचार्यों ने किया है। प्रथम तीन भेदों का सुस्थिर स्वरूप, मम्मटोत्तरयुग में, क्रमशः आचार्य हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन, पृ० ३६७ (बारहवीं शती) वाग्भटप्रथमकृत काव्यानुशासन पृ० ३५, ३६ (बारहवीं शती) तथा अप्पयदीक्षित कृत कुवलयानन्द पृ० १२३, २४ (सत्रहवीं शती) में सविस्तर निरूपित किया गया। इसी प्रकार अनुभयरूप सहित इन भेदों का सांगोपांग विवेचन आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने लक्षणग्रन्थ अलंकारमहोदधि की आठवीं तरंग में पृ० २८५ पर किया है।[1] अन्योक्ति के काव्यशास्त्रीय विवेचन में इन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये जायंगे।

अन्योक्ति सम्बन्धी मम्मटीय व्यवस्था में एक ही व्याख्येय समस्या और शेष रहती है। वह यह कि काव्यात्मा ध्वनि का अन्योक्ति में क्या स्थान है? तृतीय अध्याय में आचार्य अभिनव के मतनिरूपण में यह प्रमाण हम पा चुके हैं कि आचार्य असंभव अथवा प्रतीयमानार्थाध्यारोप सारूप्यनिबन्धना को वस्तुध्वनि का उदाहरण स्वीकार करते हैं—'यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ'—ध्वन्यालोकलोचन प्रथमोद्योत। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अन्योक्ति के समस्त भेदों में 'ध्वनि' प्राप्त ही होगी। क्योंकि आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अलंकार-विवेचन का उपसंहार करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह निर्णय प्रस्तुत किया है कि समासोक्ति प्रभृति अर्थालंकारों में जहाँ कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का ही अनुयायी होता है, दूसरे शब्दों में वह 'अप्रधान' होता है, वहाँ 'ध्वनि' कभी हो ही नहीं सकती। अतः आचार्य के अनुसार जहाँ शब्द एवं अर्थ व्यंग्यार्थ-निष्पत्ति में तत्पर हों और जहाँ उनकी निरपेक्ष एवं स्फुट प्रतीति हो वहीं 'ध्वनि' की संभावना है।[2] लोचनकार ने भी ध्वनिक्षेत्र का निरूपण करते हुए कहा है—'तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यंग्यस्य अप्राधान्ये, क्लिष्टप्रतीतौ, वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटे प्राधान्ये च।'—ध्वन्यालोकलोचन, प्रथमोद्योत।

आचार्य आनन्द एवं अभिनव की उपर्युक्त मान्यताओं को देखते हुए जब हम अलंकारों पर ध्यान देते हैं तो यह भाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि उनमें यथाकथंचित् प्राप्त ध्वनि या तो वाच्योपस्कारक होने के कारण 'तुल्यप्राधान्य' रूप में रहती है अथवा वाच्यसिद्ध्यंग रूप में। अन्योक्ति के भी पंचविधनिबन्धन में केवल सारूप्यनिबन्धना के एक भेद विशेष

---

१. नरेन्द्रप्रभसूरि (सन् १२८२ ई०) कृत अलंकारमहोदधि। श्री लालचन्द्र भगवानदास गांधी द्वारा सम्पादित। बड़ौदा संस्करण, सन् १९४२ ई०।

२. व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः। समासोक्तादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥ व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥ तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ। ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः॥

—ध्वन्यालोक प्रथमोद्योत।

में व्यंग्यार्थ की स्फुट एवं तत्वान्तराप्रतिहत स्थिति रहती है क्योंकि अप्रस्तुत के रूप में निबद्ध अचेतन प्राणिव्यवहार अत्यन्त असम्भव होने के कारण तब तक सिद्ध नहीं होते जब तक कि उन पर व्यंग्यार्थ का आरोप न हो। और चूँकि अप्रस्तुत पर आरोपित किया जाने वाला प्रस्तुतप्रतीयमानार्थ चमत्कारकारी होता है अतः 'ध्वनि' की स्थिति वहाँ निर्विशंक हो जाती है। शेष प्रसंगों में जहाँ कि वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का तुल्यप्राधान्य अथवा वाच्यसिद्ध्यंगत्व रहता है, वहाँ ध्वनि वाच्योपसर्जनीभूत होने के कारण, प्रधान न होकर गुणीभूत ही रहती है। आचार्य विद्याधर अन्योक्ति में व्यंग्यार्थ की वाच्यसिद्ध्यंगस्थिति ही स्वीकार करते हुए कहते हैं कि—'अभिनवगुप्तपादाचार्याः पुनरस्यां वाच्यव्यंग्ययोः सममेव प्राधान्यमाहुः।' एकावली, पृ० २६५। टीकाकार आचार्य मल्लिनाथ ने भी विद्याधर एवं अभिनव दोनों के ही मतों का समानरूप से, अनुमोदन किया है। इसी प्रकार आचार्य विद्यानाथ तथा उनके टीकाकार श्रीकुमार[१] स्वामी ने, साथ-ही-साथ मम्मटाचार्य के अनेक टीकाकारों ने भी वाच्यसिद्ध्यंग पक्ष को ही मान्यता दी है। किन्तु जो भी हो, पर इतना तो निश्शंक भाव से कहा जा सकता है कि अन्योक्ति में सारूप्यनिबन्धना के अध्यारोप-पक्ष को छोड़कर अन्य समस्त कोटियों में गुणीभूत व्यंग्य ही होता है ध्वनि नहीं। यह और बात है कि वह गुणीभूत व्यंग्य तुल्यप्राधान्य स्वरूप है अथवा वाच्यसिद्ध्यंग स्वरूप, क्योंकि दोनों ही आचार्य मम्मट प्रोक्त अष्टविध गुणीभूत व्यंग्य के ही भेद हैं।[२]

इसके पूर्व कि अन्योक्ति स्थित ध्वनि के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र की दो चरम किन्तु अप्रतिम प्रतिभाओं का मतोल्लेख किया जाय, उनके कुछ स्वतन्त्र विचारों का आकलन कर लेना प्रसंगानुकूल होगा। आचार्य अप्पय दीक्षित तथा जगन्नाथ पण्डितराज का मम्मटोत्तरयुगीन आचार्यों में वही स्थान है जो पूर्वमम्मट युग में उद्भट एवं वामन का था। किन्तु उद्भट एवं वामन जहाँ पारस्परिक सम्बन्धों के उल्लेख से सर्वथा दूर हैं, वहाँ आचार्य अप्पय एवं पण्डितराज परस्पर सम्बद्ध। इस सम्बन्ध का मूल रहस्य यह है कि आचार्य जगन्नाथ अप्पय दीक्षित की मान्यताओं के प्रबल विरोधी एवं तद्विरुद्ध मतों के व्यवस्थापक हैं। उनका लक्षण-ग्रन्थ 'रसगंगाधर' पद-पद पर अप्पय-प्रणीत कुवलयानन्द तथा 'चित्रमीमांसा के प्रतिपाद्यभूत मतों के खण्डनों से भरा हुआ है।

अन्योक्ति में सिद्धान्ततः अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुतार्थ की व्यंजनया प्रतीति होती है। किन्तु कभी-कभी ऐसे भी वृत्तान्त मिलते हैं जिनमें 'वक्ता एवं बोद्धव्य' दोनों ही प्रस्तुत होते

---

१. न चायं ध्वनिः प्रतीयमानस्य वाच्यसिद्ध्यंगत्वात् (विद्यानाथ) वाच्यसिद्ध्यंगत्वादप्रस्तुतस्य वाच्यत्वमेवायुक्तमिति कृत्वा प्रस्तुतं प्रतीयमानं तत्साधनत्वेनोपकरोतीति वाच्यसिद्ध्यंगनाम गुणीभूतव्यंग्यं न प्रधानमतो न ध्वनिरितिभावः।—प्रतापरुद्र की रत्नापण टीका पृ० ४४४—त्रिवेदी संस्करण, १९०९ ई०।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश ५।१-२।

हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन स्थलों पर प्रस्तुत वाच्य से अन्य प्रस्तुत की ही प्रतीति होती है। अतः प्रस्तुत से अप्रस्तुतावबोध न होने के कारण वह वृत्त न तो समासोक्ति का ही दृष्टान्त बन पाता है और अप्रस्तुत से प्रस्तुतावबोध न होने के कारण न तो अन्योक्ति का ही रूप धारण कर पाता है। अतः अपने इस स्वरूपविषयक वैलक्षण्य के कारण ही एवंविध वृत्तान्त एक पृथक् स्वरूप की अपेक्षा करता है। आचार्य अप्पय दीक्षित ने ऐसे ही स्थलों पर एक नूतन अलंकार की सर्जना की है जिसे 'प्रस्तुतांकुर' कहते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा में ही अन्तर्भूत होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने भी 'प्रस्तुतांकुर' जैसे सद्यः उद्भावित अलंकार का कोई व्याख्यान अपने लक्षण-ग्रन्थों में नहीं किया है। अन्य आचार्यों की तो बात ही छोड़िये ! श्री दीक्षित जी का एकमात्र परमोपजीव्य लक्षणग्रन्थ 'चन्द्रालोक' भी इसके विषय में पूर्णतः मौन है। अतः सिद्ध है कि अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना की ही भाँति 'प्रस्तुतांकुर' भी आचार्य अप्पय की काव्यशास्त्रीय प्रतिभा का ही रमणीय विलास है।

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः। किं भृंग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया !

आचार्य अप्पय दीक्षित द्वारा प्रस्तावित 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार के उपर्युक्त लक्षण एवं उदाहरण से उसका नियत-स्वरूप सुस्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में भ्रमर, मालती तथा केतकी के बहाने एक ऐसे अविनयशील पति का वृत्तान्त उपस्थित किया गया है जो कि शील-सौन्दर्यादि ललनोचित सद्गुणों की खान स्वरूपा अपनी पत्नी के रहते हुए भी विटचेटादि-समन्वित, निम्नस्तर पर यौवन-व्यापार करने वाली अतः कँटीली केतकीसदृश किसी वेश्या में अनुरक्त है।

नायिका भ्रमर को ही सम्बोधित करके अपनी भावाभिव्यक्ति करती है अतः प्रत्यक्ष एवं समक्ष होने के कारण भ्रमरादि का वृत्तान्त पूर्णतः प्रस्तुत है और इसका लक्ष्यभूत पति-विषयक वृत्तान्त भी प्रस्तुत ही है क्योंकि पति के साथ वह उद्यान में टहल रही है। यहाँ यह शंका भी नहीं की जा सकती है कि भ्रमर-सरीखे एक ज्ञानहीन जीव का सम्बोधन होने के कारण वाच्यार्थ अप्रस्तुत है क्योंकि 'कस्त्वम्भोः कथयामि दैवहतकम्' प्रभृति पद्य में शाखोटक जैसे अचेतन से भी चेतनायुक्त बटोही की प्रश्नोत्तरिका निबद्ध की गयी है। अतएव सारूप्य-निबन्धना (अध्यारोप कोटि) में अचेतन पदार्थों का भी प्रयोग पारम्परिक तथा न्याय्य होने के कारण उक्त पद्य में भ्रमर का 'आमन्त्रण' भी निर्विवादरूप से सम्भव है। उपर्युक्त दृष्टान्त की ही भाँति कवयित्री विकटनितम्बा प्रणीत—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृंग ! लोलं विनोदय मनस्सुमनोलतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥

इस पद्य में भी उद्यानचारी भ्रमर के प्रति एक उपालम्भ व्यक्त किया गया है जो कि प्रस्तुत ही है। इस प्रस्तुत से व्यज्यमान कामिवृत्तान्त भी प्रस्तुत ही है। अचेतन निबन्धन के प्रसंग में जैसा कि पहले कहा जा चुका है आचार्य अभिनवगुप्त 'अन्यापदेशध्वनि' स्वीकार करते हैं,

अतः उनके प्रामाण्यानुसार उपर्युक्त दोनों ही पद्य 'वस्तुध्वनि' के उदाहरण होंगे। अप्पय दीक्षित स्वयं इस तथ्य को जानते हैं—'अत्राद्योदाहरणयोरन्यापदेशध्वनिमाह लोचनकारः। अप्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यार्थोऽप्रस्तुतत्वादवर्णनीय इति तत्राभिधायामपर्यवसितायां तेन प्रस्तुतार्थ-व्यक्तिरलंकारः। इह तु वाच्यस्य प्रस्तुतत्वेन तत्राभिधायां पर्यवसितायामर्थसौन्दर्यबलेनाभिमतार्थव्यक्तिर्ध्वनिरेवेति।' कुव० पृ० १३४।

किन्तु यदि उपर्युक्त उदाहरण-द्वय में ध्वनि मान ली जाय तो उनका अलंकारत्व सर्वथा नष्ट हो जाता है क्योंकि ऐसे प्रसंगों में ध्वनिकार का स्पष्ट मत है कि 'यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलंकारान्तरमेव।'—ध्वन्यालोक, प्रथमोद्योत। परन्तु आचार्य अप्पय घोर अलंकारवादी आचार्य थे अतः उन्होंने प्रस्तुतांकुर को अलंकार ही माना, ध्वनि नहीं। इस विषय में उन्होंने ध्वनिकार की ही एक कारिका को अपने मत का आधार बनाया है जिसका भाव यह है कि शब्दार्थशक्ति से आक्षिप्त होने वाला भी व्यंग्यार्थ जहाँ कवि द्वारा अपनी उक्तियों से (अर्थात् श्लोक में निबद्ध शब्दार्थ से) आविष्कृत किया जाता है वहाँ ध्वनि होती ही नहीं, उससे पृथक् कोई अलंकार ही होता है।[1]

वस्तुतः प्रस्तुतांकुर अलंकार की तकनीक सारूप्यनिबन्धना से पृथक् है ही नहीं। आचार्य द्वारा उपर्युक्त पद्यों में जिस भ्रमर को प्रस्तुत माना गया है, वह अप्रस्तुत भी हो सकता है क्योंकि 'अप्रस्तुत' का केवल यही तात्पर्य नहीं कि जो आँखों के समक्ष न हो वरन् यह तात्पर्य है कि जो 'कविसंरम्भगोचर' न हो। यह भी आवश्यक नहीं कि नायिका, समक्ष उड़ते हुए भ्रमर को देखकर ही प्रस्तुतार्थ की अभिव्यक्ति करे। यह तो मन्तव्य प्रस्तुत करने की एक कला या परिपाटी विशेष है जिसमें कि स्वाभिप्राय-प्रदर्शन चमत्कारयुक्त रीति से सम्भव है। अतः कोई भी वक्ता भ्रमर, कोकिल, पर्वत, वायु, कलश आदि प्राकृतिक एवं अचेतन अप्रस्तुत उपादानों को मध्यवर्ती वक्तव्याधार-विन्दु कल्पित करके अपने वास्तविक उद्‌गार की अभिव्यक्ति कर सकता है। ऐसी दशा में प्रस्तुतांकुर की प्रतिपाद्य सामग्री सारूप्यनिबन्धना के अविवक्षित वाच्य से बिलकुल विविक्त नहीं है। इसी कारण आचार्य जगन्नाथ ने 'तावत्कोकिल दिवसान्यापय विरसान्वनान्तरेनिवसन्। यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति' आदि पद्य को अविवक्षितवाच्य से ही सम्बद्ध स्वीकार किया है[2] जबकि पद्य में प्रतिपादित वृक्ष एवं पक्षी का सम्बोधन ठीक 'प्रस्तुतांकुर' की ही भाँति होता है।

---

१. द्रष्टव्य—शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राऽऽविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽऽन्यैवालंकृतिर्ध्वनेः॥
—ध्वन्या० २।२३।

२. क्वचिच्च स्वमतविशेषणान्वययोग्यतामासादयितुं प्रतीयमानाभेदमपेक्षते।
—रसगंगाधर, द्वितीयानन (अप्र० प्रक०)।

दूसरी बात यह कि अप्पय ने अचेतन भ्रमर के आमन्त्रण (सम्बोधन) को परिपुष्ट करने के ध्येय से 'कस्त्वं भोः' प्रभृति पद्य का जो हवाला दिया है वह उनकी भावना का ही पूर्णतः विरोधी प्रमाण है। क्योंकि उस पद्य में, चूँकि 'शाखोटक' जैसे अचेतन पदार्थ का सम्बोध्यत्वादि गुण अनुपपन्न है अतः उसी को उपपन्न या सम्भव बनाने के लिए प्रतीयमानार्थ का अध्यारोप उस पर अनिवार्य हो जाता है। प्रदीपकार आचार्य गोविन्द का प्रमाण देखिए— 'अत्र वाच्यशाखोटके संबोध्यत्वोच्चारयितृत्वादिकमनुपपन्नमिति प्रतीयमानाध्यारोपः।'

अतएव अब कि भृंग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया' पद्यांश में प्रतिपादित भ्रमर के सम्बोध्यत्व को युक्तिपूर्ण बनाने के लिए आचार्य अप्पय 'शाखोटकवृत्तान्त' का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं तो इसकी परिस्फुट व्यंजना स्पष्ट हो जाती है कि 'शाखोटक' के ही सम्बोध्यत्व की भाँति 'भ्रमर' का सम्बोध्यत्व भी अनुचित एवं अनुपपन्न है, अतः उसको उपपन्न बनाने के लिए शाखोटक-वृत्तान्त की ही भाँति कोई-न-कोई प्रतीयमानार्थ अवश्य अपेक्षित है। वस्तुतः दीक्षितोद्धृत उदाहरणों में यही शैली दृष्टिगोचर होती है। उनके दोनों ही उदाहरण प्रत्येक दृष्टि से 'शाखोटक-वृत्तान्त' का ही प्रतिपदानुकरण करते हैं अतः निश्चप्रच है कि उनमें भ्रमर का निबन्धन अप्रस्तुत ही है, प्रस्तुत नहीं। और इसी प्रकार प्रस्तुतांकुर के प्रत्येक उदाहरण में क्रमशः अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत का ही निबन्धन होता है, प्रस्तुत एवं अन्य प्रस्तुत का नहीं। निष्कर्ष यह है कि आचार्य अप्पय का प्रस्तुतांकुर अलंकार, उसमें ध्वनि का अभाव, सम्बोध्य का औचित्य—सब-के-सब उनकी कल्पितोद्भावना मात्र हैं अन्यथा अन्योक्ति के अस्तित्व में उनके परिस्फुरण का लेश मात्र भी अवकाश नहीं ! !

आचार्य जगन्नाथ ने असम अलंकार के प्रकरण में ही सामान्यतः अन्योक्ति को ध्वनिवत्ता स्पष्टतः स्वीकार की है—'ध्वनित्वं पुनर्न क्वाप्यलंकृतिकाव्ये दृष्टमिति चेत् पर्यायोक्त-सादृश्यमूलाप्रस्तुतप्रशंसादिकाव्ये ध्वनित्वस्य स्फुटत्वात्।' प्रस्तुतालंकार के प्रसंग में भी उन्होंने इसी तथ्य का विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु आचार्य जगन्नाथ ने एक दूसरी रीति से प्रस्तुतालंकार का खण्डन भी प्रस्तुत किया है। आचार्य ने सारूप्य-निबन्धना अन्योक्ति के नाना भेदों की कल्पना की है और लिखित रूप में भी उसकी दो कोटियों का निदर्शन दिया है—एक तो वह जिसमें अत्यन्त अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की व्यंजना होती है और दूसरा वह जहाँ कि स्थल-विशेष पर दोनों ही वृत्तान्त (अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत) प्रस्तुत होते हैं। स्थल-विशेष की ध्वनि यह है कि जहाँ कोई व्यक्ति अपने प्रिय को कुछ जताने के ध्येय से पुरोवर्ती भ्रमरादि उपादानों को सम्बोधित करके कुछ कहे। किन्तु कठिनाई तो इस बात की है कि द्वितीय उदाहरण में अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण चरितार्थ कहाँ होगा ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए, रसगंगाधरकार कहते हैं कि—"अप्रस्तुतशब्देन मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः। स च क्वचिदत्यन्ताप्रस्तुतः क्वचित्प्रस्तुतश्चेति न कोऽपि दोषः। न च ध्वनिमात्रस्याप्रस्तुतप्रशंसात्वापत्तिरितिवाच्यम्। अतएव तत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेणेतिविशेषण-मुपात्तमिति विभावनीयम्।' रसगंगाधर, द्वितीयानन (अप्र० प्रक०)।

इस पृष्ठभूमि की रचना के बाद आचार्य जगन्नाथ ने 'अप्रस्तुतांकुर-कल्पना' को पूर्णतः निरस्त करते हुए इस विषय में अपना मत प्रस्तुत किया है कि थोड़े वैलक्षण्य मात्र से ही अलंकारान्तर की कल्पना से उनके 'आनन्त्य' की सम्भावना है जो कि सर्वथा दोष माना गया है।[1] अन्योक्ति के पाँच भेदों में से प्रथम चार में पण्डितराज ने भी पूर्वाचार्यों की भाँति गुणीभूतव्यंग्य ही स्वीकार किया है किन्तु दोनों के प्रस्तुत रहने पर अर्थात् उभयप्रस्तुता 'अन्योक्ति' में उन्होंने स्पष्टतः ध्वनि स्वीकार की है।

आचार्य के मन्तव्यानुसार सादृश्यमूलान्योक्ति के भी दो भेद हैं—एक तो वह, जिसमें अत्यन्त अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना हो, इस कोटि में मम्मटादि द्वारा व्याख्यात सम्भवासम्भवोभय रूप अन्योक्तियाँ आ जायँगी। दूसरा भेद वह है जिसमें दोनों ही वृत्तान्त प्रस्तुत हैं। प्रथम में ध्वनि निर्बाध नहीं है अर्थात् गुणीभूत ही है जबकि द्वितीय भेद में वह निर्विवाद है।

किन्तु जगन्नाथकृत प्रस्तुत व्याख्या में एक असंगति का उल्लेख कर देना उचित होगा। प्रस्तुतांकुर-खण्डन के पूर्व ही सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेदों का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य ने 'तावत्कोकिल दिवसान्' प्रभृति पूर्वोद्धृत पद्य में 'प्रतीयमानाभेद' स्वीकार किया है। अवधेय है कि इसी कोटि की अन्योक्ति में श्री अभिनव ने भी 'अन्यापदेश-ध्वनि' स्वीकार की है। अतः ऐसी परिस्थिति में पण्डितराज का प्रस्तुत उद्धरण स्ववचनविरोध उत्पन्न करता है—'इदं तु बोध्यम्। अत्यन्ताप्रस्तुतस्य वाच्यतायां तस्मिन्नपर्यवसितया अभिधया प्रतीयमानार्थस्य बलादाकृष्टत्वेन ध्वनित्वं न निर्बाधम्। द्वयोः प्रस्तुतत्वे तु ध्वनित्वं निर्विवादमेव। एवं सादृश्यमूलप्रकारे द्वैतम्। कार्यकारणभावसामान्यविशेषभावमूलास्तु चत्वारः प्रकारा गुणीभूत-व्यंग्यस्यैव भेदाः। अभिधादिस्पर्शलेशशून्यस्य केवलागूरणमात्रस्य ध्वनित्वप्रयोजकत्वात्॥'—रसगंगाधर, द्वितीयानन (अप्रस्तुत० प्रक०)।

उपर्युक्त उद्धरण में व्यक्त किये गये आचार्य के विचारों से प्रतीत होता है कि अप्रस्तुतप्रशंसा के सम्भवासम्भवोभयवाच्य वाले तीनों उदाहरणों में ध्वनि निर्बाध नहीं है क्योंकि उनमें अत्यन्त अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना का भाव उपनिबद्ध किया गया है। किन्तु यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो फिर आचार्य अभिनव के मत की संगति कैसे बैठेगी? इतना ही नहीं वरन् आचार्य जगन्नाथ ने स्वयं उस उदाहरण में (तावत्कोकिल विरसान् आदि) 'प्रतीयमानाभेद' स्वीकार किया है। अतः उसकी भी व्यवस्था संकटापन्न हो जायगी। इस प्रकार निश्चित है कि पण्डितराज द्वारा व्यवस्थापित सारूप्यनिबन्धना का यह द्वैधभाव पूर्णतः निर्दोष नहीं है। वस्तुतः प्रस्तुतांकुर को सारूप्यनिबन्धना का कोई विकल्प न मानकर उसमें अन्तर्निविष्ट ही मानना चाहिए जैसा कि पूर्वानुच्छेद में स्पष्ट किया गया है।

---

१. 'एतेन प्रस्तुतत्वे प्रस्तुतांकुरनामान्योऽलंकारः' इति कुवलयानन्दाद्युक्तमुपेक्षणीयम्। किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालंकारान्तरताकल्पने वाग्भंगीनामानन्त्यादलंकारानन्त्यप्रसंगः इत्यसकृदावेदितत्वात्।'—रसगंगाधर (अप्रस्तु० प्रकरण, आ० २)।

इस प्रकार अन्योक्ति के समस्त भेदों में ध्वनि के होने या न होने का निर्णय दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण हुआ। आचार्य अभिनव; जो प्राचीनाचार्यों के प्रतिनिधि हैं, के अनुसार अन्योक्ति के पाँचों निबन्धन प्रायः गुणीभूतव्यंग्य के ही क्षेत्र हैं, केवल सारूप्यनिबन्धना का एक भेद (प्रतीयमानाध्यारोप) ध्वनि का क्षेत्र है। नवीन आचार्यों की दृष्टि से उभयप्रस्तुता अन्योक्ति में ही ध्वनि है, जिसे अप्पय ने 'प्रस्तुतांकुर' कहा है।

आचार्य मम्मट के अनुवर्तियों द्वारा अन्योक्ति का विवेचन किस प्रकार हुआ ? इस नूतन समस्या पर विचार करने के पूर्व ही हमें दो तथ्यों पर विचार कर लेना चाहिए। एक तो यह कि मम्मटाचार्य के अनुवर्तियों में कौन-कौन आते हैं, उनका समय एवं कर्तृत्व क्या है? दूसरा यह कि अन्योक्ति के विवेचन में उनका 'नवीन-योग' क्या रहा? प्रथम तथ्य पर विचार करने से मम्मटोत्तरयुगीन आचार्यों की परम्परा का ज्ञान सम्भव है तथा इसी प्रकार द्वितीय तथ्य पर विचार करने से अन्योक्ति-विषयक कुछ नवीन रूढ़ियाँ भी स्पष्ट हो जायेंगी। यदि आचार्य का कोई नवीन योगदान नहीं, केवल पूर्व परम्परा का निर्वाहमात्र है तब उनके विवेचन की कोई आवश्यकता ही नहीं और यदि है तो उसका निर्देश करना भी अपेक्षित ही होगा।

पूर्व मम्मटयुगीन आचार्यों में क्रमशः आचार्य भरत (ई० पू० तीसरी-चौथी शती) मेधाविन् (चौथी शती) भामह (छठीं शती) दण्डी (सातवीं शती) उद्भट एवं वामन (आठवीं शती) रुद्रट (नवीं शती) आनन्दवर्द्धन (नवीं शती) मुकुलभट्ट, प्रतीहारेन्दुराज, भट्टेन्दुराज, भट्टतौत भट्टनायक, राजशेखर, कुन्तक, धनिक-धनञ्जय, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, महिमभट्ट एवं भोज (दशम शती) आते हैं जिनके विषय में अन्योक्ति के सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से विचार तृतीय अध्याय में व्यक्त किया जा चुका है।

आचार्य मम्मट का युग राजानकतिलक को साथ लेकर प्रारम्भ होता है। इस परम्परा में क्रमशः तिलक एवं मम्मट, (उद्भटविवेक तथा काव्यप्रकाशकार ११वीं शती तक) काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र, रुय्यक (अलंकारसर्वस्व एवं साहित्य-मीमांसा ?) वाग्भट प्रथम (वाग्भटालंकार १२वीं शती) अमृतानन्द योगिन् (अलंकारसंग्रह) नरेन्द्रप्रभसूरि (अलंकारमहोदधि) जयदेव (चन्द्रालोक, १३वीं शती) विद्याधर (एकावली) विद्यानाथ (प्रतापरुद्रयशोभूषण) वाग्भट द्वितीय (काव्यानुशासन) श्रीवत्सलाञ्छन (काव्यपरीक्षा) तथा विश्वनाथ (साहित्यदर्पणकार, १४वीं शती) गोविन्द ठक्कुर (काव्यप्रदीप) केशवमिश्र (अलंकारशेखर) शोभाकर मित्र (अलंकाररत्नाकर, १६वीं शती) अप्पय दीक्षित (कुवलयानन्द एवं चित्रमीमांसा) तथा पण्डितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर, १७वीं शती) अभिनव कालिदास (नञ्जराजयशोभूषण) भट्टदेवशंकर पुरोहित (अलंकारमञ्जूषा, १८वीं शती) विद्याभूषण (साहित्यकौमुदी) चिरञ्जीव भट्टाचार्य (काव्यविलास) विश्वेश्वर पण्डित (अलंकारकौस्तुभ, १९वीं शती) तथा श्रीकृष्णपरब्रह्म (अलंकारमणिहार, २०वीं शती ?) प्रभृति आचार्य आते हैं। विवेचन सौकर्य की दृष्टि से इन आचार्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्य।

इनमें अनेक आचार्य ऐसे हैं जिनके ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों का प्रकाशन एवं प्रचलन नहीं हो सका। विद्वानों की दृष्टि वहाँ तक नहीं पहुँच सकी। इसका और चाहे जो भी कारण हो किन्तु एक प्रमुख कारण यह भी है कि आचार्य मम्मट की तुलना में वे हलके सिद्ध हुए। अमृतानन्द, नरेन्द्रप्रभ, वाग्भट द्वितीय, श्रीवत्सलाञ्छन तथा शोभाकर मित्र के विषय में हम अत्यल्प ज्ञान रखते हैं तो केवल इसी कारण। जगन्नाथ के परवर्ती आचार्यों की अप्रसिद्धि का तो स्पष्ट कारण उनकी मौलिकता का अभाव तथा पूर्वाचार्यों के ही मतों का अनुवदन मात्र है। इस प्रकार सिद्ध है कि आचार्य मम्मट से लेकर आज तक का सारा अलंकारशास्त्र काव्यप्रकाश को ही आदर्श मानकर लिखा गया है। अब संक्षेप में अन्योक्ति सम्बन्धी नवीनताओं का परिशीलन कर लेना चाहिए। अवधेय तथ्य यह है कि नवीनता का विवेचन, अन्योक्ति विषयक मम्मटीय व्यवस्था की तुलना में ही होगा।

आचार्य जगन्नाथ के पूर्ववर्ती आचार्यों में प्रायः प्रत्येक ने अलंकार विवेचन में अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा का सदुपयोग किया है उदाहरण के लिए—मम्मटीय व्यवस्था में न विद्यमान रहने पर भी किसी ने सारूप्यमूलकता के तीन भेदों के स्थान पर दो ही भेद किया। श्लेष एवं समासोक्ति को एक कर दिया। किसी ने सम्भव, असम्भव, उभय तो किसी ने अनुभय भेद को भी संयुक्त करके वाच्य के त्रैविध्य अथवा चातुर्विध्य की स्थापना की। किसी आचार्य ने केवल सारूप्य-निबन्धना को ही श्रेष्ठ भेद स्वीकार कर विवेचन किया तो किसी ने साधर्म्य-वैधर्म्य की समस्या का निदान ढूँढ़ा। किसी ने प्रस्तुतांकुर जैसे नवीन अलंकार की स्थापना की तो किसी ने उसका प्रतिपद प्रत्याख्यान करके अन्योक्ति में अंतर्भाव! इन समस्त नवीनताओं का विधिवदनुशीलन तदुद्भावक आचार्यों के व्याख्यानप्रसंग में किया जा चुका है। अतः बहुत थोड़े ही आचार्य ऐसे बचते हैं, जिनकी नवीन उद्भावनाओं का उपस्थापन उन सन्दर्भों में नहीं किया जा सका और अब प्रस्तुत है।

आचार्य वाग्भट द्वितीय काव्यानुशासन नामक अपने लक्षण ग्रन्थ के तृतीयाध्याय में अन्योक्ति, समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा का क्रमशः पृथक् व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्योक्ति अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा से अभिन्न है ऐसा प्रायः सबको ज्ञात है। यद्यपि दण्डी, वामन एवं भोज के युग में उसका वास्तविक रूप 'समासोक्ति' में तिरोहित रहा तथापि अन्य आचार्यों के मत में वह अप्रस्तुतप्रशंसा से अभिन्न ही रही है। रुद्रट एवं हेमचन्द्र ने जब अन्योक्ति का व्याख्यान किया तब अप्रस्तुतप्रशंसा का व्याख्यान सर्वथा ही उपेक्षित कर दिया, केवल इसीलिए कि दोनों एक हैं। किन्तु आचार्य वाग्भट इस अर्थ में विलक्षण हैं जो कि अन्योक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा दोनों को ही पृथक् मान्यता देते हैं। उन्होंने केवल इन अलंकारों की संक्षिप्त परिभाषा भर दी है, जिसके अनुसार स्पष्ट है कि उनकी समासोक्ति (उपमेयश्लेषोक्तौ उपमानप्रतीतिः समासोक्तिः) मम्मटीय समासोक्ति से तथा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' वामनप्रोक्त अप्रस्तुतप्रशंसा (उपमेयस्य किंचिदुक्तावप्रस्तुत-प्रशंसा)

से अभिन्न है। किन्तु वाग्भटप्रोक्त अन्योक्ति की पारिभाषिक समता अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती—उपमेयस्यैवोक्तावन्यप्रतीतिरन्योक्तिः।

परिभाषा के बाद आचार्य ने उसके स्तुति, निन्दा तथा उभयरूप तीन भेद किये हैं। किन्तु विचारणीय प्रश्न है कि क्या वाग्भट का मत संगत है? उपमेय अर्थात् प्रस्तुत की ही प्रशंसा या वर्णना से अन्य (-अप्रस्तुत) की प्रतीति में तो अन्योक्ति कभी सम्भव नहीं है अतः वाग्भट का यह मत या तो उनकी व्यक्तिगत उद्भावना मात्र है जो कि पारम्परिक सिद्धान्तों के विरोधवश उचित एवं मान्य नहीं कहा जा सकता अथवा वह उनकी अप्रस्तुतप्रशंसा में ही समाविष्ट है। आचार्य वाग्भट ने अपनी अन्योक्तियों के वही उदाहरण दिये हैं जो मम्मटादि आचार्य दे सकते थे और जो कि संग्रह-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

किन्तु वाग्भट द्वारा उन पद्यों के उद्धृत किये जाने का तात्पर्य यह है कि आचार्य उनमें प्रतिपादित वृत्त को ही प्रस्तुत मानता है तथा व्यंग्य वृत्त को अप्रस्तुत। वस्तुतः यदि ऐसा मान लिया जाय तो समस्त अन्योक्तियों की स्थिति संकटापन्न हो जायगी और वे सब प्रस्तुतार्थ की ही वर्णना बनेंगी। किन्तु यह तो साधारण-सी बात है कि जब वक्ता प्रस्तुतार्थ का ही वर्णन करेगा तो उसका मन्तव्य उसी में पर्यवसित हो जायगा और तब किसी भी प्रकार के व्यंग्यार्थ की आशा नहीं की जा सकती। यदि आशा करें भी तो वह 'अभिधामूला आर्थी व्यंजना' का ही क्षेत्र होगा जिसे अन्योक्ति से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास कल्पनागौरव मात्र है। अलंकार से उत्पन्न हुई ध्वनि का अपना पृथक् स्थान है जो कि अन्ततः रसध्वनि में ही पर्यवसितप्राय होने पर भी उससे अभिन्न नहीं है। वस्तुतः व्यंग्य का कोई-न-कोई आधार होना चाहिए जैसे समासोक्ति में प्रकरणादि का नियंत्रण तथा अन्योक्ति में यथार्थलक्ष्य का अप्रस्तुतार्थ में अपर्यवसान। किन्तु वाग्भट की अन्योक्ति में जब अन्य की उक्ति ही नहीं तो लक्ष्य के अधूरे रहने का प्रश्न ही नहीं उठता और न व्यंजना का ही।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर समासोक्ति होती है। किन्तु मम्मटादि आचार्यों के मतानुसार इस प्रक्रिया में श्लेष का रहना अत्यन्त आवश्यक है जैसा कि वाग्भट ने भी यही स्वीकार किया है। किन्तु प्रश्न यह है कि जब बिना श्लेष के ही प्रस्तुत से अप्रस्तुत की अवगति हो तब वहाँ कौन अलंकार होगा? वस्तुतः इस रूप का कोई भी अलंकार 'काव्यशास्त्र' में नहीं प्राप्त होता है। किन्तु वाग्भट द्वितीय ने ऐसे ही स्थल पर 'अन्योक्ति' मानी है, अर्थात् जहाँ श्लेषादि के अभाव में भी प्रस्तुत से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो।

यदि विवेकदृष्टि से देखा जाय तो यह मत पूर्व परम्पराओं के विरुद्ध होने के साथ-ही-साथ स्वरूप से भी असंगत ही है। क्योंकि अन्योक्ति में तो सारा सौन्दर्य इसी तथ्य पर आधारित है कि इसमें प्रस्तुतार्थ ज्ञान के अभीष्ट रहने पर भी अप्रस्तुत (अन्य) अर्थ की प्रशंसा (वर्णना या उक्ति) की जाती है। किन्तु वाग्भट के अनुसार अन्योक्ति के इस स्वरूप में 'अन्य की उक्ति' हुई कहाँ? यहाँ तो प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होने के कारण

प्रस्तुतार्थ की ही उक्ति है। अतः बजाय इसके कि व्यंग्य प्रस्तुतार्थ का (वाच्य अप्रस्तुत के कारण) कुछ सौन्दर्य बढ़े, वह घट ही जाता है क्योंकि जिस प्रस्तुत अर्थ को आप प्रत्यक्षरूप में न कहकर केवल चमत्कारपूर्ण शैली में कहने के ध्येय से परोक्षरूप से कहते थे अथवा व्यंग्य रखते थे, उसी को वाच्य रूप में कह दिया। तो फिर क्या सौन्दर्य रह गया? अतः वाग्भट के इस व्याख्यान से अन्योक्ति की अन्योक्तितता तथा उसका उद्देश्य (प्रस्तुतार्थ का व्यंजनयावगम) दोनों ही तत्त्व सिद्ध नहीं हो पाते और इसी कारण यह मत ग्राह्य भी नहीं है। आचार्य जगन्नाथ के प्रसंग में इस विषय पर और विचार किया जायेगा।

अमृतानन्दयोगिन् ने समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा को ही अपने व्याख्यान में मान्यता दी है। उनका अप्रस्तुतप्रशंसा व्याख्यान, शब्दशः आचार्य दण्डी का ही अनुकरणमात्र है अर्थात् अप्रस्तुत वाच्य की प्रशंसा से प्रस्तुत व्यंग्य की निन्दा। किन्तु इससे भी बड़ी नवीनता यह है कि आचार्य ने 'समासोक्ति' को अन्यापदेश माना है जो कि संस्कृत काव्यशास्त्र में किसी आचार्य द्वारा नहीं स्वीकार किया गया है। यद्यपि दण्डी, वामन एवं भोज की समासोक्तियों के रूप भामह अथवा मम्मटप्रोक्त अप्रस्तुतप्रशंसा से प्रायः साम्य रखते हैं तथापि उन्हें अन्यापदेश की संज्ञा किसी ने दी नहीं है। यह भी सम्भव है कि समासोक्तिमूलक सारूप्यनिबन्धना को 'अन्यापदेश या अन्योक्ति' माना जाय तो इसमें कोई विप्रतिपत्ति सम्भव ही नहीं। किन्तु समस्या तो यह है कि आचार्य ने समासोक्ति का जो रूप स्वीकार किया है वह भामहीय समासोक्ति के ही समान है अतः उसे 'अन्यापदेश' कहना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। आचार्य वाग्भट द्वितीय ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का व्याख्यान ठीक दण्डी के ही अनुकरण पर किया है, जिसमें कोई विशिष्ट नवीनता नहीं दृष्टिगोचर होती।

नव्योद्भावना का चरम एवं सफल विलास हमें पण्डितराज जगन्नाथ के ही व्याख्यान में प्राप्त होता है। प्रस्तुतांकुर-खण्डन में हम सारूप्यनिबन्धना विषयक उनके नवीन दृष्टिकोणों से पूर्ण परिचित हो चुके हैं। खण्डन के पश्चात् आचार्य ने अधोनिर्दिष्ट पद्य को उद्धृत करते हुए एक समस्या प्रस्तुत की है कि इसमें कौन अलंकार होगा? उदाहरण देखिये—

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतंगा भृंगा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमंचति सरस्त्वयि दीनदीनो मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

प्रस्तुत पद्य में सरोवरवृत्तान्त तथा क्षीणनरेश वृत्तान्त का निबन्धन हुआ है। यदि सरोवर वृत्तान्त अप्रस्तुत वाच्य तथा राजादिवृत्तान्त प्रस्तुत व्यंग्य है तो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' निर्विवाद है क्योंकि वह पूर्वाचार्यों की व्यवस्था के अनुकूल ही है। इतना ही नहीं वरन् पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत किये गये सारूप्यनिबन्धना के दो भेदों में से प्रथम यहाँ चरितार्थ होगा—अत्यन्त अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की व्यंजना। इसी प्रकार यदि दोनों वृत्तान्त प्रस्तुत हैं तब भी जगन्नाथकृत दूसरी व्यवस्था के अनुसार वह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ही होगी।

किन्तु एक तीसरी स्थिति भी है, वह यह कि यदि अकेले सरोवर वृत्तान्त ही प्रस्तुत हो तथा गुणीभूत राजवृत्तान्तरूप व्यंग्य ही हो तब यहाँ कौन अलंकार होगा? अप्रस्तुत की प्रशंसा न होने के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' तो होगी नहीं क्योंकि यहाँ तो प्रस्तुत की ही प्रशंसा की गयी है जो कि समासोक्ति में ही सम्भव है।

किन्तु प्रस्तुत की प्रशंसा होने पर भी प्रस्तुत पद्य में समासोक्ति न होगी क्योंकि 'विशेषणसाम्य' ही समासोक्ति का प्राणतत्त्व है जो कि उपर्युक्त उदाहरण में सर्वथा अविद्यमान है। यहाँ तो शुद्धसारूप्य का प्रसंग है, सरोवर तथा राजवृत्तान्त के बीच। यह भी सम्भव नहीं कि जैसे श्लिष्टविशेषणा अन्योक्ति को (मम्मट के अनुसार समासोक्तिमूलक) समासोक्ति का ही प्रकार-विशेष माना गया है ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत पद्य में स्थित सादृश्यमूला अन्योक्ति को भी समासोक्ति का ही प्रकार-विशेष मान लिया जाय, क्योंकि ऐसा करने से तो अनेक अलंकारों में एक ही धर्म के सर्वनिष्ठ रहने पर उन सबकी एकत्वकल्पना की समस्या उठ खड़ी होगी, जो कि पूर्वाचार्यों की परम्परा के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक वस्तु होगी। इस प्रकार आचार्य जगन्नाथ ने इस पद्य के सन्दर्भ में समस्त सम्भाव्य विकल्पों का निरास प्रस्तुत किया है। अतः ऐसी दशा में एक ही पथ शेष रहता है, वह यह कि हम आचार्य रुय्यक-प्रोक्त इस मत को स्वीकार कर लें कि—सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा विशेषणवाची शब्दों के साम्य को लेकर ही सम्भव है न कि उसकी उपेक्षा करके!

किन्तु पण्डितराज, आचार्य रुय्यक के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए अप्रस्तुत-प्रशंसा का एक विलक्षण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, भले ही इस पद्य में 'प्रस्तुत की ही प्रशंसा' की गयी है जो कि अप्रस्तुतप्रशंसा में सर्वथा असम्भव है तथापि यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा ही है। क्योंकि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का वस्तुतः यह अर्थ नहीं है कि 'अप्रस्तुत (वाच्य) की प्रशंसा' वरन् उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि 'अप्रस्तुतेन प्रशंसा या चार्थात्प्रस्तुतस्यैव' (पण्डितराज) अर्थात् 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की प्रशंसा'। और यही स्वरूप प्रस्तुत उदाहरण में द्रष्टव्य भी है। अतः इसी व्याख्यान के अन्त में आचार्य अपना अप्रस्तुतप्रशंसा विषयक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं;—'अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालंकारः। अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः। किन्त्वप्रस्तुतेनेति। सा चार्थात्प्रस्तुतस्यैव। एवं च वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्याद्यन्यतमप्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति। न तु वाच्येनैव व्यंग्येवेति।' रसगंगाधर, द्वितीयानन (अप्र० प्रकरण)

इस प्रकार आचार्य जगन्नाथ की मान्यता के अनुसार अन्योक्ति के सम्भाव्य क्षेत्र क्रमशः इस प्रकार हैं;—

१. यदि अप्रस्तुत वाच्य से, कारणादि सम्बन्धों के रहने पर, प्रस्तुतार्थ की व्यंजना होती है तो क्रमशः कारणनिबन्धना, कार्यनिबन्धना, विशेषनिबन्धना तथा सामान्यनिबन्धना अन्योक्तियाँ होंगी।

२. यदि अत्यन्त अप्रस्तुत वाच्य से सादृश्य अथवा श्लिष्ट विशेषणों के सद्भाव में प्रस्तुत की व्यंजना हो, तब भी सादृश्यनिबन्धना अन्योक्ति होगी।

३. यदि अप्रस्तुत वाच्य तथा प्रस्तुत व्यंग्य, दोनों ही प्रस्तुत हों, अर्थात् प्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यंग्य की व्यंजनया प्रतीति हो तब भी अन्योक्ति (सादृश्यनिबन्धना) ही होगी।

४. वाच्य अथवा व्यंग्य अप्रस्तुत द्वारा वाच्य अथवा व्यंग्य प्रस्तुत की जहाँ सादृश्यादि किसी एक प्रकार से प्रशंसा की जाय वहाँ भी अन्योक्ति ही होगी (न कि केवल वाच्य प्रस्तुत से ही व्यंग्य प्रस्तुत की अनुभूति होने पर)।

आचार्य जगन्नाथ का प्रस्तुत योगदान अन्योक्ति का क्षेत्र इतना विशाल बना देता है कि उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। वस्तुतः चराचर-मय जागतिक सर्जना को प्रतिपाद्य बनाकर, मानवमात्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म हृदयभावनाओं को लोकोत्तर वर्णनानिपुण शैली के माध्यम से लोक के समक्ष प्रकट करनेवाली काव्य-विधा अन्योक्ति के लिए यह 'आत्मगौरव' की बात है। आचार्य जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्रकारों की परम्परा के सर्वाभिभावी चरम गौरवचिह्न होने के साथ-ही-साथ 'अन्योक्तिकाव्य' के महान् प्रणेता भी रहे हैं। विरहावसन्न चित्त में भी वासन्ती सुषमा एवं करुणातरंग उद्वेलित कर देनेवाली उनकी अन्योक्तियाँ, संस्कृत काव्य-साहित्य की अक्षयनिधि हैं।[१] अतएव आचार्य द्वारा सतर्कोपदिष्ट चतुर्थमत मुख्यतः अन्योक्ति अलंकार से नहीं, वरन् अन्योक्तिकाव्य से ही सम्बद्ध है।

अन्योक्ति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक (—वाङ्मयीन) विकास की दृष्टि से आचार्य जगन्नाथ की यह नूतन उद्भावना वस्तुतः अभिनन्दनीय है। किन्तु एक ओर आचार्य ने अन्योक्ति का यह रूप स्वीकार करके, जहाँ उसका प्रतिपाद्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत बना दिया, वहीं अन्योक्ति का स्वरूप विकृत भी कर दिया है। क्योंकि अन्योक्ति का यह स्वरूप प्राचीन परम्परा के सर्वथा विरुद्ध साथ-ही-साथ निष्प्राण एवं निराधार भी है। जैसा कि वाग्भट द्वितीय प्रोक्त अन्योक्ति के व्याख्यान-प्रसंग में संकेत किया जा चुका है, पण्डितराज का अन्योक्ति-विषयक मत पूर्णतः वाग्भटीय मत से अभिन्न है, क्योंकि वाग्भट भी प्रस्तुत से अप्रस्तुत की (श्लेषहीन) प्रतीति में अन्योक्ति मानते हैं।

वास्तविकता यह है कि पण्डितराज द्वारा सुझाई गयी इस युक्ति में कोई 'औचित्य' नहीं दीख पड़ता। क्योंकि 'अप्रस्तुत द्वारा प्रशंसा' तथा 'प्रस्तुतार्थ की वाच्यता' ये दोनों ही तत्त्व 'अन्योक्ति संविधान' के सर्वथा विपरीत हैं। यद्यपि उक्त मत को विकल्प रूप में ही प्रस्तुत करने के कारण आचार्य जगन्नाथ को दोषी नहीं ठहराया जा सकता किन्तु तब भी यह चिन्त्य विषय है कि उन्होंने इस उद्भावना को समूल नष्ट करके ऐसा क्यों नहीं कह दिया कि 'प्रस्तुत वाच्य से अप्रस्तुत की प्रतीति में अन्योक्ति कभी नहीं हो सकती।'

अन्योक्ति की, अन्य अलंकारों की अपेक्षा, यही एकमात्र विशेषता है कि इसमें लक्ष्य अथवा अभिधेय विषय को व्यंग्य रखा जाता है और कार्यकारणादि अथवा सारूप्य सम्बन्ध

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य, जगन्नाथप्रणीत भामिनीविलास की अन्योक्तियाँ (प्रास्ताविक विलास)।

से एक ऐसे वृत्त की वर्णना की जाती है, जिसका वक्ता की आँखों में अपना कोई मूल्य नहीं है। किन्तु वही अप्रस्तुत वर्णन, व्यंग्य प्रस्तुत की प्रतीति कराता है क्योंकि वह उससे सम्बद्ध है। प्रत्यक्ष कथन न होने के ही कारण अन्योक्ति रीति से प्रकटित इस अभिव्यक्ति में अनन्त चारुता एवं चमत्कार आ जाता है। किन्तु यह बात सोचने की है कि यदि उसी व्यंग्य प्रस्तुत को आप प्रत्यक्षतः कह दें तो क्या विचित्रता रह जायगी? वह तो अभिधा की भाँति उस दशा में, एक नीरस कथन मात्र होगा। कविवर बिहारी यदि 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' आदि न कहकर राजा से सीधे कहते कि—'राज्य बरबाद हो रहा है और आप नयी दुलहिन के चक्कर में पड़े हैं?' तो सम्भवतः राजा जयसिंह, बिना उनके ब्राह्मणत्व का विचार किये, सिर ही कटवा लेते। किन्तु प्रस्तुतार्थ को सीधे कहने के बजाय उन्होंने अप्रस्तुत अथवा अन्य वृत्त का कथन प्रस्तुत किया, जिससे कि वही अर्थ निकला जो उस व्यंग्य विषय को सीधे कहने से निकलता। किन्तु इन दोनों वचन-पद्धतियों के साधन तथा साध्य में कितना अन्तर है? इसे सहृदयवर्ग ही जान सकता है। इस प्रकार आचार्य जगन्नाथ का यह सिद्धान्त ग्राह्य नहीं प्रतीत होता।

जगन्नाथ के परवर्ती आचार्यों में नवीनता का सर्वथा राहित्य ही रहा है जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही सूचित किया जा चुका है। तथापि अपेक्षित सामग्री उपस्थित कर दी जानी चाहिए। नञ्जराजयशोभूषणकार आचार्य अभिनव कालिदास ने प्रस्तुतांकुर अलंकार का भी अन्योक्ति ही भाँति पञ्चधा विभाजन प्रस्तुत किया है कारण, कार्य, विशेष, सामान्य एवं सादृश्यनिबन्धना।[1] इसी प्रकार आचार्य चिरञ्जीव के 'सामान्यविशेष' अलंकार की नव्यता का भी उल्लेख पहले किया जा चुका है। अन्य आचार्यों का विवेचन प्रायः पूर्वाचार्यों का मत-संकलन मात्र है जिसमें कि व्यक्तिगत योगदान का आत्यन्तिक अभाव ही है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रचलित अन्य अलंकारों से अन्योक्ति का सम्बन्ध पूर्वमम्मट-युगीन-आचार्यों के समय से ही निरूपित किया जाता रहा है। तुलना का यह क्रम वस्तुतः आचार्य प्रतीहारेन्दुराज से ही प्रारम्भ होता है जो कि उद्भटीय काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकार हैं। राजानकतिलक द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक उद्भटालंकारव्याख्यान अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट है। तिलक के पश्चात् न केवल टीकाकारों ने प्रत्युत मम्मट एवं रुय्यक प्रभृति परवर्ती स्वतन्त्र आचार्यों ने भी इस तुलनात्मक पद्धति को आश्रय दिया। किन्तु जैसा कि तृतीय अध्याय में आचार्य रुद्रट के प्रसंग में कहा जा चुका है कि समस्त अलंकारों की तुलना अन्योक्ति के साथ सम्भव नहीं। यदि की भी जाय तो वह व्यर्थ ही होगी क्योंकि किन्हीं दो तत्त्वों में तुलना तभी सम्भव है जब उनमें किसी वृत्ति-विशेष की उभयनिष्ठता हो। हाथी एवं घड़ियाल की तुलना नहीं सम्भव है क्योंकि दोनों पूर्णतः विजातीय हैं, किन्तु बैल और घोड़े की तुलना विजातीय होते हुए भी सवर्गीय होने के कारण सम्भव है।

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य, नञ्जराजयशोभूषण, विलास ७, पृ० २०७।

इसी दृष्टि से कुछ अन्य अलंकारों का तुलनात्मक इतिवृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है। इस क्रम में आने वाले अलंकारों की सूची इस प्रकार है—पर्यायोक्त, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, पर्याय तथा असंभव-सम-विकस्वर-ललित-प्रहर्षण-विषादन-उल्लास-अवज्ञा-लेश (कुवलयानन्दकार)। यद्यपि समासोक्ति, श्लेष एवं प्रस्तुतांकुर भी तुलना के ही क्षेत्र में आते हैं किन्तु इसके पूर्व ही उनका विस्तृत व्याख्यान हो चुकने के कारण उन्हें प्रस्तुत सन्दर्भ में नहीं लिया गया है। अब एकैकशः इनका व्याख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है।

पर्यायोक्त में अन्योक्ति की ही भाँति गम्य वस्तु का भंग्यन्तर से अभिधान होता है। किन्तु 'वह 'भंगि' अर्थात् अभिधान-शैली कैसी होती है?' बस यही तथ्य दोनों की पारस्परिक भिन्नता का कारण है। आचार्य उद्भट ने बहुत पूर्व ही इस समस्या पर विचार प्रस्तुत किया था। जहाँ तक अन्योक्ति का प्रश्न है वह तो पूर्व व्याख्यानों से स्पष्ट है कि इसमें वाच्य अप्रस्तुत द्वारा व्यंग्य प्रस्तुत की व्यंजना होती है। किन्तु पर्यायोक्त में प्रस्तुतार्थ व्यंग्य होने पर भी व्यंजना द्वारा अवबोध्य न होकर अभिहित होता है। कैसे अभिहित होता है? इस प्रश्न का निदान प्रस्तुत करते हुए आचार्य उद्भट कहते हैं कि 'वाच्य तथा वाचक की वृत्ति से शून्य (अर्थात् अभिधाव्यापार से शून्य) अवगमात्मा व्यापार द्वारा।[१]

किन्तु ऐसा होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा से इसका भेद ही क्या रहा? क्योंकि इसमें भी तो प्रस्तुतार्थ का बोध एक अवगमात्मा व्यापार द्वारा ही होता है जो कि अभिधा व्यापार से सर्वथा दूर है। दूसरी बात यह कि अन्योक्ति में तो प्रस्तुतार्थ का ज्ञान, व्यंजना शक्ति द्वारा 'प्रतीति' रूप में होता है किन्तु पर्यायोक्त में आचार्य उद्भट के अनुसार, उसी प्रस्तुतार्थ का अवगमात्मा व्यापार द्वारा अभिधान होता है प्रतीति नहीं। पर्यायोक्त का यह स्वरूप स्थापित करते हुए आचार्य ने 'येन लम्बालकः सास्रः' आदि उदाहरण प्रस्तुत किया है। किन्तु टीकाकार राजानकतिलक ने उद्भट की इस मान्यता का विरोध करते हुए अपना स्पष्ट निर्णय दिया है। एक तो यह कि अत्यधिक साम्य होने पर भी पर्यायोक्त एवं अन्योक्ति में ऐक्य नहीं है और दूसरा यह कि अवगमात्मा व्यापार द्वारा किसी वस्तु का अभिधान सम्भव नहीं है क्योंकि अभिधा एवं व्यंजना एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं अतः व्यंजना द्वारा अभिधान की सम्भावना में स्पष्टतः 'वदतो व्याघात' दोष होता है।

राजानकतिलक ने उद्भटीय मान्यता की इन असंगतियों से बचने के लिए पर्यायोक्त की एक नवीन परिभाषा दी—'अतएव समानप्रतिपत्तिकारिणा शब्दान्तरेण अभिधानमिति पर्यायोक्तम्'। उदा० 'यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता—मदेनैरावणमुखे मानेन-हृदये हरेः।' इस उदाहरण में प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार है कि—हयग्रीव को देखते ही देवराज

---

१. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥
—उद्भटालंकार ४।११

इन्द्र तथा ऐरावत गज, दोनों निर्मद हो गये किन्तु इस तथ्य को स्पष्टतः इसी रूप में न कहकर, शब्दान्तर द्वारा व्यक्त किया गया है, जिससे निकला हुआ अर्थ भी, उपर्युक्त अर्थ के ही समकक्ष है, अर्थात् 'समानप्रतिपत्तिकारी' है। अतः तिलक के मतानुसार, अवगमात्मा व्यापार द्वारा प्रस्तुत अर्थ का अभिधान पर्यायोक्त नहीं है, वरन् प्रस्तुतार्थ के समकक्ष अर्थ का, भंग्यन्तर से कथन ही पर्यायोक्त है और प्रस्तुतार्थ का व्यंजना द्वारा बोध ही अन्योक्ति है।

जो लोग अवगम्यमान अर्थ का भी अभिधान चाहते हैं, उनका प्रयास निरर्थक ही है, क्योंकि व्यंजना व्यापार द्वारा अभिधान सर्वथा असम्भव है। हाँ, यदि अवगम व्यापार द्वारा पहले प्रस्तुतार्थ का बोध करके, फिर बाद में उसे शब्दशः कहा जाय, तभी उपर्युक्त मत कृतार्थ हो सकता है। उदा० कन्या वरकथां श्रुत्वा लज्जयावनतानना 'अर्थात् दूल्हे की बात सुनकर लड़की ने लाज के मारे सिर झुका लिया।' यहाँ वस्तुतः व्यंग्यार्थ यह है कि वह बेचारी लजा गयी। किन्तु यह भाव, उपर्युक्त श्लोक में 'लज्जया' पद के न रहने पर भी सर्वथा प्रतीत होगा, और होना भी वही चाहिए। क्योंकि व्यंग्यार्थ यदि तिल भर भी शब्द-वाच्य हुआ तो उसी क्षण वह ध्वनि की कोटि से परिभ्रष्ट होकर 'गुणीभूत व्यंग्य' बन जाता है, ऐसा ध्वनिकार का स्पष्ट निर्णय है।[1] और रस का 'स्वशब्दवाच्य' होना स्वयं एक प्रधान काव्य दोष माना गया है।[2] ऐसी दशा में उपर्युक्त पद्यांश में 'लज्जयापद' का प्रयोग किसी भी रूप में समुचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि हम इतना ही कहें कि—'कन्या वरकथां श्रुत्वा वनतानना' तो फिर विपक्षियों का मन्तव्य संकटापन्न हो जाता है[3] यद्यपि काव्य की दृष्टि से यह वाक्य सर्वथा निर्दोष है। अतः 'सिर झुका लिया' तथा 'लाज के मारे सिर झुका लिया' इन दोनों वाक्यों में एक ही तथ्य को दो ढंग से कहा गया है। वस्तुतः लक्ष्यार्थ दोनों का समान ही है, अर्थात् 'लज्जानुभूति' जो कि व्यंग्य है। किन्तु प्रथम वाक्य में यह व्यंग्यार्थ, व्यंजना द्वारा प्रतीत हो रहा है, जबकि दूसरे में अभिधा द्वारा व्यक्त किया गया है।[4] इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने लक्षणया प्राप्त होने वाली अर्थप्रतिपत्ति को पर्यायोक्त माना है, किन्तु राजानक तिलक ने इन दोनों मतों को 'तुष्यद्दुर्जनन्याय' से ही स्वीकार किया है।

---

१. द्रष्टव्य—ध्वन्यालोक, उद्योत २, कारिका २३। तथा जगन्नाथ—व्यंग्यस्यापि यदि मनागप्युक्त्या प्रकाशनं तदा गुणीभाव एव शोभते।

'रसगं०' पृ० २६३

२. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, उल्लास ७, कारिका ६०, ६१, ६२।

३. द्रष्टव्य—अलंकार सूत्र, पृ० १३४ तथा रसगंगाधर, पृ० ४१३।

४. किन्तु आचार्य रुय्यक ने तिलक के इस मत का खण्डन किया है—'अत्र यदेव गम्यते तस्यैवाभिधानं पर्यायोक्तम्। गम्यस्यैव सतः कथमभिधानमिति चेन्न। गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानम्। 'कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन वर्णनार्हत्वात्। अतएव अप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।

—अलंकारसूत्र, पृ० १३४।

तिलक के पश्चात् मम्मट से लेकर पण्डितराज के युग तक पर्यायोक्त विषयक मान्यताएँ प्रायः परिवर्तित होती रही हैं, जिन्हें कि विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया जा सकता है। किन्तु संक्षेप में, अन्योक्ति तथा पर्यायोक्त का अन्तर समझ लेना चाहिए। यद्यपि पर्यायोक्त में भी वाच्य तथा व्यंग्य, अन्योक्ति की ही भाँति कारण-कार्य-अथवा कार्य कारण रूप में सम्बद्ध होते हैं किन्तु जहाँ अन्योक्ति में वाच्य अप्रस्तुत तथा व्यंग्य प्रस्तुत होता है, पर्यायोक्त में वहाँ दोनों ही प्रस्तुत होते हैं। आचार्य रुय्यक तथा जगन्नाथ ने स्पष्टतः इसी भाव का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है।[1] दूसरा अन्तर यह है कि अन्योक्ति में वाच्यार्थ व्यंग्यपरक होता है किन्तु पर्यायोक्त में व्यंग्यार्थ वाच्य परक। इसी कारण आचार्य जगन्नाथ ने कहा है कि—'अस्मिश्चालंकारे व्यंग्य वाच्यपरं। अप्रस्तुतप्रशंसायां तु वाच्यं व्यंग्यपरम्..इति ध्वनिकारानुयायिनः।'—रसगंगाधर, पृ० ४१४। अतः अन्योक्ति जहाँ कुछ विशिष्ट स्थलों पर ध्वनिरूप हो जाती हैं, वहाँ पर्यायोक्त गुणीभूत व्यंग्य मात्र रहता है।

दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार का अन्योक्ति के साथ केवल प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत भावों के साम्यवश सम्बन्ध है। दृष्टान्त में, प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों ही वाच्य होते हैं, जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में, अप्रस्तुतवाच्य तथा प्रस्तुत व्यंग्य होता है। इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में धर्म केवल एक बार (अप्रस्तुत में) किन्तु दृष्टान्त में उपमेय तथा उपमान दोनों ही वाक्यों में वर्णित होता है। दृष्टान्त की एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में पूर्णतः 'बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' होता है। अर्थान्तरन्यास, प्रायः दृष्टान्त से अधिकांश साम्य रखता है। केवल अन्तर यह है कि जहाँ दृष्टान्त अथवा प्रतिवस्तूपमा में कवि की समस्त शक्ति बिम्बप्रतिबिम्बभाव अथवा वस्तुप्रतिवस्तुभाव पर केन्द्रित होती है, अर्थान्तरन्यास में वहाँ सामर्थ्यसमर्थक भाव पर। यह सामर्थ्यसमर्थक भाव, सामान्य-विशेष सम्बन्धों के सहारे निष्पन्न होता है। उदा० 'हनूमानब्धिमतरत् दुष्करं किं महात्मनाम् ?' यहाँ हनुमान् द्वारा सागरसन्तरण सरीखा एक विशेष तथ्य सामान्य नियम द्वारा समर्थित किया गया है। पहला वाक्य 'समर्थ्य' तथा दूसरा 'समर्थक' है।

अप्रस्तुतप्रशंसा की, सामान्य एवं विशेष निबन्धना कोटि अर्थान्तरन्यास के समान ही है, किन्तु अन्तर यही है कि दृष्टान्त की ही भाँति, अर्थान्तरन्यास में भी प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत अर्थात् समर्थ्य एवं समर्थक दोनों ही वाच्य होते हैं जबकि अन्योक्ति में केवल अप्रस्तुत ही वाच्य होता है, प्रस्तुत नहीं। अतः अन्योक्ति में भी यदि समर्थ्यसमर्थकभाव' स्वीकार कर लिया जाय जैसा कि राजानक तिलक ने किया है तब भी अन्योक्ति का यह वैशिष्ट्य अक्षुण्ण रहेगा कि इसमें केवल व्यंग्य प्रस्तुत का ही वाच्य अप्रस्तुत द्वारा समर्थन होता है। किन्तु इसकी विपरीत दशा, अन्योक्ति में सम्भव नहीं, क्योंकि अर्थान्तरन्यास की भाँति इसमें अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत दोनों ही एक साथ वाच्य नहीं होते। आचार्य रुय्यक के शब्द इस स्थल पर

---

१. द्रष्टव्य—अलंकार सूत्र, पृ० १३४ तथा रसगंगाधर, पृ० ४१३।

उद्धरणीय हैं—'द्वयोः सामान्य विशेषयोः यदा वाच्यत्वं भवति तदाऽर्थान्तरन्यासाविर्भावः। अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वथाऽप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः।—अलंकार सूत्र, पृ० १२९-१३०।

व्याजस्तुति में वाच्य रूप में निबद्ध निन्दा अथवा स्तुति का पर्यवसान 'अन्यथा' रूप में होता है।[1] अर्थात् यदि निन्दावाच्य है तो स्तुति व्यंग्य होगी और इसी प्रकार यदि स्तुति वाच्य है तो निन्दा व्यंग्य होगी। चूंकि, वाच्य रूप में प्रतिपादित निन्दा अथवा स्तुति भाव स्वयं अपने में पर्यवसित न होकर बाधित हो जाता है अतः आचार्य नागेश के मतानुसार व्याजस्तुति में ध्वनि की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि निर्बाधरूप से वाच्य द्वारा जब अर्थान्तर की अवगति हो तभी ध्वनि होती है। व्याजस्तुति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक साम्य है, क्योंकि व्याजस्तुति की ही भाँति अन्योक्ति में भी अप्रस्तुत स्तुति अथवा निन्दा से प्रस्तुत निन्दा अथवा स्तुति की व्यंजना होती है। अतः इस दशा में तो यही सम्भावना है कि दोनों को एक मान लिया जाय। किन्तु ऐसा होता नहीं। क्योंकि व्याजस्तुति में केवल स्तुति एवं निन्दा का ही निबन्धन होता है और वह स्तुति अथवा निन्दाभाव एक 'विच्छित्ति विशेष' उत्पन्न करने के कारण व्याजस्तुति का प्राणतत्त्व बन जाता है। आचार्य रुय्यक के शब्दों में—'स्तुतिनिन्दा-रूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावदप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।' किन्तु इसके विपरीत अन्योक्ति में सामान्यविशेषादि भावों की भी गम्यमानता का भाव रहता है।[2] यही दोनों का प्रमुख अन्तर है। किन्तु इस अन्तर के रहते हुए भी अन्योक्ति तथा व्याजस्तुति की एकता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अन्योक्ति में व्याजस्तुति नहीं हो सकती किन्तु प्रत्येक व्याजस्तुति में अन्योक्ति का होना सम्भव है। रसगंगाधरकार ने स्पष्टतः इस तथ्य को स्वीकार किया है—'एवं च भाम्यं ते... यदर्हदिवम् इत्यत्र अप्रस्तुतप्रशंसा संकीर्णाप्येषा भवति।'—रस० पृ० ४१८।

साधर्म्य-वैधर्म्य विचार करते समय आचार्य दण्डी तथा साहित्यमीमांसाकार (?) के मतों का उल्लेख किया गया है। दण्डी एवं मीमांसाकार क्रमशः 'अप्रस्तुत रूप में स्तुति एवं निन्दा के निबन्धन से, प्रस्तुत रूप में स्थित, निन्दा अथवा स्तुति की प्रतीति का पक्ष ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यदि इन दोनों मतों को समष्टिरूप में स्वीकार कर लिया जाय तो व्याजस्तुति की स्वतन्त्र सत्ता अन्योक्ति में ही अन्तर्भूत हो जाती है। संस्कृत संग्रह ग्रन्थों में भूरिशः प्रतिपादित, स्तुति एवं निन्दा पर्यवसायिनी अन्योक्तियाँ ही आचार्यों द्वारा व्याजस्तुति के उदाहरण रूप में प्रस्तुत की गयी हैं इससे भी दोनों अलंकारों के ऐक्य-भाव का ही बोध होता है।

१. व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा॥—काव्य प्रकाश १०।२६ अ।

२. एवं स्तुतिनिन्दाभ्यामप्रस्तुताभ्यां निन्दास्तुत्योः प्रस्तुतयोर्गम्यत्वमित्यत्र सिद्धम्। यद्येवं तत्किमियमप्रस्तुतप्रशंसैव न भवतीत्याशंकयाह—स्तुतीत्यादि। तत्र हि सामान्यविशेषादीनां गम्यत्वमुक्तम्।—अलंकारसर्वस्व पर जयरथ टीका।

अतः सिद्ध है कि हम अपने स्वारस्यवश भले ही व्याजस्तुति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करें, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वह अन्योक्ति से पृथक् नहीं हो पाती। यह कहना कि व्याजस्तुति में स्थित निन्दा एवं स्तुति दोनों वैचित्र्य-विशेष के कारण हैं कोई प्रामाणिक कथन नहीं प्रतीत होता और न इससे यही सिद्ध होता है कि अन्योक्ति में स्थित स्तुति-निन्दा भाव, वैचित्र्याधायक नहीं। आचार्य अप्पय के शब्दों से यह विवशता स्पष्ट हो जाती है—'सुखं जीवन्ति हरिणा...मनस्विना इति। वस्तुतस्त्वत्र व्याज-स्तुतिरित्येव युक्तम्। स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिरित्यप्रस्तुतप्रशंसातो वैचित्र्यविशेषसद्भावात्। अन्यथा प्रसिद्धव्याज-स्तुत्युदाहरणेषु अपि अप्रस्तुताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां प्रस्तुते स्तुतिनिन्दे गम्येते इतेतावाता व्याज-स्तुतिमात्रम् अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्।'

—(कुवलया० व्याज० प्रकरण)

आचार्य अप्पय ने मुख्यतः व्याजस्तुति के तीन स्वरूप माने हैं—स्तुति से निन्दा की व्यंजना, निन्दा से स्तुति की व्यंजना तथा स्तुति से स्तुति की व्यंजना। इसमें तीसरा विकल्प आचार्य की मौलिक उद्भावना है। ठीक इसी प्रकार जहाँ वाच्य निन्दा से व्यंग्य निन्दा की ही प्रतीति हो, उसे आचार्य ने 'व्याजनिन्दा' नामक एक स्वतन्त्र अलंकार माना है।[1] उदा०—

विधिरेवविशेषगर्हणीयः करट त्वं रट कस्तवापराधः।
सहकारतरो चकार यस्ते सहवासं सरलेन कोकिलेन॥

यहाँ विधिनिन्दा तथा तन्निर्मित काकनिन्दा से कवि ने एक वैधेय प्रभु की निन्दा का भाव व्यक्त किया है जो कि विद्वान् तथा मूर्ख को समकक्ष स्थिति देता है, किन्तु आचार्य ने स्वयं इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन करते हुए व्याजनिन्दा तथा अन्योक्ति की एकता स्वीकार की है—'एवं च व्याजनिन्दामूलकं व्याजनिन्दारूपेयमप्रस्तुतप्रशंसेति चमत्कारातिशयः। एव-मेव व्याजस्तुतिमूलक व्याजस्तुतिरूपाप्यप्रस्तुतप्रशंसा दृश्यते।'

पर्याय अलंकार आचार्य रुय्यक के अनुसार वहाँ होता है, जहाँ कि एक आधेय वस्तु की स्थिति क्रमशः अनेक आधारों में अथवा अनेक आधेयों की एक आधार में प्रदर्शित की जाय।[2] प्रथम स्थिति का उदाहरण मम्मट रुय्यक तथा अप्पय ने एक प्रसिद्ध अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है—

'नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट! केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्॥'

---

१. निन्दाया निन्दया व्यक्तिं व्याजनिन्देति गीयते।
विधे। स एव निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिरः॥ —कुव० का० ३०।

२. एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् वाक्रमेण पर्यायः॥ —अलंकार-सूत्र, ६०।

यद्यपि यहाँ कालकूट (आधेय) की स्थिति, सागर, शम्भुकण्ठ तथा खलवाणी जैसे विभिन्न आधारों में दिखायी गयी है, अतः पर्याय के वैशिष्ट्यों की दृष्टि से यहाँ पर्याय अलंकार स्वीकार्य है, किन्तु साथ-ही-साथ हमें यह भी जान लेना चाहिए कि प्रस्तुत पद्य भल्लट कवि प्रणीत अन्योक्ति शतक (पद्य ४) से उद्धृत किया गया है, अतः यदि हम इस पद्य में प्रतिपादित, वाच्य कालकूट वृत्तान्त तथा व्यंग्य वस्तुविशेष पर ध्यान केन्द्रित करें तो यह स्पष्ट भान होता है कि यह अन्योक्ति का ही उदाहरण है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्योक्ति जब अलंकार मात्र न रहकर अलंकार्य बन जाती है तब अन्य अलंकार भी उसकी चारुता के हेतु बन जाते हैं।

असम्भव, सम, विकस्वर, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा (तथा लेश) ये नवों अलंकार सर्वप्रथम आचार्य अप्पय द्वारा ही विस्तृत रूप में विवेचित किये गये हैं। किन्तु यह ज्ञातव्य तथ्य है कि पर्याय की ही भाँति इन सब अलंकारों के उदाहरण 'अन्योक्ति' रूप हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में सर्वत्र अन्योक्ति अलंकार्य रूप में ही रहती है क्योंकि इन स्थलों पर उक्त अलंकार अलंकार्य वस्तुरूप में विद्यमान अन्योक्ति के अप्रस्तुत पक्ष का वैचित्र्य एवं सौन्दर्य बढ़ाते हैं। ठीक इसी प्रकार चन्द्रालोक की व्याख्या में उदात्त प्रभृति अनेक अलंकारों के प्रसंग में श्री गागाभट्ट ने अन्योक्ति पद्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इससे यह सिद्ध होता है कि अन्योक्ति के संविधान में अन्य अलंकारों के वैचित्र्य भी अन्तर्निविष्ट हैं।

असम्भव अलंकार वहाँ होता है जहाँ अर्थनिष्पत्ति की असम्भावना का वर्णन किया जाय।[1] उदा० 'को वेद गोपशिशुकश्शैलमुत्पाटयेदिति'। यहाँ भगवान् कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन गिरि उठा लिये जाने की असम्भावना वर्णित की गयी है। दीक्षित द्वारा उदाहृत दूसरा पद्य 'अयं वारामेको निलय इति रत्नकर इति' भी प्रायः महर्षि अगस्त्य द्वारा समुद्रपान किये जाने की असम्भावना प्रस्तुत करता है किन्तु है यह अन्योक्ति का ही उदाहरण। क्योंकि यहाँ अगस्त्यवृत्तान्त (अप्रस्तुत) द्वारा एक अन्य वृत्तान्त (प्रस्तुत) की व्यंजना भी सम्भव है। अनेक संग्रह ग्रन्थों में यह पद्य अन्योक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[2]

जहाँ दो पृथक् वस्तुओं का अनुरूप वर्णन हो वहाँ 'सम' अलंकार होता है,[3] जैसे 'चित्रं चित्रं बत महच्चित्रमेतत्' आदि पद्य में 'निम्बतरु एवं काक समूह' का परस्परापेक्षी तथा अनुरूप वर्णन। इसी प्रकार जहाँ किसी विशेष वस्तु का समर्थन करने के लिए सामान्य वस्तु का उपन्यास हो, किन्तु उस दशा में भी कवि सन्तुष्ट न होकर पुनः उसके समर्थनार्थ

---

१. असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्'—कुवलयानन्द-प्रक० ३५।

२. द्रष्टव्य—सुभाषित रत्नकोष व्रज्या ३३, सदुक्ति० ४।९।३, प्रसन्न साहित्य०६८।

३. 'समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो ? स्वानुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम्
—कुवलया० प्रक० ३८

कोई विशेष वृत्त प्रस्तुत करे तो वहाँ विकस्वर नामक अलंकार होता है।[1] उदा० 'कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक स्वयम्' आदि पद्य में कौवे द्वारा आम्रवृक्ष का आश्रय लेना एक विशेष वस्तु है जिसके समर्थन में कस्तूरी वृत्तान्त (सामान्य) तथा पुनः कोकिलवृत्तान्त (विशेष) प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इन दोनों ही उदाहरण श्लोकों में अन्योक्तित्व सर्वथा स्पष्ट है।

प्रस्तुत वाक्यार्थ का वर्णन न करके, उसी के स्थान पर उसके प्रतिबिम्ब स्वरूपकिसी अप्रस्तुत वाक्यार्थ का वर्णन करना 'ललित' अलंकार है।[2] यद्यपि इस रूप में ललित का अधिकांश साम्य अन्योक्ति से प्रतीत होता है तथापि अप्पय ने उसे एक पृथक् अलंकार माना है। 'सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिः' आदि श्लोक को उदाहृत करके आचार्य ने ललित, अन्योक्ति तथा अतिशयोक्ति का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है, जो प्रकृतग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। किन्तु आचार्य के व्याख्यान से इतना तो स्पष्ट ही है कि ललित की आधारशिला अन्योक्ति ही है।

'बिना यत्न के ही जहाँ उत्कण्ठितार्थ की सिद्धि हो, वहाँ 'प्रहर्षण' अलंकार होता है। अथवा वांछित कामना की अपेक्षा अधिक अर्थ की संसिद्धि में भी 'प्रहर्षण' होता है।[3] उदाहरणार्थ—

'चातकस्त्रिचतुरान्पयः कणान् याचते जलधरं पिपासया।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त हन्त महतामुदारता॥

इसी प्रकार इष्यमाण अर्थ के विरुद्धार्थ की प्राप्ति ही अप्पय के अनुसार 'विषादन' अलंकार है।[4] उदाहरणार्थ—'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्' आदि पद्य में भ्रमर द्वारा आकांक्षित मधुर आशाओं के विपरीत गज द्वारा उसका कवलित हो जाना। अवधेय है कि उपर्युक्त समस्त उदाहरण अन्योक्ति रूप हैं।

इसी प्रकार जब किसी गुण से अन्य का गुण, दोष से दोष, गुण से दोष अथवा दोष से गुण की वर्णना की जाय तो इन चारों ही स्थानों पर 'उल्लास' अलंकार होता है।[5] एक उदाहरण से इसका दिङ्मात्र-निर्देश किया जा रहा है—

'आघ्रातं परिचुम्बितं परिमुहुर्लीढं पुनश्चर्वितं त्यक्तं वा भुवि नीरसेन मनसा तत्र व्यथां मा कृथाः।
हे सद्रत्न ! तवैतदेव कुशलं यद्वानरेणादरादन्तस्सारविलोकनव्यसनिना चूर्णीकृतं नाश्मना॥

१. 'यस्मिन्विशेष सामान्यविशेषस्स विकस्वरः।'—कुवलया० प्रकरण ६१।
२. 'प्रस्तुते वर्ण्यवाक्यार्थप्रतिबिम्बस्य वर्णनम् ललितम्।—कुवलया० प्रक० ६५।
३. वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।—कुवलया० प्रक० ६६।
४. इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्।—कुवलया० प्रक० ६७।
५. एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासो न्यस्त तौ यदि।—कुवलया० प्रक० ६८।

प्रस्तुत पद्य में वानर के चापलदोष से रत्न का चूर्णनाभाव गुणरूप में वर्णित किया गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है। उल्लास के पश्चात् 'अवज्ञा' अलंकार आता है। अप्पय के मतानुसार जब किसी के गुण अथवा दोष वर्णन से दूसरे के गुणाभाव अथवा दोषाभाव का भाव प्रस्तुत किया जाय तो वहाँ 'अवज्ञा' अलंकार होता है।[1] उदा० 'त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता का नाम दिग्दन्तिनाम्' आदि पद्य में शंकर को न ग्रहण करने रूप दोष से दिग्गजों के लघुतादि दोषाभाव का वर्णन। वस्तुतः 'अवज्ञा' अलंकार 'उल्लास' के प्रथम दो विकल्पों का ही प्रतिरूप है।

'लेश' में गुण एवं दोष की क्रमशः दोष एवं गुण रूप में कल्पना की जाती है। उदाहरणार्थ—'अखिलेषु विहंगेषु हन्त स्वच्छन्दचारिषु शुक। पंजरबन्धस्ते मधुराणां गिरां फलम्॥' यहाँ पर एक ऐसे राजकुमार का वर्णन अभीष्ट है जो राजा (अपने पिता) का अत्यन्त प्रिय-पात्र एवं विद्वान् है, राजधानी में रह रहा है। किन्तु उसके पिता राजधानी से दूर, अपने निवास-स्थान पर हैं, साथ-ही-साथ पुत्र-दर्शन के लिए उत्कण्ठित भी हैं। यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में अन्य पक्षियों के अवक्तृता रूप दोष को उनके स्वच्छन्द संचरण रूपी गुण के रूप में कल्पित किया गया है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में 'मधुरभाषिता' रूप गुण को पंजरबन्धन हेतु रूपी दोष के रूप में कल्पित किया गया है। किन्तु स्पष्ट है कि शुक वृत्तान्त यहाँ पूर्णतः अप्रस्तुत है तथा राजकुमार वृत्तान्त प्रस्तुत। अतः आचार्य अप्पय इस पद्य की अन्योक्तिता स्वयं स्वीकार करते हैं—'राज्ञोऽभिमते विदुषि पुत्रे चिरं राजधान्यां प्रवसति तद्दर्शनोत्कण्ठितस्य गृहेस्थितस्य पितुर्वचनम् अप्रस्तुतप्रशंसारूपम्।'

इस प्रकार इन अलंकारों के संक्षिप्त विवेचन से यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि इनका आधारस्थल अन्योक्ति ही है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि इन स्थलों पर हम अन्योक्ति स्वीकार करें अथवा असम्भवादि अलंकार को? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन प्रसंगों में दोनों ही अलंकार माने जा सकते हैं। क्योंकि अध्यायारम्भ में ही इस तथ्य का विवेचन किया जा चुका है कि अन्योक्ति 'अलंकार तथा अलंकार्य' दोनों ही रूप वाली है। अतः अन्य अलंकारों की 'अन्योक्तिसंकीर्णता' कोई असम्भव बात नहीं है। एक बात यह भी है कि आचार्य अप्पय द्वारा अन्योक्ति उदाहरणों से संवलित जो-जो अलंकार कुवलयानन्द में विवेचित किये गये हैं, उनका एकमात्र सम्बन्ध अन्योक्ति के 'वाच्यपक्ष' से ही है। उदाहरणार्थ, पूर्वोल्लिखित प्रहर्षण या विषादन आदि अलंकारों के उदाहरणों में जो अन्योक्तियाँ हैं, उनका केवल 'अप्रस्तुतवाच्य पक्ष' ही, उन-उन अलंकारों का प्रतिपाद्य है। किन्तु ज्यों ही हम उस अप्रस्तुत वाच्यार्थ को किसी प्रस्तुत व्यंग्यार्थ से संयुक्त करना चाहेंगे कि त्यों ही उन अलंकारों की स्वतन्त्र सत्ता विनष्ट हो जायगी और एकमात्र अन्योक्ति ही उन प्रसंगों

१. ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा।—कुवलया० प्रक० ६९।

२. 'लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्'।—कुवलया०, प्रक० ७१।

में अधिकृत रूप में स्थित रहेगी। अतः ऐसी अन्योक्तियों में 'अन्योक्ति' होना या न होना; तथा इसी प्रकार प्रहर्षण विषादनादि अलंकारों का होना या न होना 'कविसंरभगोचरता' पर ही आधारित है।

उपर्युक्त स्थिति को ही ध्यान में रखने के कारण आचार्य अप्पय तथा उनके टीका-कारों में पारस्परिक मतवैक्षम्य भी दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः पूर्व व्याख्यात अलंकारों में से अनेक ऐसे हैं, जो कि संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य अप्पय द्वारा वर्णित किये गये हैं, जैसे ललित, लेश (स्वरूप-विशेष) तथा प्रहर्षण के भेद-विशेष आदि। अतः बिना किसी पूर्व प्रामाण्य के अप्पय ने इनका व्याख्यान केवल स्वान्तः सुखाय साथ-ही-साथ अपने ही प्रतिपादन कौशल से किया है। अतः लेश में जहाँ वे अन्योक्ति का प्रभाव स्वीकार करके भी उसे लेश मानने के कारण अपेक्षित कर देते हैं, वहीं टीकाकार श्री गंगाधर वाज-पेयिन् अपना विरोधी स्वतन्त्र मत देते हैं—"अयं श्लोकोऽप्रस्तुतप्रशंसारूपो प्रस्तुतशुकवृत्तान्तेन राजबहुमतचिरकालप्रवासशील वैदुष्यान्वितपुत्रदिदृक्षुगृहस्थितजनकवाक्यतया पुत्रवृत्तान्तस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालंकारो युक्तः।"—कुवल० लेशप्रकरण (रसिकरंजनी टीका)।

इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्योक्ति अलंकार्य तथा अलंकार दोनों है। वह अलंकार तब होगी, जब कि उसका अप्रस्तुत पक्ष वाच्य बनकर व्यंग्य प्रस्तुत की चारुता का कारण बनेगा। इसी प्रकार वह अलंकार्य तब होगी जब उसका अप्रस्तुत पक्ष, वस्तुरूप में उपस्थित होकर पूर्वव्याख्यात अलंकारों द्वारा अलंकृत होगा। इस दृष्टि से अन्योक्ति का अप्रस्तुत पक्ष 'कविसंरम्भगोचर' न होते हुए भी बड़े महत्त्व का है, क्योंकि अन्योक्ति को अलंकार अथवा अलंकार्य बनाने का दायित्व उसी पर निर्भर है।

पंचम अध्याय

लिखित अन्योक्ति साहित्य तथा उसके मान्य कवि

विश्व के किसी भी समृद्ध-वाङमय का सूक्ष्मानुशीलन करके इस रहस्य को जाना जा सकता है कि 'व्याकरण भाषा का अनुगामी होता है'। यदि इसी तथ्य को और 'सामान्य' रीति से कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि लक्षणीय विषय पहले होता है तथा लक्षण बाद में। संस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र के विषय में यह तथ्य, अन्य देशों में विद्यमान वाङमय की अपेक्षा अधिक सत्य है, क्योंकि हमारे देश में, हजारों वर्ष पूर्व से ही अनेकविध साहित्य की रचना, स्वच्छन्द एवं निर्बाध रूप से होती रही, जिसके पश्चात् ही ईसवीय सन् का प्रारम्भ होता है। यूनानी साहित्य में अरस्तू के लक्षण ग्रन्थ 'काव्य शास्त्र' (Poetics) तथा उसके पूर्ववर्ती वाङमय में अत्यल्प दूरी रही है, किन्तु भारतवर्ष में ऋग्वेद का प्रणयन युग कम-से-कम १२०० ई० पू० (मैक्समूलर) तथा अधिक-से-अधिक दस हजार वर्ष (बाल गंगाधर तिलक) अथवा और निश्चित किया गया है।

स्थूल रूप में, आचार्य भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र को ही संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम 'काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ' माना जा सकता है, क्योंकि महाकाव्यों, नाटकों अथवा इतरेतर काव्यांगों का जो स्वरूप-निर्देशन आचार्य भरत ने किया, थोड़े परिष्कार के साथ प्रायः वही, परवर्ती लक्षणकारों द्वारा भी स्वीकार किया गया। तथापि इतना तो निर्विवाद ही है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व ही समस्त वेद, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, अधिकांश पुराण एवं रामायण-महाभारत सरीखे उपजीव्य ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। इन ग्रन्थों में, जैसा कि प्रथम अध्याय में सप्रमाण विवेचन किया जा चुका है, अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं। आचार्य भरत प्रोक्त मनोरथ लक्षण में भी प्राप्त 'अन्यापदेशैः कथनम्' से यही रहस्य उद्घाटित होता है कि पूर्व भरत युग में ही अन्योक्ति भावाभिव्यक्ति की रमणीय परिपाटी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इतना ही नहीं, वरन् सारूप्य निबन्धना अन्योक्तियाँ भी अगणित संख्या में आचार्यों, कवियों एवं फुटकर काव्य-रचना करने वाले व्यक्तियों द्वारा प्रणीत हो चुकी थीं। इन अन्योक्तियों का निबन्धन किसी ग्रन्थ-विशेष में नहीं है, क्योंकि उनके प्रणेता कविगण विशिष्ट काव्य-प्रणेता न होकर, विद्याव्यसनी मात्र रहे। वस्तुतः वे अत्यन्त सहृदय थे अतः भावप्रवणता की एकाध घड़ियों में कुछ पद्य 'स्वान्तः सुखाय' लिख लेते थे। इन रचनाओं का स्वरूप 'मुक्तक'

तथा प्रतिपाद्य विषय प्रायः शृंगारादिरस, अन्यापदेश अथवा नियम-निर्देश मात्र होता था। ऐसे ही कवियों की मुक्तक अन्योक्तियाँ परवर्ती युग में 'संग्रहग्रन्थों' में संकलित की गयीं।

भरत के पश्चात् ही महाकाव्यों की रचना का युग प्रारम्भ होता है। 'महाकाव्य' वस्तुतः काव्य के ही एक विशिष्ट रूप हैं, जिन्हें 'सर्गबन्ध' कहा जाता है।[1] अतः 'काव्य' शब्द का विस्तृत अर्थ लेने पर इसके श्रव्य एवं दृश्य रूप (—काव्य एवं नाट्य) तथा उनके भी भेदोपभेद अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, स्तोत्रकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका चम्पू, दशविधरूपक, अट्ठारह उपरूपक प्रभृति समस्त साहित्यिक रचनाएँ आ जाती हैं। प्राचीनतम नाटककार भास के पश्चात् कालिदास, अश्वघोष, शूद्रक, वररुचि, श्यामिलक-ईश्वरदत्त, बाण-दण्डी-सुबन्धु-भट्टि-भारवि-माघ-श्रीहर्ष आदि इन विविध काव्यधाराओं के विशिष्ट कवि हैं। चूँकि छठीं शताब्दी तक आचार्य भामह द्वारा श्रव्य काव्यों का स्वरूप पूर्णतः स्थिर कर दिया गया, अतः उनके पश्चात् लिखे गये समस्त काव्य-ग्रन्थों में एकरूपता प्राप्त होती है। सब में प्रायः भामहप्रोक्त सर्गबन्ध के लक्षणों का अक्षरशः अनुवर्तन विद्यमान है। यह भी अवधेय तत्त्व है कि तब तक अन्योक्ति एक विशिष्ट अलंकार के रूप में, परिनिष्ठित हो चुकी थी, अतः उसका जो निबन्धन कालिदास प्रभृति पूर्व भामहयुगीन कवियों की कृति में स्वाभाविक रूप से हुआ था, वह अब उसकी आलंकारिक मान्यता के साथ होने लगा। नवीं शती ई० के अन्त में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने तथा ग्यारहवीं शती के अन्त में आचार्य मम्मट ने अन्योक्ति का क्रमशः संक्षिप्त एवं विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत करके इसे एक व्यापक स्वरूप प्रदान किया। यद्यपि अन्योक्ति के भेद-प्रभेद, भास एवं कालिदास जैसे प्राचीन कवियों की कृतियों में भी प्राप्त होते हैं, किन्तु ध्वनिकार के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य की दृष्टि उस रहस्य पर नहीं पड़ सकी। कवि तो प्रतिभाशील होता ही है, अतः काव्य रचना की समाधि-तुल्य सुखद वेला में वह किसी आचार्य के निर्देश की अपेक्षा नहीं करता और यदि करे भी तो काव्य में स्वाभाविक सौन्दर्य कभी आ ही नहीं सकता। भामहोत्तर युग के कवि, जिन्होंने सम्भवतः 'काव्यालंकार अथवा काव्यादर्श' की प्रति सामने रखकर ही, काव्य रचना की, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो काव्यानन्द पाठक को कालिदास के पद्यों में प्राप्त होता है वह भारवि-माघ के काव्यों में नहीं।

अतः सिद्ध है कि आचार्यों द्वारा स्थापित की गयी समस्त काव्य-रूढ़ियाँ उनके पूर्ववर्ती कवियों की प्रतिभा से ही उद्भूत हुई हैं। लक्षणकार आचार्य इस दृष्टि से किसी प्रतिभाशील कवि से वरीयान् नहीं माना जा सकता। वस्तुतः कवि की प्रतिभा पहचानने के ही कारण, वह स्वयं प्रतिभाशील हो जाता है। इस प्रकार भामह के पश्चात् उत्पन्न होने वाले जितने भी कवि हुए उनकी रचनाओं में अन्योक्ति का भरपूर निबन्धन हुआ, किन्तु उनका स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया। जहाँ, भामहोत्तर युग में, अन्योक्तियाँ 'सहजवर्णना' के रूप

---

१. द्रष्टव्य : भामहालंकार १।१९-३०।

में प्रतिपादित हुई थीं, अब इस धारणा के साथ प्रतिपादित होने लगीं कि ये एक विशिष्ट अलंकार और काव्य में इनका निबन्धन भी आवश्यक है। आनन्दवर्द्धन के बाद यह धारणा प्रायः और संकुचित हो गयी अतः अन्योक्ति विषयक कवियों की धारणा अब उसके त्रैविध्य, अर्थात् सामान्यविशेष, कार्यकारण एवं सारूप्य सम्बन्ध पर केन्द्रित हो गयी। अस्तु, जो भी हो किन्तु समस्त संस्कृत साहित्य में अन्योक्तियों का निबन्धन किसी-न-किसी रूप में होता रहा, कालिदास के युग से लेकर आज तक। अन्योक्तियों का प्रयोग उपर्युल्लिखित समस्त काव्यांगों में समान रूप से हुआ है।

किन्तु नवम शती ई० में उत्पन्न महाकवि भल्लट ने 'भल्लट शतक' की रचना करके स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों की परम्परा का श्रीगणेश किया। वस्तुतः ऐसे ग्रन्थों में प्रायः मुक्तक अन्योक्तियों का ही संकलन किया गया, जिनमें विषय एवं कहीं-कहीं छन्द का भी वैविध्य दृष्टिगोचर होता है। नवीं शती से लेकर आज तक, इस परम्परा में असंख्य ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें से बहुत थोड़े ही आज उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में अन्योक्तियों का प्रतिपादन मुख्यतः दो रूपों में हुआ—काव्यखण्डों तथा मुक्तकों के रूप में। काव्यखण्ड का तात्पर्य उन अन्योक्तियों से है, जो कि प्रबन्ध काव्य की ही अंशभूत हैं। जिनका प्रसंग अथवा व्याप्ति, आधिकारिक कथा पर ही निर्भर है। वस्तुतः ऐसी अन्योक्तियाँ उस विशिष्ट काव्य की कथावस्तु का अंगविशेष होती हैं अतः मूलकथा से उन्हें पृथक् कर लेने पर उनकी अपेक्षा स्वयं प्रतीत होने लगती हैं। इस कोटि में प्रायः सामान्य विशेष तथा कारण कार्य निबन्धना अन्योक्तियाँ ही आती हैं। किन्तु इसके विपरीत मुक्तक अन्योक्तियाँ प्रबन्ध से सर्वथा विच्छिन्न होती हैं। अतः उस स्थान-विशेष से उन्हें हटा लेने पर भी काव्य के कथा-प्रवाह में कोई रिक्तता नहीं ज्ञात होती। इसका मूल कारण उन अन्योक्तियों का 'पृथक्-प्रसंग' है जो किसी भी रूप में मूल कथा से सम्बद्ध नहीं होता। 'काव्यखण्ड तथा मुक्तक' ये दोनों शब्द ही, अपनी परिधि में आने वाली अन्योक्तियों का वैशिष्ट्य स्पष्ट कर देते हैं। क्योंकि काव्यांश होने के कारण एक पराधीन है, किन्तु दूसरी 'मुक्त' होने के कारण स्वाधीन या स्वतन्त्र ! मुक्त कोटि में प्रायः सारूप्य-निबन्धना अन्योक्तियाँ ही आती हैं।

प्रयोग की दृष्टि से मुक्तकों के दो रूप हैं—अन्यरचित तथा स्वरचित। वे मुक्तक अन्योक्तियाँ जो अन्य कवियों द्वारा प्रणीत होती हैं, उनको यदि कोई अन्य व्यक्ति पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करना चाहे, तो उसकी एकमात्र विधि यह है कि वह उनका संचयन या संकलन करे। किन्तु यदि उन अन्योक्तियों का रचयिता स्वयं उन्हें अपने किसी ग्रन्थ-विशेष में संकलित कर दे, तो वही 'स्वरचित' कही जायगी। अतः निश्चित है कि मुक्तक अन्योक्तियों का उपर्युक्त वर्गीकरण संकलयिता की ही दृष्टि से किया गया है। इस प्रकार, आर्यासप्तशती अथवा भामिनी विलास की अन्योक्तियाँ महाकवि गोवर्द्धन तथा जगन्नाथ की दृष्टि से तो स्वरचित हैं, किन्तु 'संग्रहकारों' की दृष्टि से वही अन्यरचित हैं। स्वरचित

मुक्तकों का संकलन प्रणेता कवि स्वयं अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों में करता है जबकि अन्य रचित मुक्तकों का संचयन संग्रहकार कवि अपने 'संग्रह' ग्रन्थ में करता है। संस्कृत साहित्य में प्राप्त गोवर्द्धन कृत आर्यासप्तशती, भल्लट कृत 'भल्लटशतक' आदि स्वतंत्र मुक्तक अन्योक्ति संग्रह पहली कोटि में आयेंगे और ठीक इसी प्रकार सुभाषित रत्नकोष सदुक्ति कर्णामृत तथा सुभाषितावली आदि दूसरी कोटि में। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि संस्कृत साहित्य में अन्योक्तियों का अस्तित्व-क्षेत्र तीन प्रकार का है—१. संग्रह ग्रन्थ, जिनमें कवि अन्य कवियों द्वारा प्रणीत मुक्तक अन्योक्तियों का संकलन करता है। एकाध मुक्तक स्वरचित भी हो सकते हैं। जैसे सुभाषित रत्नकोष में प्राप्त विद्याकर के तीन पद्य। २. काव्यग्रन्थ अर्थात् काव्य के समस्त भेद-प्रभेद, जिनमें अन्योक्तियाँ मुक्त न होकर काव्य प्रतिपाद्य का ही अंग-विशेष होती हैं, अतः उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। ३. स्वतंत्र ग्रन्थ अर्थात् स्वतन्त्र मुक्तक अन्योक्तियाँ जिन्हें उनका प्रणेता कवि ही अपने ग्रन्थ-विशेष में संगृहीत करता है, किन्तु दूसरे कवि की कोई भी रचना उसके ग्रन्थ में नहीं रहती।

अन्योक्तियों का यह विभाजन इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

लिखित अन्योक्ति साहित्य

- मुक्तक
  - १. अन्य रचित (संग्रह ग्रन्थों में प्राप्त)
  - २. स्वरचित (स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्राप्त)
- ३. प्रबन्धगत (महाकाव्य, खण्डकाव्य, रूपक तथा चम्पू आदि में प्राप्त)

अब इन्हीं उपर्युक्त तीनों वर्गों का विवेचन क्रमशः किया जा रहा है ताकि समस्त अन्योक्ति-वाङमय के स्वरूप की झाँकी प्रत्यक्ष हो जाय।

संस्कृत वाङमय में 'संग्रह ग्रन्थों' का मूल्य बहुत अधिक है, क्योंकि हजारों वर्षों की मुस्लिम एवं अंग्रेजी पराधीनता के कारण जिन महाकवियों के काव्य पूर्णतः विनष्ट हो गये, उनकी भी वाणी इन्हीं ग्रन्थों में सुरक्षित रह सकी। पाश्चात्य विद्वान् कालरिज ने संग्रहग्रन्थों की इसी उपयोगिता को परख कर उनकी हार्दिक प्रशंसा की थी।[1] यद्यपि कवियों की वाणी

---

1. Why are not more jems from our great authors, scattered over the country ? Great books are not in every body's and though it is better to know them thoroughly than to know them here and there, yet it is a good work to give a little to those who have neither time nor means to get more : —P. 268.

को संगृहीत करने में, संग्रहकार की प्रतिभा का बलवती होना उतना आवश्यक नहीं, जितना कि उसकी तद्विषयक प्रवृत्ति का होना। और संग्रहकार की यही प्रवृत्ति, उसकी यही सहृदयता मौलिक प्रतिभा के समान होती है क्योंकि यथाकथञ्चित् संग्रहग्रन्थ से उसकी कुछ-न-कुछ आत्मीयता तो हो ही जाती है।[1] इस दृष्टि से संग्रहकारों का महत्व एक कवि की ही भाँति श्लाघ्य एवं उदात्त होता है।

'संस्कृत साहित्य' का प्राचीनतम संग्रहग्रन्थ 'सुभाषित रत्नकोष' माना जाता है, जिसका परिचय भारतीय विद्वानों को १९४६ ई० में मिला। इसके पूर्व एफ० डबल्यू० टामस द्वारा १९१२ ई० में प्रकाशित 'कविवचन-समुच्चय' ही प्राचीनतम संग्रहग्रन्थ 'स्वीकार' किया जाता था। इस परम्परा में आने वाले अन्य प्रमुख ग्रन्थ सदुक्तिकर्णामृत, सूक्तिमुक्तावली, शार्ङ्गधर पद्धति, सुभाषितावली, प्रसन्न साहित्य रत्नाकर तथा प्रस्ताव रत्नाकर आदि हैं। इन संग्रह ग्रन्थों में मुक्तक पद्यों का ही संकलन किया गया है किन्तु जैसा कि पूर्वानुच्छेद में ही स्पष्ट किया गया है, वे समस्त पद्य अन्य कवियों द्वारा प्रणीत किये गये हैं। किसी-किसी संग्रह ग्रन्थ में संकलनकर्ता कवि का भी पद्य, यत्र-तत्र प्राप्त होता है, किन्तु ऐसे संग्रह ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। इन ग्रन्थों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें से प्रत्येक का विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से किया गया है। वैज्ञानिक रीति का तात्पर्य यह है कि विभाजन का आधार 'प्रतिपाद्य विषय' ही स्वीकार किया गया है। इन विषयानुकूल विभागों के नाम विभिन्न संग्रह ग्रन्थों में विभिन्न रूप में प्राप्त होते हैं। किन्तु ऊपर गिनाये गये प्रतिनिधिभूत संग्रहों में इन्हें व्रज्या, प्रवाह, पद्धति अथवा परिच्छेद की संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक व्रज्या अथवा पद्धति निश्चित अथवा अनिश्चित संख्या वाले श्लोकों में विभक्त है। प्रत्येक ग्रन्थ प्रायः 'नमस्कार पद्धति' से ही प्रारम्भ होता हैं, क्योंकि महाभाष्यकार के मतानुसार किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त में मंगल पाठ होना आवश्यक है।[2] मध्य तथा अन्त तो प्रायः नहीं, किन्तु प्रारम्भिक मंगलाचरण का निर्वाह प्रत्येक संग्रहकार ने किया है। सुभाषित रत्नकोष, सूक्ति मुक्तावली, शार्ङ्गधर पद्धति, सुभाषितावली तथा सूक्तिमालिका में अन्तिम परिच्छेदों का नाम क्रमशः इस प्रकार है—कविस्तुतिव्रज्या, हरस्तुतिपद्धति, विदेहमुक्ति कथन, श्री भगवत्स्वरूप वर्णन तथा दशावतार पद्धति। किन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो प्रतीत होगा कि उपर्युक्त परिच्छेद भी स्तुति सम्बद्ध होने के कारण मंगलाचरण के ही प्रतीक हैं। इसी प्रकार यदि 'सुभाषितों' को भी हम मंगलाशंसी तत्त्व ही स्वीकार करें (और स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि इनमें देवविषयक अन्योक्तियाँ भी संकलित की गयी हैं) तो समस्त

---

1. I have gathered a posse of other man's flowers and nothing, but the thread that binds them is mine own— Montaigue.

२. 'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते इत्यादि भगवद्भाष्यकारवचनम्—प्रतापरुद्रीय रत्नापण, पृ० २।

संग्रहग्रन्थों के मध्यभाग में भी 'मंगलपाठ' स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश का निबन्धन प्रायः संग्रहग्रन्थों के मध्यभाग में ही किया गया है। इस प्रकार, इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्यकार का मत, इन संग्रहग्रन्थों में पूर्णतः चरितार्थ हुआ है।

यहीं एक और तथ्य का निर्देश कर देना उचित होगा। वह यह कि संस्कृत-साहित्य में संग्रह ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त विशाल है यह बात दूसरी है कि उनमें से कुछ थोड़े ही प्रख्यात हो सके हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही ऐसे संग्रहों की नामावली दी जा चुकी है किन्तु जब हम संस्कृत साहित्य का ऐतिह्य लिखने वाले आधुनिक विद्वानों के शोधग्रन्थों, निबन्धों तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा प्रकाशित उनकी पाण्डुलिपि-सूचियों पर ध्यान देते हैं तो संग्रह ग्रन्थों की अपरिमेय संख्या प्राप्त होती है। इनमें से सैकड़ों कृतियों का कर्तृत्व संदिग्ध अथवा पूर्णतः अज्ञात हैं। ठीक इसी प्रकार महाकवि राजशेखर, बिल्हण, मंखक, कल्हण तथा क्षेमेन्द्र सरीखे विद्वानों द्वारा अपने ग्रन्थों में स्मरण की गयी अनेक कर्ताओं की कृतियाँ भी आज नहीं मिलतीं। ठीक यही दशा स्वतन्त्र अन्योक्ति शतकों की भी है। जिन कृतियों के प्रणेता पूर्णतः ज्ञात एवं प्रामाणिक हैं, उनकी रचनाएँ लुप्त हैं और जाने कितनी ऐसी रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनके प्रणेता का कुछ पता नहीं। उन ग्रन्थों में भी कर्ता, काल अथवा काव्यविषयक कोई अन्तरंग या बहिरंग साक्ष्य नहीं प्राप्त होता कि जिसके आधार पर उनकी संगति बैठायी जाय। अनेक अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ प्रारम्भ अथवा अन्त में खण्डित हैं। अतः उनके विषय में भी कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं प्राप्त हो पाता कि वे किस कवि अथवा किस काल की कृतियाँ हैं। कवि प्रायः प्रारम्भ अथवा अन्त में ही आत्मपरिचयपरक पद्य रखता है, अतः उपर्युक्त दशा में परिचय प्राप्ति की कोई आशा नहीं रह जाती। कभी-कभी ऐसी भी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं, जो प्रारम्भ में तो एक विशेष ग्रन्थ के रूप में प्रारम्भ होती हैं, किन्तु उनका अन्तिम भाग किसी अन्य ग्रन्थ का होता है।[1] यद्यपि ग्रन्थों को यह स्वरूप देने में सारा दोष, प्रणेताओं का नहीं, वरन् एक तीसरे ही व्यक्ति का होता है, जो कि ज्ञान, अज्ञान, शंका अथवा कल्पनावश ऐसा करता है किन्तु कठिनाई तो इस बात की है कि बिगड़े रूप वाले उन दोनों स्वतन्त्र ग्रन्थों का मूल्यांकन कैसे और किस आधार पर किया जाय।

ऐसी विषम परिस्थिति में अन्योक्ति साहित्य का व्याप्ति-क्षेत्र प्रस्तुत करने में केवल उन्हीं ग्रन्थों का आश्रय लिया जायगा जो पूर्णतः मौलिक हैं साथ-ही-साथ प्रकाशित एवं प्राप्त हैं। वे अन्योक्तियाँ जिनका प्रतिपादन काव्यों एवं काव्य-प्रभेदों में हुआ है, उनके विषय में तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनका संकेत भर ही किया जा सकता है।

---

१. द्रष्टव्य—कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स बिलांगिग टू गोविन्द शास्त्री आफ नासिक, पृ० १३०, सं० २५५।

महाकवि भास से लेकर आज तक लिखे गये गद्य-पद्य-चम्पू एवं नाट्य वाङ्मय का एकैकशः आकलन करना ही असम्भव है, अतः उनमें विद्यमान अन्योक्तियों के संकलन और व्याख्यान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी बात यह कि उनमें अन्योक्तियों का प्रतिपादन गौण रूप से ही हुआ है, क्योंकि उन ग्रन्थों में कवि का लक्ष्य प्रायः आधिकारिक कथा पर ही केन्द्रित रहा है। इतना ही नहीं, वरन् अन्योक्तियों की जिन कोटियों का प्रतिपादन उन काव्यों में हुआ हैं, वे भी गौण ही हैं। वस्तुतः 'सारूप्यनिबन्धना' ही अन्योक्ति के अर्थ में रूढ़ है, जो कि उपर्युक्त काव्य-भेदों में अपेक्षाकृत कम मिलती है।

किन्तु जिन अन्योक्तियों का प्रतिपादन संग्रह एवं स्वतन्त्र अन्योक्ति शतकों में हुआ है, उनका प्रामाणिक वृत्त प्रस्तुत करना तो अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनमें संकलित समस्त अन्योक्तियाँ सारूप्यनिबन्धना रूप हैं, अतः गौणरूप से नहीं प्रत्युत मुख्य रूप से 'अन्योक्ति' कही जाने योग्य है। संग्रहों तथा शतकों में, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, मुक्तक अन्यापदेशों का संकलन किया गया है—एक में अन्यरचित मुक्तकों का, दूसरे में स्वरचित मुक्तकों का। यह तथ्य भी अवधेय है कि स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों में केवल शतक ही नहीं है, वरन् पंचक, षटक, सप्तक, अष्टक, दशक, पंचाशत्, द्वासप्तति सप्तशती तथा सहस्रक के भी प्रमाण सूची ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।[1] सौ से अधिक तथा एक हजार से कम अन्योक्तियों का संकलन जिन ग्रन्थों में किया गया है, उनके नाम भी तदनुकूल ही रखे गये हैं। ऐसे ग्रन्थों के प्रसंग में प्रायः अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश शब्द के साथ—श्लोकाः, परिच्छेदाः, माला, मुक्तावली, मुक्तालता, मालिका, संग्रह, रत्न करण्डिका, रत्नाकर, रत्नावली स्तबक अथवा सुभाषित पदों को छोड़ दिया गया है। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें अन्योक्ति या अन्यापदेशशतक न कहकर एक स्वतन्त्र संज्ञा दी गयी है उदाहरणार्थ—रुद्र कविकृत भावविलास, जगन्नाथकृत भामिनीविलास[2], लक्ष्मी नृसिंहकृत कवि कौमुदी, चन्द्रचूडकृत अन्योक्तिकण्ठाभरण तथा एक अज्ञात कर्ता की कृति कविकर्णभूषण। यथाप्रसंग, इन ग्रन्थों का निरूपण, विस्तारपूर्वक किया जायगा।

संग्रह तथा स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें एकरूपता प्राप्त होती है। यद्यपि नवीन कवियों अथवा संग्रहकारों ने उत्तरोत्तर नवीन विषयों से सम्बद्ध अन्यापदेशों को लिखा एवं संकलित किया है, किन्तु इतना होने पर भी, उनके ग्रन्थों में पूर्ववर्तियों के अनुकरण का भाव स्पष्टतः दीख पड़ता है। संग्रहकारों ने प्राचीन कवियों के अतिरिक्त

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० बी० राघवन् द्वारा सम्पादित 'न्यू कैटालाग्स कैटालागरम्' पृ० १७९, भाग १।

२. ब्रिटिश म्यूजियम के सूचीपत्र में, इसी को 'अन्योक्ति उल्लास' भी कहा गया है। इसी प्रकार अदयार तथा मैसूर के सूचीपत्रों में जगन्नाथकृत अन्योक्ति ग्रन्थ का नाम अन्यापदेश शतक दिया गया है।

अपने युग के भी प्रणेताओं को स्थान दिया है किन्तु रचना विषयक सन्देहों का निर्णय वे नहीं कर सके हैं। इसी कारण, एक ही अन्योक्ति विभिन्न संग्रहों में विभिन्न कवियों के नाम मढ़ दी गयी है। स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों में भी प्रायः एकाध श्लोक, जो निश्चय ही पूर्व प्रणेताओं के हैं, थोड़े परिवर्तन के साथ आत्मसात् कर लिये गये हैं। इन सामान्य तथ्यों का निर्देश करने के पश्चात् जब अन्योक्ति के त्रिवर्गीय साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। इस परिचय में क्रम यद्यपि, संग्रह ग्रन्थ, स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा काव्य ग्रन्थ का है किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थों का व्याख्यान अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण होने के कारण अन्त में रखा गया है।

क. संग्रहग्रन्थों में प्राप्त अन्योक्ति वाङ्मय

संग्रह ग्रन्थों के विषय में पहले यह बताया जा चुका है कि इस कोटि का प्राचीनतम ग्रन्थ 'कविवचनसमुच्चय' है। उन्नीसवीं शती में, अंग्रेज मनीषियों ने जब भारतीय वाङ्मय का मूल्य समझा, तब एक बार समस्त संस्कृत ग्रन्थों के अन्वेषण का कार्य प्रारम्भ किया गया। देश के मुख्य-मुख्य विद्याकेन्द्रों में, इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए शोध संस्थानों की स्थापना की गयी। बंगाल तथा बम्बई की 'एशियाटिक सोसाइटी' तथा भण्डारकर इन्स्टीच्यूट पूना आदि संस्थाएँ इसी प्रकार की हैं। बड़ौदा, मैसूर, त्रावनकोर, दरभंगा, जयपुर, बीकानेर, काशी, उड़ीसा तथा बंगाल के स्वतन्त्र नरेशों ने भी इस कार्य में भूतपूर्व सहयोग दिया। इन नरेशों के विद्वान् राजपण्डितों, पुस्तकालयाध्यक्षों तथा प्रकाशन अधिकारियों ने विद्वत्ता-पूर्ण प्राक्कथनों सहित सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित किया। निर्णयसागर, वेंकटेश्वर, चौखम्बा आदि मुद्रणालयों ने तथा सरस्वती महल (तंजोर), अनन्तशयन (त्रिवेन्द्रम्), प्राच्य-पाण्डुलिपि पुस्तकालय (मद्रास), केन्द्रीय पाण्डुलिपि पुस्तकालय (बड़ौदा), सरस्वती भवन (काशी) तथा अन्यान्य नगरों एवं प्रान्तों में विद्यमान विशाल पुस्तकालयों ने अथक प्रयास के पश्चात् एक बार पुनः संस्कृत भाषा को स्थायित्व दिया।

महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १८९५ से १९०० के बीच, सर्वप्रथम एक संग्रहग्रन्थ प्राप्त किया। इस ग्रन्थ की रिपोर्ट 'एशियाटिक सोसायटी बंगाल' के तत्त्वावधान में सन् १९०१ ई० में 'रिपोर्ट आन दि सर्च फार संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स' शीर्षक निबन्ध के रूप में कलकत्ता में प्रस्तुत की गयी। इसी ग्रन्थ की उक्त शोध संस्थान की ओर से एफ० डबल्यू० टामस ने सन् १९१२ में 'बिब्लियोथिका इण्डिका' (नवीन ग्रन्थमाला, सं० १३०९) में मय प्राक्कथन के प्रकाशित किया। किन्तु यह ग्रन्थ खण्डित, शीर्षक एवं प्रणेता के उल्लेख से हीन था। इस ग्रन्थ का प्रथम पद्य इस प्रकार है—

'नाना कवीन्द्रवचनानि मनोहराणि संख्यावतां परमकण्ठविभूषणानि।
आकम्पकानि शिरसश्च महाकवीनां तेषां समुच्चयमनर्द्धमहं विधास्ये ॥'

अतः ग्रन्थ के अन्वेषक श्री हरप्रसाद जी ने बहुत सोच-विचार कर इस पद्य के प्रथम एवं चतुर्थ पाद में प्राप्त साभिप्राय संकेतों के आधार पर इसका नामकरण 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' किया। ग्रन्थ का प्रकाशन भी इसी नाम से हुआ।

यह अपूर्ण संग्रहग्रन्थ कई वर्गों में विभक्त है जिन्हें 'व्रज्या' कहा गया है। प्राप्त व्रज्याओं की संख्या उन्नीस है जिनमें से प्रथम 'सुगतव्रज्या' तथा अन्तिम 'असतीव्रज्या' है। इन उन्नीस व्रज्याओं में कुल ४२५ पद्यों का संकलन किया गया है। सम्पादक श्री टामस महोदय ने व्रज्या को वर्ग का पर्याय स्वीकार किया है। जैन कवि श्रीजयवल्लभकृत 'वज्जा-लग्गं' तथा साधारणदेवकृत सप्तशतक (हालकृत गाथासप्तशती का संस्करण) में भी यही विभाजन प्राप्त होता है। प्रथम दो व्रज्याओं के सुगत एवं अवलोकितेश्वर से सम्बद्ध होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि कृति पर बौद्ध प्रभाव पड़ा है और सम्भवतः इसका प्रणेता भी कोई बौद्ध ही था। किन्तु श्री टामस ने इसे 'अत्युक्तिपूर्ण' (Superficial) कथन माना है क्योंकि इन दोनों व्रज्याओं के बाद बौद्ध कवियों की रचनायें ग्रन्थ में बहुत कम हैं। अधिकांश कवि ब्राह्मण धर्म के ही अनुयायी हैं। इस ग्रन्थ के विषय में अधोनिर्दिष्ट तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं—

१. खण्डित होने के कारण इस ग्रन्थ में 'अन्यापदेश-व्रज्या' नहीं प्राप्त होती। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी सदुक्तिकर्णामृत की भाँति ऐसी कोई सूचना नहीं प्राप्त होती कि जिससे समस्त ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-विस्तार जाना जा सके। फिर भी इस ग्रन्थ में अन्यापदेश निबन्धन की पूर्ण सम्भावना है क्योंकि अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्यापदेश प्रायः सभी संग्रह ग्रन्थों के प्रमुख अंग रहे हैं।

२. ग्रन्थ के अन्वेषक श्री शास्त्री जी ने पाण्डुलिपि को ग्यारहवीं शती का तथा सम्पादक श्री टामस ने किसी भी रूप में इसे सन् १२०० ई० के पूर्व का स्वीकार किया है। श्री टामस की स्पष्ट धारणा है कि इस ग्रन्थ का कोई भी कवि या लेखक १००० ई० के बाद का नहीं है। इसी प्रकार एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के सूचीपत्र में ग्रन्थ का समय तेरहवीं शती (नेवारी) स्वीकार किया गया है।

सन् १९४६ ई० की समाप्ति में बम्बई विश्वविद्यालय के विद्वानों को कुछ संस्कृत पाण्डुलिपियाँ मिलीं जिनका अन्वेषण महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में सन् १९३४ ई० में तथा उनकी फोटोग्राफी सन् १९३७ ई० में की थी। प्रो० वी० वी० गोखले ने उनमें भीमार्जुनसोमकृत एक संग्रह ग्रन्थ भी देखा जिसका नाम 'सुभाषितरत्नकोष' था। किन्तु लेखक श्री सोम का नाम ग्रन्थ में और कहीं भी नहीं था। सबसे रोचक तथा महत्त्व-पूर्ण बात तो यह थी कि इस ग्रन्थ का प्रथम पद्य भी वही था जो कि 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' का। श्री राहुल द्वारा फोटोग्राफ की गई पाण्डुलिपियों की सूची J. B. O. R. S. से यह भी पता लगा कि इस ग्रन्थ की दूसरी प्रति नेपाल नरेश के राजगुरु पं० हेमराज के व्यक्तिगत संग्रह में है।

इसी बीच ल्हासा में गए 'इण्डियन मिशन' के आफिसर श्री वी० वी० गोखले ने अठारह महीनों के घोर प्रयत्न के फलस्वरूप इस ग्रन्थ की एक मठस्थित (Ngorcopy) प्रति प्राप्त की। सन् १९४६ ई० में ही भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान के अध्यक्ष श्री पी० के० गोडे ने काठमाण्डू स्थित भारतीय दूतावास से नेपाल राजगुरु की प्रति के विषय में पूछा, जिससे यह पता चला कि सुभाषितरत्नकोष के प्रणेता भीमार्जुन सोम नहीं, प्रत्युत श्री विद्याकर पण्डित हैं। अन्त में बम्बई के ही विद्वान् श्री डी० डी० कौशाम्बी जी की प्रार्थना पर पं० नेहरू ने इस ग्रन्थ की प्राप्ति के लिए राजगुरु पं० हेमराज को लिखा जिसके फलस्वरूप सन् १९५२ में प्रस्तुत संग्रहग्रन्थ की मूल एवं शुद्ध प्रति इन विद्वानों को प्राप्त हुई। श्री गोखले एवं कौशाम्बी जी ने इसी ग्रन्थ को संशोधित करके एक विस्तृत प्राक्कथन के साथ सन् १९५७ ई० में हार्वर्ड प्राच्य ग्रन्थमाला, संख्या ४२ के रूप में प्रकाशित किया। इस प्रकाशन में सम्पादकों ने जिन ग्रन्थों का उपयोग किया उनका विवरण इस प्रकार है:—

१. सुभाषितरत्नकोष की तिव्वतीय मठ में प्राप्त प्रति, जो कि ताड़पत्रों पर लिखी गई थी।

२. इसी ग्रन्थ की आधुनिक कागज पर लिखी गई प्रति, जो कि नेपाल नरेश के राजगुरु से प्राप्त हुई थी।

३. एफ० डबल्यु० टामस द्वारा प्रकाशित तथा गलत शीर्षक (कवीन्द्रवचन-समुच्चय) वाली इस ग्रन्थ की एक खण्डित लिपि तथा;

४. श्रीधरदास—प्रणीत संग्रहग्रन्थ सदुक्तिकर्णामृत और नन्दन कवि द्वारा प्रणीत एक अन्य संग्रहग्रन्थ प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर। इन दोनों ग्रन्थों में से पहला तो प्रकाशित है किन्तु दूसरा अप्रकाशित।

'सुभाषितरत्नकोष' के प्राप्त होते ही 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' की सत्ता निरस्त हो गई, क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन से पता चला कि कवीन्द्रचनसमुच्चय, सुभाषितरत्नकोष की ही एक खण्डित प्रति थी। अतः उस प्रति की काल्पनिक संज्ञा, उसकी बौद्धप्रभावयुक्तता, रचना-काल सम्बन्धी धारणायें, सब की सब अपार्थक सिद्ध हो गई। वस्तुतः ग्रन्थ का नाम सुभाषित-रत्नकोष है जो कि विद्याकरपण्डित द्वारा लगभग ११०० ई० तथा ११३० ई० के बीच संग्रहीत किया गया। विद्याकर पण्डित सम्भवतः पूर्वी बंगाल के मालदा जिले में स्थित प्राचीन जगद्दल विहार के स्नातक विद्वान् थे। इस संग्रहग्रन्थ के अतिरिक्त विद्याकर की किसी भी अन्य कृति का पता नहीं चलता। प्रस्तुत संग्रह के तीन पद्य (प्रथम, १७३८वाँ तथा १७३९वाँ) संग्रहकार के ही हैं।

सम्पादकों ने विद्याकर का समय स्थूल रूप से सन् १०५५ से १२०५ ई० के बीच स्वीकार किया है, क्योंकि इसमें भोज तथा धोयीक के पद्य प्राप्त होते हैं। भोज, धारानगरी में स्थित परमारवंशीय नरेश थे जिनका समय सन् १००५ से १०५४ ई० तक माना जाता है। इसी प्रकार पवनदूत के प्रणेता धोयी अथवा धोयीक बंगाल के सेनवंशीय राजा लक्ष्मणसेन

के राजकवि थे जो सन् ११७८ से १२०५ ई० तक शासन करते रहे। संस्कृत साहित्य का दूसरा प्रसिद्ध संग्रहग्रन्थ श्रीधरदास द्वारा लिखा गया, जिसके पिता वटुदास इन्हीं राजा लक्ष्मणसेन के 'महासामन्तचूडामणि' थे। वस्तुतः लक्ष्मणसेन के दरबार में अनेक महाकवि रहते थे[1] जिनमें प्रमुख विद्वान् उमापतिधर, जयदेव, शरण, गोवर्धनाचार्य तथा धोयी आदि थे। शरण एवं उमापतिधर के विषय में तो निश्चित नहीं कि उन्होंने किस ग्रन्थ की रचना की किन्तु अन्तिम तीन कवियों की कर्तृता के विषय में कोई सन्देह नहीं क्योंकि उनके प्रख्यात काव्य गीतगोविन्द, आर्यासप्तशती तथा पवनदूत आज भी प्राप्त हैं। सम्पादकों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि उमापतिधर न केवल लक्ष्मणसेन के ही, प्रत्युत उनके पिता एवं पितामह के भी राजकवि थे। यद्यपि इस उद्भावना का कोई आधार प्रस्तावना में नहीं व्यक्त किया गया है किन्तु यदि हम लक्ष्मणसेन के समय में उमापतिधर को अत्यन्त वृद्ध स्वीकार कर लें तो सम्पादकों की उपर्युक्त धारणा सत्य हो सकती है। यदि ऐसी ही स्थिति धोयीक के भी विषय में मान ली जाय तो उनका अभ्युदयकाल लक्ष्मणसेन से पच्चीस वर्ष पूर्व अर्थात् सन् ११५० ई० के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार धोयीक को उद्धृत करने वाले विद्याकर पण्डित भी लक्ष्मणसेन के राज्यारोहण काल (सन् ११७८ ई०) के परवर्ती नहीं, वरन् पूर्ववर्ती ही सिद्ध होते हैं।

वस्तुतः सम्पादक ने धोयीक-प्रणीत इस पद्य (९२३ संख्या के बाद) के कर्तृत्व को ही संदिग्ध स्वीकार किया है क्योंकि यह पद्य केवल काठमाण्डू प्रति में ही प्राप्त होता है अन्य प्रतियों में नहीं। दूसरी बात यह कि सदुक्तिकर्णामृत में श्रीधरदास ने इसी पद्य को (सदुक्ति० १।८४।५) योगेश्वरकृत स्वीकार किया है। चूँकि, श्रीधरदास निश्चितरूप से लक्ष्मणसेन के ही युग के हैं तथा धोयी के विषय में उनकी जानकारी अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानने योग्य हैं अतः श्रीधरदास द्वारा इस पद्य को धोयीकृत न मानना यह सिद्ध कर देता है कि वास्तव में धोयी इस पद्य के प्रणेता नहीं थे। श्रीधरदास ने स्वयं भी धोयी के अनेक सुभाषितों को उद्धृत किया है, ऐसी दशा में यदि उक्त पद्य उन्हीं द्वारा प्रणीत होता तो सदुक्तिकर्णामृत-कार अवश्य उसका स्पष्ट उल्लेख करते।' इस प्रकार धोयी-प्रणीत पद्य के प्रामाणिक न सिद्ध होने के कारण विद्याकर का समय सन् ११५० ई० से भी पूर्व होना सम्भव है जैसा कि सुभाषितरत्नकोष का निर्माण-काल सन् ११०० के आस-पास निश्चित किया गया है। यद्यपि इन थोथी सम्भावनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं तथापि निश्चित प्रमाणों के अभाव में इनका गौरव भी कम नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि विद्याकर पण्डित ने लगभग ११०० ई० में इस संग्रहग्रन्थ का सर्वप्रथम संकलन किया। बुद्धाकरगुप्त तथा भीमार्जुन सोम ने, जो कि जगद्दल बिहार में विद्याकर के सहयोगी आचार्य थे, लगभग ११३० ई० में इस ग्रन्थ का पुनस्संस्कार किया।

---

१. द्रष्टव्य—जयदेवकवि-प्रणीत 'गीतगोविन्द' १।४।

इसी कारण, ग्रन्थ के अन्त में पण्डित श्रीभीमार्जुन सोम का उल्लेख प्राप्त होता है। जगद्दल बिहार, विक्रमशिला एवं[1] उद्दण्डपुरी (?ओदन्तपुरी) की ही भाँति पालवंशीय नरेशों द्वारा स्थापित एवं संरक्षित था। प्रसिद्ध इतिहासकार लामा तारानाथ के साक्ष्यानुसार इस विश्व-विद्यालय में राजकीय उपाधि 'पण्डित' रूप में दी जाती थी। जगद्दल बिहार का अन्तिम संरक्षक नरेश रामपाल था (सन् ११३० से ७५ तक) जिसकी राजधानी वारेन्द्री में थी। वारेन्द्री बंगाल के राजशाही, बोगरा, मालदा तथा दीनाजपुर जिलों के कुछ भागों में बसी थी। वस्तुतः रामपाल की राजधानी 'रामावती' गंगा एवं करतोया के संगम पर थी जिसे 'आइने-अकबरी' में लखनौती के समीप स्थित 'सरकारजन्नताबाद' गाँव के अनुरूप सिद्ध किया गया है।[2] इन्हीं पाल-नरेशों के संरक्षण में रहकर सम्भवतः विद्याकर ने इस संग्रहग्रन्थ को तैयार किया। तारानाथ के अनुसार पश्चिमी बौद्ध बिहारों पर मुस्लिम आक्रमण होने पर पण्डित शाक्यश्री तथा उनके शिष्य विभूतिचन्द्र सर्वप्रथम जगद्दल की ओर और बाद में तिब्बत की ओर भाग आए। इस पलायन में जाने कितनी ग्रन्थप्रतियाँ भी भारत से तिब्बतीयमठों में आ गईं। संभवतः सुभाषितरत्नकोष के तिब्बत एवं नेपाल में पाये जाने का भी यही रहस्य है। रामपाल के पुत्र राज्यपाल ने मूलप्रति के तिब्बत चले जाने पर पुनः इस ग्रन्थ को अपूर्णरूप में संग्रहीत कराया।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सुभाषितरत्नकोष ही संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम मौलिक संग्रहग्रन्थ है न कि उसकी खण्डित प्रति कवीन्द्रवचनसमुच्चय! भोज प्रभृति विद्वानों के उद्धृत पद्यों से श्री टामस की यह धारणा भी नष्ट हो जाती है कि इसके सभी लेखक ई० १००० से प्राचीन हैं। वस्तुतः **सुभाषितरत्नकोष,** पाल नरेशों के ही शासनकाल में लिखा गया किन्तु स्पष्टतः यह नहीं कहा जा सकता कि किस पालनरेश के समय में? यदि सुभाषितरत्नकोष का लेखन वास्तव में ११०० ई० है तो इसका अर्थ हुआ कि वह रामपाल से पूर्ववर्ती नरेशों (विग्रहपाल तृतीय, महीपाल तथा शूरपाल) के युग में लिखा गया। श्रीधरदासकृत सदुक्तिकर्णामृत भी सम्भवतः भारत में विद्यमान इस ग्रन्थ की प्रति के ही अनुकरण पर बाद में निर्मित किया गया।

सुभाषितरत्नकोष में कुल ५० व्रज्याएँ हैं। प्रत्येक व्रज्या, विविध छन्दों वाले कुछ श्लोकों में विभक्त है। समस्त ग्रन्थ में इन श्लोकों की पूर्णसंख्या १७३९ हैं। ग्रन्थ की प्रथम व्रज्या 'सुगत' से तथा अन्तिम 'कविस्तुति' से सम्बद्ध है। इन पचास व्रज्याओं में से तैंतीसवीं व्रज्या का नाम 'अन्यापदेश-व्रज्या' है जिसमें कुल एक सौ छः अन्योक्तियों का संकलन

---

१. जगद्दलविहार तथा पालवंश से उसका सम्बन्ध। सविस्तर द्रष्टव्य—सुभाषित रत्नकोष की प्रस्तावना।

२. श्री जदुनाथ सरकार द्वारा 'आइने-अकबरी' का अनुवाद, भाग २—सुभाषित रत्नकोष की प्रस्तावना।

किया गया है (पद्य संख्या १०१९ से ११२३ तक) इन अन्योक्तियों के विषय तथा प्रणेता दोनों ही बहुसंख्यक हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. **अन्यापदेशों के विषय**—मुक्तारत्न, अम्भोनिधि, पद्माकर, कौतुकी व्यक्ति, मरकत मणि, वृक्षसामान्य, भृंग, सिंह, शोणनद, मेघ, सुवर्णकार, चन्दन, कोकिल, अशोक, अंगारकार, मृग, शरभ, सूर्य, अगस्त्य, पिप्पल, न्यग्रोध, शाल्मलि, जल, दिवस, नियति, पान्थ, चातक, गज, व्योम, रोधःशाखी, वानर, शाखोटक, सुरासुर, कदम्ब, स्नेहपात्र, अभाग्यशील, सहकार, नौका, यामिनी, तटिनी, दावानल, चन्द्रकान्त, काञ्चन, शंख, कोर, किम्पाक तथा विन्ध्याचल।

२. **अन्यापदेशों के कर्त्ता**—मुरारि, दामोदर, बल्लण, कविनन्द, मैत्रीश्री, लक्ष्मीधर, अभिनन्द, द्रन्दूक, मधुकूट, कुशलनाथ, यम्प्याक, अमरसिंह, श्रीधर्माकर, अचल, चरणिनन्दिन्, भट्टगणपति, वीर, अचलसिंह, वित्तोक, लडहचन्द्र, हनूमान्, कणिकाकार, वनारोह, शब्दार्णव, खदिर, सुरभि, सुचरित, बुद्धाकरगुप्त तथा बिद्दूक।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार 'सुभाषितरत्नकोष' में तीस कवियों द्वारा सैंतालिस विषयों पर कुल १०६ अन्योक्तियाँ, विद्याकरपण्डित द्वारा संकलित की गयी हैं। उपर्युक्त कवियों में मुरारि, अभिनन्द, अमरसिंह तथा बुद्धाकरगुप्त के ही विषय में कुछ कहा जा सकता है, किन्तु शेष कवियों के इतिवृत्त विषयक निश्चित प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कहना सम्भव नहीं। यही दशा, आगे वर्णित किये जाने वाले संग्रहों के विषय में भी सत्य है। वस्तुतः जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि अन्यापदेशों के प्रणेता कविगण अधिकांशतः वे ही हैं जो प्राय. महाकाव्यों के लेखक नहीं हैं। वे स्वान्तःसुखाय अथवा काव्यगोष्ठियों में सहृदयमनोविनोदनार्थ ही अन्यापदेशों की फ़ुटकर रचना किया करते थे। कभी-कभी किसी उपकारी या अपकारी व्यक्ति की प्रशंसा या निन्दा को ही जताने के ध्येय से और कभी-कभी लोक-व्यवहार से खिन्न होकर निःस्वार्थभाव से ही आशु कवि लोग इन मुक्तक अन्यापदेशों की रचना कर देते थे। ये अन्यापदेश कहीं लिखे नहीं गये वरन् गोष्ठियों में कण्ठस्थ कर लिये जाने के कारण कर्ण-परम्परया, काव्यरसिकों के बीच पल्लवित होते रहे। संग्रहकारों ने ऐसे ही अप्रसिद्ध किन्तु बहुसंख्यक कवियों की रचनाओं को यथाशक्ति प्राप्त करके संग्रहीत किया।

ऐसी दशा में संग्रहग्रन्थों में उद्धृत कवियों का जीवनपरिचय देना सर्वथा असम्भव ही है। इसी प्रकार काव्यभेदों में निबद्ध अन्योक्तियों के कर्त्ताओं का भी परिचय उनकी अनन्तता के कारण असम्भव है। केवल स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों को लिखने वाले कवियों का परिचय दिया जायेगा क्योंकि वे एक-दो नहीं प्रत्युत सैकड़ों मौलिक अन्योक्तियों के प्रणेता हैं। साथ ही साथ 'सारूप्यनिबन्धना' अर्थात् शुद्ध अन्योक्ति के लेखक हैं। जहाँ तक अन्योक्ति के विषयों के आकलन का प्रश्न है; वह अगले अध्याय (काव्यात्म-विवेचन) में किया जायेगा।

सुभाषितरत्नकोष के पश्चात् दूसरा संग्रहग्रन्थ 'सदुक्तिकर्णामृत' तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध में श्रीधरदास द्वारा प्रणीत किया गया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संग्रह-

कार के ही कथनानुसार, उसके पिता वटुदास सेनवंशीय शासक लक्ष्मणसेन (सन् ११७८ से १२०५ तक) के 'महासामन्तचूड़ामणि' थे। अतः श्रीधरदास का साहित्यिक जीवन बारहवीं शती के अन्तिम पचीस वर्ष तथा तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध में माना जा सकता है। ग्रन्थ के प्रथम पाँच पद्यों में कवि ने क्रमशः मंगलाचरण, आत्मपरिचय (श्लो० २, ३) तथा प्रतिपाद्य परिचय (श्लो० ४, ५) प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के अन्य किसी भी भाग में कवि-परिचयात्मक कोई पद्य नहीं प्राप्त होता है।

प्रस्तावना के पाँचवें पद्य के अनुसार, ग्रन्थ पाँच भागों में विभक्त है जिन्हें कवि ने 'प्रवाह' की संज्ञा दी है। प्रत्येक प्रवाह, वीचियों में तथा प्रत्येक वीची पाँच श्लोकों में विभक्त है। संग्रहकार ने प्रस्तुत विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक स्तर पर किया है। इस प्रकार क्रमशः अमरप्रवाह (देवप्रवाह) में पंचानवे बीची तथा चारसौ पचहत्तर श्लोक, शृंगारप्रवाह में एक सौ उन्यासी बीची तथा आठ सौ पंचानबे श्लोक, चाटुप्रवाह में चौवन बीची तथा दो सौ सत्तर श्लोक, अन्यापदेशप्रवाह में बहत्तर बीची तथा तीन सौ साठ श्लोक और अन्तिम उच्चावचप्रवाह में छिहत्तर बीची तथा तीन सौ अस्सी श्लोक हैं। समस्त ग्रन्थ में पाँच प्रवाह, चार सौ छिहत्तर वीचियाँ तथा दो हजार तीन सौ अस्सी श्लोक हैं। यद्यपि सदुक्तिकर्णामृत के छपे हुए संस्करण एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (बिब्लियोथिका इण्डिका, सं० १३४३) तथा पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा क्रमशः सन् १९१२-१३ तथा सन् १९३३ में प्रकाशित किये गये। इसी प्रकार शान्तिपुर एवं सेरामपुर के संस्कृत विद्यालयों में इसकी छपी प्रतियों का तथा संस्कृत कालेज कलकत्ता में इसकी हस्तलिखित प्रति का भी पता लगता है। किन्तु ये सब के सब संस्करण या तो अपूर्ण हैं अथवा सदोष एवं अप्राप्य। सौभाग्य से, इसका नवीन संस्करण डॉ० सुरेशचन्द्र बनर्जी द्वारा सम्पादित कलकत्ता से पिछले वर्ष (जनवरी १९६५ ई०) प्रकाशित किया गया जो कि प्रायः निरवद्य पाठावली अपनाने के कारण सम्पूर्ण एवं निर्दोष है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सदुक्तिकर्णामृत में अन्यापदेशप्रवाह की ७२ वीचियाँ हैं। प्रत्येक वीची भी संग्रहकार की प्रतिज्ञा के अनुसार पाँच श्लोकों से युक्त हैं। वस्तुतः ये बहत्तर वीचियाँ बहत्तर अन्यापदेश विषयों का ही संकेत करती हैं, अतः यह स्पष्ट है कि कवि ने प्रत्येक विषय पर पाँच अन्योक्तियों का संकलन किया है। संग्रहकार ने अन्यापदेश-संकलन के पूर्व ही आठ आर्याओं में इन बहत्तर विषयों की गणना कर दी है। विषयों तथा उनके प्रणेतृ कवियों का विवरण इस प्रकार है—

१. अन्यापदेशों के विषय—विष्णु, महेश (महेश के) गण, रवि, शशि, शशिभास्कर, सरिन्नाथ, समुद्रोत्कर्ष, अगस्त्यपीत समुद्र, समुद्रनिन्दा, सवाडवसमुद्र, अगस्त्य, जल, शंख, मणि, मरकतमणि, नानारत्न, स्वर्ण, नद एवं नदी, बावली, शुष्कसर, पूर्णसर, मीन, सर्प, मण्डूक, पद्म, मधुप, स्वर्णभ्रमर, सरसीरुहभ्रमर, चूतभ्रमर, केतकीभ्रमर, पर्वत, मलय, शरभ, सिंह, सिंहशिशु, जरत्सिंह, हस्ती, वन्यहस्ती, मत्तगज, पंकपतितगज, बद्धगज, हरिण, व्याधभीत हरिण,

दावभीत हरिण, मृगी, विविध पशु, तरु, कल्पतरु, चन्दन, पिप्पल, सहकार, कंकेलि, शाल्मलि, अध्वतरु, मरुवृक्ष, नानावृक्ष, मरु, मेघ, मेघश्लाघा, मेघनिन्दा, सारंग (चातक) दैवोपहत चातक, अनन्यगतिक चातक, मानी चातक, हंस, राजहंस, पिक, कीर, विविधविहग तथा उच्चावच।

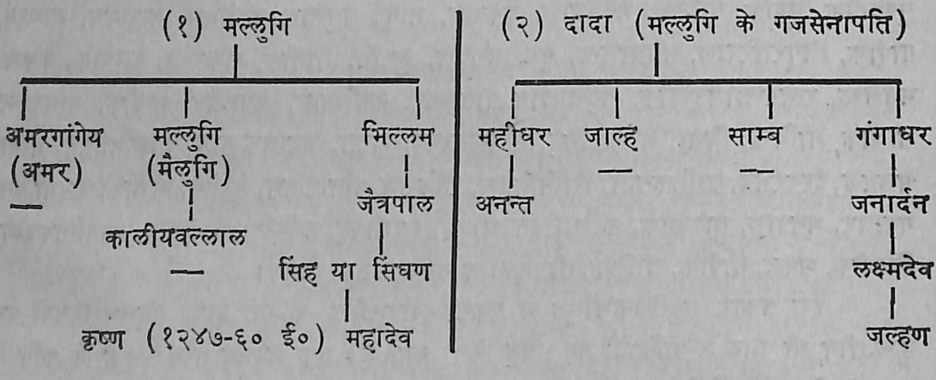
२. **अन्यापदेशों के कर्त्ता**—क्षियाक, चिरन्तनशरण, शतानन्द, अभिनन्द, वराह, वासुदेव सेन, उमापतिधर, शैलसर्वज्ञ, धर्मयोगेश्वर, वाक्पति, अमोघ, आनन्दवर्धन, जलचन्द्र, वासुदेव, रविगुप्त, दंक वैद्य गदाधर, रामदास, योगेश्वर, बल्लालसेन, मधुकूट, दशरथ, भाष्यकार, लक्ष्मीधर, विभोक, शुंगोक, धीतोक, शब्दार्णव, हरि, सुवर्णरेख, विद्यापति विश्वेश्वर, लोपामुद्रा, इन्द्रदेव, सरोरुह, कमलगुप्त, पापाक, शुभांक, कपालेश्वर, वाणीकुटिल लक्ष्मीधर, केशट, धर्मपाल, शब्दार्णववाचस्पति, शालूक, तैलपाटीय गांगोक, नील, कविरत्न, गोसोक, अनुरागदेव, अचल, वाचस्पति, तिलचन्द्र, धर्माधिकरणिक रुद्र, नारायणाब्धि, बल्लण, मंगल, दूनोक, गोपोक, मुरारि, बाण, बलभद्र, अमरसिंह, भोजदेव, शाकटीयशबर, माधव, भव्य, मधुरशील, विरिञ्चि, क्षितीश, छित्तप, वसन्तदेव, भास्करदेव, कवि चक्रवर्ती, नाचोक नाकोक, जयनन्दिन्, वीर, जह्नु, शाटोक, बल्लभ, वसुकल्प, वनमालिन्, अज्जोक, सरस्वती, नरसिंह, दामोदर, कामदेव, पुण्डरीक, मुद्रांक, मुष्टिक, भट्टवेताल, मकरन्द, भानु, वसुन्धर, वीर्यमित्र, नारायण, आचार्य, गोपीक, त्रिपुरारिपाल, संग्रामचन्द्र, गुरु, लंगदत्त, सुरभि, मानोक, शंकरदेव, पाम्पाक, कंकण, भर्तृमेण्ठ, रत्नमालीयपुण्ड्रोक, भट्टशालीय पीताम्बर, कालिदास, चपलदेव, मन्दोक, माधवसेन, साजोक, गोविन्द, विद्या, अचल सिंह, राजकुञ्जदेव, शरण, गदाधर नाथ, सांझानन्दिन्, भामह मलयज, ईश्वरभद्र, शालिकनाथ, वैद्यत्रिविक्रम, कविराज श्रीनारायण, पुरुसेन, वित्तोक, सोटगोविन्द गदाधर, धनपाल, वाञ्छाक, कविपण्डित श्रीहर्ष, सरसीरुह, भर्तृहरि, लडहचन्द्र, आवन्तिकद्रव्य, डिम्बोक, शंकर, गोपीक, लौलिक, तीरभुक्तीय सर्वेश्वर तथा केशर।

इस प्रकार सदुक्तिकर्णामृत में एकसौ चौवालीस कवियों द्वारा बहत्तर विषयों पर कुल तीन सौ साठ अन्योक्तियों का संग्रह किया गया है। एक अवधेय तथ्य यह है कि कवि ने एक ही विषय के विभिन्न रूपों को लेकर, उसकी अनेकरूपता की दृष्टि से जो पृथक् गणना की है, वह युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होती। उदाहरणार्थ, वृक्षसामान्य तथा आम पीपल बरगद तथा सेमर सरीखे वृक्षविशेष से सम्बन्धित अन्योक्तियों का पार्थक्य तो उचित प्रतीत होता है क्योंकि उनमें जाति-व्यक्ति अथवा 'सामान्य-विशेष' का सम्बन्ध है किन्तु हरिण तथा व्याधभीत, दावभीत हरिण का पार्थक्य ठीक नहीं। क्योंकि व्याध एवं दावाग्नि के प्रसंग हरिण की ही दशा-विशेष के परिचायक हैं। इसी प्रकार मेघ की प्रशंसा तथा निन्दा, मेघरूपी एक ही विषय से सम्बद्ध है। यदि इस दृष्टि से हम संग्रहकार के विषयों का आकलन करें तो निश्चय ही उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम हो जायगी।

अन्यापदेश-लेखकों की संख्या १४४ है। यद्यपि वल्लण, छित्तप एवं सांझानन्दिन् के नाम अन्यस्थलों पर वल्लन, छित्तिप तथा सांजा भी प्राप्त होते हैं। किन्तु इतने भर से ही उनमें द्वैध-कल्पना करना असम्भव है। हाँ, वैद्यगदाधर, गदाधरनाथ तथा गदाधर अवश्य ही

पथक् स्वीकार्य हैं क्योंकि यदि वे एक होते तो संग्रहकार उनकी एक ही संज्ञा का भूरिशः उल्लेख करता जैसा कि अनेक स्थलों पर उसने किया है। सदुक्तिकर्णामृत के कवि अधिकांशतः नवीन हैं।

तेरहवीं शती के उत्तरार्द्ध में यादवनरेश कृष्ण (सन् १२४७-६० तक) के 'करिवाहिनीपति' श्रीमदारोहकभगदत्त जह्लण ने 'सूक्तिमुक्तावली' नामक संग्रहग्रन्थ की रचना की। सूक्तिमुक्तावली तथा इसके कर्त्ता, जह्लण के विषय में प्रभूत सामग्री इस ग्रन्थ की अनुक्रमणिका में ही प्राप्त हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त हेमाद्रिविरचित चतुर्वर्गचिन्तामणि (व्रतखण्ड) तथा अमलानन्दविरचित भामती (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की टीका) व्याख्या—'कल्पतरु' से भी उनके जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है। संग्रहकार के अपने प्रमाणानुसार मध्ययुग (बारहवीं-तेरहवीं शती) में देवगिरि में यादव वंशीय राजा मैलुगि (मल्लुगि) हुए। मैलुगि के हस्तिसेनानायक, अत्यन्तपराक्रमी वत्सवंशीय ब्राह्मण' 'दादा' नाम के थे। इन्हीं दादा की पाँचवीं पीढ़ी में महाकवि जह्लण पैदा हुए जो कि अपने पूर्ववंशयों की ही भाँति मल्लुगि की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न, राजा कृष्ण के हस्तिसेनापति थे। दोनों वंशों का क्रम इस प्रकार है:—



यद्यपि कवि का जन्मस्थान निश्चित नहीं तथापि हेमाद्रि के प्रमाणानुसार इनके पूर्वज देवगिरि के निवासी थे। प्रस्तुत रचना के विषय में सबसे अधिक कौतुक इस तथ्य में है कि यह जह्लण की अपनी कृति नहीं है वरन् वैद्यभानु नामक विद्वान् ने जल्हण की प्रसन्नता के लिए इस ग्रन्थ को प्रस्तुत किया[1]। ग्रन्थ की अनुक्रमणिका तथा उपसंहार के अन्तिम चार पद्यों में एतद्विषयक प्रमाण प्राप्त होते हैं। अनुक्रमणिका में वैद्यभानु द्वारा प्रणीत तथाकथित पद्यों से जल्हण की विद्वत्ता एवं रसिकता स्पष्ट हो जाती है—

'साहित्यविद्याहृदयं ज्ञातुमिच्छसि चेत्सुखं। तत्पश्य जल्हणकृतां सूक्तिमुक्तावलीमिमाम्।
नांगुलीयैर्न केयूरैर्न ग्रैवेयैर्न कंकणैः। तथा भाति यथा विद्वान्कण्ठसंगतयाऽनया॥

---

१. शाकेऽङ्काब्धीश्वरपरिमिते वत्सरे पिंगलाख्ये चैत्रे मासि प्रतिपदि तिथौ वासरे सप्तसप्तेः।
पृथ्वीं शासत्यतुलमहसा यादवे कृष्णराजे जल्हस्यार्थे व्यरचि भिषजा भानुना सेयमिष्टा॥

किन्तु इस प्रशस्ति के बाद जब हम ग्रन्थान्त पद्य पढ़ते हैं तो वैद्यभानु की कर्तृता का हवाला सारहीन सा प्रतीत होता है। अतः इस विषय में दो ही विकल्प सम्भव हैं—१. या तो सूक्ति-मुक्तावली वास्तव में वैद्यभानु की ही कृति थी और धनादि के लोभवश धावक की भाँति उसने भी, इस ग्रन्थ को जल्हण के हाथ बेच दिया। अथवा यह सम्भव है कि २. रचना वास्तव में महाकवि जल्हण की ही है, वैद्यभानु ने यथाकथंचित् केवल नाम कमाने के लिए कवि की मृत्यु के बाद, इसे अपनी कृति कह कर लोकप्रचलित किया।

यद्यपि प्रथम विकल्प को आश्रय देने वाले विद्वान्-गण कम नहीं है तथापि यह विकल्प उचित नहीं प्रतीत होता। जब कोई भी व्यक्ति पराई रचना, धन देकर खरीदता है तो इसके पीछे एकमात्र उसकी यशोलिप्सा ही कारणरूप में अवस्थित रहती है। भला वह कब चाहेगा कि मूलकर्ता का नाम भी उस ग्रन्थ में बना रहे? वह कब चाहेगा कि मूल-कर्ता द्वारा क्रेता को ग्रन्थ बेचे जाने की कथा भी उसमें सविस्तर वर्णित हो। जो विद्वान् हर्ष की कृतियों का कर्तृत्व 'धावक' को देते हैं वे भी सम्भवतः इस रहस्य को स्वीकार करेंगे। यदि धावक उन कृतियों के वास्तविक कर्ता थे तो भी उन्होंने कहीं भी अपने कर्तृत्व की सूचना नहीं दी। ग्रन्थों की प्ररोचनाओं से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि वे महाराज हर्ष की ही कृतियाँ हैं।

अतएव महाकवि जल्हण, जिन्हें स्वयं वैद्यभानु ने परमरसिक स्वीकार किया है, तथा जिनकी रचना, वैद्यभानु के ही शब्दों में—'कण्ठकदलीभूषण, साहित्यविद्याहृदय तथा सुखभाण्डारस्वरूपा' है भला कब इस प्रकार का कृत्रिम यश चाहते रहे होंगे कि कोई अपनी रचना उनके नाम पर कर दे, साथ ही साथ यह ढिंढोरा भी पीट दे कि जल्हण उसके रचयिता नहीं हैं। और जब जल्हण सूक्तिमुक्तावली के मूलकर्त्ता नहीं ही थे तब वैद्यभानु के इस कथन का अभिप्राय क्या है—'तत्पस्य जल्हणकृतां सूक्तिमुक्तावलीमिमाम्।'

वस्तुतः रचना जल्हण की ही प्रतीत होती है, क्योंकि वह संग्रहकार की विद्वत्ता एवं प्रतिभा के अनुकूल ही है। यादवनरेश के दरबार में अनेक आश्रयप्राप्त विद्वान् कवि थे, जिनमें मुख्यतः हेमाद्रि, अमलानन्द, वैद्यभानु तथा जल्हण आदि थे। हेमाद्रि तथा अमलानन्द ने अपने ग्रन्थों में आश्रयदाता कृष्ण की प्रशस्ति तथा दोनों भाइयों के पारस्परिक स्नेह, सौहार्द्र की प्रशस्ति भी गई है। संग्रहकार जल्हण भी उसी कोटि के विद्वान रहे। गजसेनापति होने से भी उनके वाग्वैदग्ध पर कोई शंका नहीं की जा सकती क्योंकि प्राचीन परम्परा के अनुसार राजानक पदवी वाले जाने कितने कवि तथा लेखक राजकीय पदों पर अधिष्ठित थे। मंखक के भाई लंकक तथा विश्वनाथ दोनों ही सान्धिविग्रहिक थे। इसी प्रकार वामन कश्मीरनरेश जयापीड के प्रधानामात्य थे। इतना ही नहीं वरन् नक्तन्दिव साम्राज्यचिन्ता में तल्लीन रहने वाले नरेश भी सारस्वत-वैभव के पुजारी थे, ऐसा ऐतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट है।

१०

अतः जल्हण के कवित्व एवं कर्तृत्व पर भी कोई वैमत्य न होना चाहिए। यह अवश्य सम्भव है कि जल्हण की कृति, उनकी मृत्यु के बाद वैद्यभानु को ही मिली। उन्होंने इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम लोक में प्रचलित किया, किन्तु ईर्ष्या अथवा आत्मगौरव-प्रख्यापनार्थ ही, उन्होंने इस ग्रन्थ के आद्यन्त भागों में कुछ हेरफेर कर दिया। अन्यथा किसी के निमित्त कोई ग्रन्थ रचना, साथ ही साथ उसी गौण पुरुष को उस ग्रन्थ का प्रणेता भी स्वीकार करना, ये दोनों ही तथ्य आत्यन्तिक विरोधी साथ ही साथ उद्भावक को वैधेय सिद्ध करने वाले हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसी भी प्राचीन आचार्य ने अथवा आधुनिक इतिहासकार ने वैद्यभानु को सूक्तिमुक्तावली का रचयिता नहीं स्वीकार किया है, प्रक्षिप्त पद्यों के कारण भले ही सब को कौतूहल हो जाय।

सूक्तिमुक्तावली, इम्बर कृष्णमाचार्य द्वारा गायकवाड प्राच्यग्रन्थमाला के अंगरूप में सन् १९३८ में सर्वप्रथम बड़ौदा से प्रकाशित की गयी। इसके अतिरिक्त अन्य संस्करणों के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं। अनुक्रमणिका के बासठ तथा समाप्ति के चार पद्यों को छोड़कर समस्त ग्रन्थ कुल १३३ भागों में विभक्त हैं जिन्हें 'पद्धति' की संज्ञा दी गई हैं। इनमें नमस्कारपद्धति प्रथम तथा हरस्तुतिपद्धति अन्तिम हैं। पद्धतियाँ विभिन्न छंदों वाले पद्यों में विभक्त हैं जिनकी संख्या परस्पर भिन्न हैं। ग्रन्थ का यह विभाजन कवि ने अनुक्रमणिका में स्वयं वर्णित किया है। इन १३३ पद्धतियों में से, संख्या १० (रविपद्धति) से लेकर ३६ तक (संकीर्णवस्त्वन्योक्ति) अर्थात् सत्ताईस पद्धतियों का विषय अन्यापदेश या अन्योक्ति है, जिसमें कुल ३८४ पद्य संगृहीत किये गये हैं। अपेक्षित विवरण इस प्रकार है:—

१. अन्योक्ति के विषय—रवि, चन्द्र, वायु, मेघ, कोकिल, हंस, मयूर, काक, बक, भ्रमर, खद्योत, चातक, सिंह, गज, करभ, धवल, हरिण, समुद्र, रत्न, शंख, नदी, सर, कमल, वृक्षसामान्य, (वृक्षविशेष) दावानल, मरु एवं संकीर्ण। वृक्षविशेष में कल्पवृक्ष पारिजात, चूत, चन्दन, चम्पक, अशोक, पनस, नारिकेल, कदली, दाडिम, भूर्ज, अगुरु, मालती, केतकी, ताल, अश्वत्थ, न्यग्रोध, मधूक, शाल्मलि, बब्बुल, निम्ब, खदिर, शालि, कार्पास, शण, धत्तूर, तृण एवं स्तम्ब ये अट्ठाइस विषय निबद्ध किये गये हैं।

इसी प्रकार संकीर्ण शीर्षक में जनविशेष, विष्णु, जम्बुक, सिंह, कोल, पोत्रिणी, जम्भारि, गरुड, शेष रोहणाचल, मेरु, व्योम, पय, दुग्ध कुण्डल, विष, रसेन्द्र, कलधौत, तिल, बडिशदण्ड, विशिख, पटह, कूप, दीप, शुक, धार्मिक, शैलूष, रमणी, मृगमद, दर्दुर, व्याल, मशक, शश, वामन, मषक, तथा कलश प्रभृति छत्तीस विषयों का निबन्धन किया गया है। इस प्रकार वृक्षविशेष तथा संकीर्ण विषयों की पृथक् गणना करने पर तथा उभयनिष्ठ विषयों को एक ही स्वीकार करने पर सूक्तिमुक्तावली में प्रतिपादित इन अन्योक्तियों के विषय संख्या में लगभग नब्बे सिद्ध होते हैं, जो कि स्पष्टतः पूर्वालोचित संग्रहग्रन्थों से बहुत अधिक है।

२. **अन्योक्तियों के प्रणेता**—श्रीभोजदेव, राजपितामहमहादेव, मुंज, भट्टभल्लट, कल्याण, विशेघान, भवभूति, वस्तुपाल, प्रह्लादन, मालतीमाधव (?) मदन, बल्लालसेन, मुरारि, वल्लभ, हरिहर, त्रिलोचन, वल्लभदेव, वैद्यभानुपण्डित, अमृतदत्त, चन्द्रकवि, भागवत जयवर्धन, प्रकाश-वर्ष, दीपक, अचल, भीमसिंह पण्डित, अन्ध वैद्यनाथ, मेरीभांकार, गोयी, दोयी, कविराज, वसुन्धर, हरिभट्ट, भट्टरुद्रनाथ, भट्टगोविन्दराज, छित्तप, हेविघनेसारे, आनन्दवर्धन, आकाशपोलि, अन्धनाथ, भीमपण्डित, रल्हण, महीपतिमण्डलीक, उमापतिधर, कर्पूर कवि, जितनाग, व्यासमुनि, वसुपाल, धर्मकीर्ति, इन्द्रकवि, चतुर्मुख, महादेव, भागवतामृतदत्त, रीसुक, केटश, वररुचि, विमल-सरस्वती, जयदेव, सर्ववर्मा, सिंहपेय, भट्टेन्दुराज, पद्मनाभ, कविरत्न, सिंहपैय्य, वैद्यनाथ पण्डित, नागपैय्य, बिज्जाका, पायाक, श्रुतधर, जयवर्धन, भदन्तज्ञान वर्मा, बिल्हण, हर्ष, भट्टनायक, नम्मैय, माधव मागध, राणक, नरसिंह, इन्दुराज, अभिनवगुप्त, विद्यापति, लक्ष्मीधर, कृष्ण मिश्र, मंखण, पृथ्वीधर, वेदव्यास तथा आदित्य भट्ट।

उपर्युक्त कवियों में वेदव्यास तथा व्यासमुनि, भागवतजयवर्धन तथा जयवर्धन, भागवतामृतदत्त तथा अमृतदत्त, सिंहपेय तथा सिंहपैय्य, भीमसिंह पण्डित तथा भीमपण्डित—ये सभी कवि परस्पर अभिन्न प्रतीत होते हैं। सम्भवतः कवि ने उन्हें कहीं-कहीं सोपाधि रूप में और कहीं निरुपाधिरूप में उद्धृत किया है। मालतीमाधव आपाततः भवभूति की कृति ही जान पड़ती है किन्तु वस्तुतः है वह स्वतन्त्र कवि का नाम। क्योंकि वह अन्योक्ति भी भवभूति के उक्त नाटक में नहीं प्राप्त होती। इसी प्रकार मंखण महाकविमंखक की ही संज्ञा प्रतीत होती है जो कि श्रीकण्ठचरित के लेखक, रुय्यक के शिष्य तथा कश्मीरनरेश सुस्सल-पुत्र जयसिंह (ई० ११२९ से ५१ तक) के समकालीन थे। सम्भवतः जल्हण द्वारा समुद्धृत कवियों में मंखण (क) ही नवीनतम हैं। इस प्रकार सूक्तिमुक्तावली में कुल ७८ कवियों द्वारा नब्बे विषयों पर कुल तीन सौ चौरासी अन्यापदेशों का संकलन किया गया है।

शार्ङ्गधरपद्धति चौदहवीं शती का संग्रहग्रन्थ है जिसके कर्ता श्री शार्ङ्गधर कवि हैं। मध्ययुग में ही शाकम्भरीदेशाधिपति चौहानवंशी नरेश श्री हम्मीरसिंह हुए। उनके प्रधान सभापण्डित का नाम 'राघवदेव' था। राघवदेव के तीन पुत्र थे—गोपाल, दामोदर तथा देवदास। इन्हीं दामोदर पण्डित के तीन पुत्रों में से ज्येष्ठपुत्र शार्ंगधर कवि थे। संग्रहकार के दो छोटे भाई क्रमशः लक्ष्मीधर तथा कृष्ण थे।[१] महाराज हम्मीरसिंह का शासनकाल १४वीं शती ई० है। ये वही हम्मीरसिंह हैं, जो रणथम्भौर दुर्ग के अधिपति थे और मीर महिमा नामक एक मुस्लिम व्यक्ति को शरण देने के कारण तत्कालीन दिल्ली सम्राट् अलाउद्दीन ने जिन पर सन् १३०१ ई० में आक्रमण किया था। अतः कवि का समय इन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध सा है। शार्ंगधर के जन्मस्थान, काल तथा जीवनवृत्त के विषय में और कोई विशेष प्रत्यायक प्रमाण उनके ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होता है।

१. द्रष्टव्य 'कविवंशवर्णन'—प्रथम परिच्छेद श्लोक २-६ तक (शार्ङ्गधर०)।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विभाजन कवि ने १६३ भागों में किया है, जिन्हें परिच्छेद कहा गया है। प्रथम एवं द्वितीय परिच्छेद क्रमशः कविवंश वर्णन (१२ श्लोक) तथा अनुक्रमणिका (४४ श्लोक) से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार अन्तिम परिच्छेद में 'विदेहमुक्ति' का कथन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थप्रशंसा (४ पद्य) तथा खंगपरीक्षा (६९ पद्य) नामक दो और परिच्छेद विदेहमुक्ति के बाद जुड़े हुए हैं किन्तु विषयानुक्रमणिका में कवि द्वारा गिनाए गए १६३ परिच्छेदों में इन दोनों की गणना नहीं है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में किसी व्यक्ति ने इन अंशों को ग्रन्थ से संयुक्त कर दिया है। अनुक्रमणिका में कवि स्वयं कहता है—

विदेहमुक्तिकथनं कालवंचनसंयुतं। सुभाषितवरस्येति कथितोऽयमनुक्रमः॥
शतं त्रिषष्ठ्यधिकं परिच्छेदेषु कीर्तितं। गणितं पद्यसंख्याभिः षट्सहस्रं शतत्रयम्॥

स्पष्टतः द्वितीय पद्य के अनुसार, प्रस्तुत पद्धति में कवि शार्ंगधर ने छः हजार तीन सौ पद्यों का संकलन किया था जो कि एक सौ तिरसठ परिच्छेदों में विभक्त था। किन्तु अद्यावधि प्राप्त ग्रन्थ में परिच्छेद तो १६३ ही हैं जब कि पद्यों की कुल संख्या केवल ४६१६ है। इससे सिद्ध होता है कि शार्ंगधरपद्धति के लगभग डेढ़ हजार पद्य काल-कवलित हो चुके हैं।

इन परिच्छेदों में संख्या ४० (सूर्यान्योक्ति) से ७१ तक (संकीर्णान्योक्ति) अर्थात् बत्तीस परिच्छेदों में कवि ने विविध विषयों पर विविध कवियों द्वारा प्रणीत ४८१ अन्योक्तियों का संकलन किया है। विषयों एवं लेखकों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है:—

१. **अन्योक्तियों के विषय**—रवि, चन्द्र, मेघ, वायु, हंस, मधुकर, कोकिल, चातक, मयूर, शुक, काक, बक, खद्योत, सिंह, गज, हरिण, करभ, वृषभ, सामान्य वृक्ष, विशेष वृक्ष, पर्वत, अगस्त्य, समुद्र, रत्न, शंख, नदी, तटाक, कमल, कूप, मरुस्थल, दावानल एवं संकीर्ण।

वृक्षविशेषमें—कल्पवृक्ष, पारिजात, चन्दन, अगुरु, चम्पक, अशोक, मालती, मल्लिका, केतकी, पाटला, सहकार, पनस, कदली, द्राक्षा, दाडिम, नारिकेल, ताल, भूर्ज, अश्वत्थ, न्यग्रोध, मधूक, शाल्मलि, निम्ब, बुब्बूल, खदिर, किंशुक, शाखोट, पीलु करीर, बिल्व, शालि, इक्षु, कार्पास, शण, कण्टकारिका, धत्तूर, तृण, ताम्बूल वल्ली तथा तुम्बी, इन ३९ विषयों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

संकीर्ण में धत्तूर, ईश्वर, गरुड, व्योम, पय, श्री, वीणादण्ड, अश्रु, कुण्डल, हार, सर्प, तिमि, सारस, चक्रवाक, द्विरेफ, बक, पथ, कुविन्द, लांगलिक, कर्णधार, शैलूष, कुशीलव, तैलिक, रमणी, कलश, पान्थ, दुग्ध, बडिशदण्ड, जिह्वा, अनिल, कस्तूरी, काक, पाषाण, खग, पंजरलावक, पिपीलक, श्वान, गज, मसण, जम्बुक, पोत्रिणी, शतपदी तथा वराह प्रभृति ४३ विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार समष्टिरूप में कुल अन्योक्ति-विषय लगभग एक सौ बारह हैं।

२. **अन्योक्तियों के प्रणेता**—महादेव, भल्लट, परिमल, प्रह्लादन, भवभूति, उमापतिधर, मदन, कालिदास, बल्लालसेन, त्रिलोचन, वस्तुपाल, चन्द्रकवि, बिल्हण, शारंगधर, अकालजलद, प्रकाशवर्ष, अचल, भानुपण्डित, भर्तृहरि, भोजराज, लक्ष्मी, श्रीगणेशदेव, श्रीघनदेव, पुष्पाकरदेव, विकटनितम्बा, भेरीभांकार, चन्द्रदेव, चन्द्र, लक्ष्मीधर, राघवचैतन्य, कृष्णमिश्र,

वृद्धि, जयवर्द्धन, आनन्दवर्धन, महीपतिमण्डलीक, रल्हण, लक्ष्मणसेन, गोविन्दराज, बल्लभदेव, मुक्तापीड, धर्मकीर्ति, इन्द्रकवि, धर्मवर्धन, जीवनायक, भगवान् व्यास, भदन्तज्ञान वर्मा, बीजक, वैद्यभानुपण्डित नापैय, शांगदेव, हरिगण, विज्जाका, सरस्वतीकुटुम्ब, नम्मैय, उत्पलराज, हेतुक, भट्टनायक, कर्पूरकवि, माधवमागध, शक्तिकुमार, इन्दुराज, राणक, विद्यापति, श्रीशुक, गौडाभिनन्द, मालवरुद्र, बधिरकवि, अच्युत, शर्ववर्मा, कविरत्न, श्रुतधर, अभिनवगुप्त, नरसिंह, धोईकवि, राजपितामहमहादेव, भीमसिंहपण्डित, भट्टेन्दुराज तथा दामोदर कवि।

सूक्तिमुक्तावली की ही भाँति, यहाँ भी राजपितामह महादेव तथा महादेव, भट्टेन्दुराज तथा इन्दुराज, वैद्यभानुपण्डित तथा भानुपण्डित में ऐक्य की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार प्रस्तुत संग्रह में पचहत्तर कवियों द्वारा एक सौ बारह विषयों पर प्रणीत कुल ४८१ पद्यों का संकलन शार्गधर कवि ने किया है। पीटर्सपीटर्सन ने सर्वप्रथम सन् १८८० में इस ग्रन्थ को बम्बई से प्रकाशित किया, यह तथ्य अवधेय है।

'शार्ङ्गधरपद्धति' के पश्चात् पंद्रहवीं शती में **वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली'** नामक संग्रह ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का प्रकाशन डा० पीटर्सन तथा महा० पं० दुर्गाप्रसाद जी ने सन् १८६६ ई० में बम्बई से किया। पीटर्सन के ही प्रमाणानुसार, श्रीकण्ठचरित के टीकाकार राजानक जोनराज के एक शिष्य श्रीवर ने भी १५वीं शती में ही एक अन्य सुभाषितावली की रचना की। किन्तु वह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नहीं। जब कि वल्लभदेवकृत सुभाषितावली प्राचीन संग्रहों के अनुकरण पर रची गई एक महत्त्वपूर्ण मौलिक कृति है।

जहाँ तक संग्रहकार के जीवनवृत्त का प्रश्न है, वह पूर्णतः अन्धकारमय ही है क्योंकि पूर्ववर्ती तीन कवियों की भाँति उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में कोई आत्मपरिचयात्मक पद्य नहीं लिखा है। दूसरी बात यह है कि संस्कृतसाहित्य में अनेक वल्लभदेव हो चुके हैं। पिछले संग्रहग्रन्थों में ही बल्लभ अथवा वल्लभदेव की अन्योक्तियाँ संग्रहीत की गई हैं। किन्तु ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार दो ही बल्लभदेव प्रख्यात हैं—एक तो शिशुपालवध के टीकाकार तथा दूसरे सुभाषितावली के प्रणेता। इनमें भी टीकाकार वल्लभदेव ही प्राचीन हैं, क्योंकि आचार्यमल्लिनाथ ने (१४वीं शती) माघकाव्य की 'सर्वङ्कषा' टीका (२।४४) तथा रायमुकुट ने अमरकोशटीका (सन् १४३२ में लिखित) में उनका उल्लेख किया है।[1] आचार्य आनन्दवर्धनकृत देवीशतक स्तोत्रकाव्य के टीकाकार कय्यट ने भी टीका के प्रारम्भ पद्य में अपने को चन्द्रादित्य का पुत्र तथा वल्लभदेव का पौत्र (नप्ता) स्वीकार किया है।[2] टीकाकार के ही

१. द्रष्टव्य—डा० पीटर्सनकृत सुभाषितावली की प्रस्तावना।

२. संचिक्षिप्सुरलं स्वबुद्धिरचितैः पर्यायशब्दैर्व्यधाट्टीकां वल्लभदेव उत्तमभतिस्मृत्यै भवानीस्तुतौ।
पर्यायैः क्रियया समं कविकृतान्पाठान्पठन्कय्यटश्चन्द्रादित्यतनूज इत्थमकरोत्तस्यैव नप्ता नवाम्॥

प्रमाणानुसार, उसका समय भीमगुप्त के शासनकाल अर्थात् दशम शती के उत्तरार्द्ध में निश्चित होता है क्योंकि टीका ४०७८ कलिवर्ष वीतने पर अर्थात् सन् ९७८ ई० में पूर्ण हुई थी।[1] इस प्रकार यदि कय्यट के पितामह का समय उनसे पचास वर्ष पूर्व स्वीकार कर लिया जाय तो वल्लभदेव का समय लगभग ९२८ ई० सिद्ध होता है। स्थूल रूप में वल्लभदेव का साहित्यिक युग दशमशती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है जो कि महाकवि माघ की दृष्टि से वल्लभदेव के टीकाकार होने का सम्भाव्य प्रमाण बनता है।

किन्तु इसी स्थल पर यह तथ्य भी जान लेना चाहिए कि देवीशतक के टीकाकार कय्यट, उन कय्यट से पूर्णतः भिन्न एवं पूर्ववर्ती हैं जिन्होंने कि पतंजलि-प्रोक्त महाभाष्य पर 'प्रदीप' नामक टीका लिखी है और जो कि वैय्याकरण जय्यट के पुत्र थे। डा० कोलहार्न तथा ब्यूहलर ने प्रदीपकार कय्यट को तेरहवीं शती ई० से अर्वाचीन ही स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि शिशुपालवध के टीकाकार वल्लभदेव अत्यन्त प्राचीन हैं और सम्भवतः उन्हीं की अन्योक्तियाँ पूर्वालोचित संग्रहग्रन्थों में संकलित की गयी हैं। इन अन्योक्तियों से वल्लभदेव को कवित्वशक्ति का पता लग जाता है।

जहाँ तक संग्रहकार के परिचय का प्रश्न है, वह पूर्णतः अज्ञात ही है। किन्तु अन्यापदेश पद्धतियों में ही उद्धृत **जल्हण, जोनराज** तथा **भागवतामृतदत्त** सरीखे कवियों से उनके जीवन-काल पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। जल्हण, संस्कृतसाहित्य में मुख्यतः दो हुए हैं, एक तो मुग्धोपदेश तथा सोमपालविलास नामक काव्यों के प्रणेता, जो कि कश्मीर में बारहवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। मंखक ने श्रीकण्ठचरित के अंतिम सर्ग में इनका स्मरण किया है। सोमपालविलास की रचना कवि ने अपने आश्रयदाता 'सोमपाल' के प्रीणनार्थ की है जो कश्मीर देश के समीपवर्ती प्रदेश के शासक थे। इनकी राजधानी का नाम 'राजपुरी' था। राजानक रुय्यक (रुचक) ने इसी ग्रन्थ की 'अलंकारानुसारिणी' टीका भी लिखी है। दूसरे जल्हण पूर्वोक्त सूक्तिमुक्तावली के रचयिता तथा यादव नरेश कृष्ण के गजवाहिनी-पति थे। इनका समय तेरहवीं शती का उत्तरार्द्ध है। किन्तु यह निश्चित नहीं कि सुभाषितावली में उद्धृत जल्हण प्राचीन हैं या नवीन। यदि वे नवीन जल्हण हैं तो वल्लभदेव का समय आसानी से उनके बाद अर्थात् १४वीं या १५वीं शती में स्वीकार किया जा सकता है।

किन्तु वल्लभदेव को कालविषयक संगति बैठाने के लिए जोनराज तथा अमृतदत्त के प्रमाण अधिक सहायक बन सकते हैं। जोनराज श्रीकण्ठचरित (मंखक) के टीकाकार हैं जिनका समय सन् १४५० ई० के आस-पास है। इसी प्रकार—

---

१. वसुमुनिगगनोदधिसमकाले याते कलेस्तथा लोके।
द्वापंचाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्तनृपे॥

२. द्रष्टव्य—सुभाषितावली की प्रस्तावना में उद्धृत ब्युहलर की 'काश्मीर-रिपोर्ट' पृ० ७१।

किमेवमविशंकितः शिशुकुरंग लोलक्रमं परिक्रमितुमीहसे विरम नैव शून्यं वनम्।
स्थितोऽत्र गजयूथनाथमथनोच्छलच्छोणितच्छटापटलभासुरोत्कटसटाभरः केसरी॥

प्रभृति अन्योक्ति जो भागवतामृतदत्त द्वारा लिखी गयी हैं, एक चुनौती के रूप में, कश्मीर-नरेश शाहाबुद्दीन द्वारा मीरशाह के लिए भेजी गई थी जो कि कश्मीर पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था।[1] जनरल कनिंघम के अनुसार **शाहाबुद्दीन** का समय सन् १३५२ ई० है। सम्भवतः अमृतदत्त, शाहाबुद्दीन के ही दरबारी कवि थे। इस प्रकार यदि जोनराज तथा अमृतदत्त का प्रमाण माना जाय तो वल्लभदेव का समय **चौदहवीं शती के अन्त से लेकर पन्द्रहवीं शती तक** स्वीकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत संग्रह में कुल १०१ पद्धतियाँ तथा ३५२८ पद्य संग्रहीत हैं। इनमें प्रथम पद्धति का विषय 'मंगलाचरण' तथा दूसरी का 'भगवत्स्वरूपवर्णन' है। इन पद्धतियों में संख्या दश (सूर्येन्दुवर्णन) से लेकर उन्तीस (संकीर्णवस्तु) तक का विषय अन्यापदेश है। अन्यापदेश विषयक इन बीस पद्धतियों में कवि ने विविध कवियों द्वारा प्रणीत ४९३ पद्यों का संकलन किया है। विवरण इस प्रकार है—

१. **प्रतिपाद्य विषय**—सूर्येन्दु, सिंह, गज, मृग, करभ, मयूर चातक, हंस सारस, कोकिल, भ्रमर, बक, काक, कीटमणि, वृक्ष, मेघ, समुद्र, मणि, शंख, पद्म, मरु, संकीर्ण। वृक्षों में चन्दन, न्यग्रोध, ताल, अशोक, करीर, कल्पतरु, खदिर, चम्पक, भूर्ज, शाखोटक तथा शाल्मलि ये ग्यारह विषय हैं। इसी प्रकार संकीर्ण वर्ग में सागर, नद, नदी, नक्र, सिंह, चन्दन, मृग, आपण, सर्प, मयूर, रजनी, मदन, हेमकार, शतपदी, कूप, लुब्धक, तृणमणि, दन्दशूक, राजा, बाडव, कपोती, काक, मेघ, महामति, शनि, किसान, मूर्ख, पर्वत, वणिक्, मैनाक, पवन, कुबेर, अगस्त्य, विष्णु, कुम्भ, श्वान, राहु, शुक, मालती, विशिख, अलंकार, मशक, मृणाल, मलय, धूलि, सूर्य, जलकण, हंस, जाल्म, काष्ठिक, धवल, विषमंत्री, व्योम, दावानल, मेरु, आखु, तरु, विन्ध्य, हालिक तथा कूर्म आदि हैं। इनमें से उभयनिष्ठ होने के कारण यदि सूर्य, सिंह, मृग, हंस, काक, वृक्ष तथा मेघ इन सातों को हम एक मान लें तो समस्त अन्योक्तिविषयों की संख्या लगभग चौरासी होती है।

२. **अन्योक्तियों के प्रणेता**—शंकुक, भट्टनारायण, पाजक (पण्डित), भट्ट मल्लट, प्रकाशदत्त, आनन्दवर्धन, धाराधर, कालिदास, कलशक, भवानीनन्दन, द्युतिधर, श्रोवक (पण्डित) आराध्यकर्पूर कल्हण, चौआक, श्रीमुक्तापीड, पुण्य, वज्रायुध, ललितानुराग, उपाध्याय धन-वर्मा, श्री राजानक जोनराज, मद्धक (पण्डित) अमृतदास (भागवत) रतिसेन, जल्हण, बाण-भट्ट, प्रकाशवर्ष, श्रुतधर, गोविन्दराज. भरचुहस्तिपक, सातल, धर्मकीर्ति, जयापीड, जीवनाग, नैषधकर्ता (—श्रीहर्ष) जयवर्धन (भाग०). भर्तृसारस्वत, चर्पटीनाथ, भट्ट मुक्तिकोशक

१. द्रष्टव्य—पीटर्सन-कृत सुभाषितावली-प्रस्तावना।

श्रीमण्डक, श्री शिवस्वामी, अर्थवर्मा, यशःस्वामी, तक्षक, भट्टवृद्धि, भट्टरुद्रट, विकटनितम्बा, भट्टनायक, चाट, सुखविष्णु, क्षेमेन्द्र, वाल्मीकि, किशोरक, उपाध्यायोदय, भट्टादित्यक, नरेन्द्र, वामन, भदन्त ज्ञानवर्मा, थोआक, महर्षि, दाक्षिणात्य, विश्रान्तिवर्मा, रत्नाकर, त्रिविक्रम, (भाग०) अमरुक, वल्लभदेव, भट्टप्रभाकर, पंचतंत्र (?विष्णुशर्मा) कविरत्नक, भट्टेन्दुराज, लुट्टक, धर्मदेव, श्रीशूर (भाग०), छात्र, जयमाधवसूनुलोठक, सुखशर्मा, थो इत्युच्यमानानन्द, नरसिंह, यशस्, ईश्वरसूनुलोवक, भट्टकि विद्याधिपति, अमृतवर्धन, जगद्धर (पण्डित) प्रशस्तक (पण्डित) भट्टापराजित, लुल्लसूनुविद्याधर तथा धर्मदत्त।

इस प्रकार, सुभाषितावली में, कुल नव्वे कवियों द्वारा चौरासी विषयों पर लिखित ४९३ अन्योक्तियों का संकलन श्रीवल्लभदेव ने किया है। यह अवधेय तथ्य है कि सुभाषितावली में जिन कवियों की अन्योक्तियाँ संकलित की गई हैं, अधिकांशतः वे नवीन हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में ही नन्दनपण्डित ने **'प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर'** नामक संग्रहग्रन्थ लिखा जो कि लगभग एक हजार पद्यों का संकलन है। प्रास्ताविक पद्य में कवि स्वयं कहता है—'सहस्रं श्लोकानां व्यरचयदिदं नन्दनकविः'। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही है। किन्तु पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा तैयार किए गए 'कैटालाग आफ पामलीफ एण्ड सैलेक्टेड पेपर मैन्यूस्क्रिप्ट्स बिलांगिंग टु दि नेपाल दरबार लाइब्रेरी, काठमाण्डू' से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ की एक प्रति नैपाल में है।[1] इसी प्रकार सुभाषितरत्नकोष में पृ० २३ पर डा० कौशाम्बी द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार प्रस्तुत संग्रह की एक प्रति 'मिथिलासंस्कृतपरिषद्' दरभंगा के सम्मान्य सदस्य महामहोपाध्याय डा० **उमेशमिश्र** के व्यक्तिगत संग्रह में प्राप्त हुई। इस प्रति के लिए मैंने श्रद्धेय गुरुवर्य्य से याचना की और दो महीने तक उन्हीं के आदेश पर प्रतीक्षा भी किया। किन्तु पिछले सप्ताह (७ अगस्त १९६६ ई०) उनके पुत्र श्री प्रभाकान्त जी ने पुस्तक के न मिलने की सूचना दी। ऐसी दशा में चूँकि 'प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर' संग्रहों की परम्परा में प्रणीत एक महत्त्वपूर्ण कृति है, अतः डा० कौशाम्बी द्वारा दी गई सूचना के आधार पर ही इसका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

"यद्यपि कविनन्दन ने प्रारम्भ में ग्रन्थगत श्लोकों की संख्या का प्रमाण 'सहस्रं श्लोकानां' ही कह कर दिया है। किन्तु द्विरुक्तियों तथा खण्डितांशों को मिलाकर पद्यों की कुल संख्या १४२८ है। इसके ४८० पद्य, सुभाषितरत्नकोष से उसी क्रम में उद्धृत किये गये हैं। ठीक इसी प्रकार २४५ पद्य, सदुक्तिकर्णामृत एवं सुभाषितरत्नकोष, दोनों से सम्मिलित रूप में अभिन्न हैं। ग्रन्थ के १६, ३६, ६४ तथा ९६ संख्यक पद्य क्रमशः कपिलेश्वर, गजपति, त्रिविक्रमगजपति तथा पुरुषोत्तमगजपति द्वारा प्रणीत हैं, जिससे सिद्ध होता है कि संग्रहकार उड़ीसा प्रदेश स्थित राजवंश से पूर्णतः परिचित था। इस राजवंश के संस्थापक कपिलेश्वर गजपति थे जिनके पुत्र पुरुषोत्तम थे। इन्हीं पुरुषोत्तम के पुत्र प्रतापरुद्र गजपति सन् १४९७

---

१. द्रष्टव्य—उपर्युक्त कैटलाग, संख्या १५७४ पृ० २११—कलकत्ता सन् १९०५ ई०।

ई० में सिंहासन पर बैठे। अतः उनके पिता तथा पितामह जिन्हें प्रसन्नसाहित्यरत्नाकरकार ने उद्धृत किया है, यह सिद्ध करते हैं कि नन्दन पण्डित उनके बाद सम्भवतः प्रतापरुद्र के ही समय में हुए। इस दशा में संग्रहकार का समय १५वीं शती का उत्तरार्द्ध ही होना चाहिए[1]।"

ग्रन्थ प्रत्यक्ष न होने के कारण उसके समस्त प्रतिपाद्य का और विशेषरूप से 'अन्यापदेश व्रज्या' का विस्तृत विवेचन नहीं उपस्थित किया जा सकता। किन्तु सुभाषित-रत्नकोष में प्रदत्त सम्पादकों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर में संकलित, अन्यापदेश विषयों तथा उनके प्रणेताओं की सूचना संक्षेपतः दी जा रही है—

१. **प्रतिपाद्यविषय**—मुक्तारत्न-सागर-पद्माकर - मरकतमणि - सिंह - सलयद्रुम-कलकण्ठ - अशोक - मृग - तरु-शरभ-अगस्त्य-पिप्पल-न्यग्रोध-पान्थ-सरोवर-चातक-कदम्ब-सूर्य - आम्र-कूर्मावतार - नौका - नदी-पोखरी (पुष्करिणी)-कांचन-शंख-मनसिज-वाडवाग्नि-दुर्जन-चक्रवाक - मृगी-लक्ष्मी-चन्द्रमा-मेघ-भ्रमर-वानरी-उद्यानपाल-मत्तगज—३८ विषय।

२. **प्रणेतागण**—मुरारि-कविराज - दामोदर - कविनन्द - कालिदास-वल्लण-नन्दन लक्ष्मीधर-बधिर-कविराज-अभिनन्द-शालिक - यस्प्याक-अमरसिंह-श्रीधर्माकर - तरणिनन्दन-भट्टगणपति-वीर-अचलसिंह-वित्तोक - बिम्बोक-लडहचन्द्र-कलिकाकार-शब्दार्णव-कुशलनाथ-सुरभि-सुरुचित-बुद्धाकरगुप्त - नारायणदत्त - क्ष (क्षे) मीश्वर-गोभटि (ट्ट?) चित्तप (चित्तूप-छितप) जितारि-धर्मपाल-धर्मयशोक (?धर्माशोक) नील-प्रवरसेण (न)-भर्तृहरि-योगेश्वर (धर्मयोगे०) वसुकल्प-वाचस्पति-विक्रमादित्य (कालिदास) विद्या-हनूमत्—४३ कवि।

इस प्रकार ईसा की दशवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं के मध्य तक पाँच सौ वर्षों में असंख्य अन्योक्तियों का संकलन, संग्रहग्रन्थों में किया गया है। यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाय तो स्पष्टतः प्रतीत होगा कि विद्याकर पण्डित के पश्चात् होने वाले संग्रहकारों ने उत्तरोत्तर अधिक संख्या में नवीन कवियों को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। किन्तु विश्व के प्रत्येक वाङमय की यह एक मौलिक विशेषता रही है कि जब वह लोकोत्तर-वर्णना की चरम पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब उसकी एक ही दशा संभव होती है। लोकभाषा में उसी को ह्रास या पतन की संज्ञा दी गयी है। ह्रास की स्थिति में कविता की धारा एक नवीन दिशा में मुड़ जाती है। पूर्ववर्ती कवि तथा काव्य की अभिनव काव्यकारों द्वारा प्रकारान्तर से अभिव्यक्ति होने लगती है, फलतः नये काव्य-सिद्धान्तों का जन्म होता है।

कालिदास तथा उनके सुकुमार मार्ग की समाप्ति पर, संस्कृत काव्यसाहित्य की ऐसी ही दशा हुई थी। परवर्ती कवियों द्वारा चलाई गई विचित्र काव्य-सरणि, वस्तुतः सुकुमार पद्धति की ही प्रकारान्तर से अभिव्यक्ति थी। श्रीकण्ठचरितकार महाकवि मंखक ने इसी

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—सुभाषितरत्नकोष की प्रस्तावना पृ० २२-२३।

तथ्य को ध्यान में रखकर नवीन कवियों की मीठी चुटकी ली थी[1]। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण (द्वितीयसन्धि) में छायोपजीवी-प्रभृति कवियों का जो व्याख्यान किया है, वह भी कविता की ह्रासमयी स्थिति में ही सम्भव होता है।

संग्रहग्रंथों के विषय में भी यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि पन्द्रहवीं अथवा सोलहवीं शती के पश्चात् ही अन्योक्तिविषयों तथा उनके प्रणेताओं की मौलिकता जाती रही। विद्याकर से लेकर नन्दन कवि के युग तक ही, लगभग पाँच प्रतिशत अन्योक्तियाँ कर्तृत्व की दृष्टि से संदिग्ध रही है क्योंकि एक ही रचना दो अथवा तीन-चार संग्रह में भिन्न-भिन्न कवियों की रचना बताई गई है। किन्तु इस विवादास्पद विषय को यहीं छोड़कर संग्रह-ग्रन्थों की अगली परम्परा का विवेचन कर लेना उचित होगा।

प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर के पश्चात् अब तक अर्थात् लगभग पाँच सौ वर्षों में अनेक संग्रहग्रन्थ लिखे गये किन्तु उनमें शायद ही कोई ऐसा हो, जिसकी तुलना हम सूक्तमुक्तावली-स्तर के संग्रह से कर सकें। इन ग्रन्थों में जिनमें अधिकांश, अप्रकाशित ही हैं प्रायः अन्योक्तियों का संकलन मात्र किया गया है किन्तु यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि वे किन कवियों की रचनायें हैं? यद्यपि इन नवीन ग्रन्थों में अनेक तो ऐसे भी हैं जिनमें प्राचीन संग्रहों की तुलना में नवीन-विषय संग्रहीत किये गये हैं। किन्तु बहुमत उन्हीं ग्रन्थों का है जिनमें कि प्राचीन संग्रह ग्रन्थों में से ही छाँटकर कुछ अन्योक्तियाँ संकलित कर दी गयी हैं। वस्तुतः उन तथाकथित संग्रहग्रन्थों में औपचारिक रूप से संग्रहात्मक प्रवृत्ति मात्र का निर्वाह किया गया है।

सूक्ति अथवा सुभाषित एक अत्यन्त व्यापक पद है जिसमें शृंगार, वैराग्य, नीति अन्यापदेश, राजनीति, चौर्यशास्त्र, वास्तुकला, चित्रकला संगीतकला—सब के सब अंग रूप में प्रतिपादित हैं। प्राचीन संग्रह की एकमात्र विशेषता यही है कि उनमें यथाशक्य इन समस्त विषयों का एकधा निबन्धन किया गया है। किन्तु सोलहवीं शती के बाद वाले अधिकांश सुभाषित ग्रन्थ प्रायः एकांगी हैं। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थ के अनुकरण पर नाम तो उनका उतना ही व्यापक एवं कौतुकपूर्ण है किन्तु प्रतिपाद्य की दृष्टि से वे अत्यन्त संकीर्ण हैं। उदाहरणार्थ **जैनकवि सोमप्रभाचार्यकृत 'सूक्तिमुक्तावली'** केवल वैराग्य-विषयों से[2] तथा **रूपगोस्वामीप्रणीत 'पद्यावली'** केवल कृष्णलीलापरक सूक्तियों से युक्त है। इसी प्रकार **वेदान्तदेशिककृत सुभाषितनीवी** केवल मनुष्य की विविध प्रवृत्तियों को इंगित करने

---

१. **यातास्ते रससारसंग्रहविधिं निष्पीड्य निष्पीड्य ये**
वाक्तत्त्वेक्षुलतां पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशश्चक्रिरे।
जायन्तेऽद्य यथायथं तु कवयस्ते यत्र सन्तन्वते
येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ॥ २।४२

२. **द्रष्टव्य—काव्यमाला, सप्तमगुच्छक सन् १८९० ई०।**

वाली सूक्तियों[1] से तथा **जैनाचार्य अमितगतिकृत 'सुभाषितरत्नसन्दोह'** जैनधर्म-परक सुभाषितों से ही भरा है।

श्री एच० डी० वेलंकर द्वारा सम्पादित 'जिनरत्नकोश' तथा मराठी भाषा में लिखित श्री वर्णेकरकृत 'अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्य' पृ० १४६-४७ पर सोलहवीं शती से अद्यावधि लिखे गये सैकड़ों संग्रह-ग्रन्थों की नामावली प्रस्तुत की गयी है। कविवचनसमुच्चय के सम्पादक श्री टामस महोदय ने भी ग्रन्थ की प्रस्तावना में अनेक प्रमुख संग्रहग्रन्थों का उल्लेख किया है। किन्तु यह अवधेय तथ्य है कि इनमें से बहुत थोड़े ही अंशतः मौलिक कहे जा सकते हैं। पूर्णतः मौलिक तो वस्तुतः कोई है ही नहीं। सबके सब पूर्व-व्याख्यात संग्रहग्रन्थों के उपजीवी ही हैं। ऐसी दशा में जबकि हमें केवल अन्योक्ति विषयों तथा उनके लेखकों के वैविध्य का विवेचन ही अभीष्ट है, उन ग्रन्थों का एकैकशः परिशीलन करना निरर्थक ही है। दूसरी बात यह है कि इन सैकड़ों संग्रहग्रन्थों में से बहुत थोड़े ही प्रकाशित एवं उपलब्ध हैं, अतः उनके विषय में कुछ सामान्य निर्देश भी दे पाना सम्भव नहीं है।

नन्दनकवि के (१५वीं शती) पश्चात् प्रमुख संग्रहग्रन्थों में आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि कृत सूक्तिरत्नाकर (१३वीं शती) हरिदासकृत प्रस्तावरत्नाकर, हरिकविकृत सुभाषित-हारावली, सुन्दरदेवकृत सूक्तिसुन्दर (१७वीं शती) व्रजनाथकृत पद्यतरंगिणी, वेणीदत्त-कृत पद्यवेणी, हरिभास्करकृत पद्यामृततरंगिणी, भट्टगोविन्दजित्कृत सभ्यालंकरण, नारोजी पण्डितकृत सूक्तिमालिका (१८वीं तथा १९वीं शती) तथा निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित सुभाषितरत्नभाण्डागार आदि (सन् १९३५ ई०) आते हैं। पद्यामृततरंगिणी, पद्यवेणी तथा सभ्यालंकरण, श्री जे० बी० चौधरी द्वारा क्रमशः सन् १९४१, ४४ तथा ४७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित किये गये हैं। सिद्धिचन्द्र का ग्रन्थ सम्भवतः अभी तक अप्रकाशित ही है।

प्रस्तावरत्नाकर, हरिदासकवि द्वारा संवत् १६१४ (सन् १५५७ ई०) में पूर्ण किया गया। कवि द्वारा दिये गये आत्मपरिचय से ज्ञात होता है कि वह खारागढ़-नरेश नरवीरशाहि के राज्यकाल में विद्यमान था। उसके पिता पुरुषोत्तम अत्यन्त प्राज्ञ तथा कुलशील-युक्त ब्राह्मण थे। उनकी चार सन्तानों (कृष्णदास, दामोदर, नारायण तथा हरिदास) में से, संग्रह-कार अन्तिम था। इस ग्रन्थ का विभाजन कुल इक्कीस परिच्छेदों में हुआ है जिसमें चौथा अन्योक्ति-परिच्छेद है।[2]

अन्योक्तिपरिच्छेद में शुक-शाल्मलि, किंशुक, चातकपोत, अलि, गज, मत्स्य, पुरुषविशेष, सागर, कल्पवृक्ष, ताम्बूल, कोकिल, कवि, रासभ, केकी, काक, शंकर, शेष, व्योम, जल, श्री, कुण्डल, दुर्दुर, चक्र, जिह्वा, कस्तूरी, पाषाण, कमलपुष्प, हरिण, तुम्बी, करीर, दाता, शरण्य, पराधीन, चन्द्रमा, जीमूत शाखोटक, मन्दार, सरोवर, स्वर्णवलय, मलय-

---

१. द्रष्टव्य—काव्यमाला अष्टमगुच्छक सन् १९११ ई०।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—ग्रन्थस्थित 'कविवंश-वर्णन' (श्लोक ५-९ तक)।

पवन, सारंग, हंस, दुर्दशा प्रभृति ४५ विषयों पर कुल चौसठ अन्योक्तियों का संकलन किया गया है। किन्तु पूर्वव्याख्यात ग्रन्थों की भाँति, इस ग्रन्थ में प्रत्येक पद्य के कर्ता का नाम नहीं निर्दिष्ट किया गया है। सम्भवतः इसका कारण यह था कि प्राचीन ग्रन्थों से ही अधिकांश अन्यापदेशों का चयन करने के कारण कवि ने उनका कर्तृत्व स्पष्ट करने की आवश्यकता ही न समझी होगी, क्योंकि पूर्वग्रन्थों में उनका निर्देश भूरिशः हो चुका है। किन्तु एक तथ्य जानने योग्य है, वह यह कि प्रस्तावरत्नाकर की प्रभूत अन्योक्तियाँ स्वयं कवि द्वारा प्रणीत की गयी प्रतीत होती हैं, क्योंकि संग्रहकार के पूर्ववर्ती संग्रहग्रन्थों में वे बिलकुल प्राप्त नहीं होतीं। ताम्बूल तुम्बी तथा करीर प्रभृति विषय भी सर्वथा नवीन हैं, जिससे हरिदास की मौलिक प्रतिभा सुस्पष्ट हो जाती है। प्रस्तावरत्नाकर अप्रकाशित कृति है, किन्तु इसकी एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय (संख्या ९४४) में विद्यमान है जो कि राव मुकुन्द सिंह (बूँदी) द्वारा सम्मेलन को १९५९ ई० में उपहार रूप में दी गई। पुस्तक में कुल २१४ पृष्ठ हैं। शोधकर्ता ने इस ग्रन्थ का स्वयं अध्ययन किया है।

नारोजीपण्डितकृत 'सूक्तिमालिका' का प्रकाशन 'दि जर्नल आफ दि तंजौर सरस्वती-महल लाइब्रेरी' (वाल्यूम १३ नं० १ से वाल्यूम १५ नं० ३ तक, सन् १९६१ ई०) में हुआ है। यद्यपि पुस्तक में कवि ने अपना कोई परिचय प्रस्तुत नहीं किया है, तथापि वह अर्वाचीन ही प्रतीत होता है। ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका से केवल इतना ज्ञात होता है कि संग्रहकार के पिता का नाम विश्वनाथ पण्डित था। यह संग्रह पाँच पद्यों की प्रस्तावना को छोड़कर नमस्कार, नीति, सज्जन, दुर्जन, सामान्य, अन्योक्ति, कथा एवं दशावतार—इन आठ पद्धतियों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः २२, ६४, ८१, १०९, १४९, २०६, २२५ तथा २३८ पद्य हैं। इस प्रकार समस्त ग्रन्थ में स्थूल दृष्टि से लगभग ग्यारहसौ पद्यों का संकलन है। अन्योक्ति के ३९ विषय यद्यपि पूर्वालोचित विषयों में ही अन्तर्भूत हैं तथापि तुलसी, पूग, चिञ्चा, जम्बीर, मक्षिका, सरट, मार्जार तथा इन्द्रवारुणी विषयक अन्योक्तियाँ नारोजी पण्डित की मौलिक सूझबूझ की परिचायक हैं। वस्तुतः सूक्तिमालिका एक उत्कृष्ट संग्रहग्रन्थ है जो कि प्रस्ताव-रत्नाकर की ही कोटि का है। क्योंकि कवियों का नाम इसमें भी नहीं प्राप्त होता। इसका कारण यह है कि सूक्तिमालिका की अन्योक्तियाँ भी स्वयं नारोजी पण्डित द्वारा लिखी गयी हैं।

सुभाषितरत्नभाण्डागार, सुभाषित-संग्रहों की कोटि में अन्तिम कहा जा सकता है जो कि प्राचीन संग्रहों तथा स्वतन्त्र चयनों के आधार पर संकलित तथा निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सर्वप्रथम १९३५ ई० में प्रकाशित किया गया। इसमें मंगलाचरण, सामान्य, सार, चित्र, अन्योक्ति, नवरस तथा संकीर्ण नामक सात प्रकरण हैं, जिनमें दश हजार से अधिक पद्यों का संकलन किया गया है। अन्योक्ति का विभाजन प्रस्तुत संग्रह में सोलह वर्गों में किया गया है—सूर्य, चन्द्र, मेघ, वायु, पर्वत, समुद्र, नदी, तड़ाग, कूप, मरुस्थल, दावानल, व्योमचर, जलचर, वृक्ष तथा संकीर्ण। परन्तु यदि इनके उपभेदों की एकैकशः गणना की जाय तो प्रति-

पाद्य विषयों की कुल संख्या १७५ हो जाती है[1] जिनमें कुल एक हजार चौहत्तर पद्य संकलित किये गये हैं। वस्तुतः सुभाषितरत्नभाण्डागार संस्कृतसाहित्य का विशालतम संग्रहग्रन्थ है। अन्योक्तियों का भी वृहत्तम संग्रह यही ग्रन्थ है क्योंकि इतनी अधिक अन्योक्तियों का संकलन किसी भी पूर्व ग्रन्थ में नहीं हुआ है।

(ख) प्रबन्ध-रचनाओं में प्राप्त अन्योक्ति-वाङ्मय

लिखित अन्योक्तिसाहित्य के एक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का संक्षेपमें विवेचन किया जा चुका है। अब यह देखना है कि काव्य के विविध अंगों में इसका प्रतिपादन किस रूप में हुआ ? आचार्य मम्मट के अनुसार दोषविहीन, गुणोंसे युक्त तथा सालंकार शब्द एवं अर्थ की समष्टि ही काव्य है। किन्तु यह तो 'काव्य' की काव्यशास्त्रीय परिभाषा हुई। वस्तुतः 'काव्य' शब्द का स्पष्ट अभिप्राय आचार्य भट्टतौत के शब्दों में 'कविकर्म' से है। अतः कवि की प्रतिभा से प्रसूत कोई भी वाङ् निर्मिति काव्य कही जाने योग्य है। आचार्यों ने काव्य का विभाजन कई प्रकार से किया है और उस विविधता का मूल कारण उस विभाजन के पीछे उनकी विविध दृष्टि ही है। भामह तथा दण्डी ने रूपतत्त्व, वस्तुतत्त्व, प्रतिपाद्य एवं भाषा की दृष्टि से तथा मम्मटादि आचार्यों ने काव्यात्मा ध्वनि की दृष्टि से काव्य-विभाजन प्रस्तुत किया है।

१, सूर्य, चन्द्र, मेघ, वायु, पर्वत, (हिमालय, मेरु, विन्ध्य, मलय, मन्दर, मैनाक, लोकालोक, रोहण, पर्वतदरी, गिरिनिर्झर) समुद्र (क्षीरसागर, अगस्त्य, रत्न, वज्रमणि, कौस्तुभ, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, मरकत, माणिक्य, काच, शंख, पांचजन्य) नदी (गंगा, शोण) तडाग (मानस) कूप, मरुस्थल, दावानल (वडवानल) गरुड़, हंस, मधुकर, कोकिल, चातक, मयूर, चक्रवाक, शुक, काक, बक, घूक, खद्योत, सिंह, गज, मृग, करभ, रासभ, वृषभ, कपि, बराह, आदिवराह, श्वा, वृश्चिक, भेक, जम्बुक, सर्प, शेष, मत्स्य, रोहित, राघव, कूर्म, वृक्ष कल्पद्रुम, पारिजात, चन्दन, अगुरु, चम्पक, बकुल, अशोक, यूथी, मालती, मल्लिका, दमनक केतकी, पाटला, सहकार, पनस, तमाल, कदली, द्राक्षा, दाडिम, नालिकेर, ताल, भूर्ज, अश्वत्थ, न्यग्रोध, मधूक, शाल्मलि, निम्ब, बब्बूल, खदिर, किंशुक, शाखोट, पीलु, करीर, बिल्व, शालि, कुटज, इक्षु, लवंगी, कार्पास, शण, कण्टकारिका, धत्तूर, पलाण्डु, तृण, कलम, ताम्बूल, तुम्बी, वंश, कुन्द, कमल-लता।

(संकीर्ण में) शिव, परशुराम, रामचन्द्र, सीता, इन्द्र, स्मर, आकाश, पृथ्वी, जल मारुत, मृगतृष्णा, सुवर्ण, मौक्तिक, सुवर्णकार, हार, कंचुक, कुण्डल, नासाभूषण, वलय, रंग, वीणादण्ड, मुरली, कुविन्द, लांगलिक, कर्णधार, तैलिक, पंजरलावक, व्याध, विषमन्त्री, मालाकार, कायस्थ, कवि, बाला, शैलूष, कुशीलवबाला, पल्लीपतिपुत्री, पान्थ, कस्तूरी, दीप, तुला, कुम्भ, कलश, दुग्ध, वडिशदण्ड, शर, लम्पाक, खल, कण्टक, कालकूट, जिह्वा, नन्दनवन, वसन्त, मुसल, संकीर्ण।

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में काव्य के विविध रूपों का ही परिशीलन करना अपेक्षित है अतः व्यंजनानुसारी काव्यभेद बहुत उपयोगी नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने ग्रन्थ के छठें परिच्छेद में काव्य का जो भेद प्रस्तुत किया है, वस्तुतः वही सर्वोत्तम है क्योंकि भामह, दण्डी तथा वामन की समस्त दृष्टियों का स्वीकृत रूप होने के कारण उसमें छोटी-बड़ी सभी काव्य-व्यवहृतियाँ समाहृत हो जाती हैं। विस्तृत विवेचन न करके, विभाजन का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है:—

काव्य

- दृश्य (अभिनेय)
  - रूपक
    - नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग प्रहसन, डिम, समवकार, ईहामृग अंक एवं वीथी (१०)
  - उपरूपक
    - नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी सट्टक, नाट्यरासक प्रस्थान उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित शिल्पक विलासिका, दुर्मल्लिका प्रकरणी, हल्लीश एवं भाणिका (१८)
- श्रव्य
  - पद्य
    - मुक्तक
    - युग्मक
    - सन्दानितक
    - कलापक
    - कुलक
    - महाकाव्य
    - खण्डकाव्य (गीतकाव्य-सन्देशकाव्य)
  - गद्य
    - कथा
    - आख्यायिका
  - पद्य-गद्य
    - चम्पू
    - विरुदावली
    - इत्यादि

संस्कृत-साहित्य में रूपक के अन्तिम पाँच भेद बहुत कम प्राप्त होते हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में केवल त्रिपुरदाहडिम एवं अमृतमन्थन समवकार का उल्लेख मिलता है,[१] किन्तु ग्रन्थ कोई भी उपलब्ध नहीं है। महोबानरेश श्री परमर्दिदेव (सन् ११६३-१२०३ तक) के विद्वान् अमात्य वत्सराज ने सर्वप्रथम त्रिपुरदाहडिम, समुद्रमन्थन समवकार तथा रुक्मिणी-हरण ईहामृग की रचना की। ऐसी जनश्रुति है कि वत्सराज ने माधवी नामक वीथी तथा शर्मिष्ठा-ययाति नामक अंक की भी रचना की है। किन्तु वे ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। वत्सराज की इन कृतियों के अतिरिक्त संस्कृत में इस कोटि की कोई भी दूसरी कृति नहीं है। उपरूपकों में भी नाटिका, त्रोटक, सट्टक, प्रकरणी तथा भाणिका का ही प्रणयन अधिक हुआ है। प्रेंखण (प्रेक्षण ?) तथा रासक भी प्रायः प्रसिद्ध उपरूपकों की कोटि में आते हैं।

१ द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र ४।२-३ तथा ४।१० (गायकवाड़ संस्करण)।

मुक्तक से लेकर कलापक तक का पद्य क्रमशः एक, दो, तीन तथा चार श्लोकों का होता है। पाँच अथवा उससे अधिक पद्यों का समुच्चय 'कुलक' कहा जाता है। जब यही बहुसंख्यक कुलक, सर्गबन्ध का रूप धारण कर लेते हैं तो इन्हें महाकाव्य की तथा 'काव्यैकदेशानुसारी' होने पर खण्डकाव्य की संज्ञा दी जाती है। इन्हीं मुक्तक पद्यों का संकलन संख्या-भेद के अनुसार क्रमशः पञ्चक, सप्तक, अष्टक, दशक, पंचदशी, विंशति, पंचविंशति, द्वात्रिंशति, पंचाशत्, सप्तति, द्वासप्तति, शतक, त्रिशती, पंचशती, सप्तशती, सहस्र, संग्रह, मुक्तावली, रत्नावली, रत्नकोष, रत्नामृत आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। मुक्तकों के यही विविध रूप 'सुभाषितकाव्य' भी कहे जाते हैं जिनका विस्तृत विवेचन संग्रहों के माध्यम से पीछे किया जा चुका है।

स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थ, जिनका विवेचन अभी आगे किया जायगा, भी वस्तुतः इन्हीं मुक्तक पद्यों के संकलन मात्र हैं। संग्रह तथा स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों का भेद, संकलनकर्ता की भी दृष्टि से किया गया है, इसे अध्यायारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। काव्य के अन्य भेद, कथा-आख्यायिका तथा चम्पू, प्रसिद्ध होने के कारण स्वरूपतः स्पष्ट हैं।

किन्तु संग्रह तथा अन्योक्ति-ग्रन्थों के विविध रूपों में जहाँ अन्योक्ति प्रधानरूप से प्रतिपादित की गई है वहाँ काव्य-भेदों में गौण रूप से। क्योंकि रूपक, उपरूपक, महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा-आख्यायिका तथा चम्पू आदि समस्त प्रमुख काव्यों में कवि का एकमात्र लक्ष्य काव्यप्रतिपाद्य की वर्णना पर ही केन्द्रित रहता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि काव्य-वर्णना को चमत्कारातिशय रूप देने के लिए, कवि अपनी-अपनी पृथक् रुचि के अनुसार गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, लक्षणा, व्यंजना तथा अन्यान्य प्रख्यात काव्यतत्त्वों का प्रयोग करते हैं फिर भी ये तत्त्व प्रमुख न बनकर प्रतिपाद्य-पर्यवसायी मात्र होते हैं।

अन्यापदेश भी व्यंजना का ही एक स्वरूप-विशेष है क्योंकि इसका अन्तिम लक्ष्य बिना व्यंजनाशक्ति के सम्भव ही नहीं होता। आचार्य अभिनव ने इसी कारण अन्योक्ति में वस्तु-ध्वनि की कल्पना की है। वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा लक्षणा भी अन्यापदेश पद्धति में सहायक बनते हैं। अन्यापदेश, अलंकार तथा अलंकार्य दोनों है, यह भी पिछले अध्याय में बताया जा चुका है। अन्योक्ति की इसी महत्ता के कारण काव्य में प्रतिपादित होने पर उसे गौण न मानकर प्रधान ही माना जाता है। स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थ, जहाँ अन्योक्ति प्रधान बनती है, वहाँ काव्य उससे पृथक न रहकर स्वयं अन्योक्तिरूप हो जाता है। अन्योक्तिकाव्य अथवा अन्योक्तिवाङ्मय कहने का यही तात्पर्य है। किन्तु सुभाषितों के अतिरिक्त पूर्वोक्त अन्य काव्यभेदों में अन्योक्ति का निबन्धन गौणरूप में ही होता है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि रूपक के प्रथम पाँच भेद अर्थात् नाटक, प्रकरण भाण, व्यायोग तथा प्रहसन ही अधिक प्रख्यात हैं और इन्हीं की रचना भी अधिक हुई है।

नाटकों तथा प्रकरणों में, पताका स्थानक के रूप में अन्यापदेशों का निबन्धन प्रायः प्राप्त होता है। जब नाटकादि में भावी घटना की सूचना अन्योक्ति अथवा समासोक्ति के माध्यम से दी जाय तो उसे पताकास्थानक कहते हैं।[1] महाराज हर्षकृत रत्नावली में इसका एक रमणीय दृष्टान्त प्राप्त होता है—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति।।'

वस्तुतः कवि का लक्ष्य यहाँ, रत्नावली से बिछुड़ते हुए नायक उदयन का दृष्टान्त प्रस्तुत करना है और यही वृत्तान्त प्रस्तुत भी है। किन्तु कवि इसे सीधे न कह कर अप्रस्तुत विधान के सहारे व्यक्त करता है जिससे कि उदयनपरक अर्थ में एक विशिष्ट-विच्छित्ति उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि कमलिनी-सूर्य संवाद में वाच्यार्थ सर्वथा असम्भव है अतः उसे सम्भव अथवा प्रतिपन्न करने के लिए रत्नावली (सागरिका) उदयन संवाद का उस पर आरोप करना अनिवार्य होजाता है, यही इस पद्य का अर्थ-सौन्दर्य है। आचार्य अभिनव ने सारूप्य-निबन्धना के इसी भेद को ध्वनिरूप स्वीकार किया है। इसका विस्तृत विवेचन पूर्वाध्याय में हो चुका है।

पताकास्थानक के अतिरिक्त लक्षण अथवा नाट्यालंकार के रूप में भी अन्योक्ति का प्रयोग नाटकों में निर्दिष्ट किया गया है। किन्तु यह निर्देश, सैद्धान्तिक परम्पराओं की ही पुष्टि करता है। जब हम प्रायोगिक दृष्टिकोण से नाट्यवाङमय का विश्लेषण करते हैं तो कथाप्रवाह में सैकड़ों मोड़ दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः अन्योक्तियों का प्रयोग इन्हीं मार्मिक स्थलों पर किया गया है। यद्यपि इन स्थलों पर अन्योक्तियाँ प्रायः कारणकार्य तथा सामान्य-विशेष भाव से ही सम्बद्ध हैं, तथापि सारूप्यनिबन्धना भी यथास्थान प्राप्त होती है। भासकृत प्रतिज्ञायौगन्धरायण में उज्जैन-नरेश चण्डप्रद्योत द्वारा निगृहीत, महाराज उदयन को छुड़ाने के लिए उनके अमात्य यौगन्धरायण गुप्तरूप से उज्जैन में डेरा डाल देते हैं। पूर्वयोजनानुसार उदयन छुड़ा लिये जाते हैं किन्तु उसी समय भयंकर संग्राम मच जाता है। ऐसी दशा में गात्र-सेवक जो नकली ढंग से चण्डप्रद्योत का सेवक बना है, किन्तु वस्तुतः है वह यौगन्धरायण का चर, समस्त स्वपक्षियों को ललकारता है—

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्ध्येत्।।

—प्रतिज्ञा० ४।३

---

१ प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्।। —दशरूपक (प्रथमप्रकाश)

प्रस्तुत पद्य में एक सामान्य उद्गार व्यक्त किया गया है कि स्वामी के लिए प्राणत्याग न करने वालों को अमुक-अमुक वस्तु न प्राप्त हो। किन्तु वक्ता का अभिप्राय एतावन्मात्र कभी नहीं है वरन् वह तो यह जताना चाहता है कि समस्त कौशाम्बी-निवासी राजा उदयन के लिए युद्ध करें। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में एक विशेष तथ्य ही प्रस्तुत है जो कि सामान्य विषय के निबन्धन से, व्यंजना द्वारा व्यक्त हो रहा है।

इसी प्रकार 'दुःखी व्यक्ति को प्रसन्न बनाने के लिए संगीत (वीणा) ही सर्वोत्तम साथी है' इस सामान्य वृत्त के प्रस्तुत रहने पर विशेष तथ्यों का यह निबन्धन विशेष-निबन्धना अन्योक्ति का रमणीय उदाहरण है--

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥

उपर्युक्त उदाहरण शूद्रकरचित मृच्छकटिक प्रकरण (३।३) से उद्धृत किया गया है। कारणनिबन्धना का उदाहरण प्रतिज्ञायौगन्धरायण (२।३) में द्रष्टव्य है--

मम हयखुरभिन्नं मार्गरेणुं नरेन्द्रा मुकुटतटविलग्नं भृत्यभूता वहन्ति।
न च मम परितोषो यन्न मां वत्सराजः प्रणमति गुणशाली कुंजरज्ञानदृप्तः॥

इस पद्य में मन्त्रियों द्वारा पूछा गया प्रश्न 'आप क्यों उदास हैं?' वस्तुतः कार्यरूप है, किन्तु वह वाच्य न होकर व्यंग्य है। उस कार्य की व्यंजना करने वाले कारण का निबन्धन उपर्युक्त पद्य में हुआ है जो अप्रस्तुतवाच्य है। इसी प्रकार 'कार्यनिबन्धना' का उदाहरण भासकृत प्रतिमानाटक (३।२) में देखिए--

द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया नदीवोद्वृत्ताम्बुर्निपतति मही नेमिविवरे।
अरव्यक्तिर्नष्टा स्थितमिव जवाच्चक्रवलयं रजश्चाश्वोद्धूतं पतति पुरतो नानुपतति॥

इसमें वर्ण्यमान समस्त वस्तुओं का एकमात्र कारण भरत के रथ की अत्यन्त तीव्र गति है जो प्रस्तुत है साथ ही साथ व्यंग्य भी। इसके विपरीत, पद्य में वर्णित कार्यरूप वाच्य अप्रस्तुत है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम नाटकों में भी अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद-प्रभेदों का प्रयोग प्रभूत रूप में हुआ है। दण्डी ने वाच्य अप्रस्तुत-प्रशंसा से व्यंग्य प्रस्तुतनिन्दारूप जो अप्रस्तुतप्रशंसा स्वीकार की थी, वह भी प्रतिमानाटक में (२।१२) कहे गए कुमार भरत के इस उद्गार में प्राप्त होती है--

धन्याः खलु वने वातास्तटाकपरिवर्तिनः।
विचरन्तं वने रामं ये स्पृशन्ति यथासुखम्॥

प्रस्तुत पद्य में अप्रस्तुत पवन की प्रशंसा से वक्ता (भरत--प्रस्तुत) की अन्तर्मनोवेदना व्यक्त हो रही है, जिससे उसकी आत्मनिन्दा का भाव भी स्पष्ट हो जाता है।

कालिदास की नाट्य-रचनाओं में पूर्व-व्याख्यात चार भेदों की अपेक्षा, सारूप्यनिबन्धनाएँ ही अधिक प्राप्त होती हैं। अन्योक्तियों का प्रयोग कवि आत्मसंतोष के लिए ही करता है। जब असहाय दशा में व्यक्ति-विशेष का कोई हितैषी नहीं रह जाता, जब सांसारिक प्रवंचनाओं के थपेड़े उसके मर्मस्थलों को घायल कर देते हैं तब वक्ता अपना सारा गुबार अप्रस्तुत-विधान की सहायता से लोक में प्रकट कर देता है। इस कार्य से उसे असीम सहानुभूति, हार्दिक आनन्द एवं जागतिक दुरवस्थाओं का सामना करने के लिए अपार नैतिक साहस प्राप्त होता है।

कालिदास के नाटकों में नायक अथवा नायिका ऐसी ही परिस्थिति में प्राप्त होते हैं। मालविकाग्निमित्र नाटक में जब राजमहिषी धारिणी, मालविका तथा अग्निमित्र की प्रणय-लीला को जान लेती है और संयोगवश, सखीसहित उसे रंगे हाथों पकड़कर कारागार में डाल देती है तो बेचारा विदूषक यह दुःखद समाचार राजा को सुनाता है। राजा स्वयं राजमहिषी से भयभीत है अतः वह कुछ कर भी नहीं सकता। केवल अन्यापदेश के बहाने अपना उद्गार व्यक्त करता है—

'मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसंगिन्यौ।
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते॥'

भाव स्पष्ट है क्योंकि कोकिला तथा भ्रमरी, क्रमशः मालविका तथा बकुलावलिका के, चूतवृक्ष राजा का, कोटर कारागार का तथा प्रबलपुरोवाता वृष्टि धारिणी की प्रतीक हैं। अतः पद्य में वाच्य अप्रस्तुत से अग्निमित्र-परक प्रस्तुतार्थ ही व्यंग्य हो रहा है।

कालिदासकृत विक्रमोर्वशीय त्रोटक का समस्त चतुर्थ अंक अन्यापदेश-शैली में लिखा गया है। उर्वशी के वियोग से उन्मत्त, राजा पुरूरवा को अपनी सुधि-बुधि नहीं रह जाती है। वे मयूर, कोकिल, चक्रवाक, हाथी, भ्रमर, हंस, पर्वत, नदी, एवं मृग को ही सम्बोधित करके अप्रस्तुत-विधान के सहारे प्रिया का संदेश पूछते हैं। और चूँकि प्राकृतिक उपादान स्वयं संवाद नहीं कर सकते अतः बिना उत्तर पाए, नरेश मनोनुकूल कथनोपकथन प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार सारा का सारा चतुर्थ अंक अन्योक्तियों से भरा है जो कि भावानुकूल आशा-निराशा, संगम एवं विरह-भावों की द्योतक हैं। यह तथ्य अवधेय है कि इन अन्यापदेशों में वक्ता तथा बोद्धव्य दोनों ही प्रस्तुत हैं अतः **'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग'** आदि पद्यों की भाँति, उनका स्वरूप आचार्य अप्पय-प्रोक्त प्रस्तुतांकुर जैसा है। किन्तु है वे पूर्णतः अन्योक्ति जो कि पण्डितराज के मन्तव्यानुसार सर्वथा वस्तुध्वनि-रूप हैं। हंस के प्रति व्यक्त की गयी पुरूरवा की एक अन्योक्ति देखिये—

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहां ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौषि समुत्सुकः।
इति च भवतो जायास्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता मयि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः॥

यहाँ वक्ता (नरेश) और बोद्धव्य (हंस) दोनों ही प्रस्तुत हैं अतः प्रस्तुतोभयनिबन्धना अन्योक्ति स्वीकार्य है।

इसी प्रकार कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचमाङ्क में भी रानी हंसपदिका का उपालम्भ स्पष्टतः अन्यापदेशरूप है—

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर! विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥

यहाँ रानी हंसपदिका स्पष्टतः भ्रमर-वृत्तान्त (अप्रस्तुत) के बहाने, अपने को उपेक्षित करने वाले राजा दुष्यन्त को उपालम्भ देती है। तृतीयांक में गौतमी के आते ही राजा से पृथग्भूत होकर शकुन्तला सन्तापहारक लतावलय को सम्बोधित करके जो कुछ कहती है वह अन्योक्ति-रूप ही है। टीकाकार श्रीराघवभट्ट ने यहाँ 'मनोरथ' लक्षण स्वीकार किया है जो कि अन्यापदेशरूप ही है। इसी प्रकार शूद्रकप्रणीत मृच्छकटिक में प्रवहण-विपर्यय के कारण जब अभिसारिका वसन्तसेना शकार के पास पहुँच जाती है तो चेट का अन्योनिर्दिष्ट कथन पूर्णतः सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति का ही स्वरूप धारण करता है—

शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पुलिनान्तरशायिनं। हंसी हंसं परित्यज्य वायसं समुपस्थिता॥मृच्छ० ८।१६

महाराज हर्षकृत रत्नावली में अन्योक्ति का एक उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। इसी प्रकार उनकी अन्य कृतियों—नागानन्द तथा प्रियदर्शिका में भी अन्यापदेश प्राप्त होते हैं। प्रियदर्शिका के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ तीनों ही अंकों में स्पष्टतः सारूप्यनिबन्धनाएँ प्राप्त होती हैं। द्वितीयांक में अभिनय वेला में महाराज उदयन तथा प्रियदर्शिका से सम्बद्ध कुछ अन्योक्तियाँ इस प्रकार हैं—

घनबन्धनसंरुद्धं गगनं दृष्ट्वा मानसमेतुम्। अभिलषति राजहंसो दयितां गृहीत्वात्मनो वसतिम्॥
अभिनवरागाक्षिप्ता मधुकरिका वामकेन कामेन। उत्ताम्यति प्रार्थयमाना द्रष्टुं प्रियदर्शनं दयितम्॥
—(प्रिय० ३।८-९)

इसी प्रकार अन्तिम अंक में—

संजातसान्द्रमकरन्दरसां क्रमेण पातुं गतश्च कलिकां कमलस्य भृङ्गः।
दग्धा निपत्य सहसैव हिमेन चैषा वामे विधौ नहि फलन्त्यभिवाञ्छितानि॥

भी शुद्ध अन्योक्ति का उदाहरण है।

इसी प्रकार भवभूति-प्रणीत मालतीमाधव के नवें अंक में उन्मत्त माधव द्वारा पवन से संदेश भेजने का प्रसंग पूर्णतः अन्योक्ति है।[1] उत्तररामचरित का 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिन-

---

१. भ्रमय जलदानम्भोगर्भान्प्रमोदय चातकान्
कलय शिखिनः केकोत्कण्ठान् कठोरय केतकान्।
विरहिणि जने मूर्च्छां लब्ध्वा विनोदयति व्यथाम्—
अकरुण! पुनः संज्ञाव्याधिं विधाय किमीहसे?—मा० मा० ९।४२

मधुना' प्रभृति पद्य भी आचार्य जगन्नाथ द्वारा सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा रूप में स्वीकार किया गया है।[1] विशाखदत्त-प्रणीत 'मुद्राराक्षस' में श्लोक २।११ तथा ७।३ स्पष्टतः अन्यापदेश रूप हैं। इसी प्रकार भट्टनारायण, मुरारि, राजशेखर, दिङ्नाग, जयदेव तथा दशम शती से लेकर आज तक के नाटककारों की कृतियों में अन्योक्तियों के समस्त भेद-प्रभेद ढूंढ़े जा सकते हैं।

नाटकों के अतिरिक्त रूपक के अन्य प्रसिद्ध भेद भाण-व्यायोग तथा प्रहसन हैं। अन्य भेद जैसा कि पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है केवल तेरहवीं शती में अमात्य वत्सराज द्वारा लिखे गये, वह भी संख्या में केवल एक-एक ! भाण, व्यायोग, प्रहसन तथा उपरूपक के भी अनेक भेद, एकांकी नाटकों की कोटि में आते हैं। भाणसाहित्य का उदय उभयाभिसारिका से होता है जो सम्भवतः नन्दवंशीय अमात्य वररुचि द्वारा चतुर्थ ई० पू० में लिखी गई। शूद्रककृत पद्मप्राभृतक (दूसरी शती ई०) ईश्वरदत्तकृत धूर्तविटसंवाद (५वीं शती) श्यामिलककृत पादताडितक (५वीं शती) वत्सराजकृत कर्पूरचरित, वामनभट्टबाणकृत शृंगारभूषण, वरदाचार्यकृत वसन्ततिलक, रामभद्रदीक्षितकृत शृंगारतिलक, नल्लाकविकृत शृंगारसर्वस्व, युवराजकृत रससदन, काशीनाथकृत मुकुन्दानन्द तथा घनश्यामकृत मदनसंजीवनादि रचनाएँ भाणों की परम्परा में ही आती हैं।

संस्कृत साहित्य के प्रमुख प्रहसनों में बोधायनकृत भगवदज्जुकीय, महेन्द्रवर्मनकृत मत्तविलास, शंखधरकृत लटकमेलक, वत्सराजकृत हास्यचूडामणि, महेशकृत सुवर्णमुक्तासंवाद, रामपाणिवादकृत मदनकेतुचरित, सुन्दरराजकृत स्नुषाविजय, अरुणगिरिनाथकृत सोमवल्लीयोगानन्द तथा जगदीश्वर तर्कालंकारकृत हास्यार्णव आता है। भगवदज्जुकीय का समय विण्टरनित्ज ने ५वीं शती ई० पू० स्वीकार किया है।[2] व्यायोग, भासकृत मध्यमव्यायोग से प्रारम्भ होते हैं। वत्सराजकृत किरातार्जुनीय, प्रह्लादनदेवकृत पार्थपराक्रम, रामचन्द्रसूरिकृत निर्भयभीम, मोक्षादित्यकृत भीमपराक्रम, कवि नीलकण्ठकृत कल्याणसौगन्धिक, कंचनाचार्यकृत धनञ्जयविजय तथा सदाशिवकृत प्रचण्डभैरव आदि रचनाएँ इसी परम्परा में हैं। इसके अतिरिक्त विरूपाक्षकृत उन्मत्तराघवप्रेक्षणक, सुभटकृत दूतांगद, प्रभाकराचार्यकृत भ्रमरकाहली आदि रचनाएँ एकांकी परम्परा में आती हैं।

समाज के निम्नवर्गीय पक्ष का चित्रण करने के ध्येय से ही भाणों की रचना का विधान किया गया।[3] आचार्य भरत के मत के अनुसार इसमें एक ही व्यक्ति दूसरे के वचनों

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—रसगंगाधर, द्वितीय आनन, पृ० ३८२-८३ (काव्यमाला-१२ सन् १८८८)।

२. द्रष्टव्य—अनुजनअच्चन् द्वारा सम्पादित भगवदज्जुकीय की विण्टरनित्ज कृत प्रस्तावना।

३. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र—१८।१०८, ९, १०।

को आत्मसंस्थ करके, उत्तरप्रत्युत्तर सहित व्यक्त करता है। आत्मसंस्थ करने की यह प्रक्रिया अन्यापदेशविधि को ही संकेतित करती है। इन भाण रचनाओं में विशेष करके वेशवाटी तथा उसमें अनुरक्त लफंगों तथा आवारों के इतिवृत्त प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक भाण में प्रायः कोई विटविशेष (जो कि उसका नायक भी होता है) अपने किसी मित्र का सन्देश लेकर अथवा संकेतस्थान में भेंट कराने के ध्येय से नायिका के यहाँ चलता है। रास्ते में वह एक छोर से दूसरे छोर तक बसी हुई अपनी परिचित वेश्याओं से भेंट करता हुआ, उन पर फबतियाँ कसता हुआ, अथवा उनके घर में घुसे हुए समाज के पाखण्डी धर्मध्वजों की मखौल उड़ाता हुआ अन्त में लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है।

चतुर्भाणी में ऐसे ही स्थलों पर अन्यापदेशों का प्रयोग प्राप्त होता है। क्योंकि अन्योक्ति के माध्यम से व्यंग्य कसने पर किसी की आमने-सामने तौहीन भी नहीं होती है साथ ही साथ लक्ष्यभूत पात्र, उस कटूक्ति से विदीर्ण भी हो उठता है। वामनभट्टबाणकृत श्रृंगारभूषण में (१५वीं शती) किसी वेश्या द्वारा प्रताड़ित व्यक्ति के प्रति विलासशेखर विट का कथन देखिए—

सहजनिजचापलेन भ्रमरयुवा तत्र तत्र कृतकेलिः।
कमलमुखि कस्य मान्यः कमलिन्या गाढरोषमवधूतः॥

इसी प्रकार रामभद्रदीक्षितकृत श्रृंगारतिलक (१७वीं शती) में नायक भुजंगशेखर द्वारा व्यक्त की गई वसन्त तथा मरुत सम्बन्धी अन्योक्तियाँ उत्कृष्ट अन्यापदेश-पद्धति की परिचायक हैं:—

जेतव्ये जगतां त्रयेऽपि तदलंकर्मीणमेकं शरं। तस्या यौवनकैतवेन मदनो लब्ध्वा कृती वर्तते॥
भ्रातः कस्य कृते वसन्त ! भवता बाणाः क्रियन्ते वृथा। वासन्तीसहकारनीलनलिनाशोकारविंदादयः
वासश्चन्दनशीतलेषु मलयप्रान्तेषु ते विश्रुतस्त्वञ्चेन्मारुत दावपावकसमस्पर्शोऽसि गात्रे मम॥
न प्राप्तं किमु तत्र चन्दनगतं शैत्यं त्वया शीलता संसर्गेऽप्यथवा गुणो न महतो मूर्खेषु संक्रामति॥

किन्तु एक तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि ये पद्य जिस स्थल पर व्यक्त किये गये हैं वहाँ नायक तथा पुरोवर्ती वसन्त एवं मरुत दोनों ही प्रस्तुत हैं। अतः यह अन्योक्ति, उभयप्रस्तुता का ही उदाहरण होगी।

काशीपति कवि का मुकुन्दानन्द भाण, अपने ढंग की एक विलक्षण रचना है क्योंकि एक तो यह 'मिश्रभाण' का उदाहरण है (क्योंकि इसमें संस्कृत-प्राकृत दोनों का प्रयोग है) दूसरे, इस भाण की कथा, कृष्ण सम्बन्धी प्रतीकों के साथ चलती है। नायक भुजंगशेखर, श्रीकृष्ण की भूमिका में आता है। अतः समस्त वर्णन कृष्ण-गोपीपरक हैं जो कि अप्रस्तुत वाच्य है। वस्तुतः प्रस्तुतार्थ इसमें भुजंगशेखर-परक अर्थ ही है जो कि व्यंजनया प्रतीत होता है। यह भाण आद्यन्त अन्यापदेश-पद्धति में लिखा गया है। केवल एक उदाहरण देखिए—

जन्मारभ्य प्रतिकलमसावारजोदर्शनं ते भ्राम्यन्भृंगः क्षणगणनया वासरानत्यनैषीत्।
त्वं तुद्भिन्ने रजसि मरुता दक्षिणेनासि भुक्ता। सोढव्यं तत्कमलिनि कथं तेन लोकेन वापि॥

प्रस्तुत पद्य में कली एवं भृङ्ग वृत्तान्त रूपी अप्रस्तुतवाच्य से एक प्रस्तुतार्थ की व्यंजना हो रही है। वस्तुतः विट, अपनी किसी प्रेयसी वेश्या के प्रति यह भाव व्यक्त कर रहा है। इसी प्रकार के उदाहरण अन्य भाण रचनाओं में भी द्रष्टव्य हैं।

प्रहसन भी एकांकी नाटक का ही रूप है। इसके पात्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो तपस्वी, ब्राह्मण इत्यादि और दूसरे वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्ता तथा बन्धकी आदि। आचार्य भरत के अनुसार प्रहसन में प्रमुख प्रतिपाद्य 'लोकोपचारयुक्त-वार्ता' होती है। प्रथम कोटि के पात्र रहने पर प्रहसन 'शुद्ध' अन्यथा 'संकीर्ण' होता है।[१] इस दृष्टि से मत्त-विलास, सोमवल्लीयोगानन्द, दामकप्रहसन तथा सुवर्णमुक्ता आदि शुद्ध प्रहसन तथा अन्य मिश्र या संकीर्ण के उदाहरण होंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्राचीनतम प्रहसन बोधायन कवि द्वारा ५वीं शती ई० पू० में लिखा गया जो कि नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं का अतिक्रमण करने के कारण भरत के पूर्व का है।

भाणों की ही भाँति इन प्रहसनों में भी अन्यापदेशों का स्फुट निबन्धन प्राप्त होता है। भगवदज्जुकीय की रचना प्रतीकात्मक शैली में हुई है ऐसा स्वयं उसके टीकाकार ने ग्रन्थ के अन्त में स्वीकार किया है।[२] प्रतीकात्मक पद्धति अन्योक्ति निबन्धन होने का आंशिक प्रमाण मानी जा सकती है। इस प्रकार भगवदज्जुकीय में कारण-कार्यादि अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद प्रायः प्राप्त होते हैं, किन्तु वे सब के सब दार्शनिक पृष्ठभूमि ही उपस्थित करते हैं। वत्सराजकृत हास्यचूडामणि में स्पष्टतः सारुप्यनिबन्धनाएँ मिलती हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'एषा रोलम्बशून्यतया तूष्णीका कुसुमभूषणोन्मुक्ता।
लक्ष्यते कुन्दलता मुषितेव वसन्तचोरेण॥'

सुवर्णमुक्तासंवाद (जिसे प्रोफे० स्टेनकोनो अंक रचना मानते हैं) प्रहसन में सुवर्ण तथा मुक्ता की पारस्परिक उक्तिप्रत्युक्ति पूर्णतः अन्यापदेश पद्धति का संकेत करती हैं। अतः ग्रन्थ की दृष्टि से वे भले ही प्रस्तुत हैं किन्तु यदि उन्हीं को 'मुक्तक' के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो सर्वथा 'अप्रस्तुत-वाच्य' बनकर किसी प्रस्तुत अर्थ के व्यंजक बन जायेंगी—एक पद्य से यह स्पष्ट हो जायगा—

अये मुक्ते मुग्धेऽखिलगुणगणापारनिचये मयि स्वर्णे गुञ्जासमतुलमदोषः खलु कियान्।
सुधाधारासारे निखिलजगदानन्दजनके कलानाथे किं वा भवति शशदोषस्य गणना॥

इसी प्रकार जगदीश्वरकृत हास्यार्णव का यह पद्य—

१. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र १८।१०३-६।

२. द्रष्टव्य—अनुजन अच्चनकृत भगवदज्जुकीय संस्करण, त्रिचूर (कोचीन स्टेट) १९२५ ई०।

गतवति दिननाथे पश्चिमक्ष्माधरान्तं शिशिरकरमयूखैर्निर्भरं दह्यमाना।
परिहृतमिलितालिः पान्थकान्तेव दीना सपदि कमलिनीयं हास्यहीना बभूव॥

सारूप्यनिबन्धना का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रहसन में समासोक्तिमूलक सारूप्य-निबन्धना का भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'अन्यत्र वांछितनिशं परिलोहितांगमन्यांगनागतमिवागतमुष्णरश्मिम्।
प्रातर्निरीक्ष्य कुपितेव हि पद्मिनीयमुत्फुल्लहल्लकसुलोहितलोचनाभूत्॥'

इस पद्य में लोहितलोचना, वांछितनिशं तथा परिलोहितांग प्रभृति विशेषण द्व्यर्थक हैं। किन्तु यह पद्य अप्रस्तुतवाच्य रूप हैं, जिससे कि प्रहसन सम्बन्धी पात्र व्यंजित हो रहे हैं। 'मदन-केतुचरित' के अन्यापदेश प्रायः अभिनवप्रोक्त ध्वनि के समीप है, क्योंकि इसमें असंभाव्य प्राकृतिक उपादानों का निबन्धन किया गया है। उदाहरणार्थ—

'केतकीकुसुमगर्भसम्भूतां माधुरीजितसुधां मधूलिकां।
कण्टकावलिपरिक्षतोऽपि सन्नैव मुंचति कृती मधुव्रतः॥'

प्रतिपाद्य की दृष्टि से व्यायोग भाण एवं प्रहसन से सर्वथा पृथक है क्योंकि प्रहसनादिवत् व्यायोग का लक्ष्य समाज की निम्नवर्गीय कुरीतियों का प्रदर्शन नहीं है वरन् आचार्य अभिनव के शब्दों में 'व्यायामे युद्धप्राये नियुध्यन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोगः, अर्थात्व्यायोग में बाहुयुद्ध, वीररौद्रादिरस तथा ओजोगुण का प्रदर्शन होता है। भाण तथा प्रहसन से इसका साम्य केवल यही है कि उन दोनों की भाँति यह भी 'एकाहचरित' से युक्त होता है। किन्तु नायक इसमें 'विटादि' न होकर कोई उदात्तनायक ही होता है।

संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम व्यायोग, महाकवि भास द्वारा लिखा गया है। इन व्यायोगों में भी सुन्दर अन्यापदेश प्राप्त होते हैं। वत्सराजप्रणीत किरातार्जुनीय में किरातवेष-धारी शंकर को फटकारते हुए अर्जुन का यह पद्य मुक्तक रूप में ग्रहण करने पर अन्यापदेश का उत्कृष्ट उदाहरण होगा—

आप्रत्यूषप्रदोषं विपिनविहरणैरामिषाहारकारः
प्रालेयस्यन्दकल्पं परिपिबसि मुहुर्निर्झरं स्वच्छमम्भः॥
धिक्त्वां धिक्त्वां किरात! क्षिपसि किमुपदं वर्त्मनि क्षत्रियाणां
प्राणप्रेमानपेक्षो नहि नहि भवति त्वादृशामेष योग्यः॥

प्रस्तुत पद्य में (यदि इसे हम अर्जुन का कथन न मानकर स्वतन्त्र ही स्वीकार करें) एक अप्रस्तुत वस्तु का विधान किया है, जिसका कि पर्यवसान, अनधिकारचेष्टा करते हुए किसी व्यक्ति-विशेष के वृत्त में सम्भव है। यदि इसी पद्य में कहीं 'अर्जुन' शब्द वाच्य होता तो पद्य की अप्रस्तुतता निश्चय ही विनष्ट हो जाती और अन्योक्ति भी न हो पाती। रामचन्द्रसूरि (१२वीं शती) कृत 'निर्भयभीमव्यायोग' में स्वतन्त्र अन्यापदेश भी प्राप्त होता है—

रणे शौण्डीराणां रिपुविजयहेतुर्भुजयुगं गजाद्यं तु द्वेषिप्रतिभयकृते डम्बरविधिः।
स सारंगः कश्चिन् करटिकटकूटानि कुरुते कुरंगेन्द्रः शश्वन्मुषितमदलेशान्यधिवनम्॥

इस पद्य में भीमपरक अर्थ ही प्रस्तुत है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रन्थों में भी अन्यापदेश अन्वेषणीय हैं।

महामात्य वत्सराज की ईहामृग-डिम तथा समवकार रचनाओं में भी अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं। रुक्मिणीपरिणय (ईहा०) में कृष्ण को उत्साहित करने वाली यह अन्योक्ति कितनी रमणीय है—

यामानिमान्कतिपयानपराम्बुराशिसौधस्थितो गमय मीलितरश्मिनेत्र।
सूर्य प्रसीद! पुनरभ्युदयाधिरूढः प्रह्लादयिष्यसि जगन्नवकान्तिकान्तः॥

सूर्यवृत्तान्त प्रस्तुत श्लोक में पूर्णतः अप्रस्तुतवाच्यरूप है तथा कृष्णपरक अर्थ प्रस्तुत व्यंग्य।

पन्द्रहवीं शती में, विजयनगर के नरेश श्री विरूपाक्षदेव ने उन्मत्तराघव नामक एक प्रेक्षणक एकांकी की रचना अन्यापदेशपद्धति में की। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थांक की ही भाँति प्रस्तुत एकांकी में भी श्रृंगाररस तथा उन्मादसंज्ञक व्यभिचारीभाव का प्रयोग किया गया है। रावण द्वारा सीता के हर लिये जाने पर भगवान राम उन्मत्त की तरह, कोकिल रसाल, रक्ताशोक, मयूरशाव, चम्पक, केसर, बकुल, प्रियाल, कुरवक, तिलक, पुन्नाग, मन्दानिल, शुक, कृष्णसार, पलाशवन, भ्रमर, गोदावरी, माल्यवान गिरि, मेघ, पम्पा, हंस तथा रथांगमिथुन प्रभृति प्राकृतिक उपादानों से वैदेही-वृत्तान्त पूछते हैं। इन स्थलों पर कवि ने उभयप्रस्तुता अन्योक्ति का अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रयोग किया है। केवल एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट किया जाता है जहाँ कि श्रीराम अपनी समस्त वृत्तियों का वर्णन भ्रमर-वृत्तान्त के व्याज से प्रस्तुत करते हैं—

अनुवनलताकुंजं गुंजन्नुपैति निवर्तते विरचयति न स्वादौ पुष्पासवेऽपि कुतूहलम्।
भ्रमति च यतो दूरादिन्दिन्दिरोऽहमिवायमप्यपगतवतीं कान्तामन्वेषयत्यधिकोत्सुकः॥

इस प्रकार रूपक तथा उपरूपक के भेदों में अत्यन्त संक्षिप्त रीति से अन्यापदेश निबन्धन देखा गया। वस्तुतः संग्रहों में प्राप्त इन कवियों की अन्योक्तियाँ यही सूचित करती हैं कि ये कवि अन्यापदेश-रचना में अत्यन्त निपुण थे। इसी कारण वे मुक्तक के रूप में भी अन्योक्तियाँ लिखते थे, साथ ही साथ, अपने काव्यग्रन्थों में भी उनका निबन्धन करते थे। अनेक कवियों ने तो समय-समय पर प्रणीत अपनी मुक्तक रचनाओं को काव्यों में भी निबद्ध कर दिया है। महाकवि माघ में यह प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती रही है। रूपकों तथा उपरूपकों के प्राप्त होने वाले भेदों में भी वसन्तादि के वर्णन में कवियों ने अपने पूर्व-प्रणीत मुक्तकों का सदुपयोग किया है, इसका प्रमाण यही है कि उन मुक्तक पद्यों को हटा लेने पर भी कथाप्रवाह में कोई बाधा नहीं आती। भास एवं कालिदास के ग्रन्थों में भी अन्यापदेशों के अस्तित्व से उनकी प्राचीनता सुस्पष्ट हो जाती है। अब संक्षेप में ही श्रव्यकाव्यों में अन्यापदेशनिबन्धन का विचार कर लिया जाय।

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों की परम्परा मुख्यतः कालिदास की कृतियों से ही प्रारम्भ होती है, यद्यपि इसका उदय पाणिनि के 'पातालविजय' से ही प्रारम्भ होता है। कालिदास के पश्चात् इस परम्परा में अश्वघोष, भट्टि, भारवि, माघ, कुमारदास, भर्तृमेण्ठ, क्षेमेन्द्र श्रीहर्ष, बिल्हण, मंखक, रत्नाकर आदि महाकवियों की रचनाएँ आती हैं। इन महाकाव्यों अथवा खण्डकाव्यों में अन्योक्तियों का उन्मुक्त प्रवाह स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। गीतकाव्य, जिसका प्रधान उदाहरण श्री जयदेव कवि प्रणीत गीतगोविन्द है[1] तथा सन्देशकाव्य, जिसकी प्राचीनतम सीमा कालिदास कृत मेघ-सन्देश है, सब-के-सब काव्यकृति के ही रूप विशेष हैं। सन्देश काव्यों तथा दूतकाव्यों में प्रायः एक ही परिपाटी का आश्रय लिया गया है, केवल उनमें संज्ञा का भेद है। इस प्रकार इन काव्यकृतियों का आनन्त्य देखते हुए, यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि रूपक-भेदों की भाँति इनका भी एकैकशः विवेचन करना विशेष उपयोगी नहीं। क्योंकि रूपक के भेदों की भाँति, महाकाव्य एवं खण्डकाव्य में कोई मौलिक भेद नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने स्पष्टतः 'काव्यैकदेशानुसारी' रचना को खण्डकाव्य कहा है। अतः किसी व्यक्ति के प्रायेण समस्त जीवन का परिचायक ग्रन्थ ही महाकाव्य रूप होगा, जब कि उसी व्यक्ति के जीवन की किसी मर्मस्पर्शी घटना को लेकर लिखा गया इतिवृत्त, खण्डकाव्य होगा। दूत अथवा सन्देश काव्य में भी एकदेशीय कथा का ही निबन्धन होता है, किन्तु केवल वर्णना की एक विशिष्ट परिपाटी अपना ली जाने के कारण इसे 'दूतकाव्य' की संज्ञा दी गयी है। गीतकाव्य में गीततत्त्व का ही प्राधान्य रहता है। इसी प्रकार अन्योक्तिकाव्य, सुभाषितकाव्य, स्तोत्रकाव्य आदि की भी अपनी पृथक् सत्ता नहीं है क्योंकि वे पूर्णरूप से मुक्तक पद्यों के ही संकलन मात्र होते हैं। अतः पद्य के मुख्य भेद दो ही स्वीकार्य हैं—महाकाव्य तथा खण्डकाव्य।

यद्यपि अन्यापदेशों के भेद-प्रभेदों का प्रयोग, किसी भी कवि से छूटा नहीं है, किन्तु कुछ कवियों की रचनाओं में उनकी अतिशयता दृष्टिगोचर होती है। महाकवि कालिदास कृत कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में स्थित रतिविलाप तथा रघुवंश के अष्टमसर्ग में स्थित

---

१. वस्तुतः 'गीतकाव्य' जैसी कोई वस्तु संस्कृत में है ही नहीं और इसी कारण 'गीतगोविन्द' (सर्गबद्ध होने के कारण) न तो खण्डकाव्य है न गीतिपरकनाट्य (Lyrical Drama) है और न रूपकात्मक गीत (Dramatic Lyric) ही है। इन शब्दों या शीर्षकों का प्रयोग तथा 'गीतगोविन्द' का उनमें अंतर्भाव, आधुनिक आलोचकों ने केवल पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से प्रभावित होकर ही किया है। किन्तु इस प्रयोग में कोई भी औचित्य नहीं है गीतगोविन्द, जैसा कि डॉ० कीथ ने भी स्वीकार किया है, जयदेव की एक विलक्षण काव्य-रचना है। जोकि किसी पौरस्त्य अथवा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विभाजक रेखा के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती। प्रस्तुत प्रसंग में केवल, संगीततत्त्व अथवा गेयत्व प्रधान होने के कारण ही 'गीतगोविन्द' को 'गीतिकाव्य' कहा गया है न कि पाश्चात्य (Lyric) का पर्याय होने के कारण!!

अजविलाप के एकाध पद्य यदि मुक्तक के रूप में ग्रहण किये जायँ तो स्पष्टतः अप्रस्तुतवाच्य से किसी-न-किसी प्रस्तुतार्थ की व्यंजना कराने के कारण अन्यापदेश रूप होंगे। इसी प्रकार रघुवंश के नवम सर्ग का वसन्तावतरणपरक पद्य (कुसमजन्म ततो नवपल्लवा आदि) तथा मृगयालु नरेश दशरथ की कुरंग-मिथुन पर दया परक पद्य (लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः आदि) भी जब मुक्तक रूप में गृहीत होंगे तब अप्रस्तुत या प्रस्तुत बनकर किसी अन्य, अभ्युदय एवं दयादर्शन परक वृत्तान्तों की व्यंजना करेंगे। तेरहवें सर्ग में पुष्पक से लौटते हुए भगवान् राम द्वारा सीता के प्रति समुद्र की समृद्धि का वर्णन भी प्रायः सारूप्यनिबन्धना की ही तरह का है। केवल वक्ता के लक्ष्य का भेद है। महाकवि माघकृत 'शिशुपालवध' के दूसरे तथा ग्यारहवें सर्ग में जो वर्णन कवि द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं उनमें से अनेक अन्यापदेश रूप हैं। व्यक्तिविशेष की दयनीय परिस्थिति की व्यंजना कराने वाले एक प्रभात-वर्णन से यह भाव स्पष्ट हो जायेगा—

'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिनिहतानां हा विचित्रो विपाकः॥'

लगभग ११वीं शती के अन्त में कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द्र के राजकवि श्रीहर्ष ने नैषधीय महाकाव्य की रचना की। लालित्यलसित इस विशाल महाकाव्य में अन्यापदेशों का भरपूर प्रयोग हुआ है। चतुर्थ सर्ग में, दमयन्ती द्वारा कहा गया, चन्द्रोपालम्भ तथा उन्नीसवें सर्ग में प्रातः-सायं वर्णन बहुत कुछ अन्योक्ति शैली में लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ—

हृदयमाश्रयसे यदि मामकं ज्वलयसीत्थमनंग! तदेव किम्।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क्व भवितासि हताश हुताशवत्?

प्रस्तुत पद्य में अनंग के प्रति दिया गया उपालम्भ किसी भी समानेतिवृत्त का व्यंजक बन सकता है अथवा यह पद्य किसी ऐसे नीच मित्र के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जो रहता तो किसी व्यक्तिविशेष के आश्रय में है किन्तु उसी व्यक्तिविशेष के विनाशार्थ प्रयत्नशील भी है। उसे यह चिन्ता बिलकुल नहीं है कि शरण्य के विनाश के साथ-ही-साथ वह भी स्वयं विनष्ट होगा। इसी ग्रन्थ के उन्नीसवें सर्ग में किसी प्रस्तुत मिथुन की व्यंजना करने वाले इस पद्य को देखिए—

'तटतरुखगश्रेणीसाराविणैरिव साम्प्रतं सरसि विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजिनी।
अधरसुधया मध्ये मध्ये वधूमुखलब्धया धयति मधुपः स्वादुंकारं मधूनि सरोरुहाम्॥'

इसी प्रकार प्रस्तुत सर्ग के ३३वें तथा ३४वें पद्य में भी अन्यापदेशपद्धति द्रष्टव्य है। परवर्ती युग में प्रणीत समस्त महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों में इसी प्रकार विविध भावों को प्रकट करने

वाली अन्योक्तियाँ प्राप्त होती हैं। विषय वैविध्य का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि द्विसन्धानात्मक सन्देशकाव्यों में भी अन्योक्ति-पद्धति है। किन्तु यह धारणा निराधार है। प्रथम अध्याय में ही इस विषय पर पाश्चात्य तथा पौरस्त्य दोनों ही दृष्टियों से विचार करके यह निर्णय दिया गया है कि समस्त रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक कृतियाँ, अन्योक्तिशैली से भिन्न हैं। इसी दृष्टि को अपनाने के कारण नाटकों के प्रसंग में प्रतीकात्मक नाटकों से अन्योक्ति के उद्धरण नहीं दिये गये हैं क्योंकि वे अन्योक्तिरूप हैं ही नहीं। 'हंसदूत' जैसे दूत या सन्देश काव्य जिनमें प्रस्तुत कथा के साथ-ही-साथ हंस को आत्मा रूप में कल्पित करके कवि ने दार्शनिकता का भी उपस्थापन किया है, अन्यापदेश से पूर्णतः भिन्न हैं। आवश्यक नहीं कि पुनः अन्योक्ति के स्वरूप का विवेचन किया जाय। अतः अन्योक्तिपद्धति के अस्तित्व परिज्ञानार्थ अन्वेषक की दृष्टि का, उसके स्वरूप पर ही केन्द्रित होना आवश्यक है।

आख्यायिका की परिभाषा देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अन्त में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है—'आर्या वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्। अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्॥' (परि० ६) इस कारिका से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि आख्यायिका में प्रत्येक आश्वास के प्रारम्भ में एक ऐसी अन्योक्ति का प्रयोग होना आवश्यक है जिससे कि उस आश्वास में प्रतिपाद्यभूत घटना प्रस्तुतार्थ के रूप में व्यंग्य हो उठे। वस्तुतः आख्यायिका में होता भी यही है। यदि हम हर्षचरित देखें तो प्रतीत होगा कि वास्तव में महाकवि बाणभट्ट ने प्रत्येक उच्छ्वास के प्रारम्भ में अन्योक्ति का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, हर्षचरित के पंचम उच्छ्वास का प्रारम्भ इस प्रकार है—

नियतिर्विधाय पुंसां प्रथमं सुखमुपरि दारुणं दुःखम्।
कृत्वा लोकं तरला तडिदिव वज्रं निपातयति।

किन्तु नियतिपरक इस अप्रस्तुत अर्थ से स्पष्टतः महाराज प्रभाकरवर्धन की भावी मृत्यु की व्यंजना की गयी है जो कि पाँचवें उच्छ्वास का ही वर्ण्य विषय है अतः प्रस्तुत रूप है।

कथा का आख्यायिका से सैद्धान्तिक भेद है। यद्यपि आचार्य दण्डी ने स्पष्टतः कहा है कि—'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता' अर्थात् दोनों एक ही हैं, केवल नाम भर भिन्न है। किन्तु यह अवधेय तथ्य है कि आर्याओं का विधान कथा में भी किया गया है। लोककथा (वृहत्कथा-वृहत्कथासंग्रह, वृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर आदि) जन्तुकथा (पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि) आदि भी कथा ही के रूप विशेष हैं। जन्तुकथा को ही प्रायः 'नीतिकथा' भी कहा जाता है। क्योंकि प्राकृतिक उपादानों, पशुओं एवं पक्षियों को भी सजीवरूप में चित्रित करके इन कथाओं के अन्त में कोई-न-कोई सदुपदेश अवश्य दिया गया है। जन्तुकथाकारों

ने अपने प्रतिपाद्य-वर्णन में भिन्न-भिन्न आकरग्रन्थों से पद्य भी उद्धृत किये हैं जिनमें कि यथा-स्थान अन्यापदेशों का निबन्धन प्राप्त होता है। पंचतन्त्र के मित्रभेद भाग में एक उदाहरण देखिए :—

'जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम्।
यत्सलिलमज्जनाकुल जनहस्तालम्बनं भवति॥'

प्रस्तुत पद्य में तृणवृत्तान्त से व्यंजनया दमनक शृगाल का इतिवृत्त भासित हो रहा है। इसी प्रकार मित्रभेद की दूसरी कथा में संजीवक बैल के पौरुष एवं धैर्य की व्यंजना करने वाले इस अन्यापदेश को देखिए—

'गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धरागमत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नागस्तुल्ये बले तु बलवान्परिकोपमेति॥'

चम्पू गद्यपद्यमयी रचना को ही कहते हैं। अतः इस दृष्टि से इसमें कोई विशेष नवीनता नहीं है। क्योंकि चम्पू का इतिवृत्त काव्य के अन्य भेदों की ही भाँति कोई प्रख्यात राजर्षिचरित अथवा महत्त्वपूर्ण उत्पाद्य कथा ही होती है। अन्यापदेशों के निबन्धन इन ग्रन्थों में भी प्रायः प्राप्त होते हैं।

काव्य के विविध रूपों में प्राप्त होने वाले अन्यापदेशों का छिटपुट विवेचन किया गया। वस्तुतः यदि आचार्य भरत (ई० पू० तीसरी शती) तथा बीसवीं शती ईस्वी के बीच में प्रणीत किये गये रूपकों, उपरूपकों तथा श्रव्यकाव्य के पूर्वविवेचित भेद-प्रभेदों में प्राप्त होने वाली अन्योक्तियों का विषय तथा कर्ता की दृष्टि से संकलन किया जाय तो लाखों पृष्ठ अक्षरांकित हो जायँगे। इस प्रकार अन्योक्ति वाङ्मय तथा उनके कर्ताओं की इयत्ता का निर्धारण एक कल्पनामात्र है। फिर भी प्रस्तुत शोध में अन्योक्ति के विषय एवं प्रणेतृ वर्ग को एक सीमित दायरे में ही स्थित मानकर उनकी सम्भाव्य उद्धरणी प्रस्तुत की गयी है। पूर्व योजना के अनुसार संग्रहग्रन्थों तथा दृश्यश्रव्य इन द्विविध काव्य भेदों में अन्योक्ति का अस्तित्व देखा जा चुका। अब स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों की परम्परा तथा विकास का प्रामाणिक विवरण देना अपेक्षित है।

किन्तु इस नवीन विषय को प्रारम्भ करने के पूर्व ही एक तथ्य का स्पष्टीकरण कर देना अत्यन्त आवश्यक है। काव्य के विविध भेदों के विवेचन में अन्योक्ति के दो रूपों का उल्लेख पहले किया गया है। एक तो यह कि कहीं-कहीं कोई पद्य मौलिक रूप में अर्थात् 'अन्यापदेश-वैशिष्ट्यों' से संयुक्त होने के कारण स्वयं अन्योक्तिरूप होता है। किन्तु कहीं-कहीं वह पद्य, प्राप्त-प्रसंग अथवा प्रतिपाद्यभूत कथा से पृथक कर लिये जाने पर ही 'अन्यापदेश' बनता है। वस्तुतः काव्य के प्रतिपाद्य की दृष्टि से देखने पर वह अन्योक्ति रूप नहीं होता। अन्योक्ति के इन दोनों रूपों में प्रथम स्वरूप जहाँ उसका अधिकार-क्षेत्र

है वहाँ दूसरा केवल उसकी सम्भावनाभूमि। अतः अन्योक्ति सम्बन्धी इस पूर्वप्रोक्त सम्भावना का यह अर्थ कभी नहीं लेना चाहिए कि प्रत्येक काव्य के पद्य 'मुक्तक' रूप में गृहीत किये जा सकते हैं और इसी कारण वे अन्योक्ति से भिन्न नहीं हैं। ऐसी धारणा वस्तुतः किसी भी व्यक्ति की साहित्यिक चेतना के विरुद्ध है। अतः निश्चित है कि पूर्वव्याख्यात काव्यों के तत्तत् श्लोक सर्वथा अन्योक्ति नहीं हैं किन्तु यदि वे 'मुक्तक' रचना के अंश होते तो उनका 'अन्योक्ति' होना सर्वथा निश्चित था। इस प्रकार अन्योक्ति होने की इस सम्भावना मात्र से उसकी निरपेक्षस्थिति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं, क्योंकि दोनों के क्षेत्र पूर्णतः एक दूसरे के पृथक् हैं।

(ग) स्वतन्त्र अन्यापदेशग्रन्थ

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, संग्रहग्रन्थ अथवा स्वतन्त्र अन्यापदेशग्रन्थ मुक्तकों के ही संग्रह होने के कारण श्रव्यकाव्य के अंगविशेष हैं। किन्तु केवल शोध विषय के पार्थक्य का ध्यान रखकर ही अन्य काव्यप्रभेदों से उनकी मिलान नहीं की गयी है। ठीक इसी प्रकार संग्रह तथा स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थ—दोनों ही मुक्तकसंकलन होने के कारण एकरूप हैं। किन्तु उन ग्रन्थों में संकलित सामग्री के स्वरचित एवं पररचित होने की दृष्टि से ही, उनका भी पृथक् विवेचन किया जा रहा है। यह भी पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रतिपादन की दृष्टि से काव्य के भेदों (दृश्य एवं श्रव्य) में अन्योक्ति का स्थान गौण तथा संग्रहादिकों में मुख्य हैं। संग्रह तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों में भी स्वतन्त्र ग्रन्थ एकमात्र अन्योक्तियों से ही निर्मित हैं जबकि संग्रहों में अन्योक्तियों का संकलन अनेक अन्य विषयों के साथ किया गया है।

(स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों की परम्परा वस्तुतः सातवाहन नरेश हाल (ई० पू० ७८ ई०) कृत 'गाहासत्तसई' से प्रारम्भ होती है जोकि प्राकृत भाषा में प्रणीत कवि की स्वरचित सात सौ मुक्तक गाथाओं का संकलन है। प्राकृत में गाथा का वही स्थान है जो कि संस्कृत में 'आर्या' का। वस्तुतः गाथा अथवा आर्या छन्दों के एक रूपविशेष है।) किन्तु चूँकि प्रस्तुत शोध विषय पूर्णतः लौकिक संस्कृत साहित्य (Classical Sanskrit Literature) से ही सम्बद्ध है, इसलिए अन्योक्ति का प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ महाकवि भल्लट प्रणीत 'भल्लटशतक' ही स्वीकार किया जाना चाहिए। चूँकि इस ग्रन्थ से प्राचीन कोई भी इस कोटि का अन्य ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता अतएव स्वतन्त्र अन्योक्ति ग्रन्थों की परम्परा का उदय नवीं शती ई० मान्य है जो कि भल्लटशतक की रचना का युग है।)

अन्योक्ति विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी संख्या कम नहीं है किन्तु जैसा कि इनकी स्थिति पर अध्यायारम्भ में ही प्रकाश डाला गया है, सब के सब आज उपलब्ध नहीं होते। कुछ का कर्तृत्व सन्दिग्ध है, तो कुछ कर्तृत्व स्पष्ट होने पर भी खण्डित हैं। इसी प्रकार उनके विवेचन में अन्यान्य कठिनाइयाँ भी हैं। किन्तु इस स्थल पर विवेचन सौकर्य की दृष्टि से

उनके दो भाग किये जाते हैं—प्रकाशित तथा अप्रकाशित। प्रकाशित ग्रन्थों में वे समस्त रचनाएँ हैं जो पत्र-पत्रिकाओं अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में छपी हैं। इसी प्रकार अप्रकाशित ग्रन्थों में समस्त पाण्डुलिपियाँ आयेंगी, चाहे वे खण्डित हों अथवा सम्पूर्ण। इन दोनों ही वर्गों के विवेचन में प्रणेता कवि के साहित्यिक जीवन का यथासम्भव परिचय तथा रचनाओं के प्रतिपाद्य का अपेक्षित विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

१. महाकवि भल्लट (नवीं शती ईस्वी)

समस्त संग्रह ग्रन्थों में भल्लट का नाम प्रायः उद्धृत किया गया है। किन्तु कवि का विस्तृत परिचय देने वाला कोई भी प्रमाण नहीं प्राप्त होता। भल्लट कवि के पद्य को उदाहृत करने वाले प्राचीनतम व्यक्ति सम्भवतः लोचनकार श्री अभिनवगुप्त है जिन्होंने प्रथमोद्योत में अप्रस्तुतप्रशंसा की व्याख्या करते हुए भल्लट कवि के 'एतत्तस्य मुखात्' प्रभृति ९४वें पद्य को उद्धृत किया है। इससे सिद्ध है कि भल्लट की परवर्ती सीमा ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है (जो कि लोचनकार का साहित्यिक युग माना जाता है) भल्लट कवि के पद्य इसी प्रकार काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन तथा क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं।

राजतरंगिणी की पाँचवीं तरंग में प्राप्त प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि महाकवि भल्लट, कश्मीरनरेश शंकरवर्मा के राज्यकाल में थे। सम्भवतः वे उक्त नरेश के राजकवि भी रहे क्योंकि वृद्धावस्था में राजा शंकरवर्मा के अनाचारों का हवाला देते हुए कल्हण ने कहा है—

'त्यागभीरुतया तस्मिन् गुणिसंगपराङ्मुखे।
आसेवन्तावरा वृत्तीः कवयो भल्लटादयः॥' ५।२०४।

अर्थात् राजा शंकरवर्मा ने अपव्यय से भयभीत होकर गुणी व्यक्तियों का समागम ही छोड़ दिया क्योंकि उन्हें पारितोषिक देना पड़ता था। फल यह हुआ कि राजा के आश्रय में रहने वाले भल्लट प्रभृति कवियों ने छोटे-मोटे उद्योगों से जीविका चलाना प्रारम्भ किया। कल्हण के इस प्रामाण्य से भल्लट की ऐतिहासिकता में कोई शंका नहीं रह जाती। तरंगिणीकार के साक्ष्यानुसार शंकरवर्मा राजा अवन्तिवर्मा (ई० ८५५ से ८८३ तक) का ही एकमात्र पुत्र था जिसका राज्यकाल सन् ८८३ से ९०२ ई० तक है। अतः भल्लट कवि का भी साहित्यिक जीवन नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वीकार किया जाना चाहिए।

जैय्यट, कैय्यट, उद्भट, रुद्रट, तथा भल्लट, मम्मट आदि नामों के ही साम्य पर भल्लट सरीखी संज्ञा से यह तथ्य भी सिद्ध हो जाता है कि कवि की जन्मभूमि कश्मीर ही रही होगी। काव्यमाला चतुर्थ गुच्छ के सम्पादकों ने ऐसी सूचना दी है कि भल्लट नाम को निरर्थक मान कर कुछ विद्वान् कवि का शुद्ध नाम 'भट्टमल्ल' अथवा 'मल्लभट्ट' मानते हैं। किन्तु जैसा कि विद्वान् सम्पादकों ने स्वयं स्पष्ट किया है, यह धारणा निर्मूल है क्योंकि ऊपर

उद्धृत किये गये नाम, इस दृष्टि से कोई भी सार्थक नहीं है। भट्टमल्ल स्वयं एक प्राचीन वैयाकरण हो चुके हैं जिनका नाम मल्लिनाथ ने माघकाव्य (२।६८) की टीका में उद्धृत किया है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 'मल्लट' कोई संदिग्ध संज्ञा नहीं है वरन् इस नाम के एक महाकवि राजा शंकरवर्मा के राज्यकाल में थे।

अद्यावधि प्राप्त होने वाले कवि के ग्रन्थ में कुल १०८ पद्य हैं। ग्रन्थ का नाम 'भल्लट-शतक' है। इसके प्रथम दो पद्य मंगलाचरण रूप हैं, जिनके बाद एक सौ छः अन्योक्तियों का संकलन किया गया है। इस शतक के अनेक पद्य विभिन्न संग्रहग्रन्थों में विभिन्न कवियों के नाम मढ़ दिये गये हैं जिसे संग्रहकारों के अनवधान का ही परिणाम माना जा सकता है। ग्रन्थ में छन्दों की विविधता भी है। प्रतिपाद्य विषय इस क्रम में है—सुधी, कालकूट, सन्मणि-श्री, तृष्णा, रवि, कीटमणि, क्रोष्टा, चातकशिशु, भ्रमर, वक, काक, करभ, कमलनाल, कमल, स्थलकमल, शंख, चन्दन, कल्पतरु, ख़दिर, ताल, बर्बूर, नारिकेल, घन, ऊषर, अम्बुधि, स्फटिक-मणि, चिन्तामणि, इक्षु, मरुस्थल, पांसु, दन्दशूक, शेष, श्वान, विशिख, नीच, हेमकार, अन्ध-कूपक, शतपदी, लुब्धकवाल, जलबिन्दु, तृणपुरुष, पुरुषोत्तम, काचवणिक्, वृषदंश, मृणाल, रजनी, प्रदीप, काष्ठिक, जाल्म, चन्द्र, अगस्त्य, स्वपक्ष, जड, विषमंत्री, व्याध, पवन, मनस्वी, विद्युत, वेताल, मृग, गज, नरेश तथा शुक।

उपर्युक्त ६५ विषयों में अनेक ऐसे भी हैं जिनका लक्ष्य बहुमुखी है अतः यदि उन्हें दूसरे पक्ष की ओर उन्मुख समझा जाय तो वे तद्विषयक अन्योक्तियों के उदाहरण बन जायँगे। भल्लटशतक के ही पद्यों का भाव लेकर परवर्ती युग में अनेक कवियों ने समरूप अन्यापदेशों का निर्माण किया, अतः इस ग्रन्थ की उपजीव्यता में सन्देह नहीं रह जाता।

२. श्रीशम्भुमिश्र (११वीं शती ईस्वी)

महाकवि श्रीशम्भु विरचित दो ग्रन्थ प्राप्त हैं—राजेन्द्रकर्णपूर तथा अन्योक्ति-मुक्तालता।[1] प्रथम रचना कश्मीरनरेश हर्षदेव (सन् १०८८-११०० तक) की प्रशस्ति तथा दूसरी एक सौ आठ अन्योक्तियों का संग्रह है। राजेन्द्रकर्णपूर में कुल ७५ पद्य हैं जिसके उन्नीसवें तथा बयालीसवें पद्यों में कवि ने क्रमशः महाराज हर्ष तथा स्वदेश 'कश्मीर' का स्मरण किया है। इसी प्रकार श्लोक ३,७२,७४ तथा ७५ में कवि ने अपना नाम देते हुए आत्म-प्रख्यापन किया है। ग्रन्थ के १७वें तथा ३६वें पद्य में महाराज मुंज की मृत्यु के बाद विपन्न हुई सरस्वती तथा राजा हर्ष के कारण पुनः उसके समृद्ध होने का तथ्य भी दिखाया गया है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि धारानरेश मुंज की मृत्यु (सन् ९९४ के आस-पास) के थोड़े ही समय बाद पल्लवित होने वाले कश्मीरनरेश हर्षदेव के शासन में शम्भु कवि ने अपने

१. द्रष्टव्य—काव्यमाला प्रथम एवं द्वितीय गुच्छक, सन् १८८६ तथा ९६।

ग्रन्थों की रचना की। राजा हर्षदेव, कल्हण के प्रमाणानुसार कश्मीर के प्रतापी नरेश अनन्तदेव का पौत्र, कलश का पुत्र तथा उत्कर्ष का छोटा भाई था। विजयमल्ल के पुत्र उच्चल तथा सुस्सल ने राजा हर्ष को सन् ११०० ई० में प्रवंचना द्वारा मरवा दिया।[१]

इस प्रकार हर्षदेव की प्रशस्ति गाने वाले कवि शम्भु का समय लगभग ११वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध होना चाहिए। श्रीकण्ठचरितकार मंखक कवि ने भी ग्रन्थ के पचीसवें अध्याय में चार श्लोकों में (९६-९९ तक) शम्भु विषयक तथ्यों का उल्लेख किया है। मंखक राजा जयसिंह (सुस्सल के पुत्र) के राज्यकाल (१२वीं शती का पूर्वार्द्ध) में थे क्योंकि उनके बड़े भाई लंकक अथवा अलंकार उन्हीं नरेश के मंत्री थे।[२] मंखक ने पच्चीसवें सर्ग के श्लोक ९६ तथा ९७ में शम्भु महाकवि के पुत्र आनन्द का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है--- 'अशेषभिषगग्रण्यं शरण्यं शास्त्रपद्धतेः। ववन्देऽथ तमानन्दं सुतं शम्भुमहाकवेः॥' इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शम्भु के पुत्र आनन्द मंखक के समसामयिक अर्थात् १२वीं शती के पूर्वार्द्ध में थे। हर्षदेव के पश्चात् अर्थात् सन् ११०० से ११२७ के बीच कश्मीर के सिंहासन पर उच्चल, शंखराज, सल्हण, सुस्सल तथा भिक्षाचर (हर्षदेव का पौत्र) प्रभृति अनेक नरेश आसीन हुए और अन्त में सुस्सलपुत्र जयसिंह ने सन् ११२७-४९ ई० तक राज्य किया। इस दशा में श्रीकण्ठचरितकार द्वारा स्मृत किये जाने के कारण भी शम्भु कवि का समय उनसे पूर्व अर्थात् हर्षदेव के ही शासनकाल में निश्चित होता है।

अन्योक्तिमुक्तालता की अन्तिम पुष्पिका से यह भी ज्ञात होता है कि शम्भु कवि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न 'मिश्र' संज्ञा वाले थे। किन्तु 'राजेन्द्रकर्णपूर' में कहीं ऐसा प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। यद्यपि दोनों ग्रन्थों में कोई ऐसा उभयनिष्ठ प्रमाण नहीं प्राप्त होता कि हम उन दोनों का कर्तृत्व शम्भु को ही दे सकें। तथापि उनकी कर्तृविषयक एकता में कोई शंका नहीं सम्भव है। श्रीकण्ठचरित के सम्पादक म० म० पण्डित दुर्गाप्रसाद एवं काशीनाथ ने श्लोक २५।९७ की पादटिप्पणी में तथा श्री पी० के० नारायण पिल्लई ने 'लाइट थ्रोन आन कल्चरल करेण्ट्स बाई दि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज' शीर्षक परिचयात्मक निबन्ध में दोनों ही ग्रन्थों के एकमात्र कर्ता के रूप में शम्भु महाकवि को प्रस्तुत किया है।[३]

---

१. द्रष्टव्य---राजतरंगिणी---सप्तमतरंग।

२. कल्हण ने अलंकार को जयसिंह का मंत्री बताया है (राज० ८।२५५७) किन्तु मंखक ने उन्हें 'सान्धिविग्रहिक' कहा है---तस्योपासितसन्धिविग्रहमलंकारं द्वितीयं स्तुमः॥ श्रीकण्ठ० २५।६१।

३. द्रष्टव्य---'ए सावनिर (Souvenir) आफ दि सिल्वर जुबिली सेलिब्रशन आफ दि डिपार्टमेण्ट फार दि पब्लिकेशन आफ ओरियेण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स, त्रिवेन्द्रम। सन् १९३३ ई०, पृ० १०४-११३ तक।

अन्योक्तिमुक्तालता में अधिकांश छन्द, स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित हैं। कुछ पद्य वसन्ततिलका तथा मन्दाक्रान्ता में भी प्राप्त होते हैं। कवि ने विषय-वर्णन में पूर्णतः भल्लटशतक का अनुकरण किया है। समस्त पद्य (१०८ संख्यक) अन्योक्ति के ही हैं जिनका विषय क्रमशः इस प्रकार है—विपंची, कैरव, कौस्तुभ, भगवान, दामन (दौना), नागरखण्डपल्लव, बकुलकन्दली, करमा, मराल, अम्भोधर, चैत्र, सारंग, चकोरार्भक, सागर, दिग्गज, भ्रमर, क्रमेलक, खद्योत, चन्द्र, कल्पद्रुम, मृगमद, रथांग, मिथुन, रमणी, रोहण, अरविन्द, अंगारकार, सिंह, शंकर, सरोवर, सारस, कोलबाल, लवंग, मालती, वैकटिक (रत्नवणिक), मल्लीमुकुल, विरंचिहंस, क्षीरसागर, मुक्ताहार, कालागुरु (बालमंजरी), पामर, गंगा, शेष, सहकारमंजरी, पारिजात, कार्तिकेय का मयूर, इषुकार, मेनाक, श्रीखण्ड, हेमकमल, कठपुतली, माली, चम्पक, अनुमान, शिरीष, रावण, शारदपयोद, चन्दन, मल्लिका, रमणीमुख, कुवलय, मातंग, सर्प, सैरन्ध्री, पान्थ, ताम्रपर्णी तथा पाटला—कुल ६६ विषय।

भल्लटशतक की ही भाँति, प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अनेक अन्योक्तियाँ ऐसी हैं जो कई विषयों को एक साथ लक्षित करती हैं अतः इस दृष्टि से उनका विषयवैविध्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. श्रीगोवर्द्धनाचार्य (१२वीं शती ई०)

(सुभाषितरत्नकोष तथा सदुक्तिकर्णामृत के प्रसंग में अध्यायारम्भ में ही प्रभूत तथ्य प्रस्तुत किया जा चुका है जिससे कि धोयी कवि तथा संग्रहकार श्रीधरदास का समय भी स्पष्ट हो जाता है। उसी प्रसंग में दिये गये महाकवि जयदेव के प्रमाण से यह भी सिद्ध हो जाता है कि धोयी, शरण, उमापतिधर, गोवर्धनाचार्य तथा जयदेव प्रभृति कविगण एक ही समय में, बंगनरेश लक्ष्मणसेन के सभारत्न रहे। राजा लक्ष्मणसेन के सभागृह-द्वार पर उत्कीर्ण पद्य—'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः। कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥' से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। ऐतिहासिक विद्वानों के प्रमाणानुसार लक्ष्मणसेन का राज्यारोहण सन् ११७८ तथा शासन की चरम अवधि सन् १२०५ ई० है।[१] अतः सिद्ध है कि उक्त नरेश के ही राजकवि होने के कारण पूर्वोक्त कवियों का साहित्यिक जीवन भी बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध तथा तेरहवीं शती का प्रथम पाद होना सम्भव है।)

(गोवर्द्धनाचार्य की एकमात्र रचना 'आर्यासप्तशती'[२] है जो कि ई० पू० ७८ में सातवाहन नरेश हाल द्वारा प्राकृत भाषा में प्रणीत 'गाहासत्तसई' (गाथासप्तशती) के अनुकरण पर संस्कृत भाषा में लिखी गयी है।) प्रस्तावना की ५४ आर्याओं के पश्चात् प्रारम्भ

१. द्रष्टव्य—सुभाषितरत्नकोष की प्रस्तावना, पृ० ३३।

२. काव्यमाला १। निर्णयसागर संस्करण सन् १८८६ ई०।

होने वाले प्रस्तुत ग्रन्थ में अकार आदि क्रम से कुल ७०२ आर्याश्लोक संकलित किये गये हैं। इन क्रमों को कवि ने 'व्रज्या' की संज्ञा दी है। गोवर्द्धन के विषय में श्री जयदेव कवि का यह कथन पूर्णतः सत्य है—'शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोपि न विश्रुतः' क्योंकि सप्तशती की एक-एक आर्या में कवि ने मानवमात्र के हृदयगह्वर में प्रतिध्वनित होने वाली एक-एक धड़कन का साकार दर्शन कराया है। अहोरात्र में घटित होने वाली कौतुकपूर्ण प्रणयलीलाओं से लेकर दिव्यप्रणय तथा उससे संकेतित, पारमार्थिक आनन्द तक की वृत्तियाँ आर्यासप्तशती में प्राप्त होती हैं। किन्तु तब भी मोटे ढंग से इस ग्रन्थ को विविध भावों की व्यंजनामयी उपस्थिति से पूर्ण एक शृंगार-रचना कहा जा सकता है।

यद्यपि भल्लट तथा शम्भु कवि के अन्योक्ति ग्रन्थों की ही भाँति गोवर्द्धनाचार्यकृत 'सप्तशती' नहीं है, क्योंकि इसका प्रतिपाद्य अनेकविध है। तथापि अन्योक्तियों का प्रयोग कवि ने पद-पद पर किया है। समस्त श्लोक प्रायः नायक-नायिका के मान-प्रवास-विरह-मिलन, सन्देश-दौत्य को लेकर ही लिखे गये हैं और इन्हीं विषयों की वर्णना कहीं-कहीं कवि ने अन्यापदेश शैली में कर दी है। दयाविहीन नरपशु के समक्ष प्रयत्नपूर्वक दैन्य प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति के प्रति कवि कहता है—

चरणैः परागसैकतमफलमिदं लिखसि मधुप केतक्याः।
इह वसति कान्तिसारे नान्तःसलिलापि मधुसिन्धुः ।।२२७

इसी प्रकार दारिद्रय सहकर भी परोपकार करने वाले व्यक्ति की प्रशंसा चन्दन के बहाने इस प्रकार की गयी है—

यद्यपि चन्दनविटपी फलपुष्पविवर्जितः कृतो विधिना।
निजवपुषैव तथापि हि स हरति सन्तापमपरेषाम् ।।४८७

इस दृष्टि से अन्वेषण करने पर आर्यासप्तशती में सैकड़ों अन्यापदेश प्राप्त हो सकते हैं। विस्तारभय से उनका विस्तृत व्याख्यान नहीं किया जा रहा है। एक सूच्य तथ्य यह है कि गोवर्द्धनाचार्य की इस कृति को स्वतन्त्र अन्योक्ति-ग्रन्थों के क्रम में रखा गया है क्योंकि इसके समस्त पद्य, कवि के आत्मकृत पद्य ही हैं न कि अन्यरचित। अतः संग्रहग्रन्थों से यह रचना पूर्णतः भिन्न है। हाँ, इसका एक वैशिष्ट्य अवश्य है। वह यह कि इसका समस्त प्रतिपाद्य अन्यापदेश शैली में नहीं है। वरन् अन्यापदेश के साथ-ही-साथ बहुविध लोकवृत्तान्तों का अभिधा रीति से भी प्रतिपादन किया गया है। चूँकि कवि का उद्देश्य प्रमुख रूप से नायक-नायिका से अथवा लोक से सम्बद्ध शृंगारिक चेष्टाओं का ही उपस्थापन मात्र था, इसलिए अन्यापदेश रीति में उन विषयों को प्रस्तुत करते समय कवि ने कुछ ही उपादानों को ग्रहण किया है। वे विषय क्रमशः इस प्रकार हैं—
९. कोषकार (कीट), ३०. चूतवल्ली (२), ४५. केतकलता (४), ५१. पथिक, ५९. मशक

(२), ९१. पूगतरु, ९२. अमरगण, ९७. जनविशेष (४), १०० कुरंग (कुरंगशावक—(५), १०१. दूती, १०४. गोपी, ११५. मधुप (६), १२३. कांचनकेतकी, १२६. सूर्य (२), १३९. पृथ्वी, १५३. यमुना, १७३. हस्ती (६), १७७. चन्द्रकिरण, १९८. लम्बोदर, २०१. सखी (४), २०७. भ्रमरी, २०८. तुला, २१२. चन्द्र, २१९. कैरव, २२३. गन्धवाह, २३९. वृषभ (२), २६२. वटवृक्ष, २६९. शक्रध्वज, २९७. स्त्री-विशेष (२), ३०४. अग्नि, ३०९. मुग्धकुरंगी, ३३३. सौरभेयी, ३४६. कीरावलि (२), ३४९. काक (२), ३६६. पंजरचकोरिका, ३७०. घन (२), ३८८. शंकर का फणी, ४०६. नलिनी, ४१०. सुवर्ण, ४१४. कंचुक, ४२३. हालिकनन्दिनी, ४२४. शंकर (२), ४२९. गोदावरी, ४३१. तुलसी, ४४०. वृक्ष (४), ४४६. शबरतरुणी, ४७६. पल्लीपतिपुत्री, ४८२. सागर, ४८३. चकोर, ४८७. चन्दन, ५०२. वर्तिका, ५३२. हरि (२), ५४२. जाह्नवी, ५७८. इन्दुकला (२), ६०७. बिसकण्ठिका (बलाका), ६४१. अश्वत्थ, ६५२. दन्तिनी, ६९२. तरिनी।

उपर्युक्त विषय-विवेचन में विषयों के पूर्व की संख्या, आर्यासप्तशती में उन पद्यों की संख्या है तथा कोष्टगत संख्या, उसी विषय पर प्रणीत अन्यापदेशों की संख्या है। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर और भी अनेक आर्याएँ अन्यापदेश कही जा सकती हैं किन्तु उपर्युक्त सूची में परिगणित विषय स्पष्टतः अन्योक्ति के हैं। टीकाकार श्री अनन्तपण्डित (सन् १५२३ ई०) ने भी इन पद्यों को 'अन्योक्ति' ही स्वीकार किया है। इस प्रकार सप्तशती में कुल ५८ विषयों पर लगभग सौ अन्योक्तियाँ लिखी गयी हैं।

४. श्री वंशीधर मिश्र (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध?)

कविकृत 'अन्योक्तिस्तबक' में कुल १०४ पद्य हैं, जिनमें प्रथम सात प्रस्तावना से तथा अन्तिम एक उपसंहार से सम्बद्ध है। शेष ९६ पद्य, ६२ विषयों पर प्रणीत अन्यापदेश हैं जिनमें कि किरात, लोचन, तमस्, तीर्थराज, दीपिका, निर्धन, मुरली, पुरदेवता, पत्रच्छत्र, वंश, काण्डकार, दर्भ, डुण्डुभ, नकुल, खंजन, गोमयकीट तथा एरण्ड विषयक अन्योक्तियाँ प्रयोग की दृष्टि से प्रायः नवीन हैं। ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १९५५ ई० में चुन्नीलाल गान्धी विद्याभवन स्टडीज़—४ के रूप में, श्री जे० टी० पारिख एवं आर० जी० अस्टि द्वारा सूरत से किया गया।

कवि के विषय में कहीं कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। सूचीपत्रों में भी 'अन्योक्तिस्तबक' का नाम न प्राप्त होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि रचना प्रख्यात न हो सकी। सम्पादकों ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में दश से भी अधिक वंशीधरों का प्रमाण देते हुए प्रस्तुत कवि का उनमें से किसी एक के साथ तादूप्य स्थापित करने में असमर्थता व्यक्त की है।[1] किन्तु एम० टी० बी० कालेज लाइब्रेरी सूरत में प्राप्त जिस पाण्डुलिपि के आधार पर

---

१. द्रष्टव्य—अन्योक्तिस्तबक की प्रस्तावना, पृ० ७५। सूरत, सन् १९५५ ई०।

सम्पादकों ने प्रस्तुत प्रकाशन किया है, उसका लेखन-काल संवत् १७२७ (सन् १६७०) होने से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कवि का जीवनकाल अधिक-से-अधिक सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध ही हो सकता है। 'राजप्रशंसास्तबक' नामक अपने दूसरे ग्रन्थ में कवि ने 'राम' (रामचन्द्र, रामभद्र, आदिराज) नामक किसी नरेश की प्रशस्ति गायी है। उसकी पाण्डुलिपि भी श्री बुद्धिशर्मा मिश्र द्वारा सन् १६७० में लिखी गयी। किन्तु राम नामक यह नरेश कब और कहाँ था, बिना इस समस्या का हल किये कवि के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

मध्यकालीन मध्यभारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में पण्डित पद्मनाभ मिश्र को बघेल-वंशीय, रीवाँ-नरेश वीरभद्र का राजकवि बताया गया है। इन्हीं वीरभद्र के पिता का नाम रामचन्द्र था। ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डित वंशीधर द्वारा प्रशंसित नरेश 'रामचन्द्र' यही हैं। रामचन्द्र अकबर के समकालीन तथा उसके परम मित्र थे। 'अकबरीयकालिदास' की उपाधि से युक्त कवि श्रीगोविन्दभट्ट ने नरेश की प्रशस्ति के रूप में 'रामचन्द्रयशः प्रबन्ध' की रचना की। विद्वत्प्रिय होने के कारण नरेश के दरबार में अनेक कवियों को आश्रय मिला था। रामचन्द्र के पिता वीरभानु के प्रशंसक थे वीरभानूदय महाकाव्य के प्रणेता माधव तथा 'रसमंजरी एवं गीतगौरीश' प्रभृति ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य भानुदत्त। इसी प्रकार रामचन्द्र तथा उनके पुत्र वीरभद्र के प्रशंसक गोविन्दभट्ट तथा पद्मनाभ मिश्र (प्रद्योतनभट्ट) थे।[1] सम्भव है कि श्री वंशीधर मिश्र भी इन्हीं बघेलवंशीय नृपति के प्रशंसक हों क्योंकि इस नाम का अन्य कोई नरेश मध्यकाल में नहीं ज्ञात होता। यद्यपि सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में तंजौर-नरेश रघुनाथ भी परम विद्वत्प्रिय माने जाते हैं, किन्तु उनके दरबार में रहने वाला कोई भी कवि अन्धकार में नहीं है। निश्चित ही वंशीधर मिश्र उनसे भी अधिक प्राचीन हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक साक्ष्यानुसार, रामचन्द्र का शासन-काल सन् १५५५ से १५९२ ई० तक माना जाता है। अतः बहुत सम्भव है कि श्री वंशीधर मिश्र इसी नरेश के कृपापात्र रहे और इन्हीं नरेश के आश्रय में रहकर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। इस दृष्टि से उनका जीवन-काल सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

५. श्री मधुसूदन बुजन्ति (सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध ?)

काव्यमाला नवमगुच्छक में प्रकाशित अन्यापदेशशतक के प्रणेता श्री मधुसूदन कवि हैं। इस ग्रन्थ में प्रथम तीन मंगलाचरण तथा अन्तिम दो परिचयात्मक पद्यों को छोड़कर शेष १०५ अन्योक्तियाँ हैं। परिचयात्मक पद्यों के अनुसार ज्ञात होता है कि कवि की जन्म-भूमि मिथिला, पिता पद्मनाभ, माता शुभदा तथा वंश 'दुजिती या उचिती' था। विविध

---

१. द्रष्टव्य—'रामचन्द्रयशःप्रबन्ध' की प्रस्तावना (डॉ० यतीन्द्रविमल चौधरी) कलकत्ता सन् १९४६ ई०।

सूचीपत्रों (Catalogues) में मधुसूदन का नाम उनकी उपाधि 'दुजन्ति' के साथ भी दिया गया है। किन्तु कवि का समय पूर्णतः अज्ञात है। काव्यमाला में प्रकाशित यह शतक डॉ० पीटर्सन द्वारा (मथुरा से प्राप्त) प्रदत्त जिस पाण्डुलिपि पर आधारित है, उसका लेखन-काल संवत् १८२२ (सन् १७६५ ई०) है, अतः निश्चित है कि कवि अठारहवीं शती से प्राचीन ही हैं।

अन्यापदेशशतक के प्रणेता श्री मधुसूदन दुजन्ति के अतिरिक्त प्रख्यात विद्वान् आफ्रेक्ट ने लगभग बीस तथा एल० डी० बार्नेट ने लगभग आठ नवीन मधुसूदनों का परिचय प्रस्तुत किया है[१] जिनमें से सोलहवीं शती में विद्यमान विश्वेश्वर सरस्वती के शिष्य मधुसूदन सरस्वती, बँगला कवि तथा मेघनादवध के कर्ता माइकेल मधुसूदनदत्त तथा पिछली शती में विद्यमान, विज्ञानादि संबंधी १३५ अद्भुत ग्रन्थों के प्रणेता पं० श्री मधुसूदन ओझा अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऐसी दशा में केवल नाममात्र से किसी भी मधुसूदन का परिचय पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, क्योंकि इनमें शायद ही दो-चार ऐसे हों जिनका जीवनवृत्त स्पष्ट है, अन्यथा सब-के-सब अज्ञानगर्त में ही डूबे हैं।

सोलहवीं शती में मिथिला में बलभद्र नाम के एक मिश्रवंशीय ब्राह्मण हुए जिनके तीन पुत्र थे—विश्वनाथ, पद्मनाभ तथा गोवर्द्धन। इनमें से 'पद्मनाभ' दर्शन तथा साहित्य दोनों में समान अधिकार वाले प्रख्यात विद्वान् हुए। गंगेशोपाध्याय की चिन्तामणि पर प्रकाश टीका, स्वकृत राद्धान्तमुक्ताहार पर कणादरहस्य टीका, वर्द्धमानप्रणीत द्रव्यकिरणावलीप्रकाश पर वर्द्धमानेन्दु टीका, उदयनाचार्यकृत किरणावली पर 'भास्कर' टीका, प्रशस्तपादभाष्य पर वैशेषिकसेतुटीका, श्रीधरकृत न्यायकन्दली तथा श्रीहर्षकृत खण्डनखण्डखाद्य पर अज्ञात नाम्नी टीकाओं की रचना पद्मनाभ ने की। अपने आश्रयदाता रीवाँ के बघेलवंशीय राजा वीरभद्र के प्रीणनार्थ वीरभद्र-देव-चम्पू तथा आचार्य जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' पर 'शरदागम' टीका भी पद्मनाभ ने लिखी। वीरभद्र, रीवाँ-नरेश रामचन्द्रदेव के पुत्र थे, जिनका युवराजकाल सन् १५६९ से १५९३ ई० तक है। वीरभद्र संस्कृत के विद्वान् भी थे और उन्होंने 'कन्दर्प-चूडामणि' नामक ग्रन्थ सन् १५७६ में लिखा था जबकि पद्मनाभकृत पूर्वोक्त चम्पू का रचना-काल सन् १५७८ ई० है। इन प्रमाणों के आधार पर म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने पद्म-नाभ का समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना है।[२] यदि यही पद्मनाभ मधुसूदन कवि के पूज्य पिता स्वीकार कर लिये जायँ तो उनका समय स्पष्टतः सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध होगा। इस

---

१. द्रष्टव्य—(आफ्रेक्ट) कैटलागस कैटालागरम् भाग १ (पृ० ९७) तथा भाग २ (पृ० ४२७)। बार्नेट–ए सप्लिमेण्ट्री कैटलाग्...आफ ब्रिटिश म्यूजियम, भाग १, पृ० ३४६ तथा भाग २, पृ० ५६२।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज लिखित किरणावली-भास्कर की प्रस्तावना, पृ० ३-९, बनारस, सन् १९२० ई०।

सम्बन्ध को स्वीकार करना अयुक्त नहीं प्रतीत होगा क्योंकि मधुसूदन द्वारा निर्दिष्ट आत्मविषयक तथ्य प्रायः पद्मनाभ से मिलते हैं।

६. न्यायवाचस्पति रुद्रकवि (१७वीं शती का पूर्वार्द्ध)

(न्याय) दर्शन एवं साहित्य में समान प्रतिभा वाले श्री रुद्रकवि, मानसिंह के पुत्र तथा राजा भगवानदास के पौत्र, श्री भावसिंह महाराज के राजकवि थे। अपने आश्रयदाता की ही आज्ञा से उन्होंने 'भावविलास' नामक प्रस्तुत अन्यापदेश ग्रन्थ का प्रणयन किया।[1] इसमें कुल १३६ पद्य हैं, प्रथम सत्रह पद्य भावसिंह के वंशकीर्तन एवं प्रशस्ति से सम्बद्ध, अन्तिम तीन उपसंहारात्मक तथा मध्यवर्ती ११६ पद्य अन्यापदेश रूप हैं।

ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार राजा मानसिंह सम्राट् अकबर के समकालीन तथा उसी के सेनापति थे। अकबर का समय सन् १५५६ से १६०५ ई० तक है अतः मानसिंह का भी समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही है। इसी प्रकार मानसिंह के पुत्र भाव सिंह का समय सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है और वही समय राजकवि रुद्र का भी होना चाहिए। कविमल्लभट्ट हरिवल्लभ ने भावसिंह का समय सन् १५४७ से १६१९ ई० तक माना है।[2]

ग्रन्थ के प्रथम सत्रह पद्यों में कवि ने अपने आश्रयदाता के निर्मल वंश, शौर्य, दया, दान एवं दाक्षिण्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सम्भवतः 'न्यायवाचस्पति' की उपाधि भी उक्त नरेश ने ही कवि के दार्शनिक पाण्डित्य को देख कर दी हो। अन्तिम श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि कवि के पिता का नाम श्री विद्याविलास था। रुद्र कवि के विषय में इससे अधिक परिचय नहीं प्राप्त होता। प्रस्तुत अन्यापदेश ग्रन्थ के अतिरिक्त कवि-प्रणीत अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१. तत्त्वचिन्तामणिदीधितिपरीक्षा, २. किरणावलीप्रकाश-निवृत्तिपरीक्षा, ३. पदार्थखण्डनव्याख्या, ४. भ्रमरदूतकाव्य, ५. वृन्दावनविनोदकाव्य, ६. पिकदूत (?)।

श्री विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि (तर्कभाषा प्रस्तावना, पृ० ५१) तथा श्री वर्णेकर जी ने (अर्वाचीन संस्कृत साहित्य, पृ० ३०, १३९, १४० तथा ४५० पर) रुद्रकवि के ग्रन्थों की जो नामावलि प्रस्तुत की है, वह परस्पर समान है। किन्तु पृ० १३९ पर वर्णेकर द्वारा प्रदत्त 'पिकदूत' को विश्वेश्वर जी ने अपनी सूची में नहीं रखा है। स्वयं वर्णेकर जी ने भी पृ०

---

१. द्रष्टव्य—पद्य १७ (तस्याज्ञामधिगत्य यः कविकुलानन्दाय सम्पादितः) तथा १३४ (श्रीभावसिंहनरसिंहनियोगयोगात् सम्पादितः) भावविलास। काव्यमाला गुच्छक-२ बम्बई सन् १८९६।

२. द्रष्टव्य—जयनगरपंचरंग, तरंग ४ श्लोक ३२-३६ तक। निर्णयसागर संस्करण सन् १८९४ ई०।

४५० पर रुद्रकवि के दार्शनिक ग्रन्थों को गिनाने के बाद टिप्पणी रूप में उनके अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिसमें कि भ्रमरदूत है किन्तु पिकदूत नहीं। अतः यह शंका हो जाती है कि पिकदूत भी रुद्र की कृति है या नहीं? सम्भवतः लेखक ने अनवधानवश ऐसा किया है, किन्तु पिकदूत भी रुद्र की ही रचना है। काव्यमाला तथा प्राच्यवाणी जर्नल में (सन् १९४५ ई०) इसका प्रकाशन हुआ है।

भावविलास में कुल ३८ विषयों पर ११६ अन्यापदेशों की रचना की गयी है। विषय क्रमशः इस प्रकार हैं--पिशुन, लोक, हुताशन, मलिनिमा, महान्, साधु, सागर, महामणि (रत्न), लक्ष्मी, मधुप (२१), कमल, नलिनी, हंस, मालती, लवंगी, कुन्द, माकन्द, अशोक, करट, चक्रांग (रथांग-रथांगि), सारंग, जीमूत (७), सरोवर, तटिनी, पान्थ, पवन, चन्द्रमा (९), रवि, केसरी (७), वारणेन्द्र (१०), मृगशावक, एणी, स्त्रीविशेष, काल, विधि, त्रिलोकनाथ, धनुष, मुक्ताकलाप (दाम)।

७. श्री दर्शनविजय गणि (सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध)

मुगल बादशाह अकबर के दरबार में जैन आचार्यों का बड़ा सम्मान था, ऐसा इतिहासकारों के प्रामाण्य से सिद्ध होता है। अकबर के राज्यकाल में (सन् १५५६ से १६०५ तक) हीरविजय, भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र प्रभृति सैकड़ों स्वनामधन्य जैनाचार्यों ने जन्म लिया। स्वयं अकबर तथा शाहजादा सलीम (जहाँगीर) उन आचार्यों का बड़ा आदर करते थे। भानुचन्द्र के ही आग्रह पर सम्राट् ने जजिया-कर की प्रथा बन्द कर दी थी। जहाँगीर के शासन-काल में इन जैन साधुओं के दो दल थे--सागरतपागच्छ सम्प्रदाय तथा विजयतपागच्छ सम्प्रदाय। ये दोनों दल बुरहानपुर में स्थित थे। इनके आचार्य क्रमशः नेमिसागर उपाध्याय तथा विजयदेव सूरि थे। लगभग सन् १६१६ में इन दलों के सैद्धान्तिक मतभेदवश, झगड़े के उग्र रूप धारण कर लेने पर, सम्राट् जहाँगीर ने मध्यस्थता की। नेमिसागर, धर्मसागर उपाध्याय के शिष्य थे। धर्मसागर ने 'प्रवचनपरीक्षा' नामक जैनागम का 'सर्वज्ञशतक' नाम से एक नवीन संस्करण प्रस्तुत किया जिसे कि पूर्वाचार्य विजयसेन के पट्टशिष्य विजयदेव सूरि ने मान्यता नहीं दी। यही दोनों दलों के वैमनस्य का मूल था। झगड़े की सूचना श्री दर्शनविजय गणि ने सिरोही में विद्यमान आचार्य भानुचन्द्र को दी, ताकि सम्राट् जहाँगीर के श्रद्धेय होने के कारण वे इसे निपटा सकें। आचार्य ने अपने शिष्य सिद्धिचन्द्र से यह संदेश दिल्ली भेजा जिसे पाकर सम्राट् ने दोनों दलों को माण्डू में बुलाकर समझौता कराया। 'तुजुके जहाँगीरी' के अनुसार सम्राट् जहाँगीर २३ मार्च सन् १६१७ ई० को माण्डू पहुँचा था।[१] फलतः वैमनस्य शान्त हो गया और सागरपक्षीय आचार्यों का अतिशय विरोध देखकर आचार्य भानुचन्द्र

---

१. द्रष्टव्य--भानुचन्द्रगणिचरित की प्रस्तावना, पृ० ६२ से ६४ तक। सिन्धी जैन-ग्रन्थमाला-१५। कलकत्ता १९४१ ई०।

गणि ने सम्राट् के समक्ष ही श्री विजयतिलक सूरि को, दिवंगत आचार्य विजयसेन का सुयोग्य उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। पाँच जनवरी सन् १६१८ को सम्राट् आचार्य विजयतिलक, भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र तथा दर्शनविजय प्रभृति जैनों के साथ अहमदाबाद लौटा। इस प्रकार श्री दर्शनविजय का जीवनकाल जहाँगीर के राज्यकाल में ही निश्चित हो जाता है।

शक सम्वत् १६७९ (सन् १६२२ ई०) मार्गशीर्ष वदी ८ को बुरहानपुर में रहकर ही, दर्शनविजयगणि ने 'विजयतिलकसूरिरास' नामक ग्रन्थ लिखा। इससे यह भान होता है कि सम्भवतः दर्शनविजय, विजयतिलक सूरि के प्रिय शिष्य तथा प्रतिभासम्पन्न एक उत्साही जैन साधु थे। अतः यदि उक्त झगड़े के समय उनकी अवस्था ३० वर्ष भी मान ली जाय तो उनका सम्भाव्य जन्मकाल सन् १५८६ ई० के आस-पास निश्चित होता है। गुरु का जीवन-चरित लिखते समय इस प्रकार दर्शनविजय की अवस्था लगभग ३६ वर्ष की थी। इस प्रकार दर्शनविजय का समय स्थूलरूप से सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध अर्थात् जहाँगीर का शासनकाल (सन् १६०५ से १६२८ तक) निश्चित है। इसी कवि ने अन्योक्तिशतक की रचना की है, जिसमें कि पूर्व कवियों के ही अनुकरण पर विविध विषयों से सम्बद्ध शताधिक अन्यापदेशों का संकलन किया गया है। यह ग्रन्थ सन् १९१३ ई० में सर्वप्रथम श्री हीरालाल हंसराज, जामनगर (गुजरात) द्वारा प्रकाशित किया गया था।

८. श्री हंसविजय गणि (सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध)

दर्शनविजयकृत 'विजयतिलकसूरिरास' तथा 'प्राचीन तीर्थमाला संग्रह' प्रभृति अनेक सम्प्रदाय ग्रन्थों से मुगल साम्राज्य में विद्यमान जैनाचार्यों की परम्परा इस प्रकार की सिद्ध होती है—

आचार्य हीरविजयसूरि[1] (जन्म सन् १५२६ ई० प्रहलदानपुर में)
| (तथा सन् १५५३ ई० में सूरिपद प्राप्ति)
आचार्य विजयसेन सूरि (हीरविजय के पुत्र)
|
विजयदेव सूरि—विजयतिलक सूरि (सन् १६१८-२० तक)
|
विजयानन्द सूरि (सन् १६२० में शिष्यपद प्राप्ति)
|
हंसविजय गणि (अन्योक्तिमुक्तावली के प्रणेता)

दर्शनविजयकृत 'विजयतिलकसूरिरास' के अनुसार विजयानन्द सूरि को, पौष शुक्ल चतुर्दशी संवत् १६७६ अर्थात् सोमवार ८ जनवरी सन् १६२० ई० में विजयतिलक का उत्तरा-

---

१. आचार्य हीरविजय तथा विजयसेन सम्बन्धी वृत्तान्त द्रष्टव्य—हीरसौभाग्य महाकाव्य, पृ० ९८, २७८ तथा २९५। काव्यमाला-६७ सन् १९०० ई०।

धिकार प्राप्त हुआ।[१] अतः हंसविजयगणि जो 'अन्योक्तिमुक्तावली' में अपने को विजयानन्द का शिष्य बताते हैं, निश्चित ही अपने गुरु के पश्चात् अर्थात् सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में हुए। यह भी स्पष्ट है कि आचार्य विजयतिलक का जीवनचरित लिखने वाले श्री दर्शन विजय एवं उनके उत्तराधिकारी आचार्य विजयानन्द प्रायः समकालीन ही रहे होंगे। अतः हंसविजय गणि का सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में होना पूर्णतः सत्य होना चाहिए। कवि ने ग्रन्थ का रचनाकाल स्वयं संवत् १७३६ अर्थात् सन् १६७८ ई० लिखा है जिससे उपर्युक्त स्थापना और सुदृढ़ हो जाती है।[२] अन्योक्तिमुक्तावली कुल ६४० संस्कृत अन्योक्तियों का एक विशाल संग्रह है, जिसका विषय विवेचन, विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जा सकता। अतः प्रकृतग्रन्थ ही अपेक्षित ज्ञान के लिए द्रष्टव्य है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ने 'काव्यमाला ८८' के रूप में किया है। किन्तु 'न्यू कैटालागस् कैटालागरम्' पृ० १७९ पर डॉ० राघवन ने ग्रन्थ की रचना का समय सन् १७९३ ई० लिखा है जो कि सर्वथा असम्भव है।

९. श्री नीलकण्ठ दीक्षित (सन् १५७० से १६७० तक के बीच)

अपनी कृतियों के अन्त में स्वतः प्रस्तुत किये गये प्रमाणों के अनुसार कवि नीलकण्ठ, महान् आलंकारिक श्री अप्पय्य दीक्षित के सगे (छोटे?) भाई श्री आच्चा दीक्षित के पौत्र तथा श्री नारायण दीक्षित के पाँच पुत्रों में से दूसरे थे। अप्पय्य का जीवनकाल सन् १५२०-१६२६ तक माना जाता है, अतः लगभग वही समय उनके भाई का भी होना चाहिए। एक-एक पीढ़ी में कम-से-कम पच्चीस वर्षों का अन्तर स्वीकार करने पर नारायण तथा नीलकण्ठ का समय क्रमशः सन् १५४५ तथा १५७० ई० पड़ता है। पण्डितराज जगन्नाथ का समय भी लगभग १५९० से १६७० तक स्वीकार किया जाता है। अतः नीलकण्ठ को पण्डितराज का समसामयिक तथा सोलहवीं शती के अन्तिम चरण एवं सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध युग की प्रसूति मानना सर्वथा उचित है।

संस्कृत साहित्य में कई नीलकण्ठ हो चुके हैं, किन्तु प्रस्तुत अन्यायपदेशशतक के प्रणेता श्री नीलकण्ठ कवि, ओष्ठशतककर्ता शुक्लजनार्दनसूनु कवि नीलकण्ठ, काशिकातिलक-कर्ता रामभट्ट के पुत्र नीलकण्ठ भट्ट, कुण्डमण्डपविधानकर्ता नीलकण्ठ, जारजातशतककर्ता कविनीलकण्ठ शर्मा, नारायणगीताकर्ता नीलकण्ठ ब्रह्मचारी, ब्रह्ममीमांसाभाष्यकर्ता नीलकण्ठ-शैवाचार्य, भगवन्तभास्करकर्ता शंकरभट्टसूनुनीलकण्ठभट्ट, भारतभावदीप तथा मंत्ररहस्य-प्रकाशिका-कर्ता गोविन्दपुत्र नीलकण्ठ चतुर्धर तथा वर्षतन्त्रकर्ता अनन्तदैवज्ञसूनु नीलकण्ठ दैवज्ञ से पूर्णतः भिन्न हैं। वस्तुतः ये सब नीलकण्ठ नाम वाले कवि प्रायः एक ही देश और काल में उत्पन्न हुए।

---

१. द्रष्टव्य—विजयतिलकसूरिरास, अधिकार २।

२. द्रष्टव्य—जिनरत्नकोष भाग १, पृ० ४६६।

नीलकण्ठ की कृतियाँ भी एक सौ चार प्रबन्धों के प्रणेता अपने पूज्य पितामह अप्पय्य की भाँति अनेक हैं। कलिविडम्बन, सभारंजन, शान्तिविलास, वैराग्यशतक, अन्यापदेश-शतक तथा आनन्दसागरस्तव इन छः प्रख्यात ग्रन्थों को कवि नीलकण्ठ की 'षड्ग्रन्थी' कहा जाता है। ये समस्त ग्रन्थ 'काव्यमाला' में प्रकाशित हैं। नीलकण्ठविजय (चम्पू) की परिसमाप्ति का समय कवि ने स्वयं संवत् ४७३८ (कलिवर्ष) अर्थात् सन् १६६१ स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ववंश्यों की भाँति नीलकण्ठ भी दीर्घायु (१५७०-१६६१—९१ वर्ष) थे।

श्री नीलकण्ठप्रणीत अन्यापदेशशतक कुल ४८ विषयों पर प्रणीत एक सौ तीन अन्योक्तियों का संकलन है। सांयात्रिक, कामी, वणिक्, मधुमक्षिका, विषद्रुम, जीवन, वृश्चिक, पृथ्वी तथा ब्रह्म आदि विषय प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा नवीन, किन्तु शेष ३९ विषय पूर्व-वर्णित विषयों में ही अन्तर्भूत हैं। ग्रन्थ का प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से सन् १८९० ई० में काव्यमाला षष्ठ गुच्छक के रूप में हुआ है।

१०. श्री गीर्वाणेन्द्र दीक्षित (सन् १६०० से १७०० तक के बीच)

श्री नीलकण्ठ दीक्षित के तृतीय पुत्र गीर्वाणेन्द्र का समय भी सत्रहवीं शती और सम्भवतः अठारहवीं शती का प्रथम पाद भी होना सम्भव है। कविकृत अन्योक्ति ग्रन्थ 'अन्यापदेश' का प्रकाशन 'बुलैटिन ऑफ दि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास' (भाग ७ संख्या १, सन् १९५४ ई०) तथा श्री मन्महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका, मैसूर (सम्पुट १३, संचिका ३-४, सन् १९३७ ई०) में हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल ५७ विषयों पर ११२ अन्यापदेशों का संकलन किया गया है जिसमें कि वन, नदी, मर्कट, महाग्राह, कीचक, धीवर, मत्कुण, लशुन, कदली, तिमिर तथा छाग प्रायोगिक दृष्टि से प्रायः नूतन ही कहे जा सकते हैं। गीर्वाणेन्द्र की अन्य कृतियाँ, शृंगारकोषभाण, पदार्थ-दीपिकाव्याख्या, न्यायप्रकाश तथा कार्तिकेयविजय काव्य हैं।[1] पं० शेषाचार्य ने प्रपंचसार को भी गीर्वाणेन्द्र की ही कृति माना है।[2]

११. पण्डितराज जगन्नाथ (१५९० से १६७० ई० तक)

जगन्नाथ कवि वेगिनाड अथवा वेंगिनाडु (Venginatiya) कुलोत्पन्न तैलंग ब्राह्मण पेरु अथवा पेरमभट्ट तथा लक्ष्मी के पुत्र थे। पेरमभट्ट ने वाराणसी में ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्त, महेन्द्रपण्डित से न्यायवैशेषिक, खण्डदेव से पूर्व-मीमांसा तथा शेषवीरेश्वर से महाभाष्य पढ़ा। पण्डितराज ने समस्त शिक्षा अपने पिता से ही ग्रहण की। मनोरमा-कुचमर्दन नामक

---

१. द्रष्टव्य—टी० चन्द्रशेखरन् कृत प्रस्तावना, मद्रास प्रति।

२. द्रष्टव्य—पं० शेषाचार्यकृत प्रस्तावना, मैसूर प्रति।

उनके ग्रन्थ से यह भी विदित होता है कि पण्डितराज ने शेषवीरेश्वर से भी कुछ शिक्षा पाई। अपने यौवनकाल में जगन्नाथ मुगलबादशाह शाहजहाँ, शाहजादा दाराशिकोह, उदयपुरनरेश जगत सिंह तथा असम प्रान्त के नरेश प्राणनारायण के आश्रय में रहे। शाहजहाँ का राज्यकाल सन् १६२८ से ५८ तक है, क्योंकि सन् ५८ में ही वह अपने कनिष्ठ पुत्र औरंगजेब द्वारा कारागार में डाला गया जहाँ ८ वर्ष बाद सन् १६६६ में उसकी मृत्य हो गई। दारा की हत्या, क्रूर औरंगजेब ने पहले ही करा दी थी। शाहजहाँ का साला आसफ़खाँ भी जगन्नाथ का प्रमुख संरक्षक था। अपने इन संरक्षकों की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने के ही ध्येय से जगन्नाथ ने भामिनीविलास, जगदाभरण, प्राणाभरण (काव्य) तथा आसफविलास (आख्यायिका) की रचना की। जगदाभरण को कुछ विद्वान् दाराशिकोह की ही प्रशस्ति स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त अमृतलहरी, करुणालहरी, पीयूषलहरी, सुधालहरी, लक्ष्मीलहरी (काव्य) चित्रमीमांसाखण्डन, मनोरमाकुचमर्दन तथा रसगंगाधर, पण्डितराजप्रणीत अन्य प्रसिद्ध प्रकाशित कृतियाँ हैं।

यदि 'लवंगीवृत्तान्त' को ऐतिहासिक माना जाय तो 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः' (भामिनीविलास) कवि की इस स्वीकृति के अनुसार शाहजहाँ के दरबार में प्रथम समागम के समय कवि की अवस्था लगभग पैंतीस वर्ष की प्रतीत होती है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने से पण्डितराजविषयक तीन प्रमुख तथ्य एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं। एक तो यह कि वे शाहजहां के बादशाहत पाने के पूर्व ही जहाँगीर के आश्रय में आ चुके थे। दूसरा यह कि प्रख्यात आचार्य अप्पय्यदीक्षित (सन् १५२०-१६२६ तक) उनके युग तक जीवित थे (और किसी भेंट में दीक्षित ने यवनी रख लेने के कारण जगन्नाथ पर छींटाकशी भी की थी?) और तीसरा यह कि 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते' पण्डितराज के इस आत्मकथन के अनुसार उनकी वृद्धावस्था काशी में बीती थी। इस दृष्टि से पण्डितराज का जीवनकाल सन् १५९० से १६७० ई० तक होना चाहिए, जैसा कि डॉ० आर्येन्द्र शर्मा ने स्वीकार किया है।[1]

'भामिनीविलास' पण्डितराज का एकमात्र अन्यापदेश ग्रन्थ है जिसमें कवि-प्रणीत प्रास्ताविक, श्रृंगार, करुण तथा शान्त नामक चार विलासों का संकलन है। प्रास्ताविक विलास का विषय ही अन्यापदेश है, जिसमें कुल ५२ विषयों पर प्रणीत १२७ अन्योक्तियों का संग्रह प्राप्त होता है। किन्तु पण्डितराज द्वारा ही प्रणीत मानी गयी लगभग १४०० अन्योक्तियों का एक संकलन तूनीनरेश, विजगापट्टम द्वारा, तेलगू लिपि में सन् १८९९ ई० में प्रकाशित किया गया। इसी ग्रन्थ से कुल १६४ विषयों पर प्रणीत ५६७ अन्योक्तियों का संकलन डॉ० आर्येन्द्र शर्मा ने भी स्वसम्पादित ग्रन्थ 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' (पृ० १२३-१८८ तक)

---

१. द्रष्टव्य—'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' की भूमिका। उस्मानिया विश्वविद्यालय प्रकाशन, हैदराबाद, सन् १९६० ई०।

में किया है। किन्तु इस संग्रह को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह जगन्नाथ की रचना नहीं है वरन् विभिन्न कवियों के रमणीय अन्यापदेशों को संग्रहीत करके किसी व्यक्ति ने उसे प्रसिद्धि पाने के ध्येय से पण्डितराज के नाम मढ़ दिया है। संग्रह के अनेक पद्य प्राचीन संग्रह ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ–रे रे कोकिल मा भज मौनम् आदि, हरिदासकृत प्रस्तावरत्नाकर में है (सन् १५५७ ई०) तथा 'ये शिरसा निहता अपि' प्रभृति पद्य आचार्य गोवर्धनकृत आर्यासप्तशती का ४७८वाँ पद्य है, जिनका समय स्पष्टतः बारहवीं शती का अन्त भाग है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत-सी अन्योक्तियाँ प्राचीन कवियों की हैं जो कि पण्डितराज की प्रवृत्ति के प्रतिकूल हैं, क्योंकि भामिनीविलास में प्रायः सभी अन्योक्तियाँ उन्हीं की रचनायें है। पण्डितराज द्वारा वर्णित विषय प्रायः प्राचीन ही हैं। तथापि विधाता, कूप, हिमालय, राघव मत्स्य, गुरु, लशुन, सीता, काम, तीर्थ, निन्दक, यति, सत्संगति तथा भाग्यादि विषयक अन्यापदेश प्रायः नवीन ही है।

१२. श्री आच्चान् दीक्षित (१८वीं शती ?)

आच्चात् दीक्षित प्रणीत अन्योक्तिमाला का प्रकाशन बुलेटिन ऑफ दि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास (वाल्यूम ५ संख्या १) में सन् १९५२ में हुआ है। ग्रन्थ में दो आश्वास हैं जिनमें क्रमशः ८० तथा १०३ अन्यापदेशों का संकलन किया गया है। उभयनिष्ठ विषयों को छोड़ देने पर अन्यापदेशके विषयों की कुल संख्या ४२ होती है। विषय प्रायः वही है जो कि पूर्व कवियों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। फिर भी माधव, जम्बीर, मण्डूक, बकुल, कासार, सीता तथा वर्षानदी सम्बन्धी अन्योक्तियाँ प्रयोग की दृष्टि से प्रायः नवीन ही प्रतीत होती हैं।

ग्रन्थ के अन्त में कवि अपने को 'श्रीमदप्पय्यदीक्षितवंशजात' कहता है। नीलकण्ठदीक्षित के समस्त ग्रन्थों में दी गयी अन्तिम पुष्पिका से यह सिद्ध होता है कि वे अप्पय दीक्षित के सगे भाई आच्चा दीक्षित के पौत्र थे। नीलकण्ठ के तृतीय पुत्र श्री गीर्वाणेन्द्र ने भी आत्मपरिचय में अप्पय्य-आच्चा-नारायण तथा नीलकण्ठ का नाम लिया है। अतः यदि अन्योक्ति मुक्तावली के कर्ता आच्चान् को आच्चा दीक्षित ही स्वीकार किया जाय तो स्पष्टतः उनका समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध होगा क्योंकि उनके दीर्घायु भाई, अप्पय का जीवनकाल सन् १५२० से १६२६ तक माना जाता है। किन्तु ग्रन्थ में मर्कट तथा सीता-विषयक अन्योक्तियों के अक्षरशः जगन्नाथकृत 'भामिनीविलास' में उद्धृत होने के कारण यह सम्भावना निरस्त हो जाती है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि यदि इस ग्रन्थ के प्रणेता आच्चा दीक्षित ही होते तो क्या अपने युग के महान् कविकेसरी तथा प्रचण्ड दार्शनिक, १०४ ग्रन्थों के रचयिता श्री अप्पय्य दीक्षित का संबंध लिखने की भूल करते ? वस्तुतः ऐसा करने में तो उन्हें स्वाभिमान होता जैसाकि नीलकण्ठ एवं गीर्वाणेन्द्र के साक्ष्य से स्पष्ट है। अतः निश्चित है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता आच्चान् दीक्षित अप्पय्य-सोदर्य आच्चा से सर्वथा पृथक् किन्तु उन्हीं के वंश

में उत्पन्न पण्डितराज जगन्नाथ के परवर्ती कोई कवि हैं। जगन्नाथ का संभावित जीवनकाल सन् १५९० से १६७० ई० तक होने के अनुपात में प्रस्तुत कवि का जीवन काल भी सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर अठारहवीं शती तक माना जा सकता है।

१३. श्री लक्ष्मीनृसिंह (सन् १७०० तथा १८०० के बीच)

डॉ० के० कृष्णमूर्ति ने गतवर्ष (सन् १९६५ ई०) एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को कर्णाटक विश्वविद्यालय धारवाड़ से प्रकाशित किया, जिसका नाम 'कविकौमुदी' है और जिसके प्रणेता कल्प लक्ष्मीनृसिंह हैं। यह ग्रन्थ अन्योक्ति से सम्बद्ध दो पृथक् शतकों में विभक्त है। किन्तु प्रथम शतक में जहाँ १०१ पद्य हैं वहाँ द्वितीय में केवल ४६ पद्य।

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के तेरहवें नागपुर अधिवेशन में स्वर्गीय प्रो० एच० एल० हरियप्पा ने लक्ष्मीनृसिंह के जीवन तथा उनकी कृतियों के विषय में एक निबन्ध पढ़ा, जिसके अनुसार कवि के विषय में ये तथ्य ज्ञात होते हैं—"जनकजानन्द नाटक, विश्वदेशिक-विजय (श्रीशंकराचार्य की प्रशस्ति) तथा कविकौमुदी नामक काव्यों के प्रणेता श्री लक्ष्मी-नृसिंह के प्रपितामह नरसिंह, प्रक्रियाकल्पवल्लरी के लेखक तथा एक महान् वैयाकरण थे। कवि के पिता अहोबल पण्डित भी साहित्यमकरन्द तथा अलंकारचिन्तामणि ग्रन्थों के प्रणेता, एक सफल कवि थे। कवि के अग्रज सुब्रह्मण्य की उपाधि 'उपाध्याय' थी। कवि-प्रणीत जनकजानन्द नाटक, अहोबल पर्वत (कुर्नूल जिला, आन्ध्रप्रदेश) पर विद्यमान भगवान् श्री लक्ष्मीनृसिंह के प्रीणनार्थ, वसन्तोत्सव के अवसर पर राजा अभिराम के राज्यकाल में अभिनीत किया गया था। विश्वदेशिकविजय से ज्ञात होता है कि कवि अद्वैत मतानुयायी था। अपने ग्रन्थ में वह वेदान्त-देशिक, व्यासराय तथा जयतीर्थ सरीखे विरुद्धमतानुयायियों की निन्दा तथा विद्यारण्य, नृसिंहाश्रम एवं अप्पय्यदीक्षित सरीखे प्रख्यात अद्वैताचार्यों की प्रशंसा करता है।"

अप्पय्य को स्मरण करने के कारण, कवि का जीवनकाल स्पष्टतः १७वीं शती अथवा उसके बाद ही होना चाहिए, क्योंकि जनश्रुति के अनुसार सन् १६२६ तक श्री दीक्षित जी जीवित थे। डॉ० कृष्णमूर्ति ने सन् १७०० तथा १८०० के बीच कवि का समय माना है जो कि निश्चायक प्रमाणों के अभाव में उचित ही प्रतीत होता है।

प्रो० हरियप्पा ने 'कल्प' शब्द को कवि के जन्मस्थान का परिचायक समझ कर, बंगलोर जिले के मगडी तालुका में स्थित 'कल्प' नामक गाँव को ही कवि का जन्मस्थान माना है, किन्तु डॉ० कृष्णमूर्ति जी ने कविप्रणीत जनकजानन्द नाटक की प्रस्तावना में प्राप्त प्रमाण के आधार पर 'कल्प' शब्द को कवि के वंश का परिचायक (—कल्पान्ववाय) माना है। बंगलोर के बहुत से तेलुगुभाषी स्मार्त ब्राह्मण परिवार, जो कौशिक गोत्र के हैं, अपनी उपाधि 'कल्प' रखते हैं। तेलुगु शब्दकोश शब्दरत्नाकर तथा किट्टेलकृत कन्नड़शब्दकोश के अनुसार 'कल्प' शब्द का अर्थ भाग्यवान् (auspicious) सुधी (skilled) आदि होता है। अतः निश्चित है कि 'कल्प' कवि के वंश का ही प्रतीक है न कि स्थान का। यद्यपि कुर्नूल जिले में अहोबल

पर्वत के पास कुर्नूल से १९ मील दूर पूर्वदक्षिण तथा चुड्डापह् (cuddapah) से ९० मील पश्चिमोत्तर कोण में आज भी 'कल्व' (Kalwa) नामक स्थानहै। किन्तु प्रमाणाभाव में कुछ कहा नहीं जा सकता कि यह कवि का जन्मस्थान रहा होगा।[1] वैसे स्थूल रूप से बंगलोर मण्डल ही कवि की जन्मभूमि मानी जा सकती है।

कविकौमुदी में, कुल ४४ विषयों पर १४० अन्योक्तियों का संकलन है। प्रथम शतक के प्रारम्भिक चार पद्य तथा द्वितीय के तीन पद्य अन्योक्तिरूप नहीं हैं, केवल परिचयात्मक है। टिप्पणी रूप में उद्धृत, यदि मद्रास पाण्डुलिपि को भी गणना में लिया जाय तो सात नवीन विषय और बढ़ जाते हैं। इस प्रकार लक्ष्मीनृसिंहप्रणीत अन्योक्तियों का विषय, सब मिलाकर ५१ तथा उनकी संख्या १४८ हो जाती है। घूक, गरुड़, मधूच्छिष्टघूटिका, पांचालिका, भल्लूक, पिशाच, कंकजम्बुकसंवाद, काकघूकसंवाद, बकजम्बुकसंवाद (द्वि० श० श्लोक ३९, ४०, ४१) चित्रदीप तथा गृद्ध सम्बन्धी अन्योक्तियाँ प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा नवीन हैं। इसी प्रकार मद्रास पाण्डुलिपि में स्थित शिवनयनाग्नि, अज (बकरा) भिक्षु (वनधि तथा कासर?) प्रभृति विषय भी सर्वथा नवीन हैं।

१४. श्री वीरेश्वरभट्ट (उन्नीसवीं शती ई०)

काव्यमाला के पाँचवें गुच्छक (सन् १९३७ द्वितीय संस्करण) में प्रकाशित श्री वीरेश्वर प्रणीत अन्योक्तिशतक, १०५ पद्यों का एक रमणीय संग्रह है। शंकरवन्दनापरक प्रथम तथा आत्मपरिचयपरक अन्तिम दो पद्यों को छोड़कर शेष १०२ पद्य अन्यापदेश रूप हैं जोकि भ्रमर, खद्योत, चन्दन, गज, सागर, चन्द्र, गन्धवाह, भेकशाव, कीर, लक्ष्मी, वृषभ, सिंह, आम्र, वायस, चातक, चकोर, मरालबाल, वारिद, हिमागम तथा किम्पाक इन २० विषयों को लेकर लिखे गये हैं।

आत्मपरिचयात्मक पद्यों से केवल यही प्रतीत होता है कि कवि सम्भवतः किसी नरेश का आश्रित था क्योंकि पद्य १०४ में उस व्यक्ति की प्रशस्ति गाते हुए कवि ने चन्द्र, सागर, कल्पतरु, सुमेरु एवं कामधेनु को भी तुलना के लिए अयोग्य बताया है (संसारे भवतस्तुलां कलयितुं को वा समर्थो भवेत्?) इसी प्रकार अन्तिम पद्य १०५ से यह ज्ञात होता है कि मौद्गल्य वंश में उत्पन्न तथा द्राविडचक्रवर्तिमुकुटालंकारभूत श्रीहरि कवि के पिता थे। यदि हरि की द्वितीय उपाधि का राजपरक अर्थ लिया जाय तो पूर्वपद्य में प्रशंसित नरेश सम्बन्धी तथ्य और दृढ़ हो जाता है। अतः सिद्ध है कि वीरेश्वर भट्ट द्राविड़देश अर्थात् दक्षिणी भारत में विद्यमान किसी नरेश के राजकवि रहे। सम्भवतः कवि शैवमतानुयायी था जैसाकि प्रथम पद्य से स्पष्ट है। प्रमाणाभाव में भी कवि को अर्वाचीन (१९वीं शती)

---

१. सविस्तार द्रष्टव्य—कविकौमुदी की डॉ० कृष्णमूर्तिकृत प्रस्तावना, पृ० ३।

ही स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि रचना पूर्वकृतियों से पूर्णतः प्रभावित प्रतीत होती है।

१५. श्री विश्वेश्वरपण्डित (सन् १८०० से १८६५ के बीच)

हिमालय-कुक्षि में विद्यमान अल्मोड़ा नगर में 'पडिया के पाण्डे' नामक पर्वतीय ब्राह्मण-कुल में कवि का जन्म १९वीं शती के प्रथम पाद में हुआ। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधरपण्डित था। जनश्रुति, जो कवि के प्रणीत ग्रन्थों को देखते हुए सर्वथा सत्य प्रतीत होती है, के अनुसार विश्वेश्वर ने दस वर्ष की अवस्था में ही काव्यरचना प्रारम्भ की तथा पचीसों ग्रन्थों को लिखकर केवल चालीस वर्ष की ही अवस्था में मुक्तिलाभ किया। इस प्रकार कवि का जीवनकाल स्पष्टतः उन्नीसवीं शती का पूर्वार्ध माना जा सकता है। सन् १९११ ई० में प्रकाशित कवि के ग्रन्थ 'कवीन्द्रकर्णाभरण' (काव्यमाला गुच्छक ८) की भूमिका में महा० पं० दुर्गाप्रसाद जी ने यह सूचना दी थी कि कविवंश के आठवें पुरुष देवेश्वर (चुन्नीलाल) उस समय गंगातट पर विद्यमान 'अनूपशहर' नामक नगर में रहते थे। सम्भवतः अब भी कवि की वंशपरम्परा अक्षुण्ण ही हो, कुछ कहा नहीं जा सकता।

विश्वेश्वरपण्डितकृत 'सटीकआर्यासप्तशती' गोवर्धनाचार्य के अनुकरण पर लिखी गयी एक शृंगारिक रचना है, किन्तु गोवर्धन की ही भाँति विश्वेश्वर ने भी पद-पद पर अन्यापदेशों की रचना अपने ग्रन्थ में की है। समस्त ग्रन्थ में इन अन्यापदेशों के विषयों तथा स्वयं उनकी संख्या क्रमशः ३१ तथा ४५ है। इनमें अध्वग, कालिन्दी, पारावत तथा भ्रमर के व्यपदेश से लिखी गई अन्योक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं नवीन हैं। विषय विस्तार के लिए ग्रन्थ द्रष्टव्य है।[1]

१६. श्री महालिंगशास्त्री (बीसवीं शती ई०)

श्री महालिंग शास्त्री एम० ए० बी० एल० प्रणीत 'व्याजोक्तिरत्नावली' दक्षिण भारत में स्थित 'थिरवैयारु' (Thiruvaiyaru) नामक स्थान से सन् १९५३ ई० में प्रकाशित हुई। ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्वयं कवि ने कहा है कि प्रस्तुत कृति में सन् १९१९ से २८ तक के बीच प्रणीत किये गए अन्यापदेशों का ही संकलन उसने किया है और सन् १९२८ के बाद लिखी गई अन्योक्तियों का एक दूसरा संग्रह वह निकटभविष्य में ही प्रकाशित करेगा। किन्तु दूसरे संग्रह के सम्बन्ध में कोई सूचना न प्राप्त होने के कारण उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

श्री शास्त्रीजी का जन्म तंजौर जिले के तिरुवेलंगडु नामक स्थान पर सम्भवतः सन् १८९० तथा १९०० के बीच हुआ, क्योंकि व्याजोक्तिरत्नावली में प्रदत्त प्रमाण के अनुसार

१. आर्यासप्तशती, चौखम्बा प्रकाशन, सन् १९२५ ई०।

सन् १९१९ में वे एक सफल वकील के रूप में प्रवेश करना चाहते थे। अतः स्पष्ट है कि बी० एल० की डिग्री प्राप्त करते समय सम्भवतः शास्त्री जी की अवस्था बाईस-तेईस वर्ष की रही होगी और ऐसा स्वीकार कर लेने पर कवि का जन्मकाल सन् १८९५-९६ के आस-पास सिद्ध होता है। कवि ने 'साहित्यचन्द्रशाला' की स्थापना करके, उसी के विविध पुष्प रूप में अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। सन् १९५३ तक लिखी गयी कृतियों में—व्याजोक्तिरत्नावली, किंकिणीमाला, भ्रमरसन्देश, शम्भुचर्योपदेश, द्राविडार्यासुभाषितसप्तति तथा कौण्डिन्यप्रहसन—अत्यन्त प्रख्यात हैं। इनमें से व्याजोक्तिरत्नावली ही अन्यापदेशग्रन्थ है, अन्य नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की समाप्ति में लिखित पुष्पिका से यह भी सिद्ध होता है कि महालिंग का जन्म श्री अप्पयदीक्षित के ही वंश में हुआ। मन्नार्गुडिराजुशास्त्री नाम से प्रसिद्ध महामहोपाध्याय श्री त्यागराजमखिराज कवि के प्रपितामह तथा महामहोपाध्याय महोपदेशक, शास्त्ररत्नाकर श्री यज्ञेश्वरकवि महालिंग के पिता थे। पितामह तथा माता का उल्लेख कवि ने नहीं किया है।

व्याजोक्तिरत्नावली में कुल ४९ विषयों पर प्रणीत १२५ अन्यापदेशों का संग्रह है। विषय प्रायः सब प्राचीन ही हैं तथापि प्रयोग की दृष्टि से इन्द्र, मूषक, ग्रीष्मागम, त्रिशंकु, लूता, भूतगण, कुक्कुट, ऋतुएँ तथा कुड्या (decayed wall) ये नौ विषय नवीन हैं। जैसाकि कवि ने प्रस्तावना में स्वीकार किया है ये अन्यापदेश भारत में स्थित तत्कालीन अंग्रेजी राज्य को भी यथास्थान लक्ष्य करते हैं और शतक का पहला, दूसरा, दसवाँ इकतीसवाँ, उनतालीसवाँ तथा चौसठवाँ पद्य स्पष्टतः माण्टेग्यूचेम्सफोर्ड सुधारयोजना, श्रीमान् सिनहा (?) जी की अंग्रेजों के समकक्ष पदोन्नति तथा इंगलैण्ड के सम्राट का भारतपर्यटन आदि विषयों को लक्ष्य करके प्रणीत किये गये हैं। ग्रन्थ आद्यन्त शार्दूलविक्रीडित छन्दों में लिखा गया है।

(घ) अप्रकाशित अन्योक्ति रचनाएँ

अन्योक्ति-ग्रन्थों की समस्या पर पहले ही विचार किया जा चुका है कि उनकी संख्या एक ओर जहाँ विशाल है, वहीं दूसरी ओर तद्विषयक अत्यल्प ग्रन्थ ही आज प्राप्त होते हैं। नैपाल, आसाम, बंगाल, उड़ीसा, मैसूर, केरल, मद्रास, आन्ध्र तथा महाराष्ट्र प्रभृति प्रान्तों के जगत्प्रसिद्ध पुस्तकालयों में अन्योक्ति विषयक सैकड़ों ग्रन्थ आज भी खण्डित रूप में, भ्रष्ट रूप में अथवा पूर्णरूप में भी सुरक्षित हैं। प्रकाशित ग्रन्थों का, उनके कर्ताओं के साथ ही विवरण पीछे उपस्थित किया जा चुका है। सम्भव है कि कुछ प्रकाशित ग्रन्थ छूट भी गये हों, किन्तु इसके दो ही सम्भाव्य कारण हैं। या तो वे बहुत महत्त्वपूर्ण न हों तथा पूर्वालोचित ग्रन्थों के ही यथाकथंचित् अंशभूत हों, जैसे डॉ० हैबर्लिन द्वारा[1] सम्पादित काव्यसंग्रह की 'चातकाष्टक'

१. द्रष्टव्य—काव्यसंग्रह (डॉ० जान हैबर्लिन द्वारा सम्पादित) कलकत्ता, सन् १८४७ ई०

'भ्रमराष्टक' एवं 'वानराष्टक' प्रभृति अन्योक्तियाँ। पं० जीवानन्द विद्यासागर कृत 'काव्य-संग्रह' की अन्योक्तियाँ भी इसी कोटि की हैं। वस्तुतः इन संग्रहों में प्रतिपादित अष्टक मौलिक न होकर संकलनमात्र हैं। दूसरा कारण यह सम्भव है कि फुटकर रूप में उन अन्यापदेशों का प्रकाशन अधुनातन पत्र-पत्रिकाओं में हुआ या हो रहा है। ऐसे अष्टकों, दशकों अथवा अन्य-संख्यक प्रकाशनों की अध्यायान्त में केवल सूचना मात्र दी जायगी। क्योंकि प्रत्येक रचयिता का जीवन-परिचय देना न तो सम्भव ही है और न तो प्राचीन महाकवियों की तुलना में समकक्ष एवं गौरवपूर्ण ही है। वाणी की अमन्द धारा तथा उसके सफल तैराक, देश एवं काल की सीमा में बँधे नहीं हैं अतः उनकी परिगणना का प्रयास साहसमात्र होगा।

शेष बचे अप्रकाशित ग्रन्थ, जिनका संकलन अनेक प्रान्तीय सूचीपत्रों तथा उनके संकलनकर्ता विद्वानों के प्रमाण पर किया गया है। उनका संक्षिप्त परिचय कालक्रमानुसार उपस्थित किया जा रहा है—

१. कविरत्न चक्रवर्ती (१४वीं शती ई०)

चक्रवर्ती-प्रणीत 'अन्योपदेशकाव्यम्' की एकमात्र पाण्डुलिपि गौहाटी (आसाम) में विद्यमान 'डिपार्टमेण्ट आफ हिस्टारिकल एण्ड एण्टीक्वेरियन स्टडीज' नामक संस्था के पास हैं ऐसा वहाँ के सूचीपत्र से ज्ञात होता है।[1] चक्रवर्ती कवि की उपाधि या उपनाम है। वस्तुतः उनका नाम कविरत्न अथवा कविराज है। सूक्तिमुक्तावली, शारंगधरपद्धति एवं सुभाषितावली में 'कविरत्नक' या 'कविरत्न' के अन्यापदेश संगृहीत हैं। किन्तु सदुक्तिकर्णामृत में ये नाम नहीं प्राप्त होते। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'कविरत्न' सूक्तिमुक्तावलीकार जल्हण के समसामयिक एक प्रख्यात कवि थे। जल्हण का समय तेरहवीं शती का उत्तरार्द्ध और सम्भवतः १४वीं का पूर्वार्द्ध भी है। गौहाटी सूचीपत्र के सम्पादक डॉ० पी० सी० चौधरी भी कवि का समय १४वीं शती आँकते हैं। किन्तु संग्रहग्रन्थों के प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि यदि उनमें उद्धृत 'कविरत्न' अन्योपदेशकाव्यकार ही थे तो निश्चित ही वे १३वीं शती के भी उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। सदुक्तिकर्णामृत में न होने के कारण यह भाव और स्पष्ट हो जाता है कि कवि कर्णामृतकार श्रीधरदास के समय (१३वीं शती का पूर्वार्द्ध) तक नहीं था।

ग्रन्थ का नाम 'अन्योपदेश काव्य' है। इसका प्रतिपाद्य अन्यापदेश ही है या नहीं? यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। किन्तु लगता ऐसा ही है कि ग्रन्थ 'अन्यापदेश-काव्य' ही होगा। बाद में प्रतिलिपिकारों ने भूल से 'अन्या' का रूप 'अन्यो' कर दिया। मिथिला के सूचीपत्र में मधुसूदनकृत अन्योक्ति ग्रन्थ का भी नाम 'अन्योपदेशशतक' ही दिया गया है।

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० पी० सी० चौधरी द्वारा सम्पादित 'ए कैटलाग आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स ऐट दि डिपार्टमेण्ट आफ हिस्टारिकल एण्ड ऐन्टीक्वेरियन स्टडीज' पृ० ४३। प्रथम संस्करण, गौहाटी सन् १९६१ ई०।

इसी प्रकार आफ्रेक्ट, राघवन तथा वेलंकर प्रभृति विद्वानों ने अपने सूचीपत्रों में 'अन्योपदेशरत्नाकर' तथा 'अन्योपदेश' ग्रन्थों का विवरण दिया है, जो वस्तुतः अन्योक्ति ग्रन्थ है। अतः ऐसी भूल हो जाना कोई असम्भव बात नहीं। कविरत्नकृत यह ग्रन्थ सर्गों में विभक्त है क्योंकि गौहाटी में इसका केवल प्रथम सर्ग ही प्राप्त है। ग्रन्थ गणेश की वन्दना से प्रारम्भ होता है। कवि ने महाभारत के वनपर्व पर 'पाण्डवी-गीता' नामक टीका भी लिखी है।

२. रामभद्राम्बा (१७वीं शती पूर्वार्द्ध)

सरस्वती-महल पुस्तकालय तंजोर में अज्ञातनामा कर्ता द्वारा प्रणीत एक 'अन्यापदेशशतक' पूर्णरूप में विद्यमान है। इसमें विविध विषयों पर प्रणीत लगभग सत्तासी अन्योक्तियां हैं। पद्य ८५, ८६ तथा सत्तासी में कर्तृपरिचय विषयक प्रमाण प्राप्त होते हैं। पद्य ८६ इस प्रकार है—

'त्वं पद्मेऽधिकभागधेयविभवा यं (यन्) नेत्रयोरंचले।
नित्यं तिष्ठसि रामभद्रनृपतेः सेवेऽहमन्तेदिशाम्।।
कीर्तेऽलं हसितेन दूरगतयाप्याकृष्टचित्तस्त्वया।
मामप्यंकगतां.. तृणलघुप्रायामयं मन्यते।।

यद्यपि सूचीपत्र के सम्पादक श्री पी० पी० एस०शास्त्री ने केवल प्रश्नचिन्ह लगाकर ही कर्तृविषयक तथ्य को तिलांजलि दे दी है और डा० बर्नेल ने भी इस ग्रन्थ को ही पूर्णतः उपेक्षित कर दिया है किन्तु इतने पर भी उक्त पद्य से कुछ निर्णय किया जा सकता है—एक तो यह कि प्रस्तुत शतक 'राजा रामभद्र' के दरबार में प्रणीत किया गया। दूसरा यह कि इसका लेखक कोई सफल कवयित्री (स्त्री है) क्योंकि 'मामप्यंकगतां' का प्रयोग स्पष्टतः स्त्रीत्व को संकेतित करता है और तीसरा यह कि कवयित्री उस नरेश की प्रेयसी अथवा बहुत संभव है कि उसकी पत्नी थी। क्योंकि किसी राजा की गोद में बैठने की बात केवल साम्राज्ञी ही कर सकती है, दूसरी स्त्री नहीं।

केरलीय ऐतिहासिक प्रमाणों के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि सत्रहवीं शती के प्रारम्भ में वहाँ के सिंहासन पर एक महान् प्रतापशाली तथा विद्वान नरेश 'रघुनाथनायक' विद्यमान था। रघुनाथ नायक स्वयं एक मेधावी विद्वान था। उसकी प्रसिद्ध रचनायें पारिजातहरण, वाल्मीकिचरित, अच्युतेन्द्राभ्युदय, गजेन्द्रमोक्ष, नलाभ्युदय, रुक्मिणीकृष्ण-विवाह, यक्षगान तथा रामायणसारसंग्रह हैं। रघुनाथ के दरबार में अनेक यशः काम कवि, कवयत्रियों को सम्मान प्राप्त था। प्रख्यात कवयित्री मधुरवाणी ने राजा रघुनाथ द्वारा तेलुगू भाषा में प्रणीत रामायण का संस्कृत में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त नरेश के प्रधानामात्य श्री गोविन्द दीक्षित ने 'साहित्यसुधा' अमात्यपुत्र यज्ञनारायण ने रघुनाथभूपविजय, रत्नखेट श्रीनिवास के पुत्र राजचूडामणि ने भी रघुनाथभूपविजय तथा स्वयं राजा की विदुषी साम्राज्ञी रामभद्राम्बा ने 'रघुनाथाभ्युदय' काव्य की रचना करके राजा का गौरव

अक्षुण्ण बनाया। सम्भवतः यही रामभद्राम्बा उपर्युक्त 'अन्यापदेशशतक' की कवयित्री है क्योंकि उद्धृत श्लोक में प्रतिपादित भाव, उसी पक्ष में चरितार्थ होता है। निश्चित है कि लक्ष्मी (द्रव्य) के लोभवश नक्तन्दिव युद्ध करने के लिए समुत्सुक अपने वीर पति को चिढ़ाने के ध्येय से रानी ने यह पद्य लिखा। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार राजा रघुनाथनायक का राज्यारोहण काल सन् १६१४ है। उसका योग्य पुत्र वीरराघवनायक सन् १६६२ ई० तक राज्य करता रहा। इस प्रकार स्पष्ट है कि रानी रामभद्राम्बा का साहित्यिक जीवन सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध रहा होगा।

यद्यपि १७वीं शती में ही उत्पन्न कवयित्री प्रियंवदा के पति का भी नाम 'रघुनाथ' ही था और प्रियंवदा भी 'श्यामारहस्य' जैसे कृष्णचरित काव्य का प्रणयन करने वाली एक विदुषी कवयित्री थी किन्तु तब भी उसका पति कोई 'नृपति' नहीं था अतः अन्यापदेशशतक की कवयित्री वह नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार बघेलवंशीय रीवाँ नरेश रामचन्द्र (सन् १५५५-९२ ई०) की पत्नी 'यशोदा' भी कवियित्री न होने के कारण अन्यापदेशशतक की कर्तृता से दूर है।

३. चन्द्रचूड (१८वीं शती का पूर्वार्द्ध)

चन्द्रचूडकृत 'अन्योक्तिकण्ठाभरण' पं० गोविन्दशास्त्री नासिक के व्यक्तिगत संग्रह में है[1] तथा अप्रकाशित है किन्तु थियोडोर आफ्रेक्ट ने इसे 'काव्यमाला' के अन्तर्गत प्रकाशित लिखा है। इसी साक्ष्य पर पुस्तक के लिए निर्णयसागर के अधिकारियों को पत्र भी लिखा किन्तु उनसे यह ज्ञात हुआ कि पुस्तक उनके यहाँ उपलब्ध नहीं है। जो भी हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि अन्य शतकों की भाँति 'अन्योक्तिकण्ठाभरण' भी सौ मुक्तक अन्यापदेशों का संकलन है। किन्तु पं० गोविन्द शास्त्री के संग्रह में इसका नाम 'भावविलास' दिया गया है जो कि पूर्णतः असंगत है क्योंकि भावविलास राजा भावसिंह के राजकवि रुद्र की एक स्वतन्त्र रचना है। चन्द्रचूड ने ग्रन्थ के द्वितीय पद्य में स्पष्टतः लिखा है कि—

श्लोकाः शतं यत्र भवन्ति मुक्ताश्छिद्रोज्झिता गानमयप्रबन्धाः।
तच्चन्द्रचूडो जनरंजनार्थमन्योक्तिकण्ठाभरणं तनोति॥

इस प्रकार कवि के स्वतः प्रामाण्य के अनुसार ग्रन्थ में सौ पद्य हैं। प्रथम पद्य में कवि ने भगवान शंकर की वन्दना की है। इसके विपरीत भावविलास में कुल १३६ पद्य हैं तथा प्रथम पद्य में आश्रयदाता मानसिंह की प्रशस्ति है। दोनों ग्रन्थों में इतना वैषम्य होते हुए भी 'न्यु कैटालागस कैटालागरम्' पृ० १७९ पर ग्रन्थ की सूचना देते हुए डा० वी० राघवन

---

१. संख्या २५५ भावविलास, २२ पर्ण, ११ पंक्तियाँ, ३८ अक्षर। पुस्तक संख्या ५७४ संवत् १७९६, लेखक—चन्द्रचूड।

कहते हैं:—A name of भावविलास of रुद्रन्यायवाचस्पति, printed in काव्यमाला, गुच्छक २, p. 111-128।''

वस्तुतः इस उद्गार से आश्चर्य होने के साथ ही साथ यह सोचकर खेद भी होता है कि विद्वद्गण कोई सूचना देते समय उसके औचित्यानौचित्य का ध्यान न रखकर अपना पिण्ड भर छुड़ाते हैं। नासिक में विद्यमान सूचीपत्र में ग्रन्थ का समय संवत् १७९६ अर्थात् सन् १७३९ ई० दिया गया है। किन्तु यह नहीं स्पष्ट है कि यह समय कवि चन्द्रचूड द्वारा स्वयं निर्दिष्ट ग्रन्थ रचना का समय है अथवा प्रतिलिपिकार का। अतः दोनों ही दशाओं में चन्द्रचूड का समय या तो अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है अथवा इससे पूर्व। श्री वर्णेकर जी ने अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृ० १४७ पर प्रस्तावचिन्तामणि के प्रणेता तथा सुन्दरराज द्वारा प्रणीत सूक्तिसुन्दर में उद्धृत चन्द्रचूड का समय १७वीं शती का अन्त स्वीकार किया है।

४. घनश्याम (१८वीं शती पूर्वार्द्ध)

कुल १०१ पद्यों से युक्त घनश्यामकृत 'अन्यापदेशशतक' की खण्डित पाण्डुलिपि सरस्वती महल लाइब्रेरी तंजौर में है। घनश्याम, तंजौरनरेश तुको जी भोसलें (सन् १७२८ से ३५ तक) के प्रधानमंत्री थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त कवि ने संस्कृत में लगभग ६४ ग्रन्थ, प्राकृत में २० ग्रन्थ तथा अपभ्रंश प्रभृति अवान्तर भाषाओं में २५ ग्रन्थों की रचना की। कवि की दो पत्नियाँ—सुन्दरी और कमला भी अत्यन्त विदुषी थीं। उन्होंने संयुक्त रूप से राजशेखरकृत विद्धशालभंजिका की 'चमत्कारतरंगिणी' नामक टीका लिखी है। इस टीका से घनश्याम के व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व के विषय में प्रभूत सामग्री मिल जाती है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्य के अनुसार कवि का समय निश्चित रूप से १८वीं शती का पूर्वार्द्ध है।

घनश्यामकृत 'अन्यापदेश' में अन्तिम परिचयात्मक पद्य को छोड़कर कुल सौ अन्यापदेश हैं जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है—तस्याशोः सुकवेः कृता भुवि शतश्लोकी चिरं वर्धताम्। किन्तु विद्धशालभंजिका की टीका में कवि की पत्नियाँ सुन्दरी और कमला पति के ग्रन्थों की गणना करते हुए कहती हैं—'व्यायोगोऽन्यापदेशानां सहस्रं राजरंजनम्' (पद्य ८) जिससे सिद्ध होता है कि कवि ने अन्यापदेश सम्बन्धी दो ग्रन्थ लिखे थे। किन्तु 'अन्यापदेशसहस्र' नहीं प्राप्त होता। शतक की खण्डित लिपि के केवल अंतिम दश पद्य प्राप्त होते हैं जिनका प्रतिपाद्य विषय केतक, धत्तूर तथा विभु आदि है।

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—दि काण्ट्रीव्यूशन आफ वीमेन टु संस्कृत लिटरेचर वाल्यूम-१ (ड्रामा) डॉ० जे० बी० चौधरी द्वारा प्रकाशित एवं संपादित, कलकत्ता १९४३ ई०।
(श्री चौधरीकृत प्रस्तावना भी द्रष्टव्य)

५-१६ सोमनाथ, एकनाथकाश्यप, श्री रघुनाथ तीर्थ के शिष्य, गोविन्दचन्द्र महापात्रदेव रविवर्मराज, गदाधरभट्ट, नारायणदास, श्रीनिवास, चन्द्रमाणिक्यदेव, रुद्रमाणिक्यदेव, शिवशंकरदेव, मोहन शर्मा तथा संग्रहग्रन्थों में अन्य अज्ञात कवि।

अब कुछ ऐसे कवियों पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है जिनकी कृतियाँ तो खण्डित अथवा पूर्णरूप में प्राप्त हैं किन्तु स्वयं उनके विषय में कहीं कुछ भी सामग्री नहीं प्राप्त होती।

५. सोमनाथकविप्रणीत अन्योक्तिमुक्तावली की तीन प्रतियाँ महाराज बीकानेर के पुस्तकालय में है।[१] इसी ग्रन्थ को अन्योक्तिशतक भी कहते हैं। जिसकी एक प्रति गुजरात प्रान्त के किसी व्यक्तिगत पुस्तकालय में है।[२] कवि के विषय में कोई इतिवृत्त किसी भी स्रोत से नहीं प्राप्त होता। डा० राघवन् द्वारा निर्दिष्ट 'प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय सूचीपत्र', उज्जैन (पृ० ३२) से ज्ञात होता है कि कवि का दूसरा नाम 'नारायण सोमनाथ' भी[३] था। सम्भवतः कवि बहुत प्राचीन नहीं है।

६. एकनाथकाश्यपकृत 'अन्यापदेशशतक' की एक सम्पूर्ण प्रति नासिक निवासी पं० गोविन्द शास्त्री के व्यक्तिगत संग्रह में है।[४] ग्रन्थ में कुल ११० पद्य हैं जिनमें प्रथम तीन मंगलाचरण से सम्बद्ध हैं। वाग्देवी की वन्दना (पद्य १) के पश्चात् तृतीय पद्य में कवि स्वयं कहता है—

'अन्यापदेशशतकं प्रायस्तात्पर्यगर्भितम्।
काश्यपेन मया नूत्नं रच्यते विदुषाम्मुदे॥'

इस पद्य के 'काश्यप' तथा 'नूत्न' शब्द से यह भावना ध्वनित होती है कि कवि सम्भवतः काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण, साथ ही साथ उन्नीसवीं शती के आस-पास ही पैदा हुआ था। नासिक के सूचीपत्र में शकसंवत् १७९४ (सन् १८७२ ई०) का उल्लेख है। अतः यदि यह संवत् स्वयं कवि द्वारा अपनी रचना के सम्बन्ध में व्यक्त किया गया है तो निश्चित है कि उसका जीवनकाल उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध है। नासिक में प्रति प्राप्त होने से यह भी प्रतीत होता है कि सम्भ-

---

१. श्री राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित बीकानेर का सूचीपत्र सन् १८८०-८८ कलकत्ता (कैटालागस कैटालागरम् भाग-२, पृ० ४) संख्या २८५, ६१३ तथा ३२९४।

२. द्रष्टव्य—जी० ब्युहलर की अध्यक्षता में सम्पादित गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध तथा खान देश के व्यक्तिगत पुस्तकालयों का सूचीपत्र (चारभाग सन् १८७१-७८ तक) भाग २ सं० ७०।

३. द्रष्टव्य—डॉ० राघवन द्वारा सम्पादित न्यू कैटालागस, पृ० १७९।

४. डॉ० भण्डारकर के तत्त्वावधान में सम्पादित बम्बई प्रेसीडेन्सी के व्यक्तिगत पुस्तकालयों में विद्यमान पाण्डुलिपियों की सूची। बम्बई सन् १८८३ ई० (भाग-१ संख्या २५४)

वतः कवि दक्षिण भारत का ही निवासी था। रचना प्रत्यक्ष न होने के कारण प्रतिपाद्य के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

७. श्री रघुनाथतीर्थ के शिष्य द्वारा विरचित 'अन्योक्तिशतक' (अथवा अन्यापदेश) की प्रति भी प्राच्य पुस्तकालय मद्रास के पाण्डुलिपि संग्रह (संख्या ३१५२) में विद्यमान है। प्रति खण्डित है, क्योंकि इसके केवल आठ से लेकर १३९ तक के पद्य ही उपलब्ध हैं। आठवें पद्य का भी उत्तरार्द्धमात्र प्राप्त होता है जिसमें कवि ने अपने पूज्य गुरु श्री रघुनाथ तीर्थ की वन्दना की है—'नित्यं श्रीनिलयं नृपालवलयं तूलौघमालोकते तस्मै श्रीरघुनाथतीर्थगुरवे भूयः प्रयुञ्जे नमः।' प्राचीन परम्पराओं के प्रामाण्यानुसार राजा अथवा समस्त राजवर्ग को तूलौघ, निर्मूल्य तथा अकिंचित्कर समझने वाले प्रायः संसार से मुक्त साधु-सन्त ही हुए हैं। अतः ऐसा आभास होता है कि रघुनाथतीर्थ भी सम्भवतः कोई सांसारिक प्रपंचों से मुक्त संन्यासी ही थे।

प्रसिद्ध दार्शनिक मध्वाचार्य का ही दूसरा नाम आनन्दतीर्थ था, ऐसा परम्परया ज्ञात होता है। मध्व के अधिकांश ग्रन्थों पर टीका लिखने वालें श्री जयतीर्थ के दो गुरु थे—पद्मनाभ तीर्थ तथा अक्षोभ्य तीर्थ। बार्नेट ने अपने ब्रिटिश म्युज़ियम सूचीपत्र (भाग २ पृ० ४१८) में इन्हीं 'अक्षोभ्य' का दूसरा नाम रघुनाथतीर्थ दिया है। अतः इस साक्ष्य के अनुसार तो श्री जयतीर्थ को ही 'अन्योक्तिशतक' का कर्ता होना चाहिए। किन्तु इस विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में रचना किस कवि की है और वास्तव में किस युग की है? प्राप्त पाण्डुलिपि के नवें पद्य में कवि ने समस्त 'अन्योक्ति' विषयों की गणना की है जो कि उस ग्रन्थ में आये हैं। वे विषय श्लोक-क्रमानुसार इस प्रकार हैं—जीमूत, भास्कर, सुधाकर, शैल, सिन्धु, धात्रीरुह (वृक्ष) व्रतति, पत्रि (पक्षी) आदि। ग्रन्थ के (प्राप्त) अन्तिम पद्य में लता के व्यपदेश से किसी रमणी का वृत्त उपस्थित किया गया है।

८. गोविन्दचन्द्र महापात्रदेव की कृति 'अन्यापदेशश्लोकशतक' के विषय में बार्नेट का कथन है कि—"A century of stanzas conveying by implication various morals. Compiled with oriya phrases and notes by Govindchandra, P. 42, Cuttack, 1902."

किन्तु बहुत प्रयास करने पर भी चूंकि इस अन्योक्ति ग्रन्थ की सूचना किसी स्वदेशी सूची ग्रन्थ में नहीं मिली अतः स्पष्टतः भान होता है कि इस ग्रन्थ की एक ही प्रति है जो कि ब्रिटिश म्यूज़ियम लन्दन में है।[1] 'महापात्र' वंश का सम्बन्ध उड़ीसा प्रान्त में विद्यमान ब्राह्मणों से है जैसा कि हम जानते हैं कि साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ, अपने को महा-पात्र ही लिखते हैं। सम्भवतः प्रस्तुत शतक का कर्ता भी विश्वनाथ का ही वंशज कोई व्यक्ति

१. द्रष्टव्य—ब्रिटिश म्युज़ियम, लन्दन का सूचीपत्र, पृ० १९३ तथा ९०१/एल० डी० बार्नेट द्वारा सम्पादित सन् १९०८/(भाग एक)।

रहा हो। श्री बार्नेट महोदय ने ग्रन्थ के साथ जो 'उड़ियाव्याख्या' होने की बात कही, उससे भी यह तथ्य सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में स्पष्ट है कि गोविन्दचन्द्र महापात्र चौदहवीं शती के बाद ही उत्पन्न कोई महापात्र-वंशीय ब्राह्मण थे, क्योंकि विश्वनाथ का समय १४वीं शती ई० है। यद्यपि जल्हणप्रणीत 'सूक्तिमुक्तावली' तथा शारंगधरकृत पद्धति के अन्यापदेश संग्रहों में भट्टगोविन्दराज की अन्योक्तियाँ संकलित हैं किन्तु 'महापात्र' उपाधि न होने के कारण प्रस्तुत कवि से उनकी एकता नहीं स्थापित की जा सकती।

९. रविवर्मराज प्रणीत अन्यापदेशशतक की प्रति भी ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में ही है।[१] श्री बार्नेट महोदय के विवरणानुसार इसमें कुल १०२ अन्यापदेशों का निबन्धन है। कवि की उपाधि 'इडवल कडट्टनाडु' (Idaval Kadattanadu) है जो संभवतः दाक्षिणात्य कवियों की परम्परा के अनुसार 'कविवंश' अथवा 'निवासस्थान' का प्रतीक होगी। कवि के विषय में और कुछ नहीं ज्ञात है।

१०. डॉ० राघवन द्वारा सम्पादित 'न्यू कैटालागस कैटालागरम्' पृ० १७९ पर श्री गदाधरभट्टप्रणीत अन्योक्तिरत्नकरण्डिका का उल्लेख किया गया है। किन्तु यह ग्रन्थ अब प्राप्त होता है या नहीं इसका कोई भी उल्लेख सम्पादक ने नहीं किया है। वस्तुतः जैसे घनश्याम कवि की पत्नियों ने विद्धशालभंजिका की टीका में पतिप्रणीत 'अन्यापदेश-सहस्र' का उल्लेख किया है, ठीक उसी प्रकार गदाधर भट्ट ने स्वयं 'रसिकजीवन' नामक अपनी रचना में (भाग ३, चरम पद्य) इस अन्योक्ति ग्रन्थ का उल्लेख मात्र किया है। सूचीपत्रों से इसकी पाण्डुलिपि के भी कहीं विद्यमान होने की बात नहीं ज्ञात होती। संभवतः यह ग्रन्थ अब लुप्त हो चुका है।

११. नारायणदासप्रणीत अन्यापदेशशतक की पाण्डुलिपि, अणि पण्डित पुस्तकालय पोस्टआफिस वेणीबाजार सिलहट (आसाम) में विद्यमान है ऐसी सूचना डा० राघवन ने दी है।[२] किन्तु कवि तथा उसकी रचना के विषय में कोई विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्भवतः कवि असम प्रदेश का ही निवासी रहा हो क्योंकि रचना वहीं प्राप्त होती है। वैसे यह कोई सबल प्रमाण नहीं है।

१२. श्रीनिवासकविप्रणीत 'अन्यापदेशशतक' की एक प्रति (संख्या १८८०) राजकीय प्राच्य पुस्तकालय, मैसूर में है।[३] ग्रन्थ में कुल अठारह पर्ण हैं तथा श्लोक ग्रन्थ-लिपि में लिखे गये हैं। संस्कृत-साहित्य में इतने 'श्रीनिवास' नामक कवि एवं विद्वान् हो चुके हैं कि उनमें से किसी एक को बिना किसी प्रबल साक्ष्य के प्रस्तुत शतक का कर्ता मान लेना सम्भव नहीं।

---

१. वही०, पृ० ८८९। (भाग दो)।

२. द्रष्टव्य—डॉ० राघवनकृत 'न्यू कैटालागस कैटालागरम्' पृ० १७९।

३. द्रष्टव्य—राजकीय प्राच्यकोशागारस्थ लिखित संस्कृतप्रदर्शिनी, भाग ६, मैसूर सन् १९२२ ई०।

श्री बार्नेट महोदय ने 'ब्रिटिश म्यूजियम सूचीपत्र' (भाग १ पृ० १००३-१०१२) में लगभग ८० श्रीनिवास कवियों का परिचय दिया है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'अन्यापदेश-शतक' का कर्ता कौन श्रीनिवास है?

१३. चन्द्रमाणिक्यदेवकृत (अन्य) अपदेशशतक की एक पाण्डुलिपि ढाका विश्व-विद्यालय के संग्रह में (संख्या २५९८) तथा दूसरी प्रति श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के व्यक्तिगत संकलन में है।[1] डॉ० राघवन द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार चन्द्रमाणिक्यदेव धन्यमाणिक्यदेव के भाई तथा तिपेरा तालुका (Tippera) बंगाल के भलुआ गाँव के निवासी थे। कवि का निश्चित समय अज्ञात है। प्रत्यक्ष न होने के कारण रचना की भी विस्तृत जानकारी प्रस्तुत नहीं की जा सकती है।

१४. रुद्रमाणिक्यदेव भी तिपेरा तालुका बंगाल के भलुवा गाँव के ही निवासी हैं। किन्तु अन्यापदेशशतककर्ता चन्द्रमाणिक्य से पूर्णतः भिन्न है। इस शतक की पाण्डुलिपि भी ढाका विश्वविद्यालय के संग्रह (संख्या ४३११) में है।[2] रुद्रमाणिक्य, विजयमाणिक्य के पुत्र तथा लक्ष्मणमाणिक्य के पौत्र हैं। कवि का जीवनकाल अज्ञात है। सम्भवतः भलुआ गाँव में 'माणिक्य' नामक कोई विशिष्ट वंश या जाति है जहाँ ये कवि पैदा हुए हैं। यह भी सम्भव है कि ये दोनों ही कवि एक ही वंश में कालान्तर से पैदा हुए हों।

१५. शिवशंकरकविप्रणीत 'अन्यापदेशशतक' की पाण्डुलिपि मैसूर के राजकीय प्राच्यपुस्तकालय में है, ऐसी सूचना वहाँ के सूचीपत्र (भाग १ सन् १९२२ ई०) से प्राप्त होती है। पृ० ६३७ पर इस कवि का नाम उपर्युक्त शतक के साथ दिया गया है। किन्तु कवि के जीवनकाल सम्बन्धी कोई भी साक्ष्य कहीं प्राप्त नहीं होते।

१६. अनिरुद्धपुत्र श्री मोहन शर्मा द्वारा प्रणीत 'अन्योक्तिशतक' भी अब तक अप्रका-शित ही है। किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि इसकी पाण्डुलिपि है कहाँ? वस्तुतः इस ग्रन्थ की सूचना राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी किसी विशिष्ट 'शोधपरक' सूचना में दी है। श्री मित्र जी ने सन् १८७१ से ९० तक के बीच प्राप्त की गई संस्कृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों का विवरण कुल दश भागों में कलकत्ता से प्रकाशित किया, जिनमें से कि २०१३ संख्यक प्रति ही, मोहन शर्मा कृत अन्योक्तिशतक है। आफ्रेक्ट तथा राघवन ने इसी सूचीपत्र से उद्धृत करके इस ग्रन्थ की सूचना दी है।

(ङ) सन्दिग्ध अन्योक्ति रचनाएँ

कुछ अन्योक्ति ग्रन्थों को 'सन्दिग्ध' शीर्षक के अन्तर्गत केवल दो मुख्य कारणों से रखा जा रहा है। एक तो यह कि चूँकि उनके प्रणेता का कोई भी उल्लेख उनकी प्राप्त पाण्डु-

---

१. डॉ० राघवन द्वारा सम्पादित 'न्यू कैटालागस कैटालागरम्' पृ० १७९।

२. डॉ० राघवन द्वारा सम्पादित 'न्यू कैटालागस कैटालागरम्' पृ० १७९।

लिपियों में नहीं है, अतः यह सन्देह है कि वस्तुतः वे किसी कवि-विशेष द्वारा प्रणीत कोई मौलिक कृति हैं अथवा छिटपुट संग्रहमात्र। दूसरा कारण यह है कि कुछ पुस्तकालयों में, विशेष करके नासिक एवं तंजौर में अन्योक्तिसम्बन्धी ऐसे शतक हैं, जिनका नाम पीछे व्याख्यात हो चुका है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि नासिक एवं तंजोर के ये ग्रन्थ पूर्वोक्त ग्रन्थों से भिन्न हैं अथवा अभिन्न? सम्भाव्य ग्रन्थों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।[1]

१. अन्योक्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतियाँ, भारतीय इतिहास संशोधकमण्डल पूना (५९।२५) भण्डारकर प्राच्य शोधसंस्थान, पूना, दकन (Deccan) कालेज पूना, त्रिवेन्द्रम तथा प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय मद्रास (संख्या १४६१२) में है। जी० व्युहलर तथा आर्कीबाल्ड गफ ने भी अपने शोध निबन्धों में इसी नाम वाले ग्रन्थ का उल्लेख किया है। किन्तु यह नहीं निश्चित है कि उपर्युक्त संस्थाओं में प्राप्त तथा व्युहलर एवं गफ द्वारा निर्दिष्ट अन्योक्ति संज्ञक ये ग्रन्थ एक ही हैं या परस्पर भिन्न?

२. अन्योक्तिषट्सुभाषितम्

प्रस्तुत ग्रन्थ केवल ६ अन्योक्तियों का 'षट्क' मात्र है तथा पंजाब प्रान्त के किसी जैन भण्डार में सुरक्षित है।

३. अन्योक्तिसुभाषितम्

प्रस्तुत काव्य की पाण्डुलिपि अनूप संस्कृत ग्रन्थागार, बीकानेर में सुरक्षित हैं।

४. अन्योक्तिसंग्रह

इसकी प्रतियाँ 'राजकीय प्राच्य पुस्तकालय' मैसूर में तथा मिथिला प्रदेश में विद्यमान हैं। मिथिला की पाण्डुलिपि सम्भवतः 'बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' के अधिकार में है, क्योंकि वहीं के सूचीपत्र में इसका उल्लेख भी है।

५. अन्योक्तिपरिच्छेदा

इस ग्रन्थ की प्रतियाँ भण्डारकर प्राच्य शोधसंस्थान तथा दकन कालेज पूना में हैं। व्युहलर एवं गफ ने अपने शोधनिबन्धों में इस ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। किन्तु दकन

---

१. 'सन्दिग्ध अन्योक्तिरचना' शीर्षक में प्रदत्त समस्त ग्रन्थों तथा उनमें इंगित पत्र, पत्रिकाओं का विस्तृत विवरण जानने के लिए द्रष्टव्य—डॉ० राघवनकृत 'न्यू कैटालागस कैटालागरम्' पृ० १७९-८० तथा संक्षिप्त रूपों की व्याख्या, पृ० ८ से ३६ तक (प्रास्ताविक अंश)।

पाण्डुलिपि, ठीक उसी प्रकार की है अथवा नहीं जोकि ऊपर 'अन्योक्ति' रूप में दी गयी है। अतः सम्भव है कि दोनों ग्रन्थ मूलतः एक हैं और उनमें केवल नाम भर का भेद है।

६. अन्योक्तिमालिका

प्रस्तुत ग्रन्थ की दो प्रतियाँ (सी ५२३ तथा बी ३९४) मैसूर राजकीय प्राच्य पुस्तकालय में हैं। देवनागरी लिपि में लिखित पहली प्रति पन्द्रह पत्रे की तथा 'आ' (?) लिपि में लिखित दूसरी, बीस पत्रे की है।

७. अन्यापदेश

प्रस्तुत ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि आसाम प्रान्त के 'डिंगडिंगी' नामक स्थान के निवासी श्री कालिदत्त शर्मा के पास है। इसमें कुल ८५ पद्य हैं। इसी नाम वाले ग्रन्थ की अन्य पाण्डुलिपियाँ लालचन्द रिसर्च लाइब्रेरी डी० ए० वी० कालेज, लाहौर (संख्या ४०९०) में, पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, चण्डीगढ़ (संख्या ४८७२) में सरस्वतीमहल लाइब्रेरी तंजौर (संख्या २३६५४-५७) में तथा प्राच्यपाण्डुलिपि पुस्तकालय, मद्रास (संख्या १४८४०) में भी हैं। मद्रास पाण्डुलिपि अपूर्ण है, किन्तु उसके प्राप्तांश से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका लेखक अत्यन्त विद्वान् एवं प्राज्ञ था। कवि स्वयं कहता है--'किंचित्तं मामकं चित्तं हारिणं चिद्विहारिणं। निर्मलं भजताद्येन मत्कृतिस्सचमत्कृतिः' आदि। अन्य पद्यों में व्याकरण-कौशल भी दिखाया गया है। प्राप्त ग्रन्थ का अन्तिम पद्य सहकारविषयक अन्योक्ति है। यह अवधेय तथ्य है कि नीलकण्ठदीक्षित, गीर्वाणेन्द्रदीक्षित तथा रघुनाथशिष्य के ग्रन्थ भी 'अन्यापदेश' नाम वाले हैं किन्तु प्रस्तुत अन्यापदेश, उन तीनों से पूर्णतः पृथक् है, जैसाकि उन तीनों के पूर्वव्याख्यान से सिद्ध भी है। किन्तु आसाम, लाहौर, चण्डीगढ़, तंजौर तथा मद्रास की एकसंज्ञक पाण्डुलिपियों के ऐक्य के विषय में बिना प्रत्यक्षीकरण के कुछ भी कहना असम्भव ही है।

८. अन्यापदेशश्लोकाः

इस अन्योक्ति ग्रन्थ की पाण्डुलिपि अदयार लाइब्रेरी में है, ऐसा वहाँ के सूचीपत्र (भाग २, पृ० १७) से ज्ञात होता है।

९. अन्यापदेशद्वासप्ततिः

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन (संख्या ८१६३) में है, ऐसा इंगलिंग द्वारा तैयार किये गये, वहाँ के सूचीपत्र से ज्ञात होता है। सम्भवतः रचना में ७२ पद्य होंगे जैसाकि शीर्षक से स्पष्ट है।

१०. अन्यापदेशशतकम् (अपूर्णम्)

व्याख्यात समस्त अन्यापदेश शतकों से भिन्न इस ग्रन्थ की चार प्रतियाँ (३८९०; ९१, ९३ एवं ९४) सरस्वती महल लाइब्रेरी तंजौर में हैं। अप्रकाशित अन्योक्ति रचनाओं के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि भट्टगोविन्दचन्द्र, रविवर्मराज, नारायणदास, श्रीनिवास, चन्द्रमाणिक्य, रुद्रमाणिक्य तथा शिवशंकरदेवकृत अन्योक्ति ग्रन्थों का भी नाम 'अन्यापदेशशतक' ही है। अतः बहुत सम्भव है कि अज्ञातकर्तृक रचनायें इन्हीं कवियों में से किन्हीं दो की हों। 'दो' कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रतियाँ तो चार हैं किन्तु संख्या ३८९० तथा ९१ एक ही ग्रन्थ की दो भिन्न प्रतियाँ हैं, इसी प्रकार अन्य दोनों भी एक ही ग्रन्थ की दो प्रतियाँ हैं। इनमें से प्रथम दो प्रतियाँ पूर्ण हैं तथा १०० पद्यों से युक्त हैं। इनके प्रारम्भिक तीन पद्य क्रमशः 'चम्पक-महादेव तथा चम्पक' से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार अन्तिम दोनों पद्य (९९ एवं १००) जल तथा सागर से सम्बद्ध हैं। ग्रन्थ की दूसरी प्रति केवल ९६वें पद्य तक है, शेष ४ पद्य खण्डित हैं। ग्रन्थ के अन्त में कोई पुष्पिका नहीं प्राप्त होती। सम्भवतः यही रचना गोविन्दचन्द्रमहापात्र की है, क्योंकि बार्नेट के प्रामाण्यानुसार उसमें भी ठीक सौ पद्य ही हैं, अधिक या कम नहीं।

अन्य दोनों प्रतियाँ अपूर्ण हैं और केवल ९३ पद्यों से युक्त हैं। कवि ने प्रथम पद्य में भगवान् शंकर की वन्दना तथा दूसरे में कवियों की प्रशस्ति गायी है। पद्य ९२ तथा ९३ पयोमुक् एवं सागर सम्बन्धी अन्योक्तियों के हैं। बर्नेल ने इन चारों ही प्रतियों का उल्लेख किया है।

११. अन्योपदेश

कोल्हापुर में विद्यमान, श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक जी जैनमठ के भण्डार में प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि है ऐसा श्री एच० डी० वेलंकर द्वारा सम्पादित 'जिनरत्नकोश' (पृ० १२) से ज्ञात होता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ 'अन्यापदेश' होना चाहिए जैसा कि स्वयं सम्पादक ने भी प्रश्नवाचक चिह्न द्वारा यही तथ्य संकेतित किया है। ग्रन्थ की संख्या १५१ है।

१२. अन्योपदेशरत्नाकर

ओरियण्टल लाइब्रेरी, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के पास प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि है। ग्रन्थ जैसाकि आफ्रेक्ट ने भी स्वीकार किया है 'अन्यापदेशरत्नाकर' है।

(च) आधुनिक अन्योक्तिग्रन्थ

अंग्रेजों के शासन-काल में संस्कृत भाषा का पुनरुत्थान किस प्रकार हुआ इस विषय पर संग्रहग्रन्थों की भूमिका में ही प्रकाश डाला जा चुका है। यह तथ्य अवधेय है कि उसी युग में देश के विभिन्न केन्द्रों से संस्कृत वाग्धारा के प्रसार एवं प्रचार के निमित्त, अनेक समाचारपत्रों

का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ जोकि प्रायः वार्षिक-षाडमासिक-त्रैमासिक-मासिक-साप्ताहिक अथवा दैनिक थे। वस्तुतः साप्ताहिक एवं दैनिक संस्कृत पत्रों का प्रकाशन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही हुआ और उसके पूर्व भी मासिक पत्रिकाओं की ही संख्या अधिक थी। सहृदया (मासिक) संस्कृतपरिषत् (मासिक) सूर्योदय (मासिक) मंजूषा (मासिक) भारती (मासिक) सरस्वतीसुषमा (त्रैमासिक) तथा संस्कृतप्रतिभा (त्रैमासिक) आदि पत्रिकाएँ काशी, जयपुर, कलकत्ता तथा दिल्ली आदि स्थानों से प्रकाशित होने वाली हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं में भी अन्यापदेशों का समय-समय पर प्रकाशन होता रहा है।

श्री भोलानाथ कविराज द्वारा प्रणीत 'चातकसन्देश' संस्कृतसाहित्य परिषत् (वर्ष १७ भाग ३, जुलाई १९३४ ई०) में प्रकाशित, इसी प्रकार की अन्यापदेश रचना है। कवि प्रणीत इस रचना में कुल ३१ पद्य हैं जिनमें से अन्तिम तीन परिचयात्मक हैं। इसी प्रकार पं० जग्गूवेंकटाचार्य-प्रणीत 'काकान्योक्तयः' तथा श्रीकान्तपाण्डेयप्रणीत 'अन्योक्तिदशकम्' का प्रकाशन 'संस्कृतप्रतिभा' (द्वितीयोन्मेष द्वितीयविलास, अक्टूबर १९६० ई०) में हुआ है। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाओं में अन्योक्ति रचनाओं को खोजना, अपने ही सिर पर आफत मोल लेना है। क्योंकि जन-जीवन की विविध प्रवृत्तियों को अभिरामतम शैली में प्रकाशित करने के कारण अन्योक्ति-पद्धति कवियों का कण्ठहार, सब दिन रही और आज भी है। अतः नये-पुराने वाङमय में इतका बाहुल्य है कि उसको संकलित करना दुष्कर है।[1] वस्तुतः सरस्वती का अमन्द निष्यन्द और उसके पिपासुकविगण, देश-काल की सीमा में बँधे नहीं हैं। अतः प्रत्येक युग उनकी सम्भावनाभूमि है।

---

१. श्री बदरीनाथ झा तथा प्रतिभा दलपतराय त्रिवेदी ने क्रमशः अन्योक्तिसाहस्री तथा अन्योक्त्यष्टकसंग्रह का प्रकाशन किया है किन्तु वे संग्रहमात्र है।

षष्ठ अध्याय

अन्योक्ति-साहित्य का काव्यात्मक एवं काव्यशास्त्रीय विवेचन

काव्य एवं शास्त्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से भेद होता चला आ रहा है। आचार्य भट्टनायक ने शब्दप्राधान्य का आश्रय लेकर प्रणीत की गयी रचना को शास्त्र, अर्थतत्त्व से युक्त रचना को आख्यान तथा शब्द एवं अर्थ दोनों का समान योग होने पर व्यापार-प्रधान रचना को 'काव्य' स्वीकार किया था।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य को त्रिविध वाङ्मय ही अभीष्ट था। परन्तु इसके विपरीत कुछ आचार्यों ने वाङ्मय के चातुर्विध्य की भी स्थापना की है--'शास्त्र-काव्य-शास्त्रकाव्य एवं काव्यशास्त्र'।[2] वाङ्मय-गत इन वर्गीकरणों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उसके प्रमुख एवं समुचित भेद दो ही हैं---शास्त्र एवं काव्य। वस्तुतः इन दोनों में सिद्धान्त एवं व्यवहार का सा सम्बन्ध है। अतः जैसे बिना सिद्धान्तों को जाने-बूझे व्यवहार में प्रवृत्त होना, कभी-कभी मनुष्य के लिए उपहास का कारण बन जाता है, ठीक उसी प्रकार बिना 'शास्त्रज्ञान' के काव्य-रचना का प्रयास भी बहुत सफल नहीं होता। इसी कारण आचार्य राजशेखर ने शास्त्र एवं काव्यरूप वाङ्मय का दो ही भेद स्वीकार करते हुए काव्य-रचना के पूर्व ही शास्त्रों में, अभिनिविष्ट होने की राय दी है। क्योंकि जैसे बिना जलाये हुए दीपक के घने अन्धकार में विद्यमान रहते हुए भी वस्तुसमूह का दर्शन, आँखों को हम नहीं करा पाते, ठीक वही दशा उनकी भी है जो बिना शास्त्रज्ञान के ही काव्य-रचना करने को समुत्सुक रहते हैं।

राजशेखर के मतानुसार शास्त्र के दो भेद हैं---अपौरुषेय तथा पौरुषेय। चार वेद एवं छः वेदांग 'अपौरुषेयशास्त्र' तथा पुराण-आन्वीक्षिकी-मीमांसा-स्मृतितन्त्र ये चार 'पौरुषेय-शास्त्र' कहे जाते हैं। इन्हीं चौदह शास्त्र-भेदों को 'चतुर्दशविद्यास्थान' भी कहा जाता है। त्रैलोक्यगत समस्त विषय इन्हीं, चतुर्दश अंगों के अन्तर्गत हैं (तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवः

---

१. द्रष्टव्य--अभिनवभारती, पृ० २९८ (बड़ौदा संस्करण)।

२. शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुः प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः॥

स्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्तन्ते-काव्यमीमांसा) कुछ आचार्यों ने वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र तथा दण्डनीति को भी सम्मिलित करके, विद्यास्थानों की संख्या १८ स्वीकार की है। काव्यमीमांसा में, शास्त्र के इन समस्त भेद-प्रभेदों का अत्यन्त विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है।[१]

काव्य, आचार्य भट्टतौत के अनुसार 'कविकर्म' को कहते हैं—'तस्यकर्म स्मृतं काव्यम्' किन्तु काव्य की यह परिभाषा, केवल उसके कर्ता की ओर संकेत करती है। अतः प्रतिपाद्य की दृष्टि से विचार करने पर 'काव्य' कविकर्म होने के अतिरिक्त और भी कुछ प्रतीत होता है, जिसे कि आचार्य भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक विभिन्न आचार्यों ने, विभिन्न रूपों में प्रकट किया है। किन्तु उन समस्त काव्यलक्षणों का प्रतिनिधित्व आचार्य मम्मट की परिभाषा ही करती है, जिसके अनुसार निर्दोष, गुणयुक्त तथा सालंकार शब्दार्थ-समष्टि ही काव्य है। आचार्य राजशेखर ने इसी काव्य को 'पन्द्रहवाँ-विद्यास्थान' मानते हुए कहा है कि काव्य, शास्त्रगत समस्त चतुर्दशविद्यास्थानों का एकमात्र आयतन (आधारशिला) है।[२]

किन्तु अपनी इस व्यक्तिगत धारणा को पुष्ट करने के निमित्त, राजशेखर ने जिन कारणों का उल्लेख किया है, वे विशेष प्रभावशाली नहीं हैं। क्योंकि गद्यपद्यमयत्व, कविधर्मत्व तथा हितोपदेशकत्व, ये तीनों ही तथ्य शास्त्रपक्ष में भी प्रायः उसी मात्रा में घटित हो जाते हैं। 'कविधर्म' की चरितार्थता केवल अपौरुषेय शास्त्रों में असम्भव है, किन्तु पौरुषेय शास्त्रों में तो इसका प्रत्याख्यान किया ही नहीं जा सकता। शेष दोनों तथ्य भी काव्य की ही भाँति शास्त्र-पक्ष में भी सत्य हैं। हितोपदेशकत्व तो बल्कि, सांसारिक दृष्टि से काव्य की अपेक्षा शास्त्रों में ही अधिक प्राप्त होता है। तब फिर आचार्य राजशेखर-प्रोक्त यह काव्योत्कर्ष कैसे संगत होगा ?

वस्तुतः शास्त्र की अपेक्षा काव्य की उत्कृष्टता का सबल प्रमाण, आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश में प्राप्त होता है, जहाँ आचार्य ने काव्य-रचना के षड्विध प्रयोजन बताये हैं— यशःप्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अमंगलविनाश, सद्यःपरनिर्वृत्ति तथा कान्तासम्मित उपदेश। मम्मट ने गद्यपद्यमयता तथा कविधर्मता का उल्लेख किया ही नहीं है, क्योंकि वे इतने साधारण तथ्य हैं कि उनको देना या न देना दोनों बराबर हैं। यश एवं धन की प्राप्ति, व्यवहारज्ञान तथा अमंगलविनाश, यद्यपि काव्यों के ही समान शास्त्रों द्वारा भी सम्भव है किन्तु दोनों ही पक्षों की अपनी एक स्वतन्त्र विशेषता है। शेष दोनों तत्त्व ही वस्तुतः 'काव्य' के प्राण हैं जोकि उसे शास्त्रों से पूर्णतः व्यतिरिक्त, एक स्वतन्त्र स्थान देते हैं। 'सदुपदेश' शास्त्र भी देते हैं, काव्य भी देते हैं। किन्तु कैसे देते हैं? यही तथ्य काव्योत्कर्ष का मूल कारण है। वस्तुतः अपौरुषेय वेदादि शास्त्र प्रभु के रूप में तथा पौरुषेय पुराणेतिहासादि मित्र के रूप

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय। चौखम्बा संस्करण, सन् १९३४ ई०।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—वही।

में तथा काव्य पत्नी के रूप में उपदेश देता है। अतः काव्योपदेश में जो जागतिक सुख, जो माधुर्य, जो युगान्तरकारी प्रभाव और जो तन्मयता है, वह शास्त्रों में पूर्णतः असम्भव है। वैधातृकी सृष्टि में नारी को अंग-प्रत्यंग पौरुषश्रृंखला में बाँधकर भी पुरुष को नारीत्व का ही उपासक बनाया गया है, इसे ध्यान में रखना चाहिए।

आचार्य भट्टनायक के ही पद-चिह्नों पर चलते हुए मम्मट ने वेदादि शास्त्रों को शब्द-प्रधान, पुराणादि पौरुषेय शास्त्रों को अर्थ-प्रधान, किन्तु काव्यों को रसानुभूति-प्रधान माना है। शब्द एवं अर्थ दोनों ही काव्य में गौण होते हैं तथा उनमें रसांगभूत व्यापार ही प्रवण होता है। यदि ऐसा नहीं हुआ, अर्थात् यदि काव्य में शब्दार्थ ही प्रधान रहे और रस उनका गुणीभूत तत्त्व रहा तो वह काव्य उत्तम कोटि का न होकर मध्यम अथवा अधम कोटि का ही होता है। मध्यम एवं अधम को ही आचार्य ने गुणीभूतव्यंग्य तथा अव्यंग्य भी कहा है। वस्तुतः इसी रसप्रवणता के कारण काव्य, शास्त्र से उत्कृष्ट, विलक्षण तथा लोकोत्तरवर्णना-युक्त होता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि 'शास्त्र एवं काव्य' दोनों ही वाङमय के दो स्वतन्त्र भेद हैं। वस्तुतः शास्त्र प्रभुसम्मित उपदेश देने के ही कारण 'शास्ता' अथवा 'शासक' रूप में कल्पित किया गया है। यह 'सिद्धान्त' अथवा नियामकता से भी सम्बद्ध माना जाता है। अतः इस दृष्टि से, लोक में प्राप्त प्रत्येक वस्तु का शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं---सिद्धान्त एवं प्रयोग। हृदयंगम करने की दृष्टि से जब किसी वस्तु-विशेष की आदर्श रूपरेखा एक वैज्ञानिक रीति से, लोक के समक्ष रखी जाती है तो उसे 'सिद्धान्त' कहते हैं और जब उसी निर्दिष्ट वैज्ञानिक रूपरेखा को लोकजीवन में कार्य रूप में परिणत किया जाता है तो वही 'प्रयोग' कहा जाता है। उदाहरणार्थ नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत द्वारा प्रदत्त नाट्य-सम्बन्धी रूपरेखा उसका सिद्धान्त है जब कि शाकुन्तल प्रभृति नाटकों में कवि कालिदास द्वारा उसी रूपरेखा को अमल में लाना उसका प्रयोग-पक्ष है। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से किसी वस्तुविशेष के सिद्धान्त एवं प्रयोग, उसके दो पृथक पक्षों को संकेतित करते हुए भी, अन्ततः एक ही सिद्ध होते हैं।

ऊपर बताया गया है कि शास्त्र, प्रभुसम्मितता के ही कारण 'शास्ता' रूप में भी कल्पित किये गये हैं क्योंकि वे 'सिद्धान्त-पक्ष' के प्रतीक हैं। प्रभु का नियोग सब को अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता है। इसी कारण समस्त वेदांगों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त व्याकरण-ज्योतिष तथा छन्द) षट्दर्शनों को अकेले न कहकर, उन्हें उनके 'शास्त्र' से सम्बद्ध ही स्वीकार किया जाता है, जैसे---शिक्षाशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि।

जैसे 'शास्त्र' सिद्धान्त पक्ष का प्रतीक है, ठीक उसी प्रकार 'काव्य' प्रयोगपक्ष का। क्योंकि कवि-कर्म को ही 'काव्य' कहते हैं जोकि किसी भी सिद्धान्त का लोकजीवन में प्राप्त

---

१. द्रष्टव्य---काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक पक्ष उपस्थित करता है। किन्तु इन दोनों ही पक्षों का प्रयोग जब संकीर्ण अर्थ में किया जाता है तो 'शास्त्र' केवल छः वेदांगों के तथा 'काव्य' सगुण निर्दोष एवं सालंकार शब्दार्थ रूप काव्य-विशेष के ही प्रतीक बनते हैं। चूँकि कवि क्रान्तदर्शी होता है, साथ-ही-साथ त्रैलोक्यगत कोई भी भावभंगी उसकी पहुँच से बाहर नहीं होती, अतः वह शास्त्रों को भी काव्य रूप में ढाल देता है। ऐसे कवि को ही महाकवि राजशेखर 'शास्त्रकवि' कहते हैं। इसी प्रकार सार्वजनीन लौकिक भावों को काव्य के माध्यम से उपस्थित करने वाला कवि 'काव्यकवि' है।[1]

इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे हम किसी वस्तु का सैद्धान्तिक एवं प्रयोगिक पक्ष कहें अथवा उसका शास्त्रीय एवं काव्यात्मक पक्ष––दोनों में कोई भेद नहीं। किन्तु जब हम आचार्य मम्मट द्वारा लक्षित "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" रूप काव्यविशेष के दोनों पक्षों को संकेतित करना चाहें तो किस विधान का प्रयोग करेंगे? वस्तुतः उपर्युक्त स्वरूप वाले काव्यविशेष का सिद्धान्तपक्ष विवेचित करने के लिए 'काव्यशास्त्र' (Poetics) का जन्म हुआ। इसी को अलंकारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र भी कहा जाता है। चूँकि अन्योक्ति भी मम्मटोपदिष्ट काव्यसामान्य का ही अंगविशेष है, अतः अपने अंगी की दृष्टि से उसके उभयपक्षों का विवेचन करते समय 'काव्यशास्त्रीय तथा काव्यात्मक' शब्दों का प्रयोग प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

इस अध्याय में वाङमय का काव्यशास्त्रीय विवेचन ही इष्ट है। क्योंकि पूर्वोल्लिखित धारणा के अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक पक्ष अवश्य होता है। किन्तु काव्यशास्त्रीय विवेचन काव्यात्मक विवेचन के बिना अधूरा रहता है, क्योंकि जब तक किसी सिद्धान्त का लोकजीवन में प्रयोग न दरशाया जाय, तब तक पाठकवर्ग को उस सैद्धान्तिक सत्यता की कोई प्रतीति ही नहीं हो सकती। अतः यही रीति सर्वोत्तम है कि विषय की सरलता के लिए प्रमाण पहले दे दिये जायँ तथा प्रमेय-सिद्धि बाद में की जाय। क्योंकि प्रमाण उपस्थित रहने पर प्रमेय स्वयं सिद्ध हो जाता है। इसी दृष्टि से अन्योक्ति-वाङमय का काव्यात्मक पक्ष पहले देकर काव्यशास्त्रीय पक्ष बाद में दिया जा रहा है।

यह प्रश्न हो सकता है कि तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में अन्योक्ति का सैद्धान्तिक विवेचन तथा पंचम में उसका प्रायोगिक विवेचन तो हो चुका है। तब फिर इस नवीन सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विवेचन की सार्थकता क्या है? इसका उत्तर यह है कि 'अन्योक्ति' काव्य-सामान्य का ही एक अंगविशेष है। वैसे, वह काव्य अथवा अलंकार्य होने के साथ ही साथ 'अलंकार' भी है। अतः काव्यसामान्य एवं अन्योक्तिकाव्य में सामान्य-विशेष सम्बन्ध होने के कारण यह तथ्य सुस्पष्ट है कि अन्योक्ति मात्र के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्ष, काव्यसामान्य के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिकपक्षों से कुछ-न-कुछ पृथक् अवश्य होंगे। दूसरे शब्दों में अन्योक्ति

---

१. द्रष्टव्य––काव्यमीमांसा, पंचम अध्याय।

मात्र के सिद्धान्त एवं प्रयोग में, काव्य-सामान्य की अपेक्षा कुछ न कुछ वैशिष्ट्य अवश्य होगा। उन्हीं वैशिष्ट्यों का यथावत् परिशीलन उन पिछले तीन अध्यायों में किया गया है।

'काव्यसामान्य' के सिद्धान्तों एवं तदनुकूल प्रयोगों की व्याप्ति निश्चय ही विशाल होगी। उसमें वे सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय तथ्य होंगे जो कि न केवल अन्योक्ति पर, वरन् काव्य कही जाने वाली समस्त छोटी-बड़ी रचनाओं पर चरितार्थ होंगे। काव्यशास्त्रीय विवेचन के क्षेत्र में शब्द शक्तियाँ, गुण-दोष, रीति-वृत्ति, वक्रोक्ति, औचित्य एवं रसपरिपाक जैसी मान्यताएँ आयेंगी, जिनका उद्भव ही केवल इसलिए हुआ कि समस्त वाङमय तद्रूप माना जाय। यद्यपि अब समस्त सिद्धान्तों की सत्ता निरस्त हो चुकी है तथा 'ध्वनिसिद्धान्त' ही आज काव्यक्षेत्र में मान्य है तथापि अन्योक्ति का विवेचन उन समस्त सिद्धान्तों की दृष्टि से संक्षेपतः किया जायेगा। इसी प्रकार काव्यात्मक विवेचन के क्षेत्र में 'सारूप्यनिबन्धना प्रभृति' अन्योक्ति सम्बन्धी मान्यताएँ नहीं आएँगी क्योंकि वे एकपक्षीय हैं। इसमें व्यक्ति एवं समाज, प्रकृति एवं प्रणय तथा जीवनवैविध्य सरीखे तथ्य व्याख्यात होंगे जो कि न केवल अन्योक्ति वरन् 'दृश्य अथवा श्रव्य' कोटि में आने वाली, काव्यसंज्ञक किसी भी छोटी अथवा बड़ी रचना से सम्बद्ध है।

व्यक्ति समाज का ही अंग होता है। इसी कारण समाज की अच्छाई अथवा बुराई, कीर्ति एवं निन्दा, उत्कर्ष एवं अपकर्ष—इन सबके कारण उसके अंगरूप व्यक्ति ही होते हैं। कवि चाहे स्वान्तःसुखाय काव्य लिखे अथवा दूसरे की प्रेरणा से दूसरे के ही हित के लिए लिखे, किन्तु प्रत्येक दशा में वह तत्कालीन समाज के दायरे से पूर्णतः पृथक नहीं हो पाता। वस्तुतः आदर्श काव्य वहीं होना भी चाहिए जो केवल किसी पुरुषविशेष की प्रशस्तिमात्र न हो, जो केवल स्वार्थसिद्धि में पर्यवसित देवाराधनरूप न हो और न काल्पनिक उड़ानों से संकुलित कोई 'प्रणय-कथा' हो। वरन् इन सबसे व्यतिरिक्त एक ऐसी कथावस्तु वाला हो जो सामाजिक परम्पराओं को, उसके नग्न यथार्थ को, उसकी घृणित वासनाओं को और उसकी बहुविध प्रवृत्तियों को स्पष्टतः दिखा सके। किन्तु पूर्वोक्त इन सामाजिक वृत्तियों को उनके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना, सभी कवियों के वश की बात नहीं। क्योंकि जो कवि अल्पबुद्धि का होगा वह अभिधा शक्ति के सहारे उन वृत्तियों का प्रदर्शन करेगा और ऐसा करने से उस काव्य का 'काव्यत्व' अर्थात् 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' रूप उसका आदर्श लक्ष्य, प्रतिहत हो उठता है। अभिधा का आश्रय लेने से काव्य, कटुसत्यों को कटुतम शैली में अर्थात् मुँहतोड़ जवाब की शैली में ही व्यक्त करेगा।

किन्तु काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली ऐसी भी अभिव्यंजनपरिपाटियाँ हैं, जो समाज का चित्र तो वही खींचेगी जैसा कि वह अथवा उसके व्यक्ति स्वयं होंगे, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का मार्ग दूसरा ही होगा। वही मार्ग अन्योक्तिशैली का विषय है जो कि लक्षणा-व्यंजना से पल्लवित होता है। इस विषय पर पीछे भी कई बार प्रकाश डाला जा चुका है। अन्योक्तिवाङमय में आदर्श एवं कटुयथार्थ का जो मंजुल समन्वय प्राप्त होता है, वह निश्चय

ही अन्य किसी भी विशिष्ट काव्यांग में दुर्लभ है। इस समन्वय का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि कवियों ने सन्देश देने अथवा आलोचना प्रस्तुत करने का माध्यम व्यक्ति अर्थात् स्त्री-पुरुष को न बनाकर पशुओं, पक्षियों एवं पेड़-पौधों को ही बनाया। केवल इसलिए कि सामने खड़े हुए कुख्यात चोर को, चोर कहकर कुछ कहना, अपनी मृत्यु अथवा सर्वनाश की भूमिका बनाना है। किन्तु उसी चोर के समान इतिवृत वाले किसी भ्रमर को दो-चार गाली भी बक देना, वक्ता को कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता। पहली स्थिति में 'चोर' शब्द का उच्चारण जहाँ तथाकथित चोर के हृदय में क्रोध एवं प्रतिहिंसा की सृष्टि करता है वहाँ दूसरी स्थिति में वह उसी चोर के हृदय में आत्मभर्त्सना एवं आत्मक्षोभ का भाव पैदा करेगा।

इस प्रकार अन्योक्ति-शैली उस कोटि के काव्य की जनयित्री है, जो वस्तुतः सहृदयों को अभीष्ट है। किसी व्यक्ति का दोष अथवा गुण उसके मुँह पर ही बेधड़के कहना वक्ता और बोद्धव्य दोनों के लिए शुभकारक नहीं क्योंकि बोद्धव्य दोनों तथ्यों को सुनकर क्रमशः या तो क्रुद्ध होकर कुछ गलत काम कर बैठेगा और या तो आत्मप्रख्यापन से अभिभूत होकर घमण्ड के नशे में चूर होकर पथभ्रष्ट होगा। इसी प्रकार वक्ता भी या तो मार खायेगा, या फिर किसी भले व्यक्ति को विनाश-पथ पर ले जाने का कारण बनेगा।

समाज में उच्चवर्ग की प्रभुता प्राचीनकाल से ही अक्षुण्ण रही है। किन्तु इन उच्च-वर्गीय व्यक्तियों के हृदय में अहंमन्यता का भाव जन्मजात एवं वंशपरम्पराप्राप्त होता है। पाश्चात्त्य देशों में इसी तथ्य को Superiority Complex की भावना कही गई है। संस्कृत साहित्य में भाणों एवं प्रहसनों के बहाने तथा व्याजस्तुतियों के माध्यम से समय-समय पर कवियों ने उन्हीं तथाकथित उच्चवर्गीय जनों का अनेक व्यंग्यचित्र उपस्थित किया है। वे चाहे जो भी उचित अथवा अनुचित कार्य करें, उन्हें सब शोभा देता है, क्योंकि सब कुछ पचा डालने की शक्ति उनमें होती है। ऐसे ही व्यक्ति का चित्र अन्यापदेश के रूप में कवियों ने व्यक्त किया है—

त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता का नाम दिग्दन्तिनां[1]
व्यालैः कंकणकुण्डलानि कुरुषे हानिर्न हेम्नः पुनः।
मूर्ध्ना चेद्वहसे जडांशुमयशः किन्नाम लोकत्रयी-
दीपस्याम्बुजबान्धवस्य जगतामीशोऽसि किं ब्रूमहे॥१॥

ऐसे महामहिम कहे जाने वाले, केवल नाम भर के लिए समाज के मेरुदण्ड माने जाते हैं। वस्तुतः हैं वे नर-पिशाच! उनके धन का, बल का एवं बुद्धि का भी कभी-कभी सदुपयोग नहीं हो पाता। मध्यम अथवा निम्नवर्ग का खून चूस-चूस कर संचित किया हुआ धन, उनके दैनन्दिन आमोद-प्रमोद, शराबखोरी एवं व्यभिचार का साधन बनता है। कवि के शब्दों में—

---

१. सूक्तिमुक्ता० ३६।१ ।

आदाय वारि परितः सरितां शतेभ्यः किन्नाम साधितमनेन दुरर्णवेन।[1]
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च॥२॥

ऐसे उच्छृंखल व्यक्तियों से समाज का कोई भी वर्ग सन्तुष्ट नहीं होता है। बाह्य चाकचिक्य एवं व्यवहार-कुशलता देखकर यद्यपि, एक बार सब उनकी ओर उन्मुख होते हैं, किन्तु प्रवंचना की प्रथम झाँकी ही उन्हें निराश कर देती है। अन्यापदेश रीति से इस अवस्था की वर्णना द्रष्टव्य है—

हंसाः पद्मवनाशया मधुलिहः सौरभ्यगन्धाशया
पान्थाः स्वादुफलाशया बलिभुजो गृद्धाश्चमांसाशया।
दूरादुन्नतपुष्परागनिकरैर्निस्सारमिथ्योन्नते!
रे रे शाल्मलिपादप! प्रतिदिनं के न त्वया वंचिताः॥३॥[2]

फल यह होता है कि ऐसे पाखण्डी व्यक्ति आजीवन समाज में आदरपात्र नहीं बन पाते। दाँतों से पकड़ी गई एक-एक कौड़ी तथा उससे एकत्रित पाप धन, कभी सत्कार्य का साधन नहीं बन पाता। रात-दिन चापलूसी करने वाले, लुच्चे-बदमाश ही उसका उपभोग करते हैं। Ill got ill spent की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है—

किम्पाक! पाके बहिरेव रक्तस्तिक्तासितान्तर्दृशि कान्तिमेषि।
एतावता काकमपास्य कस्य हृत्प्रीतिभित्तिस्त्वमिदं न जाने? ४॥[3]

निश्चय ही ऐसे व्यक्तियों से दीनों का कोई कल्याण नहीं हो सकता और यही क्या कम हैं, सहायता पाने के ध्येय से गया हुआ कोई अभ्यर्थी उनकी सन्निधि से सकुशल लौट आये। कवि के शब्दों में—

कस्त्वं? कोसि, कुतोऽसि? रत्नवसतेस्तीरादहं नीरधेः
लब्धं किंचन गर्जितैर्बधिरता, दृग्व्याहतिः सैकतैः।
मा खेदं कुरु तादृगौर्वदहनज्वालावलीदुःसहं
क्षीरोदं यदुपास्य जीवसि सखे श्लाघ्यं न तन्मन्यसे॥५॥[4]

किन्तु समाज तो बहुविध व्यक्तियों का समूह है अतः ऐसा नहीं है कि उच्चवर्गीय समस्त जन एक ही रंग में रंगे होते हैं। वस्तुतः जो वंशानुक्रम से गौरवशाली होते हैं, उन्हें संसार का एक-एक प्राणी अपना ही अभिन्न अंग प्रतीत होता है। वे बहुजनहिताय, बहुजन-सुखाय जीवित रहते हैं। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' ही उनका चरम लक्ष्य होता है। अतएव थोड़े धर्म-संकट में पड़ जाने पर वे पलायन नहीं करते और न आश्रितों के प्रति कन्दलित

---

१. सुभाषितरत्न० ३३वीं व्रज्या।
२. शारंगधर० परिच्छेद ५९।
३. सुभाषितरत्न० व्रज्या ३३।
४. सदुक्ति० ४।११।

अपना प्रणयांकुर ही म्लान करते हैं। वस्तुतः वे उस धान की भाँति हैं जो उत्तरोत्तर विपत्ति रूपी मूसलों की चोट खाकर भी अपना व्यक्तित्व खरा बनाए जाते हैं—

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते॥६॥[1]

ऐसे लोकप्रिय उन्नतमना एवं दीनबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत सज्जन व्यक्ति वस्तुतः ईश्वर के ही प्रतिरूप माने जाते हैं। प्रस्तुत अन्योक्ति पद्य में कवि ने ऐसे ही महाशय व्यक्ति की प्रशस्ति गाई है—

आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयोद्भेदैस्त्वचा तापसाः
पुष्पैः षट्चरणाः फलैश्शकुनयो धर्मार्दिताश्छायया।
स्कन्धैर्गन्धगजाश्च विश्रमरुजः शश्वद्विभक्तास्त्वया
प्राप्तस्त्वं द्रुम। बोधिसत्वपदवीं सत्यं कुजाताः परे॥७॥[2]

ऐसे महामहिम मेधावी पुरुषरत्न परोपकार-व्रत का निर्वाह करने के लिए कोई भी विपत्ति सह सकते हैं। ओछे व्यक्तियों की छींटाकशी, दैन्यपाश एवं पारिवारिक अवहेलनाएँ उन्हें अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पातीं—

निष्पेषोऽपि च यस्य दुस्सहतरः कष्टं तुलारोहणं
ग्राम्यस्त्रीकरलुंछनव्यतिकरस्तन्त्रीप्रहारव्यथा।
मातंगोक्षितमण्डवारिकणिकापानं च कूर्चाहतिः
कार्पासेन परार्थसाधनधिया किं किं न वांगीकृतम्॥८॥[3]

सौजन्य एवं दौर्जन्य वस्तुतः मनुष्य के अन्तःपक्ष से ही संबंधित हैं। सुन्दर चमचमाते वस्त्राभूषणमात्र से कोई व्यक्ति निश्चय ही सज्जन नहीं बन सकता। क्योंकि समय पड़ने पर वे कृत्रिमतायें लुप्त हो जायेंगी तथा उनका ओछापन स्वयं स्पष्ट हो जायेगा। किन्तु जो हृदय से ही उदार एवं लोकप्रिय हैं, उनका सब कुछ भले समाप्त हो जाय, मोटा खाने एवं पहनने को भले मिले, किन्तु हृदय की स्नेह-थाती कभी रीतने को नहीं आती। तभी तो कवि कहता है—

को हि तुलामधिरोहति शुचिना दुग्धेन सहजमधुरेण।
तप्तं विकृतं मथितं केवलमुद्गिरति यत्स्नेहम्॥९॥[4]

---

१. पण्डितराजकाव्यसंग्रहः पृ० १३१।
२. सूक्तिमुक्ता० पद्धति २३।
३. सूक्तिमुक्ता० पद्धति २३।
४. सूक्तिमुक्ता० पद्धति ३६।

अतः निश्चित है कि ऊँच-नीच अथवा सज्जन-दुर्जन का यह मौलिक भेद कभी विनष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि कौवा न कभी हंस हो सकता है और न बकुला कभी नीर-क्षीर-विवेक ही कर सकता है। अन्यापदेश में इसी भाव का उपस्थापन कवि करता है—

काकस्य चंचुर्यदि हेमयुक्ता माणिक्ययुक्तौ चरणौ च तस्य।[1]
एकैकपक्षे गजराजमुक्तास्तथापि काको न स राजहंसः ॥१०॥

इससे भी अधिक व्यंजना अधोनिर्दिष्ट पद्य में देखी जा सकती है—

नैर्मल्यं वपुषस्तवास्ति वसतिः पद्माकरे जायते
मन्दं याहि मनोरमां वद गिरं मौनंच सम्पादय।
धन्यस्त्वं बक! राजहंसतुलनां प्राप्तोऽसि किन्तैर्गुणैः
नीरक्षीरविभागकर्मनिपुणा शक्तिः कथं लभ्यते ॥११॥[2]

अब आइये समाज के मध्यम एवं नीचवर्ग की ओर। जैसे उच्चवर्गीय जनों के दो वर्ग हैं, एक तो वास्तविक और दूसरा पाखण्डी। ठीक उसी प्रकार मध्यम एवं नीच वर्ग में भी व्यक्तियों की दो कोटियाँ हैं—एक तो वे जो वास्तव में दीन-हीन एवं अकिंचिन हैं, किन्तु दैन्य को ही अपनी पूर्वजन्म की सम्पत्ति समझकर अथवा उसमें दैवयोग का समावेश मानकर सन्तोषपूर्वक अपना जीवन बिता रहे हैं। और दूसरे वे हैं जो विद्रोहात्मक प्रवृत्ति के हैं, अतः अपनी दीनता एवं पौरुषहीनता को अभिशाप मानकर किसी भी उपाय से, चोरी-चमारी, डकैती एवं लठैती करके भी सुखी रहना चाहते हैं। हाँ में हाँ मिलाना तथा भोले-भाले सज्जनों को वाक्प्रतारणा देकर ठगना उनका परमलक्ष्य है। भौतिक दृष्टि से वस्तुतः यही वर्ग अधिक सुखी रहता है—

पिबन्ति मधु पद्मेभ्यो भृंगाः केसरधूसराः।
हंसाः शैवालमश्नन्ति धिग्दैवमसमंजसम् ।१२॥[3]

उनको अपना वर्ग, अपने कार्य एवं अपनी धोखाधड़ी ही संसार की सर्वोत्तम वृत्ति प्रतीत होती है। अतः उनके समूह में घुसकर, कोई भी व्यक्ति उनको कोई नई राह सुझाने की बजाय स्वयं मूर्ख बन सकता है—

हंसोऽध्वगः श्रममपोहयितुं दिनान्ते कारण्डकाकबकभासवनं प्रविष्टः।
मूकोऽयमित्युपहसन्ति लुनन्ति पक्षान्नीचाश्रयो हि महतामवसानभूमिः॥१३॥[4]

कभी कभी तो ऐसे अवसर आते हैं कि साधारण, सत्यपथाश्रयी सज्जनों को कोई पूछता तक नहीं, किन्तु धूर्तगण उन्हें अपनी कैंची में फँसाकर पूजा तक करा लेते हैं—

---

१. पण्डितराज० पृ० १३३।
२. पण्डितराज, पृ० १६१।
३. सुभाषिता० पद्धति १६।
४. सुभाषिता० पद्धति १६।

नृत्यन्तः शिखिनो मनोहरममी श्रव्यं पठन्तः शुका
वीक्ष्यन्ते न त एव खल्विह रुषा वार्यन्त एवाथवा।
पान्थस्त्रीगृहमिष्टलाभकथनाल्लब्धान्वयेनामुना
सम्प्रत्यैतदनर्गलं बलिभुजा मायाविना भुज्यते॥१४॥[1]

ऐसे व्यक्तियों की उन्नति भले ही हो जाय, किन्तु समाज उनको तब तक उच्चपद नहीं दे सकता जब तक कि उनका पूर्णतः कायाकल्प न हो जाय। वैयक्तिक महात्म्य ही सामाजिक माहात्म्य की आधारशिला बनता है। अतः पाप की कमाई से अथवा धन-संपत्ति की ऊष्मा मात्र से कोई ओछा व्यक्ति खरा कहने वालों की जबान नहीं बन्द कर सकता। क्योंकि ज़रा सा भी स्खलन होने पर अकड़वेग आदमी मीठी-तीती सुनाने से भला कब चूकेंगे? वे तो स्पष्टतः कहेंगे—

क्षुत्क्षामेण कथं कथंचिदनिशं गात्रं कृशं बिभ्रता
भ्रान्तं येन गृहे गृहे गृहवतामुच्छिष्टपिण्डार्थिना।
अस्थ्नः खण्डमवाप्य दैवपतितं शून्यांत्रिलोकीमिमां
मन्वानो धिगहो स एव सरमापुत्रोऽद्यसिंहायते॥१५॥[2]

इन आलोचनाओं को सुनकर जो वास्तव में गौरवाभिलाषी हैं वे तो अपनी कमियों को दूर करके आत्म-सुधार कर लेते हैं किन्तु 'तृणवत् मन्यते जगत्' के पुजारियों पर इसका रत्तीभर प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि वे अपनी प्रवृत्ति के इतने अभिमानी हैं कि दूसरे की गुण-गणना करना भी उनके लिए ओछी वस्तु है। और यह ठीक भी है क्योंकि इस तरह उनका वैलक्षण्य तो अप्रतिहत रहता ही है और कुछ चाहे हो या न हो!

न कोकिलानामिव मंजु गुंजितं न लब्धलास्यानि गतानि हंसवत्।
न बर्हिणानामिव चित्रपक्षता गुणस्तथाप्यस्ति, बके बकव्रतम्॥१६॥[3]

अन्योक्तिवाङ्मय में समाज का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। कोई यह नहीं कह सकता कि समाज में रहने वाले अमुक खेड़े के व्यक्ति; अन्यापदेश के लक्ष्य नहीं बन सके हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, विधाता की सृष्टि में मनुष्य ही सर्वोत्तम प्राणी है। सांसारिक वृत्तियाँ उन्हीं पर प्रायः आधारित हैं। विचारशील एवं सवाक् न होने के कारण पशु-पक्षी आदि प्राणियों का मूल्य आपेक्षिक दृष्टि से नहीं के बराबर है। अतः उनको उपालम्भ अथवा प्रेरणा देना मूर्खता की निशानी है। तो क्या ऐसा करने वाले अन्यापदेशी कवि वैधेय ही थे? नहीं, वे अत्यन्त सभाचतुर व्यक्ति थे। इसी कारण प्रत्यक्ष व्यंग्य (Direct attack) न करके उन्होंने यद्यपि निरीह एवं बेजान पात्रों को ही अपना लक्ष्य बनाया किन्तु

१. भल्लटशतक, २१।
२. सुभाषिता० प० २९।
३. शार्ङ्ग० परि० ५१।

उस मार्मिक व्यंजना का पर्यवसान विचारशील पुरुषों में ही हुआ। ऐसा क्यों हुआ, इसकी पहले ही व्याख्या की जा चुकी है।

समाज के तीनों वर्गों की एक झाँकी देख लेने के बाद अब हमें उन विविध व्यक्तित्वों को भी देखना चाहिए जो त्रितयनिष्ठ हैं। जो समाज में कहीं भी, किसी भी वर्ग में और किसी भी समय में जन्म ले सकते हैं। प्रेमी-द्रोही, निन्दक-प्रशंसक, कृतज्ञ-कृतघ्न, उपकारी-अपकारी, सबल-निर्बल, मान्य-हेय, भले तथा दुष्ट—जाने कितनी कोटियों के व्यक्ति वैदिक युग से ही समाज में खपते रहे हैं। वस्तुतः 'समाज' का तो अर्थ ही यही है—'समम् अजन्ति जना अस्मिन्निति समाजः' अर्थात् जिसमें हर प्रकार के व्यक्ति, एक साथ चलें या रहें वही समाज है।

'घर का भेदिया लंकादाह' की ग्राम्योक्ति लोक में खूब प्रचलित है। कभी-कभी अपने ही भाई-बन्धु विनाश-पथ पर उतर जाते हैं और अन्ततः समस्त स्वर्गीयों को क्षार भी कर देते हैं। इसलिए, मनुष्य को स्वपक्षियों की ओर भी चौकन्ना ही रहना चाहिए। महाकवि भल्लट का अन्यापदेश, इस विषय में ठंडे पड़े व्यक्ति को भी गरम कर देता है—

अनीर्ष्याः श्रोतारो मम वचसि चेद् वच्मि तदहं
स्वजपक्षाद्भेतव्यं न तु बहु विपक्षात्प्रभवतः।
तमस्याक्रान्ताशे कियदिह न तेजोऽवयविनः
स्वशक्त्या भासन्ते दिवसकृति सत्येव न पुनः॥१७॥[1]

प्रत्येक बाप का यही स्वप्न होता है कि उसका बेटा लाखों में एक हो। लड़का स्वयं हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर एवं सुडौल है। किन्तु स्वास्थ्य, सुन्दरता तथा सुडौलता का यह तो अर्थ है नहीं कि लड़का अवश्य लायक होगा। जिन्हें अयोग्य एवं नालायक होना होता है उनका सुधार, अमरावती का भी वैभव नहीं कर सकता। फिर भी वात्सल्यभाव से आप्यायित पिता, पढ़ा-लिखाकर पुत्र के धनार्जन तक प्रतीक्षा करता ही है। और नालायक लड़का दो-चार पैसा कमाने लायक होकर भी उसे गुण्डे-बदमाशों की संगति में फूंक कर बाप की आशाओं पर पानी फेर देता है। उस पिता का हृदय यदि शब्दों में देखा जा सकता है तो अन्यापदेश प्रस्तुत है—

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्यं फलमपि च दैवात्परिणतं विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः॥१८॥[2]

और दूसरी ओर उस सुयोग्य भाई की विपन्न दशा द्रष्टव्य है, जिसने जीवन भर एक पैसा अपने ऊपर निष्प्रयोजन खर्च नहीं किया। उसकी सारी कमाई परिवार की ही समृद्धि पर खर्च हुई। आज दैवयोग से वह तपेदिक का मरीज हो गया अथवा वृद्ध हो गया तो वही परिवार के व्यक्ति ईश्वर से उसकी मौत के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। समाज में यह दुर्दान्त दृश्य घर-घर में देखने को मिल सकता है—

---

१. भल्लटशतक ९३।
२. वही० १०७।

ऊढा येन महाधुराः सुविषमे मार्गे सदैकाकिना
सोढो येन कदाचिदेव न निजे गोष्ठेऽन्यशौण्डध्वनिः।
आसीद्यस्तु गवां गणस्य तिलकं तस्यैव सम्प्रत्यहो
धिक्कष्टं धवलस्य जातजरसो गोः पण्यमुद्घोष्यते ॥१९॥[1]

समाज में जहाँ शारीरिक एवं नैतिक शक्ति की बलि देकर भी परोपकार करने वाले सम्मान्य व्यक्ति हैं, वहीं कौड़ी-कौड़ी को आँख की कनीनिका समझने वाले कृपण भी। किन्तु परोपकारी 'चन्दन' की भाँति है, वह चन्दन जो घिसा जाकर भी, विनष्ट होकर भी, पीसने वाले को ही अपनी सुगन्ध से संतृप्त कर देता है--

पाटीर तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्तुम्।
यत्पिंषतामपि नृणां पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः तुष्टिम् ॥[2]

और दूसरी ओर वे कृपण भी हैं, जो शरत्कालीन मेघ के समान, एक पैसा भी किसी याचक को नहीं दे सकते। कवि कहता है--

अन्ये ते जलदायिनो जलधरास्तृष्णां विनिघ्नन्ति ये
भ्रातश्चातक ! किं वृथात्र रटितैः खिन्नोऽसि विश्राम्यताम्।
मेघः शारद एष काशधवलः पानीयरिक्तोदरो
गर्जत्येव हि केवलं भृशतरं नो बिन्दुमप्युज्झति ॥२१॥[3]

इस प्रकार अन्योक्ति-वाङमय सैकड़ों प्रकार के व्यक्तियों का चित्र प्रस्तुत कर सकता है। इतना ही नहीं वरन् एक ही व्यक्ति की विभिन्न मनोदशाओं का विभिन्न रूप भी अन्यापदेश वाङमय में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत जन-विशेष की व्यंजना कराने वाले भ्रमर को लीजिए। यदि गुणी मनुष्य का मूल्यांकन मूर्ख करने बैठें तो निश्चय ही उसके गुण-समुच्चय मूल्यवान् नहीं सिद्ध होंगे, क्योंकि निर्णय निर्णायक की मनोवृत्ति के अनुकूल ही होता है। किन्तु इतने मात्र से ही गुणवान् को निराश नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि उसके हार्दिक हितैषी तो उसका वास्तविक स्थान निर्धारित करने के लिए हैं ही। कवि के शब्दों में—

कमलिनि ! मलिनीकरोषि चेतः किमिति बकैरवहेलितानभिज्ञैः।
परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥२२॥[4]

यहाँ भ्रमर को गुणग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे उसकी विवेक-बुद्धि स्पष्ट हो जाती है।

---

१. भल्लट० ८७।
२. भामिनीविलास—१।१२।
३. शारंग० परि० ४७।
४. भामिनी० १।८।

मनुष्य को सदैव विवेक से ही कार्य करना चाहिए। अपने वंश का गौरव तथा व्यक्तित्व का स्तर खो देने से फिर उसकी कोई महत्ता रह ही नहीं जाती। क्योंकि महत्ता का मूल कारण तो वैलक्षण्य ही है। ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य करके कवि कहता है—

आजन्मकल्पतरुकाननकामचारी यत्कौतुकादुपगतः कुटजं मिलिन्दः।
तत्कर्मणः सुसदृशं फलमेतदेव यत्प्राप साम्यमधुना मधुमक्षिकाभिः॥२३॥[1]

यहाँ भ्रमर को अविवेकशील के रूप में वर्णित किया गया है। अतएव कवि, मधुकर-वृत्ति वालों से बचने के लिए अथवा उनसे उपेक्षित होने पर भी कोई माख-मलाल न करने के लिए सब को सावधान कर देता है—

सकलगुणनिधानं मां विहाय द्विरेफाः परिमलपरिहीनं हन्त चुम्बन्ति धूर्त्तम्।
इति मनसिविषादंमाकृथाः चम्पकोच्चैरिह मधुपसमाजे को विवेकावकाशः॥२४॥[2]

यौवन की अँगड़ाई लेते ही, प्रायः मनुष्य को सबसे पहले प्रेम की ही भूख होती है। भौतिक उमंगों की मधुरकल्पना उठते ही वह किसी भी मूल्य पर अपनी ज्वाला की शान्ति चाहने लगता है। प्रेम का पंथ सर्वनिष्ठ होने के कारण थोड़ी उलझनों एवं झंझटों वाला भी होता है। किन्तु उस बाट का बटोही, उन शूलों को भी फूल सा ही समझता है। यह क्रम बढ़ता जाता है, तब तक, जब तक कि प्रेयसी से साक्षात्कार नहीं हो जाता—

त्वामालोक्य समागतः कथमसौ केलिक्रियाकोविदो
हित्वा कत्यपि काननानि दिवसप्रान्ते द्विरेफोयुवा।
त्वं त्वेनं समुदीक्ष्य पत्रनिकरानाकुंच्य यद्गोपनं
वक्त्रस्याशु करोषि पद्मिनि! न तद्युक्तं प्रतीमो वयम्।॥२५॥[3]

किन्तु वास्तविक प्रेम वही होता है जो महाकवि भवभूति के शब्दों में एकाध व्यक्ति को ही प्राप्त हो पाता है 'धन्यं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।' वह प्रेम मांसल नहीं होता वरन् दो स्निग्ध हृदयों की दिव्य मधुमय अनुभूतियों का एकीकृत-रूप होता है। चूंकि इसमें दो हृदय परस्पर विलीन होकर एक नवीन सत्ता का रूप धारण कर लेते हैं अतः वह आजीवन स्थायी होता है। किन्तु शारीरिक प्रणय, शरीर की रंचमात्र विकृति होते ही भग्न होने लगता है। प्रणयी, प्रेयसी की समस्त मनुहारें, क्षणभर में भूल जाता है—एक प्रमाण द्रष्टव्य है—

---

१. पण्डितराज०, पृ० १२३।
२. वही०, पृ० १४८।
३. भट्टवीरेश्वरकृत अन्योक्ति० पद्य ४४।

पीतमत्र मधु यापिता क्षपा भृंग ! सर्वमचिरेण विस्मृतम् ।
हीयमानसुषमां हिमागमे पद्मिनीं यदिह नावलोकसे ॥२६॥[१]

इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण में जहाँ भ्रमर को 'आदर्शप्रेमी' का रूप दिया गया था, अब उसे 'स्खलित प्रेमी' के रूप में उपस्थित किया गया है।

अतृप्ति की भावना ही व्यभिचार-सौध पर जाने का प्रथम सोपान है। मनुष्य जब कामान्ध एवं विवेकहीन बन जाता है तो उसे आत्मसम्मान, वंशमर्यादा एवं लोकमत की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। फिर तो वह कभी इस गली तो कभी उस गली, जैसे भी हो, अपनी वासना शान्त करने की धुन में तल्लीन हो जाता है। इस धुन का अंतिम परिपाक व्यभिचार में ही होता है, जिसका रूप इस प्रकार है—

'मधुकरगणश्चूतं त्यक्त्वा गतो नवमल्लिकां पुनरपि गतो रक्ताशोकं कदम्बतरुं ततः।
तदपि सुचिरं स्थित्वा तेभ्यः प्रयाति सरोरुहं परिचितजनद्वेषी लोको नवं नवमीहते ॥२७॥[२]

तब तक एक दिन ऐसा भी आता है जब व्यभिचार की भावना तो नहीं किन्तु शक्ति पूर्णतः विनष्ट हो जाती है और मनुष्य ठोकरें भी खाने लगता है। कोई सहानुभूति तक प्रकट करने वाला नहीं रह जाता—

मन्दारमेदुरमरन्दरसालसांगः स्वर्नागरीनयननन्दन एष भृंगः।
दैवादुपेत्य जगतीमगतिर्विषीदंश्छाखोटकोटरकुटीषु निलीय शेते ॥२८॥[३]

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अन्योक्ति-वाङमय में कवियों ने मनुष्यमात्र की प्रत्येक मानसिक अनुभूति तक पहुँचने का प्रयत्न किया है और सफल भी रहे हैं। भ्रमर को ही विवेकशील, अविवेकशील, प्रेमी, पथभ्रष्ट, व्यभिचारी एवं असहाय रूप में चित्रित किया गया है। ये पद्य स्पष्टतः इस रहस्य को संकेतित करने वाले हैं कि एक ही मनुष्य कई परिस्थितियों में उतने ही रूप धारण कर सकता है। किन्तु एक तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि मानव-जीवन के ये विभिन्न स्तर काल्पनिक नहीं हैं, वरन् समाज में पग-पग पर उनका अस्तित्व प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यथार्थवाद का जैसा समावेश इस वाङमय में प्राप्त होता है, वैसा 'भाणसाहित्य' को छोड़कर वस्तुतः अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। किन्तु अन्योक्ति का 'यथार्थवाद' व्यंजनाश्रयी होने के कारण जहाँ अधिक प्रभावशाली, संयमित एवं

१. भावविलास पद्य ४२।
२. शार्ङ्ग० परि० ४५।
३. पण्डितराज०, पृ० १२६।

मर्यादित है, वहाँ भाणों का यथार्थवाद बेहयाई-सा प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें सहृदय-सभाजनीय वर्णन-परिपाटी का आश्रय नहीं लिया गया है।

व्यक्ति एवं समाज की ही भाँति प्रकृति एवं प्रणय में भी सापेक्ष-सम्बन्ध है। किन्तु अन्योक्तियों में प्रकृति का वर्णन केवल उसके अप्रस्तुत-विधान में ही देखा जा सकता है, क्योंकि प्रस्तुतरूप स्वीकार करने पर तो उसका प्रकृतित्व विनष्ट ही हो जायगा और वे किसी न किसी आत्मानुकूल भाव के संकेत बन जायँगे। प्रकृति-वर्णन का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तीर्ण है जिसमें कि पशु, पक्षी, पर्वत, कानन, उपवन, तरु, कुंज, निर्झर, सरिता, सागर आदि सभी आ जायँगे। यह स्पष्ट है कि अन्योक्तिवाङमय का अप्रस्तुतविधान प्रायः इन्हीं प्राकृतिक उपादानों को आधार बनाकर विकसित हो सका है। प्रणय भी प्रकृति की ही गोद में पला है अतः उसे प्रकृति से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता है। एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा—

स्थित्वा क्षणं विततपक्षतिरन्तरिक्षे मातंगसंगकलुषां नलिनीं विलोक्य।
उत्पन्नमन्युपरिघर्घरनिःस्वनेन हंसेन साधु परिवृत्य गतं न लीनम्॥२९॥[1]

प्रेयसी से मिलने के लिए समुत्सुक राजहंस आकाशयात्रा करके कमलिनी के पास पहुंचता है। किन्तु उसे मतवाले गजराज द्वारा उपभुक्त देखकर एक ओर तो वह क्रोध से उद्दीप्त हो जाता है और दूसरी ओर उसकी प्रणय-पूरित आँखों से अविरल अश्रुधारा गिरने लगती है। प्रणयभंग होने पर, मनुष्य नवनीत की तरह कोमल हो उठता है अतः हंस के पक्ष में कमलिनी का यह वृत्तान्त पूर्णतः सत्य है। संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति न होगा जो प्रेयसी का शीलापहरण करने वाले पर आगबबूला न हो उठे और अपनी मनोवेदना का स्मरण करके रो न दे। अतः प्रस्तुत स्थल पर आँसू एवं घर्घरकण्ठ ये दोनों ही व्यभिचारी-भाव अंग-रूप हैं जिनसे परिनिष्ठित 'श्रृंगार' इस पद्य में 'रसपरिपाक' की सर्जना करता है।

किन्तु थोड़ी देर के लिए उस चित्र को याद करें कि 'कमलिनी' सरोवर के किनारे मुरझाई पड़ी है। हाथी ने उसके मृणालवलयों को खण्ड-खण्ड कर दिया है, कुछ पत्ते अर्द्ध-चर्वित दशा में पत्रवृत्त में ही लगे हैं और एक हंस अन्यमनस्कभाव से ऊपर आकाश में चंक्रमण कर रहा है। परन्तु जाने क्यों नीचे नहीं उतरता।' वस्तुतः इतना याद करते ही पद्य का भाव, साकार प्रकृति के अंग रूप में सामने उपस्थित हो जाता है।

उपवन में कुन्द-बकुल, साल, लंवगलता, प्रियंगु एवं आम—सब के सब पास ही पास विद्यमान हैं। मतवाला भौंरा गुंजार करता हुआ आता है, पहले कुन्दकली पर बैठता है परन्तु क्षणमात्र में ही उड़ जाता है। यों ही वह सभी फूलों पर मँडराता है, किन्तु कहीं भी स्थिर नहीं हो पाता, क्योंकि उसे तो कमल का मधुपान करना है। वह उसी के अन्वेषण में

---

१. शार्ङ्ग० परि० ४४।

विह्वल है। अतः वासन्ती सुषमा में अंग-प्रत्यंग विकसित कुन्दप्रभृति पुष्प भी उसे संतृप्ति नहीं दे पाते। प्रकृति का यह कोमल पक्ष अन्योक्ति में द्रष्टव्य है—

निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालबकुले न साले सालम्बे लवमपि लवंगे न रमते।
प्रियंगौ नो संगं रचयति न चूते विचरति स्मरल्लक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः॥३०॥[1]

आषाढ़ की प्रथम मूसलाधार वर्षा ही प्रचण्ड निदाघ से संतप्त पृथ्वी की छाती शीतल बना देती है। दो चार दिन बीतते ही खेत में पड़े मकाई के दाने उग आते हैं, बरगद में नवीन जटाएँ निकलने लगती हैं, वृक्षों में नयी कोपलों की बाढ़ आ जाती है, कन्द अँखुवा फोड़ने लगते हैं। सारा महीतल एक अद्भुत उत्साह एवं उछाह में डूब जाता है। किन्तु बेचारा पपीहा तब भी 'पी कहाँ' की रट लगाता हुआ, इस वृक्ष से उस वृक्ष पर कूदता ही रह जाता है। ग्रीष्मावसान का यह मनोहर चित्र शब्दों में द्रष्टव्य है—

बीजैरंकुरितं जटाभिरुदितं वल्लीभीरुज्जृम्भितं
कन्दैः कन्दलितं जनैः समुदितं धाराधरे वर्षति।
भ्रातश्चातक ! पातकं किमपि ते सम्यङ्न जानीमहे
येनास्मिन्न पतन्ति तावकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः॥३१॥[2]

रास्ते में एक गन्दी गलियारी के पास कूड़ा-करकट इकट्ठा है। भूख से व्याकुल कौवा चारों तरफ भक्ष्य की खोज करता हुआ, वहीं उतरता है। बड़े परिश्रम के बाद इकट्ठे कूड़े-करकट को छिन्न-भिन्न कर देने पर बेचारे को एक मरा चूहा मिलता है। अब उसी को पंजे में पकड़कर एकाक्ष काकमहाराज, काँव-काँव करते हुए पेड़ की कोटर में बैठकर इतने स्वाभिमान के साथ खा रहे हैं मानों कोई भयंकर युद्ध जीत कर लौटे हों। अब अपने को वह उतना ही पराक्रमी समझते हैं, जितना कि देवताओं से अमृतहरण करने के पश्चात् गरुड़ ने अपने को समझा होगा। प्रकृति का यह यथार्थ दृश्य देखिये—

रथ्यावस्करचत्वरावटबहिर्भूमावटन्नीक्षणं संचार्यैकमितस्ततो भ्रमिवशात्प्राप्यैकमाखुं मृतम्।
काकः पश्यत कोटरे कटु रटन् संग्रामभग्नामरप्रत्यक्षापहृतामृतेन समतां तार्क्ष्येण संश्लाघते॥३२॥[3]

इस प्रकार इन उदाहरणों से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि प्रकृति, अन्योक्तिवाङ्मय में अप्रस्तुतविधान की आधारशिला रही है। पूर्वाध्याय में विवेचित अन्योक्ति-विषयों की तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि मेधावी कवियों ने जागतिक सर्जना में विद्यमान छोटे से छोटे

---

१. सूक्तिमुक्ता० प० १९।
२. शार्ङ्ग० परि० ४७।
३. सूक्तिमुक्ता० प० १७।

एवं बड़े से बड़े, जीव अथवा निर्जीव को प्रस्तुतव्यंजना का माध्यम बनाया। प्रकृतिवर्णन के जो उद्धरण अभी तक दिए गए हैं वे अत्यन्त यथार्थ एवं स्वाभाविक हैं, साथ ही साथ वे प्रायः उसके कोमल-पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करते हैं जैसा कि महाकवि कालिदास को अभीष्ट था। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्यापदेशों में प्राप्त प्रकृति-वर्णन सर्वथा कल्पनाविहीन है, साथ ही साथ उसके कठोर-पक्ष से दूर हैं। वस्तुतः प्रकृति की कठोरता उसके विषय पर ही निर्भर है अतः हंस-कमल-कोकिल-चातक-चक्रवाक आदि पात्र जो प्रायः काव्य में कोमल भावों के ही उपकरण स्वीकार किये गये हैं, वे प्रकृति की कठोरता में सम्भवतः उतने सहायक न बन सकेंगे जितने कि सिंह, भालू, बाघ, अजगर आदि जो कि स्वभावतः खूंखार प्रवृत्तियों एवं यातनाओं के प्रतीक हैं। किन्तु अन्यापदेशवाङमय में इन समस्त प्राकृतिक उपादानों को समान अधिकार प्राप्त है। कुछ उद्धरणों से इस तथ्य की पुष्टि की जा रही है।

थोड़ी देर के लिए सिंह ने अपनी दहाड़ बन्द की कि सारे जंगल में कुहराम मच गया! खूंखार बनैले सुअर घुरघुराने लगे, मतवाले हाथी कमलों से व्याप्त रम्य सरोवरों को तहस-नहस करने लगे और जंगली भैंसे, समस्त वन को ही रौंदने लगे—कितना भयंकर दृश्य है—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पंचाननो वर्तते॥३३॥[१]

भयंकर मरुभूमि का वह रोमांचकारी दृश्य! जहाँ मीलों तक सिवाय सूनेपन के और कुछ नहीं दृष्टिगोचर होता। एक ओर कौवों की कर्णभेदी काँव-काँव तो दूसरी ओर विकृत वेष वाले उल्लूपक्षियों की घूत्कार! एक ओर गिद्धों की लम्बी कतार तो दूसरी ओर कंक पक्षियों का समूह। इस प्रकार समस्त वीरान मरुभूमि श्मशान सी ही प्रतीत होती है—

इतः काकानीतः प्रतिभयमितः कौशिकरुतादितो गृद्ध्रव्यूहः कुलमिदमितः कंकवयसाम्।
श्मशानावस्थेऽस्मिन्नखिलगुणवन्ध्ये हतमरावपि द्वित्राः केचिन्न खलु कलवाचः शकुनयः॥३४॥[२]

प्रकृति के ये दोनों कोमल एवं कठोर पक्ष, जिनका प्रतिनिधित्व काव्यसाहित्य में मुख्यतः कालिदास एवं भवभूति ने किया है, वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हैं। इनके अतिरिक्त भी प्रकृति के अनेक ऐसे रूप अन्योक्तिवाङमय में प्राप्त होते हैं जो कि न तो कठोर पक्ष से और न ही कोमलपक्ष से सम्बद्ध हैं क्योंकि उन्हें साकार रूप में देखने पर अथवा यों

---

१. सुभाषितावली प० ११।
२. सूक्तिमुक्ता० प० ३५।

कहा जाय कि उन वर्णनों को साधारणीकृत कर लेने पर भी मन में कोई भय अथवा शृंगार-भावना का उदय नहीं होता। वरन् उनको पढ़ते ही आश्चर्य-कौतूहल-सहानुभूति अथवा करुणा एवं जुगुप्सा का भाव उदित हो जाता है। रसपरिपाक के प्रसंग में इसका सविस्तर निरूपण किया जायगा।

पीछे प्रकृति एवं प्रणय का सापेक्ष सम्बन्ध बताया गया है। वस्तुतः प्रणय के उपादान अर्थात् नायक एवं नायिका जहाँ आलम्बन-विभाव बनते हैं वहाँ प्रकृति के उपादान उद्दीपन विभाव! इस प्रकार दोनों एक ही विभाव के दो भिन्न अंग होने के कारण अन्ततः एक ही साध्य के साधन सिद्ध होते हैं। अन्योक्तियों के सभी अप्रस्तुत-विधानों का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि उनमें प्रकृति एवं प्रणय का मंजुल सामञ्जस्य प्राप्त होता है। चूंकि अन्योक्ति किसी एक सीमित चारदीवारी में तो घिरी नहीं है, अतः उसके विषयों की विविधता होनी निश्चित है। जहाँ जिस प्रकार के पात्रों को लक्ष्य बनाया गया है वहाँ उसी के अनुकूल भाव अथवा रस की प्रतीति भी होती है। कभी-कभी एक ही उपादान को अनेक भावनाओं की व्यंजना का साधक बनाया जाता है, जैसा कि पीछे भ्रमरमात्र के उदाहरण से इस तथ्य की पुष्टि की जा चुकी है।

आदर्श दाम्पत्यप्रणय के लिए कवियों ने प्रायः हंस गजराज अथवा हरिण को ही चुना है, जब कि भ्रमर ठीक इसका उलटा अर्थात् 'व्यभिचारी' रूप में अंकित किया गया है। अन्योक्ति में विद्यमान यह प्रणय, केवल शृंगार रस के अर्थ में रूढ़ नहीं है, ऐसा हमें यहीं समझ लेना चाहिए। वरन् इसमें शृंगार रस के उभयपक्षों (सम्भोग एवं विप्रलम्भ) के अतिरिक्त, समस्त संचारी भावों—सात्त्विक भावों तथा वात्सल्य, सख्य एवं भक्तिप्रभृति स्निग्ध भावनाओं का भी सहयोग है। यद्यपि पशु-पक्षियों से सम्बद्ध होने के कारण इस रति-भाव को काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'आभास' की भी संज्ञा दी जा सकती है किन्तु वह बहुत उचित नहीं है। क्योंकि प्रकृतिपक्ष भले ही अन्योक्ति के अप्रस्तुतविधान तक सीमित हो, किन्तु रति का पर्यवसान तो हर हालत में प्रस्तुत पक्ष में ही होगा। कुछ उदाहरणों से इन तथ्यों की पुष्टि की जाती है।

पावस के दिन आ गए। काली-काली मेघमालाओं ने आकाश को आक्रान्त कर लिया, दिशाएँ भी धूलि-धूसरित सी प्रतीत होने लगीं। बेचारा राजहंस जिसने शरत् एवं ग्रीष्म के प्रत्येक दिन मुग्धा कमलिनियों के आँचल में बिताये, अब विवश होकर मानस की ओर प्रयाण करना चाहता है। किन्तु वह सरोवर, उसके वे किनारे, वे कमल, सब के सब बरबस उसे आकृष्ट कर लेते हैं। प्रेम के धागे, अत्यन्त कोमल होने पर भी टूट नहीं पाते। हंस बार-बार सरोवर के किनारे जाता है, प्रत्येक कमल पर अपना मुँह रखता है और प्रत्येक कमलिनी के पत्ते की छाँह में खड़ा हो जाता है। आँखों से सावन झरने लगता है, किन्तु विवश राजहंस चल ही पड़ता है। विप्रलम्भ शृंगार का यह चित्र अन्योक्ति रूप में दर्शनीय है—

गतमनुतटं पद्मे पद्मे निवेशितमाननं प्रतिकमलिनीपत्रच्छायं मुहुर्मुहुरासितम्।
नयनसलिलैरुष्णैः कोष्णाः कृता जलवीचयो जलदमलिनां हंसेनाशां विलोक्य गमिष्यता ॥३५॥[1]

उपर्युक्त उदाहरण में प्रणय का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसी की तुलना में भ्रमरों की प्रीति का एक उदाहरण देख लिया जाय। जब से भ्रमर ने जाती-पुष्प को देखा है, उसके सारे के सारे कार्य-कलाप, ताख पर रख उठे हैं। न वह नवमालिका को चाहता है, न मतवाले गजराज की कर्णपटी को और न ही वासन्ती-सुषमा से भरी अरण्यानी को ही। बस योगी की भाँति, रात दिन उसी की याद में खोया सा प्रतीत होता है—

नो मल्लीमयमीहते न भजते मत्तेभकुम्भस्थलीं वासन्तीं सहते न चन्दनवनीमालम्बते न क्वचित्।
जातीमेव हृदीश्वरीमिव महानन्दैककंदांकुरां ध्यायन्निर्वृतिमेति षट्पदयुवा योगीव वीतभ्रमः ॥३६॥[2]

किन्तु यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो भ्रमर द्वारा मल्ली, कुम्भस्थली एवं चन्दनवनिकादि का त्याग, स्पष्टतः इस तथ्य के प्रतीक हैं कि उसका प्रणय, हंस सरीखा शुद्ध-प्रणय न होकर केवल उसका आभास मात्र है। अतः हंस की अनुरागपद्धति में जहाँ ईश्वरीयता की गन्ध मिलती है, वहीं भ्रमर का कृत्रिम प्रेम व्यभिचारवृत्ति का पोषक सिद्धहोता हैं।

इस विस्तृत विषय को छोड़कर अब प्रणय-तत्त्व के कुछ गौण अंशों को भी देख लिया जाय। वात्सल्यरस को नौ रस मानने वाले आचार्यों ने शृंगार के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है जबकि दूसरों ने स्वतन्त्र रूप में। किन्तु शास्त्रीय विवाद में न पड़कर हमें स्वीकार करना चाहिए कि वात्सल्य-प्रेम भी सामान्य रतिभाव में ही अन्तर्भूत एक तत्त्व है, क्योंकि प्रेम में बाह्यदृष्टि से पात्रानुसार भले ही भेद हो किन्तु अन्तस्तत्त्व उन सबका एक ही होता है। इसी प्रकार, किसी व्यक्ति का माता-पिता से प्रेम अथवा माता-पिता का पुत्र से प्रेम (वात्सल्य) पत्नी से प्रेम (दाम्पत्य) मित्र से प्रेम (सख्य) भाई-बन्धु से प्रेम (भ्रातृत्व) मालिक (ईश्वर अथवा स्वामी) से प्रेम (दास्य) ये सब के सब एक ही सामान्य प्रेम में अन्तर्निविष्ट हैं अतः सब के सब एक ही रति स्थायीभाव के विभिन्न रूप हैं।

सारा जंगल प्रचण्ड दावानल में धू-धू करके जल रहा है। आग बढ़ती ही जा रही है, ठीक उसी ओर जहाँ बेचारी कबूतरी ने एक वृक्ष पर नीड़ बनाकर अण्डे दिये थे। अण्डे अब चूजों के रूप में कुलबुल मचाने लगे हैं। कपोती का मातृहृदय भग्न हो जाता है, वह क्या करे? कैसे अपने निरीह शिशुओं की रक्षा करे? बहुत आगा-पीछा सोचकर वह पास में

---

१. सूक्तिमुक्ता० प० १५।
२. शारंग० परि० ४५।

विद्यमान नदी की ओर भागती है और चोंच में पानी भर-भर कर उस हत्यारिणी दावाग्नि को बुझाने का प्रयास करती है। उसे अपनी वेदनाओं की तिलभर भी चिन्ता नहीं है। चित्र द्रष्टव्य है—

शावान् कुलायकगतान् परिपातुकामा नद्याः प्रगृह्य लघु चञ्चुपुटेन तोयम्।
दावानलं किल सिषेच मुहुः कपोती स्निग्धो जनो न खलु चिन्तयते स्वपीडाम्॥३७॥[1]

प्रस्तुत उदाहरण में यद्यपि जिन वृत्तियों का वर्णन किया गया है, वे वस्तुतः कभी सम्भव नहीं हैं, क्योंकि न जंगल में इस प्रकार की परस्परापेक्षिणी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न हो सकती हैं और न कपोती पानी से दावाग्नि ही बुझा सकती है। फिर भी इस पद्य का एकमात्र लक्ष्य, वात्सल्य प्रेम से सराबोर एक ममतामयी माँ का हृदय उपस्थित करना है। दूसरी बात यह कि अन्यापदेश-रूप होने के कारण कपोती-वृत्तान्त की सार्थकता में कोई 'ननु नच' नहीं उपस्थित किया जा सकता। इसी प्रकार। सख्य-दास्य एवं भ्रातृत्व' प्रेम के भी उदाहरण अन्योक्तिवाङ्मय में ढूंढे जा सकते हैं। दाम्पत्य एवं वात्सल्य का स्वरूप विवेचित हो चुका है।

अन्योक्तिवाङ्मय में विद्यमान व्यक्ति एवं समाज तथा प्रकृति एवं प्रणय के विविध स्वरूपों से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के जीवन में भी बड़ी विविधता है। है भी ऐसा ही! क्योंकि दिन-प्रतिदिन एक न एक नवीन परिस्थितियाँ जन्म लेती रहती हैं और पुरानी स्थितियाँ कोई न कोई स्थायी-अस्थायी अथवा ईषत्स्थायी परिणाम छोड़कर समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य नियति की डोरी में जकड़ा हुआ, अनायास जीवनपथ पर घसीटा जाता है। जीवन का यही वैविध्य अन्योक्तिवाङ्मय का प्रतिपाद्य है, क्योंकि इसकी यथार्थ व्याख्या के लिए ही अन्योक्ति जैसे साहित्य की सर्जना हुई है।

गुणी एवं निर्गुण दोनों ही व्यक्ति समाज के अंगभूत हैं, किन्तु दोनों का जीवन समाज में दो वर्गों का श्रीगणेश करता है। गुणी व्यक्ति का जीवन सर्वथा अनुकरणीय होता है। वह यदि समाज से सर्वथा पृथक् भी रहना चाहेगा तो ऐसा नहीं कर सकेगा। क्योंकि वह जहाँ ही रहेगा, उसके अनुयायीगण वहीं एक स्वतन्त्र-समाज की रचना कर देंगे। किन्तु इसके विपरीत गुणविहीनों को कोई पूछने वाला नहीं होता। कवि कहता है—

हंसा दूरतरं वसन्ति कुहचिद्देशे मृणालाशनाः
चातुर्यं सुगतत्वमत्र सुजना घुष्यन्ति तेषां सदा।
काकाः पुष्टतमाश्चरन्ति बलिभिः प्रत्यंगणं राविणः
तेषां दुर्गुणशालिनां गुणकथा का वा जनैः कथ्यताम्॥३८॥[2]

---

१. सुभाषितावली प० २९।
२. सूक्तिमालिका ६।१८०

यह तो हुआ गुणी एवं निर्गुण व्यक्ति का जीवन। अब, एक चाटुकार का जीवन द्रष्टव्य है जो जीवन भर मिथ्या-प्रशस्तियों से राजा की खुशामद करता रहा; किन्तु अन्त में जरा-सी त्रुटि हुई नहीं कि कान पकड़ कर निकाल बाहर हुआ। सिवाय लकड़ी काटने और बेचने के, उसके लिए अब जीवनयापन का कोई उपाय ही नहीं रहा। ऐसे विपन्न जीवन को आत्मभर्त्सना के रूप में यों देखा जा सकता है---

इन्द्रो यमोऽसि वरुणोऽसि हुताशनोऽसि ब्रह्मा हरो हरिशशीत्यसकृद्यदुक्तम्।
भूपालमौलिमणिरंजितपादपीठ ! तस्यानृतस्य फलमिन्धनमुद्वहामि [१]॥३९॥

प्रत्येक व्यक्ति प्रायः पूर्वजन्म के ही संस्कारों के अनुसार तदनुकूल वंश में उत्पन्न होता है तथा वैसी ही गुणसम्पदा प्राप्त करता है। एक ही माँ के पेट से उत्पन्न दो भाई रूप-विद्या-गुण एवं सम्पत्ति के माने में एक-दूसरे से अत्यन्त दूर होते हैं अतः दो सगे भाइयों का ही जीवन एक-दूसरे का आत्यन्तिक विरोधी तक हो सकता है। अतः निश्चित है कि संचित कर्मों का भोग प्रत्येक प्राणी को करना ही पड़ता है, चाहे वह पुण्यरूप हो अथवा पाप रूप। जीवन के वैषम्य का यही मूल कारण है। कवि के शब्दों में---

तुल्ये भूभृति जन्म तुल्यमुभयोर्मूल्यं च तुल्यं
वपुस्तुल्यं दार्ढ्यमुद्ग्रटंकदलनं तुल्यं च पाषाणयोः।
एकस्याखिलवन्दनाय विधिना देवत्वमारोपितं
तद्द्वारं विहिताऽपरस्य तु पदाघातास्पदं देहली [२]॥४०॥

मनुष्य चाहे कितने ही महान् वंश में उत्पन्न क्यों न हो किन्तु उसके वैपत्तिक व्यतिकरों में कोई हिस्सा नहीं बँटा सकता। जीवन का वह स्वरूप वस्तुतः दर्शनीय है कि सब सुखमय साधनों के रहते हुए भी मनुष्य विपत्ति का निवारण न कर सके। अतः निश्चित है कि जब पुण्य क्षीण हो जाते हैं तो किसी भी व्यक्ति को दुर्भाग्य के हाथों बिकना ही पड़ता है---

यन्माता विष्णुनाभिः पतिरपि च सुतो यस्य शास्ता प्रजानां
लक्ष्मीर्यत्संश्रयाभूद्यदपिकरतले भारती संबभार।
भानुर्यस्यास्ति मित्रं तदपि सरसिजं क्षीणमिन्दोर्मयूखै-
स्त्रातुं नैवोत्सहंते गतसुकृतफलं प्राप्तकालं सहायाः [३]॥४१॥

किन्तु भाग्य-दुर्भाग्य सब को अच्छी तरह जानता हुआ भी, अदूरदर्शी मानव दुनियाँ में अपनी ही चाल चलता है। उसे क्या पता कि समस्त भूमण्डल में उससे भी अधिक आदर,

---

१. प्रस्तावरत्नाकर ४।९।
२. वही० ४।३८।
३. वही०, ४।४६।

ऐश्वर्य एवं आभिजात्य वाले व्यक्ति होंगे। ऐसा जीवन 'कूपमण्डूकों' की ही भाँति होता है जिसमें स्वाग्रत-सम्पत्ति ही सर्वस्व होती है। कवि कहता है—

केऽमी दिक्करिणो रणोद्धरतरश्चेदस्मि कस्मिश्च वा
शक्तिस्तादृगिहास्ति यस्य न भयं जार्गाति मद्गर्जिते॥
एवं केवलमात्मनैव गुरुतामात्मन्यभिद्योतयन्
साहंकारमितस्ततो विहरते कूपोदरे दुर्दरः[1]॥४२॥

अज्ञान का पूर्वोक्त जीवन प्रायः बहुत कम सुधर पाता है। किन्तु अज्ञान की भी तो एक सीमा होती है। अतः जब वह अपनी सीमा को लाँघने लगता है तो असत्य, छल, प्रपंच, प्रतारणा एवं दम्भ सरीखे सहायक उसे प्राप्त होने लगते हैं और इन सब में सर्वाभिभावी सत्ता 'दम्भ' की ही रह जाती है। क्यों कि जहाँ दम्भ रहेगा वहाँ उसके समस्त कुटुम्बी अवश्य ही रहेंगे। आचार्य क्षेमेन्द्र के शब्दों में—

'लोभः पितातिवृद्धो जननी माया सहोदरः कूटः।
कुटिलाकृतिश्च गृहिणी पुत्रो दम्भस्य हुंकारः॥'
—(कलाविलास १।६४)

किन्तु दम्भपूर्ण जीवन का विनाश अवश्यम्भावी होता है। अधोलिखित अन्यापदेश से इसी भाव की व्यंजना होती है—

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकैर्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते[2]॥४३

दम्भ-भावना से समाच्छन्न व्यक्ति अपने उपकारियों को भी भूल जाता है। ऐसे कृतघ्नों का जीवन मृतक-तुल्य है। किन्तु दुख तो इस बात का है कि ऐसे व्यक्ति अपनी कमियों का स्वतः अनुभव कर नहीं पाते। उसी दम्भव्यापार में, उसी कृतघ्न वातावरण में उनका जीवन समाप्त भी हो जाता है, किन्तु दुनियाँ उस व्यक्ति के घृणित जीवन को यथाप्रसंग याद अवश्य करती है। आचार्य भल्लट का एक पद्य इसी प्रकार के जीवन का चित्र उपस्थित करता है—

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः स्कन्धे येन चिरं धृतोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि।
तस्यान्तःस्मितमात्रकेण जनयञ्जीवापहारं क्षणाद्भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेतालीलायसे[3]॥४४

---

१. अन्यापदेशशतक (मधुसूदनकृत) पद्य ३९।
२. सुभाषिता० प० २९।
३. भल्लटशतक पद्य १०२।

ऐसे कृतघ्न व्यक्ति यदि अपना पौरुष प्रदर्शित करने के बाद समाज से किनारा कस लें तब भी कुशल है। किन्तु वे तो इतने नीच एवं बेहया हो जाते हैं कि चोरी के बाद सीनाजोरी का भी उनका प्रयास निरन्तर चलता रहता है। वे जिस-जिस पत्तल में खायेंगे उसी में छेद भी करने का प्रयत्न करेंगे, यही कृतघ्नतामय जीवन की रौद्र-परिणति है। मेघ का दृष्टान्त देखिए—

यत्रोषितोऽसि चिरकालमकिंचनः सन्नर्णःप्रतिग्रहधनग्रहणाधमर्णः।
निर्लज्ज गर्जसि समुद्रतटेऽपि तत्र धृष्टोऽधमस्तव समो घन ! नैव दृष्टः[१]**॥४५॥**

अज्ञान, दम्भ, कृतघ्नता एवं बेहयाई की ही भाँति ईर्ष्या भी जीवन को एक विलक्षण रूप देती है। ईर्ष्यालु, व्यक्ति के स्वप्न इतने भयंकर एवं क्रान्तिकारी होते हैं कि यदि कहीं वे सत्य हो जायँ तो एक निकृष्ट जीवन की कुशल के पीछे समस्त संसार नष्ट हो जाय। किन्तु क्या ऐसे विनाशकारी स्वप्न कभी पूर्ण होते हैं? कभी नहीं। और चूंकि वे नहीं पूरे होते, इसीलिए ईर्ष्यालु व्यक्ति का एक-एक पल कुढ़न में, षडयंत्र में अथवा अन्तर्दाह में ही बीतता है। वस्तुतः ईर्ष्या का उद्भव 'अशक्तता' से होता है। जो व्यक्ति समर्थ होगा, पौरुषी होगा, उसके हृदय में स्पर्द्धा की तरंगें उठेंगी न कि ईर्ष्या की। स्पर्द्धा विध्यात्मक अथवा क्षेममूला है किन्तु ईर्ष्या उसी का निषेधात्मक रूप, साथ-ही-साथ विनाशमूलक है। जब मनुष्य किसी व्यक्तिविशेष की बढ़ोत्तरी देखकर, अपने को उसकी बराबरी करने में सर्वथा असमर्थ पाता है किन्तु अपने दुर्बल मनोभावों पर नियंत्रण नहीं कर पाता, तभी ईर्ष्या की आग प्रज्ज्वलित होती है। ऐसे व्यक्तियों को सुख नहीं ही मिल सकता—

इन्दुः प्रयास्यति विनङ्क्ष्यति तारकश्रीः स्थास्यन्ति लीढतिमिरा न मणिप्रदीपाः।
अन्धं समग्रमपि कीटमणे! भविष्यत्युन्मेषमेष्यति भवानिति दूरमेतत्[२]**॥४६॥**

रूप, भोजन, निवास, वृत्ति, प्रेयसी एवं मित्र—ये तत्त्व प्रत्येक मनुष्य को नियंत्रित करते हैं। इनकी पूर्ति एवं अपूर्ति, उपचय एवं अपचय, आगम एवं लोप, मनुष्य को कब क्या रूप देंगे, उसके जीवन को किस ढर्रे पर ले जायेंगे, यह कोई सफल दैवज्ञ भी स्पष्टतः नहीं बता सकता है। जिस व्यक्ति में इनका सन्तुलित सहयोग रहता है, वस्तुतः वही सुखी है। रूप के अभाव में आत्मग्लानि, भोजन के अभाव में चाकरी, चोरी, भिक्षाटन, निवास के अभाव में उच्छृंखलता, वृत्ति के अभाव में अवारागर्दी, प्रेयसी के अभाव में व्यभिचार तथा मित्र के अभाव में असहानुभूति के भाव उदित होते हैं और इसी कारण नियमित जीवन सैकड़ों अनजानी राहों से गुजरता है जो किसी भी रूप में लोकाभिनन्द्य नहीं होता है। इसके विपरीत सन्तुलन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. सुभा० प० २३।
२. सूक्तिमुक्ता. प० २०।

रूपं हारि मनोहरा सहचरी पानाय पाद्मं मधु
क्रीड़ा चाम्बु सरोरुहेषु वसतिस्तेषां रजो मण्डनम्ः।
वृत्तिः साधु मता बिसेन सुहृदश्चारुस्वनाः षट्पदा
सेवादैन्यविमाननाविरहितो हंसः सुखं जीवति।।४७।।

गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्टतः कहा है कि 'स्वारथ लाइ करहिं सब प्रीती।' मनुष्य कितना भी निष्काम क्यों न हो किन्तु कोई कामना तो हृदय में रहती ही है। महात्मा बुद्ध ने सम्भवतः सारी सिद्धियाँ जगत् के ही कल्याणार्थ प्राप्त की थीं। किन्तु उनका भी इसके पीछे एक स्वार्थभाव था। वह यह कि उनका धर्म युग-युग तक चलता रहे। इस प्रकार संसार का कोई भी प्राणी स्वार्थभावना से दूर नहीं है। वस्तुतः भूमण्डल में अवस्थित जितने भी सम्बन्ध हैं, उनकी आधार-शिला 'स्वार्थ' ही है। पिता पुत्र से कुछ आशा लगाये बैठा है तो पुत्र अपने पिता से। बहन, भाई से कुछ अपेक्षा रखती है तो भाई अपने मित्रों से। यहाँ तक कि स्वार्थी मनुष्य अपनी गाय, भैंस, बैल एवं खेतों से भी कुछ न कुछ आशा लगाये बैठा है। स्वार्थ की यह शृंखला उतनी ही बड़ी है जितनी कि वसुन्धरा की परिधि। इस स्वार्थ की प्रारम्भिक दशा प्रेममय, मध्यदशा ईर्ष्यामय और अन्तिम दशा विनाशमय होती है। अपने ही हाथों पाले गये बकरे को मांस-लोभी व्यक्ति काट डालता है। जार के साथ अमनचैन अक्षुण्ण रखने के लिए दुराचारिणी 'पति' तक को काट डालती है अथवा दैववश, चौर्यरत को देख लेने वाले उस 'पुत्र' को भी काट डालने में नहीं हिचकती, जिसे उसने नौ मास तक उदर में ढोया-सँजोया था। एक दृश्य देखने योग्य है। धान के पौधे अपने मालिक के प्रति कुछ कह रहे हैं—

येनस्मो जनिता वयं प्रतिदिनं स्नेहेन संवर्धिता
येनास्मांस्तृणपीडनादपि पुरा सोढुं न शक्तस्तु यः।
ज्ञात्वा सोऽप्यधुना फलस्य समयं छेत्तुं शिरो वांछति
क्रन्दन्तीव तुषारवाष्पविगलद्बिन्दूत्करैः शालयः[२]।।४८।।

किन्तु दुनियाँ स्वार्थी व्यक्ति से कम चालाक नहीं है। जब स्वार्थपरता की हाँड़ी फूटती है तो उसमें संचित द्रव्य बिखर कर समाज के सामने आ जाता है। और जब स्वार्थी व्यक्ति की सारी पोलपट्टियाँ सब की समझ में आ जाती हैं तब फिर उसका कोई भी अभियान सार्थक नहीं हो पाता। ठीक उसी प्रकार जैसे जूते के ऊपर बैठने वाला व्यक्ति जादूगर का सारा नकलपन जान लेता है वैसे ही समाज भी स्वार्थी का स्वार्थ जान लेता है—कवि कहता है—

---

१. सुभा० पृ० १६। २. सूक्तिमुक्ता० पृ० २४।

संरक्षितुं कृषिमकारि कृषीवलेन पश्यात्मनः प्रतिकृतिस्तृणपूरुषोऽयस्।
स्तब्धस्य निष्क्रियतयाऽस्तभियोऽस्य नूनमत्स्यन्ति गोमृगगणाः पुनरेव शस्यम्[१]।।४९।।

इसका अर्थ यह हुआ कि संसार की दुरवस्थाओं का सामना करने के लिए मनुष्य को द्वैध-जीवन का आश्रय लेना अनिवार्य है। क्योंकि बिना 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' का सहारा लिये धोखेबाजी से कोई पार नहीं पा सकता। अतः सच्चा संसारी व्यक्ति वही है जो अवसरानुकूल, अपनी प्रवृत्तियों को बदल सके। पड़ोसी यदि 'भैया' कहे तो उसे 'पिता' कहने को और यदि कंकड़ फेंके तो उसका गला तक घोंटने को तैयार रहे। अत्याचार के समक्ष विनय-प्रदर्शन स्वयं शास्त्रीय उपदेशों के विपरीत है। अतः समाज में इज्जतदार बनने के लिए आन्तरिक पक्ष का कोई सहयोग नहीं, केवल 'बाह्य' लोकानुकूल होना चाहिए ताकि संसार आपका लोहा मान सके—

भ्रातः कांचनलेपगोपितबहिस्ताम्राकृते ! सर्वतो
मा भैषीः कलशः ! स्थितो भव चिरं देवालयस्योपरि।
ताम्रत्वं गतमेव कांचनमयी कीर्तिः स्थिरा तेधुना
नान्तःसारविचारणप्रणयिनो लोका बहिर्बुद्धयः[२]।।५०।।

सम्भव है कि उपर्युक्त नियम एवं जीवन-पद्धति नीतिशास्त्र के अनुकूल न हो किन्तु तब भी जीवन-संग्राम में मनुष्य को अच्छा-बुरा सब करना पड़ता है। परिस्थितियाँ किसी को भी अनेक रूप दे देती हैं। कौमार्य, यौवन एवं वार्धक्य अवस्थाएँ मनुष्य को तीन विभिन्न संसार में रख देती हैं। यौवन में अपार बल रहने पर मनुष्य जाने कितनी योजनाएँ केवल अपने बूते पर संचालित करता है किन्तु बुढ़ौती आने पर अपनी ही पिपासा शान्त करने के लिए एक लोटा पानी तक नहीं ले पाता। जो व्यक्ति उसके सामने बैठ तक नहीं सकते थे, अब वही उसका मजाक उड़ाते हैं। यही संसार की व्यवस्था है। सिंह के व्यपदेश से इसी जीवनदशा का एक उदाहरण दिया जा रहा है—

यन्निद्रालसकण्ठनादकलिकां श्रुत्वैव दूरादितः प्रत्येकं सहि मूर्छया निपतितो गन्धद्विपानां गणः। तस्यैवाद्य मृगाधिपस्य पुरतः प्रोन्मुक्तचण्डस्वना निष्कम्पं विचरन्ति दर्दुरवसापानोन्मदाः-फेरवः[३]।।५१।।

किन्तु सत्संगति से जीवन में एक नया मोड़ आ जाता है। नदी-नाले के अस्पृश्य जल भगवती गंगा से मिलकर उतने ही पवित्र हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार मनुष्य, कभी

---

१. सुभाषिता० प० २९।
२. सूक्तिमुक्ता० प० ३६।
३. सदुक्ति० ४।३८।

तो मारा-मारा फिरता है किन्तु जब संयोगवश किसी महान् जन से भेंट हो जाती है तब उसके दिन लौट आते हैं। मारे-मारे फिरने वाले व्यक्ति नीच एवं गुणी दोनों ही हो सकते हैं। अतः सज्जन की संगति पाने पर भी उन दोनों के जीवन में बड़ा भेद हो जाता है। दुष्ट पुरुष को यदि सत्संगति के फलस्वरूप समृद्धि प्राप्त होती है तो वह घुणाक्षरन्याय से ही मानना चाहिए। कपूर में रखी हींग की तरह उनकी दुष्टता, हृदय का कार्पण्य एवं ओछापन कभी विनष्ट नहीं हो सकता। भले ही वे भौतिक चाकचिक्यों से उद्दीप्त हो जायँ—

यच्चाण्डालगृहांगणेषु वसतिः कौलेयकानां कुले जन्म स्वोदरपूरणं च विघसैर्न स्पर्शयोग्यं वपुः। तन्मृष्टं सकलं त्वयाद्य शुनक! क्षोणीपतेराज्ञया यत्त्वं कांचनश्रृंखलावलयितः प्रासादमारोहसि[१] ॥५२॥

नीच व्यक्तियों की समृद्धि स्थायी नहीं होती। क्योंकि उनका जीवन एक प्रकार से अनधिकृत सुखों का उपभोग करता है। अतएव सज्जनों का संगम छूटते ही वे पुनः पुरानी दशा को ही प्राप्त होते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि घण्टे दो घण्टे के लिए राजा की भूमिका निबाहने वाला नट, अभिनय के पश्चात् नटमात्र रह जाता है। कवि के शब्दों में—

मौलिः स्वर्णकिरीटकान्तिरुचिरः केयूरभव्यौ भुजौ
त्वद्भृत्याः किल कंचुकिप्रभृतयो देवेति विज्ञाप्यसे।
इत्थं कल्पनया कुशीलव! नृपाहंकारदार्ढ्यं वृथा
नृत्यान्ते भवतो भविष्यति मसीमात्रावशेषं वपुः[२] ॥५३॥

परन्तु नारी की स्थिति पुरुष से कुछ भिन्न होती है। अतः उसके समस्त गुण-दोष पुरुषों के ही समान होते हुए भी कुछ विलक्षण इसलिए हैं कि उनका कर्मक्षेत्र पुरुष की अपेक्षा सीमित ही है। सम्भवतः इसी कारण ईश्वर ने अधिकांश कोमल भावनाएँ उन्हीं को दी है क्योंकि घर की मर्यादित परिधि में रहने, पुरुष की प्रेरक शक्ति होने तथा मानवमात्र की जनयित्री बनने के कारण उन स्निग्ध भावों का समुचित परिपाक नारी के ही वात्सल्यपूर्ण आँचल में हो सकता है। अपने इसी व्यक्तिगत वैलक्षण्य के कारण नारी का जीवन पूर्वव्याख्यात जीवनविविधा से पूर्णतः व्यतिरिक्त होता है।

असहाय मृगी को एक क्रूर बहेलिया पकड़ लेता है और मृगी की आँखों से आँसू झरने लगते हैं। इसलिए नहीं कि उसे अपने प्राणों का मोह है, वरन् इसलिए कि उसका दुधमुँहा छौना, जो अभी इतना कोमल एवं अल्पवय का है कि घास को खोंटना भी नहीं

---

१. सदुक्ति० ४।४८।
२. शारंगधर० परि० ७१।

जानता, केवल माँ का दूध ही पीने का आदी है, कतराई आँखों से चरागाह से लौटती हुई माँ की ही डगर निहारता होगा। वह व्याध से कहती है—

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमंगान्मां मुंच वागुरिक! याहि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि घासकवलग्रसनानभिज्ञो मन्मार्गवीक्षणपरस्तनयो मदीयः[1]॥५४॥

नारी-जीवन का यही सर्वोत्कृष्ट रूप है। मातृ-हृदय का अनुपम आदर्श भी इसी पद्य में प्राप्त होता है। एक माँ अपने नवजात शिशु के लिए कितने बलिदान, कितने समर्पण कर सकती है, बस यही इस पद्य में द्रष्टव्य है, अन्यथा यह तो सहृदय जान ही सकते हैं कि यदि व्याध मृगी की अभ्यर्थना को स्वीकार करके उसका सारा मांस शरीर से निकाल ले और स्तनमात्र को छोड़ दे, तो भी बच्चों का कोई हित नहीं हो सकता। मृगी की यह उक्ति वस्तुतः नायिका के इस कथन की भाँति है—

कागा चुनि चुनि खाइयो सकल हाड़ औ मांस।
द्वै नयना मत खाइयो पिया मिलन की आस॥

उपर्युक्त विवेचनों से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि अन्योक्ति-वाङमय में 'मानव जीवन' के विविध रूपों का चित्रण किया गया है। यह विषय इतना विस्तृत है कि सैकड़ों पृष्ठ केवल जीवनवैविध्य के दृष्टान्तों से भर सकते हैं, किन्तु यहाँ गुण-दोष-चाटु-संचितकर्म-अज्ञान-दम्भ-कृतघ्नता-निर्लज्जता-ईर्ष्या-सौख्य-स्वार्थ तथा वात्सल्य आदि कुछ ही परिस्थितियों से युक्त जीवन का दिङमात्र निर्देश किया गया है। लाखों की संख्या में प्रणीत की गयी अन्योक्तियाँ मानव-जीवन की किसी-न-किसी घटना अथवा मार्मिक प्रसंग को लेकर ही प्रारम्भ होती हैं। अतः साररूप में यही कहा जा सकता है कि जनजीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जिसे अन्योक्ति ने आलोकित न किया हो।

\+ \+ \+

काव्यशास्त्रीय विवेचन का क्षेत्र-निर्धारण अध्यायारम्भ में ही हो चुका है। अतः तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में अन्योक्तिमात्र की सैद्धान्तिक परम्पराओं का आकलन कर लेने के पश्चात् अब आवश्यक है कि उसका विस्तृत-स्तर पर भी मूल्यांकन किया जाय। कहने का तात्पर्य यह कि चूंकि प्रख्यात अर्थ में अन्योक्ति अलंकारमात्र मानी गयी है। अतः उसके सैद्धान्तिक विवेचन का अर्थ, उसका आलंकारिक विवेचन हुआ। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि अलंकार संस्कृत काव्यशास्त्र के सामूहिक प्रतिपाद्य का एक अंगमात्र है। यदि इसी तथ्य को और विशिष्ट परिपाटी में कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि अलंकार काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध छः सम्प्रदायों में से अन्यतम है। इनमें से प्रत्येक सम्प्रदायाधिष्ठातृ-तत्त्व, स्वयं

---

१. सुभाषितावली पृ० १३।

को काव्य की आत्मा घोषित करता है। अलंकार के अतिरिक्त रीति, वक्रोक्ति, औचित्य रस एवं ध्वनि ये पाँच सम्प्रदाय और बचते हैं। इनके अतिरिक्त शब्दशक्तियाँ, गुण-दोष, एवं वृत्तियाँ भी काव्यशास्त्र के ही अंगविशेष हैं। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में उपर्युक्त पाँच सम्प्रदायों में से कुछ सम्प्रदायों के व्यवस्थापक आचार्यों का विवेचन करते समय अन्योक्ति पर उस सम्प्रदाय की भी दृष्टि से प्रकाश डाला गया है जोकि अलंकार रूप में अन्योक्ति को स्वीकार करते हैं। अतः प्रस्तुत विवेचन द्विरुक्तियों का परिहार करते हुए अत्यन्त संक्षेप में सम्पन्न होगा।

संस्कृतकाव्यशास्त्र में भाषा के आधारभूत तत्त्व, शब्द एवं अर्थ पर अत्यन्त उच्च स्तर का चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। मीमांसा, दर्शन एवं व्याकरणशास्त्र भी शब्द एवं अर्थ की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जैसाकि स्फोटवाद, अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधान के सिद्धान्तों से सुस्पष्ट है। मनुष्य, कुछ भाव द्योतित करने के लिए ही उसके अनुकूल शब्दों का प्रयोग करता है। जब हमें अक्षरांकित, कतिपय पन्नों वाली पुस्तक माँगनी होती है तो हम 'पुस्तक' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु यह विचारणीय प्रश्न है कि पुस्तक शब्द का ही प्रयोग हम क्यों करते हैं? क्यों नहीं लोटा माँगने पर कोई व्यक्ति पुस्तक को ही देता है। अस्तु यह तो एक साधारण-सी बात है जिसका निदान अभी स्पष्ट कर दिया जायेगा। किन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य हमें तब होता है जबकि (लक्षणा में) किसी विशिष्ट अर्थ को द्योतित करने के लिए हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उन शब्दों का प्रख्यात अर्थ उस विशिष्ट अर्थ से पूर्णतः भिन्न होता है फिर भी वैसा प्रयोग करने से आता है वही असम्बद्ध विशिष्ट अर्थ। हमारा आश्चर्य उस समय तो पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, (व्यञ्जना में) जब हम कहते कुछ और हैं किन्तु उसके एक नहीं वरन् सैकड़ों ऐसे अर्थ निकलने लगते हैं जिनका कि प्रयुक्त शब्दों से न तो कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है और न कोई साम्य।

वस्तुतः इन्हीं कुतूहलों की शान्ति के लिए समस्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में शब्दार्थ का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक माँगने पर ही पुस्तक रूप वस्तुविशेष इसलिए प्राप्त होती है कि उन दोनों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध प्रयोग-परम्परा अथवा रूढ़ि पर आधारित होता है। शब्द एवं अर्थ के बीच विद्यमान, इसी निश्चित सम्बन्ध को काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'संकेत' कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शब्द उच्चारण किये जाने पर अपने किसी संकेतित अर्थ का ही बोध कराता है। उदाहरणार्थ जल शब्द द्रव रूप एक अर्थ-विशेष का, गाय शब्द सास्नादियुक्त एक चतुष्पद पशु-विशेष का इत्यादि। काव्यशास्त्र में इसी संकेतित अर्थ की जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य (यदृच्छा) ये चार कोटियाँ बतायी गयी हैं।[1]

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, द्वितीयोल्लास।

शब्द एवं अर्थ के बीच विद्यमान यह संकेत-सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है—साक्षात् तथा असाक्षात्। जब कोई शब्द साक्षात् रीति से अपने संकेतित अर्थ का बोध कराता है तब वह उस अर्थ का वाचक कहा जाता है और वह अर्थ भी वाच्य कहा जाता है। असाक्षात् रीति से अर्थावबोध कर लेने पर शब्द या तो लाक्षणिक होता है अथवा व्यंजक और इसी प्रकार उनका अर्थ भी या तो 'लक्ष्य' होता है अथवा 'व्यंग्य'। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शब्द तीन प्रकार का होता है--१. वाच्यार्थ-बोधक वाचक शब्द, २. लक्ष्यार्थ-बोधक लाक्षणिक शब्द एवं ३. व्यंग्यार्थ-बोधक व्यंजक शब्द। किन्तु यह रहस्य जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि वाचकादि शब्दों द्वारा वाच्यादि त्रिविध अर्थों का बोध बिना किसी प्रक्रिया के ही नहीं हो जाता, वरन् उन तीनों ही अर्थ-बोधों में शब्द की तीन बलवती शक्तियाँ काम करती हैं। इन्हीं शब्दशक्तियों को क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना कहते हैं।

अभिधा शक्ति की प्रक्रिया में शब्द द्वारा किसी साक्षात् संकेतित अर्थ का 'अभिधान' या 'कथन' होता है। इसमें शब्द वाचक तथा उसका अर्थ वाच्य-रूप होता है। आचार्य मम्मट स्पष्टतः कहते हैं--'साक्षातसंकेतितं योर्थमभिधत्ते स वाचकः' अर्थात् वाचक शब्द वही है जो (१) साक्षात् संकेतित अर्थ का ही अभिधान करे न कि संकेतित मात्र का। क्योंकि 'कर्मणि कुशलः' आदि रूढ लक्षणा के उदाहरण में, कुशल शब्द (कुशांल्लातीति कुशलः) कुशाहरणपरक अर्थ का बोधक होते हुए भी चतुर अर्थ में रूढ़ हो चुका है। अतः 'कुशल' शब्द का साक्षात् संकेत भी रूढ़ि के बल से चातुर्यपरक अर्थ में होता है। किन्तु उसका पूर्व-संकेत तो कुशाहरणपरक अर्थ में है ही। इस प्रकार कुशल शब्द का संकेतित अर्थ दो प्रकार का हुआ—साक्षात् एवं असाक्षात्। 'कर्मणि कुशलः' में 'कुशल' शब्द का तात्पर्य उसके व्युत्पत्ति-परक अर्थ 'कुश लाने' में तो निहित है नहीं। अतः जब कुशाहरणपरक अर्थ उस प्रसंग में अयुक्त सिद्ध हो जाता है तब लक्षणाशक्ति के बल से 'चातुर्यपरक' उसका एक नवीन अर्थ उदित हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूढ़ लक्षणा में प्रत्येक शब्द के संकेतित अर्थ दो प्रकार के होते हैं—एक तो साक्षात् संकेतित जो रूढ़ि से उत्पन्न हो जाता है और दूसरा असाक्षात् या परम्परया (व्युपत्त्या) संकेतित। किन्तु प्रयोग की वेला में कुशल शब्द का भाव उसके साक्षात् संकेतित अर्थ 'चतुर, में ही निहित होता है। अतः कुशल शब्द चातुर्यपरक अर्थ का ही वाचक है। किन्तु यदि साक्षात् पद को हटा कर केवल संकेतितार्थ का अभिधान करने वाले शब्द वाचक मान लिये जायँ तो फिर कुशलप्रभृति शब्द अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थों के वाचक बन जायँगे और इस प्रकार रूढ़ लक्षणा की स्थिति ही संकटापन्न हो जायगी।

(२) किन्तु कुछ विद्वानों ने वाचक पद की एक और विशेषता बताई है। वे साक्षात् पद को संकेतित अर्थ का विशेषण न मान कर क्रियाविशेषण रूप में ही स्वीकार करते हैं—साक्षात् यथा स्यात्तथाऽभिधत्ते। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में हम देखते हैं कि पद्य के दो अर्थ होते हैं। क्यों? क्योंकि उस पद्य में प्रयुक्त समस्त शब्द श्लिष्ट होते हैं। अतः उन शब्दों का संकेत भी उन दोनों ही अर्थों में होता है, उदा० काव्यप्रकाश में उद्धृत पद्य 'भद्रात्मनो दुरधि-

रोहतनोर्विशाल' इत्यादि में राजा एवं हस्तीपरक दोनों ही अर्थ प्रस्तुत होते हैं। किन्तु अभिधान राजपरक अर्थ का ही होता है न कि गजपरक अर्थ का। प्रश्न यह है कि जब दोनों अर्थ संकेतित हैं तब आखिर एक ही अर्थ क्यों प्रस्तुत या वाच्य होता है दूसरा नहीं? इसका उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों पर उस पद्य का एक अर्थ 'प्रकरणादि' दश उपायों द्वारा किसी एक ही अर्थ में नियंत्रित हो जाता है और इसी नियंत्रण के कारण पद्य के समस्त शब्द भी उसी अर्थ का साक्षात् अभिधान करते हैं। पद्य का दूसरा अर्थ साक्षात् अभिहित न होकर व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है। इस प्रकार निश्चित है कि यदि अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग में साक्षात् अभिधान का नियम न स्वीकार किया जाय तो फिर दूसरा संकेतित अर्थ भी वाच्य बन जायगा और तब व्यंजना की स्थिति ही विनष्ट हो जायेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूढ़ लक्षणा एवं अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में अभिधा की मान्यता को अप्रतिहत रखने के लिए साक्षात् पद का दुहरा प्रयोग अनिवार्य है। शब्द की यही शक्ति अभिधा कही जाती है—अभिधीयते (न तु लक्ष्यते व्यज्यते वा) अनया इत्यभिधा अर्थात् जिसके द्वारा कुछ अभिधान या कथन किया जाय। अन्योक्ति में अभिधा होती है या नहीं? यह प्रश्न ही उठाना मौढ्यसूचक है, क्योंकि बिना अभिधा के तो त्रैलोक्यगत कोई भी शब्दार्थ-प्रक्रिया सम्भव नहीं। यहाँ तक कि लक्षणा एवं व्यंजना का आधारस्थल भी अभिधा ही है। अतः यह प्रश्न हमें उठाना चाहिए कि अन्योक्ति में अभिधा का क्या स्थान है?

अन्योक्ति में जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत व्यंग्य की प्रतीति होती है। अतः अभिधा एवं व्यंजना का अस्तित्व तो बिना कहे ही स्वीकार कर लेना चाहिए। अन्योक्ति में वक्ता ऐसी शब्दावली का प्रयोग करता है कि उसका एक ही अर्थ होता है जो कि अभिधा शक्ति से प्राप्त होता है। किन्तु वह अर्थ वक्ता का अभीष्ट नहीं होता। वस्तुतः उसका अभीष्ट अर्थ तो कुछ और ही होता है जो कि इतिवृत्तसाम्य के कारण व्यंजनाशक्ति से आक्षिप्त होता है। इस प्रकार अन्योक्ति का प्रसंग रूढ़-लक्षणा एवं श्लेषध्वनि से सर्वथा व्यतिरिक्त है। श्लेषध्वनि के विषय में चतुर्थ अध्याय में प्रभूत तथ्य उपस्थित किया जा चुका है। एक उदाहरण लीजिए—

वेतण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यपरिपन्थिना ।
हरिणा हरिणालीषु कथ्यतां कः पराक्रमः ॥५५॥[1]

इस पद्य में कोई श्लेष अथवा रूढ़ि नहीं है कि किसी एक अर्थ के प्रकरणादि द्वारा नियंत्रित अथवा लक्षणया प्राप्त होने का प्रसंग उठे। अतः प्रत्येक शब्द अपने संकेतित अर्थ का बोध कराता है जिससे कि सिंहपरक एक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यहाँ तक सारा कार्य अभिधा शक्ति कराती है। किन्तु इस पद्य का प्रयोक्ता यह नहीं जताना चाहता कि लोग सिंहपरक

---

१. भामिनीविलास १।६२।

वृत्तान्त को ही अन्तिम जान लें। वरन् वह तो अपने एक परम बलशाली मित्र की ओर इंगित करना चाहता है जो कि अपार शौर्य रहते हुए भी निर्बलों के प्रति दाक्षिण्य वरतता है। यहाँ मित्रपरक उपर्युक्त अर्थ का इतिवृत्त ठीक सिंह की ही भाँति है और वही अर्थ वक्तृसंरम्भगोचर भी है। अतः जब वक्ता उपर्युक्त श्लोक कहता है तब तुरन्त अभिधा शक्ति उसका सिंह-परक अर्थ उपस्थित कर देती है परन्तु जब उस अभिधा में वक्ता का अभीष्ट अभिप्राय विश्रान्त या पर्यवसित नहीं होता तब उसी इतिवृत्त-साम्य के कारण व्यंजनाशक्ति मित्र-परक अर्थ उद्भासित करने लगती है।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि १. अभिधा शक्ति ही अन्योक्ति की आधार शिला है। यदि वह न होगी तो अप्रस्तुत वाच्य न होगा और न अप्रस्तुत-प्रशंसा या अन्योक्ति संज्ञा ही सार्थक होगी। २. दूसरी बात यह कि अभिधा के न होने पर वक्ता के अभिप्राय का अपर्यवसान भी असम्भव होगा, उस दशा में व्यंग्य प्रस्तुत की कल्पना भी नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि इस युक्तिजाल की आवश्यकता ही क्या है? हम वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से ही अभिधा द्वारा कोई भावव्यंजना करा लेंगे? तो इसका उत्तर यह है कि ठीक है, तब आप गेहूँ रूप एक ही अन्न से बनी रोटियों एवं पूड़ियों को भी एक ही मान लेंगे। क्योंकि भोजन तो दोनों ही हैं! फिर घी जलाने और कड़ाही चढ़ाने से क्या लाभ? वस्तुतः यह प्रश्न उठाना ही मूर्खता है। हर एक पदार्थ का अपना पृथक् वैशिष्ट्य होता है। अतएव अन्योक्तिरीति से प्राप्त व्यंजना की बराबरी न तो अभिधामूला शाब्दी व्यंजना ही कर सकती है और न आर्थी व्यंजना ही।

'लक्षणाशक्ति' (The power of Indication) तथा व्यंजनाशक्ति (The power of Suggestion) की आधारशिला अभिधाशक्ति (The power of Expression) है। जब वक्ता द्वारा कहा गया कोई मुख्यार्थ (अभिधेय अर्थ ही मुख्य होता है, जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते' का० २।८) बाधित हो जाता है किन्तु उसी मुख्यार्थ से सारूप्य, सामीप्य, समवाय, वैपरीत्य अथवा क्रियायोग[1] किसी भी अन्यतम विधि से यह प्रक्रिया पूरी होती है वहीं 'लक्षणा' है।[2] कोई व्यक्ति अपने मित्र से उसके गाँव की स्थिति पूँछता है तो वह उत्तर देता है कि 'मित्र! गंगायां (मे) घोषः अर्थात् गंगा में ही मेरा गाँव है। किन्तु यदि हम इस वाक्य के वाच्यार्थ पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि यह कथन 'युक्तियुक्त' नहीं है क्योंकि गंगा की धारा में तो गाँव टिक नहीं सकता। अतः निश्चित ही इस कथन के पीछे वक्ता का कोई गूढ़ अभिप्राय अवश्य तिरो-

---

१. अभिधेयेन सारूप्यात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पंचधा मता।

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥—काव्यप्रकाश २।९।

हित है। यह गूढ़ाभिप्राय या तो रूढ़िरूप होता है या फिर प्रयोजनरूप। 'कर्मणि कुशल:' में कुशल शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बाधित होने पर चातुर्यपरक अर्थ रूढ़ि के ही कारण लक्षित होता है। इसी प्रकार 'गंगायां घोष:' में धारा में घोषस्थिति असम्भव होने पर उसका 'गंगा तटेघोष: रूप अर्थ' प्रयोजन-विशेष के कारण ही प्रस्तुत होता है। और वह प्रयोजन है ग्राम का शैत्यपावनत्वादि धर्म। इस प्रकार 'लक्षणा' में बाधित मुख्यार्थ द्वारा एक अमुख्यार्थ लक्षित होता है जो कि आरोपित साथ ही साथ व्यवधानयुक्त होता है।

अन्योक्ति की संवैधानिक प्रक्रिया में यद्यपि 'लक्षणा' शक्ति बहुत प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि व्यंजना के समक्ष उसे महत्व देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भावाभिव्यक्ति की इस परिपाटी में लक्षणा का कोई स्थान नहीं। प्रत्युत सत्य तो यह है कि यदि हम पृथक् विवेचन करना चाहें तो अन्योक्ति-पद्यों में पद-पद पर 'लक्षणा-व्यापार' प्राप्त होगा। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में क्रमश: आचार्य कुन्तक एवं सम्बन्धत्रय के स्वरूप का हवाला देते हुए यह प्रमाण दिया जा चुका है कि वक्रोक्ति-जीवितकार लक्षणा को भी अन्योक्ति का प्रयोजक-तत्व मानते थे। इन्दुर्लिप्त इवांजनेन प्रभृति पद्य में उन्होंने स्पष्टत: विपरीत लक्षणा स्वीकार करते हुए उसे अप्रस्तुत प्रशंसा के रूप में स्वीकार किया है।

वस्तुत: सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति में निर्जीव पदार्थों एवं पशुपक्षियों के संवादों को ही अप्रस्तुतवाच्य के रूप में ग्रहण करने के कारण उनका बाधितत्व तथा उसी से सम्बद्ध एक अन्य अर्थ का लक्षितत्व—ये दोनों ही तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हैं। किन्तु तब भी अन्योक्ति में 'लक्षणा' का पृथक् अस्तित्व माना नहीं जाता। क्योंकि लक्षणा का उदय केवल तभी संभव है जब वाच्यार्थ बाधित या असिद्ध हो जाय, जैसे गंगा की धारा में घोष की स्थिति। साथ ही साथ उसी बाधित अर्थ से, पूर्वोक्त पाँच सम्बन्धों में से किसी एक द्वारा सम्बद्ध कोई रूढ़ि अथवा प्रयोजनपरक अर्थ लक्षित हो। अन्योक्ति में पहली बात तो यह है कि वाच्यार्थ का बाधित होना आवश्यक नहीं है। वह सम्भव, असम्भव तथा सम्भवासम्भव किसी भी प्रकार का हो सकता है।[१] अन्योक्ति का सर्वोत्कृष्ट वैशिष्ट्य है, अप्रस्तुत एवं प्रस्तुत के इतिवृत्त का साम्य। इन दोनों इतिवृत्तों में या तो कार्यकारण या सामान्यविशेष या फिर सारूप्यसंबंध होता है। लक्षणा में ये प्रक्रियाएँ पूर्णत: असम्भव हैं। दूसरी बात यह कि—लक्षणा में केवल प्रयोजनवती लक्षणा ही सव्यंग्य होती है, रूढ़ लक्षणा नहीं।[२] किन्तु अन्योक्ति में प्रस्तुतपक्ष सर्वदा व्यंग्य ही रहता है।

निष्कर्ष यह है कि लक्षणा में एक ही इतिवृत्त बाधित होकर रूढ़ि अथवा प्रयोजनवश एक दूसरे रूप में प्रकट हो जाता है किन्तु अन्योक्ति में 'अप्रस्तुत-इतिवृत्त' की सत्ता अप्रस्तुत के साथ समाप्त हो जाती है। किन्तु चूँकि वक्ता का भाव उसमें पर्यवसित नहीं हो पाता, अत:

---

१. द्रष्टव्य—शोध ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय।

२. व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने—काव्यप्रकाश २।१३अ।

उसी के समान दूसरा इतिवृत्त व्यंजनया प्रतीत होता है। अर्थ के लक्षित होने एवं प्रतीत होने में मौलिक भेद है। अतः सिद्ध है कि अन्योक्ति में लक्षणा का स्वतंत्र स्थान अपेक्षाकृत कम है और जहाँ है भी वहाँ वह व्यंजना का उपस्कारक मात्र है। आचार्य मम्मट ने लक्षणा के भेद-प्रभेदों का विस्तृत निरूपण काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में किया है जो इस पार्थक्य की दृष्टि से द्रष्टव्य है।

व्यंजनावृत्ति के विषय में अधिक नहीं कहना है क्योंकि यह शब्दशक्ति इतनी विलक्षण है कि इसके विषय में कोई आपत्ति उठाई ही नहीं जा सकती है। 'गंगायां घोषः' लक्षणा के इस उदाहरण में पीछे बताया जा चुका है शैत्यपावनत्वरूप एक प्रयोजन वहाँ अवस्थित है। किन्तु इस प्रयोजन का ज्ञान हमें होता कैसे है? अभिधा द्वारा? नहीं, क्योंकि तटादि में प्रतीत होने वाले शैत्यपावनत्वादि धर्म गंगा पद के संकेतित अर्थ तो हैं नहीं अतः संकेत मात्र में सम्भव अभिधा-शक्ति किसी भी दशा में यहाँ चरितार्थ न होगी। इसी प्रकार 'शैत्यपावनत्व' का ज्ञान हमें 'लक्षणा' द्वारा भी न होगा क्योंकि लक्षणा होने की तीन प्रमुख शर्तें हैं १. मुख्यार्थ का बाध २. मुख्यार्थ से योग (सारूप्यादि सम्बन्धों द्वारा) तथा ३. रूढ़ि अथवा प्रयोजन। किन्तु शैत्यपावनत्व के ज्ञान में लक्षणा की उपर्युक्त कोई भी शर्त पूरी नहीं होती। 'गंगायां घोषः' में तो जलधारा में घोषस्थिति असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ-बाध, तटस्थिति रूप सामीप्ययोग और शैत्यपावनत्व रूप प्रयोजन तीनों विद्यमान थे। किन्तु अब यदि आप उस प्रयोजन को भी लक्षणा से ही जानना चाहते हैं तो आवश्यक है कि 'गंगा तटे घोषः' में 'तट' शब्द गंगा शब्द का मुख्य अर्थ हो, वह बाधित भी हो। शैत्यपावनत्व का तट से कोई सम्बन्ध भी हो। और सबसे बड़ी बात तो यह कि पुनः कोई नवीन प्रयोजन हो।

किन्तु शैत्यपावनत्व के ज्ञान में त्रिस्थूणा लक्षणा की कोई भी शर्त पूरी नहीं होती। क्योंकि 'तट' गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ है, मुख्यार्थ नहीं। इसका बाध भी नहीं है क्योंकि गंगातट पर तो गाँव हो ही सकता है। हाँ, धारा में गाँव नहीं हो सकता। तट का लक्षणीय पावनत्वादि से कोई सम्बन्ध भी नहीं और न इस प्रयोजन के लक्ष्य बनने में कोई अन्य प्रयोजन ही है। थोड़ी देर के लिए यदि कोई प्रयोजन मान भी लिया जाय तो फिर उसका भी प्रयोजन, उस प्रयोजन का भी प्रयोजन, इस प्रकार शृंखला बढ़ती जाने से अनवस्था दोष होगा।[1] इस प्रकार सिद्ध है कि प्रयोजनभूत उस शैत्यपावनत्व का ज्ञान अभिधा लक्षणा से सर्वथा व्यतिरिक्त किसी अन्य शब्दशक्ति से ही होगा। वही शब्दशक्ति व्यंजना कही जाती है।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजनरूप में विद्यमान व्यंजना लक्षणामूला कही जाती है। इस व्यंजना के दो प्रमुख वैशिष्ट्य हैं—एक तो यह कि इसमें सर्वदा कोई न कोई वस्तु ही व्यंग्य होती है और दूसरा यह कि वह व्यंजना सदा शाब्दी ही होती है आर्थी नहीं। इसके विपरीत अभिधामूला व्यंजना शाब्दी एवं आर्थी दोनों ही प्रकार की होती है। श्लेष-

१. एवमप्यनवस्था स्यात्सा मूलक्षयकारिणी॥ काव्यप्र० २।१७अ।

मूलक सारूप्यनिबन्धना अन्योक्ति इसी अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के समान होती है, जिसके साम्य-भेद एवं औचित्य का सविस्तर निरूपण चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है।[१] अतः अन्योक्ति में व्यंजना के स्थान-निर्धारण की अब कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

\+ \+ \+

अन्योक्ति वाङमय में गुण-दोष एवं अलंकार-विवेचन के प्रसंग में यह सूचना दे देनी अपेक्षित है कि तृतीय एवं चतुर्थ इन पूरे दो अध्यायों में अन्योक्ति के अलंकारत्व का सविस्तर व्याख्यान किया जा चुका है। अतः प्रस्तुत स्थल पर केवल गुणों एवं दोषों पर ही थोड़ा प्रकाश डाला जायेगा। इन तत्त्वों की सोदाहरण व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी।

संस्कृत काव्यशास्त्र में गुणों का विवेचन अत्यन्त जटिल एवं दुर्बोध हो गया है जिसका कि एकमात्र कारण समय-समय पर होनेवाला इसका सैद्धान्तिक पक्ष-परिवर्तन है। प्राचीनतम आचार्य भरत ने गुणों की संख्या दश मानी तो भामह ने केवल तीन। आचार्य वामन ने उनकी संख्या बीस मानी तो राजा भोज ने चौबीस। इसी प्रकार किसी आचार्य ने गुणों को काव्यसम्बन्धी वैदर्भ-मार्ग का प्राण माना तो किसी ने काव्यशोभाकारक धर्म और किसी ने काव्यात्मभूत रस का धर्म! किन्तु समस्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थकारों में गुणों का सर्वोत्तम विवेचन करने वाले आचार्य काव्यप्रकाशकार ही हैं जिन्होंने कि गुणों की संख्या एवं सिद्धान्त के विषय में पूर्वाचार्यों द्वारा उद्भावित भ्रान्त-धारणाओं को निरस्त करके, उनका एक नवीन सिद्धान्त हमारे समक्ष रखा।

दोषविहीन, गुणयुक्त एवं सालंकार (कहीं-कहीं अलंकारविहीन भी) शब्द एवं अर्थ की समष्टि काव्य है, ऐसा आचार्य मम्मट ने स्वीकार किया। इस काव्य की आत्मा रस है। काव्य में रस ही 'अंगी' होता है तथा शब्द एवं अर्थ अंग होते हैं। गुण इसी अंगीरस के स्थायी-धर्मों को कहते हैं। जैसे शरीर में विद्यमान आत्मा के स्थायी गुण शौर्यादि हैं, ठीक इसी प्रकार रस के धर्म, ओजस् प्रसाद एवं माधुर्य ये तीनों गुण हैं।[२] आचार्य मम्मट ने गुणों की स्थिति को 'अचल' बताया है जिसका अर्थ यह है कि गुण रस के बिना अवस्थित नहीं रह सकते हैं और विद्यमान रहने पर रस का उपकार भी अवश्य करते हैं। शब्द एवं अर्थ ही काव्यरूप होने के कारण चूंकि काव्यात्मभूत रस के अभिव्यंजक होते हैं अतः (रस के धर्म) गुण, औपचारिक रीति से शब्द एवं अर्थ के भी धर्म मान लिये जाते हैं। 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' में सगुणौ को शब्दार्थौं का विशेषण बनाने में आचार्य मम्मट का वस्तुतः यही अभिप्राय था।[३] इसके विपरीत अलंकार, विद्यमान रहते हुए उसी काव्यात्मभूत रस का, उसके अंगों—शब्दों एवं अर्थों—द्वारा कभी-कभी उपकार किया

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, द्वितीय एवं तृतीय उल्लास।

२. सविस्तर द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश ८।१।

३. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता॥ का० प्र० ८।६।

करते हैं। किन्तु इस विषय में कोई अनिवार्य नियम नहीं है कि शब्द एवं अर्थ काव्यात्मभूत रस का उपकार करें ही। वस्तुतः १. कहीं-कहीं तो वे अंगीभूत रस का उपकार करते हैं २. कभी-कभी रस के अनुपस्थित रहने पर 'उक्तिवैचित्र्य' मात्र बन जाते हैं और ३. कभी-कभी विद्यमान रहते हुए भी रस का कोई उपकार नहीं करते। वस्तुतः अलंकार रस के अस्थायी या चल धर्म हैं।

भामहविवरण में आचार्य उद्भट ने कहा था कि 'लौकिक शौर्यादिगुण तथा हारादि अलंकार भले ही शरीर से समवाय एवं संयोग वृत्ति द्वारा सम्बन्धित हों किन्तु काव्य में विद्यमान रहने वाले अलौकिक ओजप्रभृति गुण एवं अनुप्रासोपमादि अलंकार काव्य से केवल समवाय-वृत्ति द्वारा ही सम्बन्धित है। अतएव काव्य में उनकी क्रमशः समवाय एवं संयोगवृत्ति से स्थिति तथा तज्जनित दोनों का भेद केवल गड्डलिकाप्रवाह मात्र है। उसमें कोई सार नहीं।'[1] इसी प्रकार आचार्य वामन ने भी गुणालंकार-भेद का निरूपण करते हुए कहा था कि काव्यशोभाकारक धर्म गुण है तथा उसी काव्यशोभातिशय के हेतु अलंकार हैं।[2]

किन्तु आचार्य मम्मट ने इन दोनों ही मतों का खण्डन किया। काव्यात्मभूत रस के स्थायी एवं अस्थायी धर्म के रूप में गुणालंकार-स्थापना करके आचार्य ने उद्भट के मत को समूल निरस्त किया और वामन के विषय में यह आपत्ति उठाई कि यदि काव्यशोभा-कारक धर्म ही गुण हैं तो क्या सभी गुण मिलकर काव्य है अथवा केवल दो चार ही? यदि समस्त गुण मिलकर ही काव्य हैं तो असमस्त गुण वाली गौडी एवं पांचाली रीति को आचार्य वामन ने 'काव्यात्मा' कैसे स्वीकार किया? और यदि कुछ ही गुण काव्य हैं तो फिर 'अद्रावत्र प्रज्ज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुलसत्येष धूमः' इत्यादि पद्य में ओजस् प्रभृति के रहने पर ही काव्य-व्यवहार होगा जो कि बहुत उचित नहीं।

अपनी इस मान्यता के साथ आचार्य मम्मट ने जैसे गुणविषयक सिद्धान्त का नवीकरण किया ठीक उसी प्रकार उनकी संख्या के भी विषय में एक स्पष्ट घोषणा की कि-'माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।' इसका कारण बताते हुए आचार्य ने कहा कि भरत अथवा दण्डीप्रोक्त दश गुणों में सब मौलिक नहीं है। वरन् कुछ तो माधुर्य ओजस् एवं प्रसाद इन तीनों में से किसी एक में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, कुछ दोषाभाव रूप होने के कारण अंगीकार किये गये हैं और कुछ गुण तो सर्वाशतः दोषरूप ही है।[3] अतः इन सब असंगतताओं का

---

१. 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।'—काव्यप्रकाशे उद्धृतम्—उल्लास ८।

२. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः (३।१।१) तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः (३।१।२)—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति।

३. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, अष्टमोल्लास।

मार्जन करने के पश्चात् केवल तीन गुण ही बचते हैं—जिनकी मौलिकता एवं प्रभावशालिता अप्रतिहत मानी जा सकती है और वे हैं—ओजस्व, प्रसाद एवं माधुर्य। इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने वामनप्रोक्त 'अर्थ-गुणों' को भी शब्दगुणों से पृथक् नहीं स्वीकार किया है, सम्भवतः इसीलिए कि शब्दार्थैक्य की कल्पना वह बहुत पूर्व से करते चले आ रहे हैं। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग में आचार्य ने कहा है—

तद्युक्तो व्यंजकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक्तथा।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः॥ (काव्य० द्वितीयोल्लास)

इसी प्रकार आर्थी व्यंजना के प्रसंग में आचार्य पुनः स्पष्टतः कहते हैं—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥ (काव्य० तृतीयो०)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट काव्य की परिधि में शब्द एवं अर्थ को परस्परापेक्षी ही स्वीकार करते हैं, पृथक् नहीं। वस्तुतः यदि आचार्य वामन का शब्द एवं अर्थ-गुण अलग-अलग देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उस 'भेदबुद्धि' में कोई सबल आधार नहीं है, अतः वह पूर्णतः बनावटी सा ही प्रतीत होता है।

वामनाचार्य के अनुसार शब्दगुणों में गाढबन्धत्व—ओजस्, शैथिल्य—प्रसाद, मसृणत्व—श्लेष, आरोहावरोहक्रम—समाधि, पृथक्पदत्व—माधुर्य, अजरठत्व—सौकुमार्य, विकटत्व—उदारता, अर्थव्यक्तिहेतुत्व—अर्थव्यक्ति तथा औज्वल्य—कान्ति। इसी प्रकार अर्थगुणों में—अर्थ की प्रौढ़ि—ओजस्, अर्थवैमल्य—प्रसाद, क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्ति-योगरूपा घटना—श्लेष, अवैषम्य—समता, अर्थदृष्टि—समाधि, उक्तिवैचित्र्य—माधुर्य, अपारुष्य—सौकुमार्य, अग्राम्यत्व—उदारता, वस्तुस्वभावस्फुटत्व—अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्व—कान्ति। इन पारिभाषिक सूत्रों में थोड़ा भेद रहते हुए भी एक ही तथ्य को घुमा फिराकर शब्द एवं अर्थ के वर्गों में रखा गया प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—शब्द एवं अर्थ में सौकुमार्य का लक्षण 'अजरठत्व तथा अपारुष्य' केवल संज्ञान्तरमात्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार मार्गाभेद तथा अवैषम्य रूप 'समता' एवं अर्थव्यक्तिहेतुत्व तथा वस्तुस्वभाव-स्फुटत्व-रूप अर्थव्यक्ति गुण शब्द एवं अर्थ के वर्ग में पृथक् उपदिष्ट होने पर भी तत्त्वतः एक ही सिद्ध होते हैं।

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभीष्ट बस इसी तथ्य के प्रकाशन में निहित है कि अन्योक्ति-वाङ्मय काव्यसामान्य का अंग, साथ ही साथ एक विशिष्ट अंग होने के कारण इन गुणों का प्राधान्येन आश्रय बनता है। चाहे हम दण्डी की परिभाषाओं को स्वीकार करें, चाहे वामन अथवा भोज की। किन्तु सबने एक ही तथ्य को प्रकारान्तर से प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। अर्थगुण का शब्दगुण से पार्थक्य होने के कारण ही वामन दण्डी की अपेक्षा तथा अभिजात्यप्रभृति चार नवीन गुणों को भी गृहीत कर लेने के कारण ही भोज दण्डी एवं वामन की अपेक्षा नवीन प्रतीत होते हैं। किन्तु ये सब के सब आचार्य भरत के ही मतानुयायी

हैं, जिन्होंने गुणविषयक प्रथम एवं प्राचीनतम सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। हाँ, आचार्य मम्मट इन तीनों ही आचार्यों से अवश्य पृथक् हैं; क्योंकि उन्होंने गुण-विषयक जो सम्प्रदाय स्वीकार किया है, वह भरत से भिन्न आचार्य भामह द्वारा प्रवर्तित किया गया था। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में गुणविषयक दो सम्प्रदायों की मान्यता परिलक्षित होती है। एक सम्प्रदाय गुणों की संख्या दश और दूसरा केवल तीन ही स्वीकार करता है। किन्तु अपनी सुदृढ़ सैद्धान्तिक समावेशिता के कारण आचार्य मम्मट का ही मत आगे आने वाले काव्यशास्त्रकारों द्वारा अंगीकार किया गया।

अन्योक्ति का कोई भी पद्य बन्ध की दृष्टि से, वामनप्रोक्त किसी-न-किसी शब्दगुण से अवश्य ही सम्बद्ध होगा। काव्यात्मक विवेचन में व्याख्यात तीसवाँ पद्य (निरानन्दः कौन्दे आदि) आचार्य वामन द्वारा समाधि शब्दगुण का उदाहरण माना भी गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि शब्दगुणों का पद-रचना की दृष्टि से, अन्योक्ति-वाङ्मय से घनिष्ट सम्बन्ध है। विशेष करके वामनप्रोक्त कान्ति शब्दगुण जो 'औज्वल्य' अर्थात् 'नवकल्पना' रूप है और जिसके अभाव में कोई रचना 'पुराणच्छाया' मात्र प्रतीत होती है, अन्योक्ति का प्राणतत्त्व है; क्योंकि अन्यापदेश स्वयं कवि की चैतसिकी कल्पना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'ऐसे समृद्ध वंश में उत्पन्न होकर भी अमुक व्यक्ति कैसे इस निम्न-स्तर पर आ गया? इस भाव को व्यक्त करने के लिये कवि कह रहा है कि—

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत् ।
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम्[1] ॥५६॥

इस पद्य में स्पष्टतः कवि की कल्पना एक नूतन 'भंगीभणिति' के साथ औज्वल्य गुण पैदा कर रही है। अतः स्पष्टतः यहाँ 'कान्तिगुण' है। झटित्यर्थावबोधकता के कारण अर्थव्यक्ति तथा शब्दों की लीलायमानता के कारण उदार गुण भी यहाँ द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार पारुष्याभावजनित सुकुमारता, पृथक्‌पदत्वजनित माधुर्य तथा मसृणत्वादि-विशिष्ट श्लेष गुण भी इस पद्य में विद्यमान हैं। इस प्रकार एक ही अन्योक्ति में इन समस्त शब्दगुणों की स्थिति से यह रहस्य सिद्ध हो जाता है कि अन्यापदेश में वे स्वभावतः विद्यमान हैं। सिंहादि जीवों के पराक्रम-वर्णन में यदि 'गाढबन्धत्व' (ओज) है तो भयंकर दावाग्नि से मृतप्राय बच्चे को बचाने की असफल चेष्टा करती हुई कपोती के वर्णन में शैथिल्य! समता गुण तो अन्योक्ति में पदे-पदे प्राप्त होता है।

वामनाचार्य-प्रोक्त अर्थगुण, शब्दगुणों की अपेक्षा अन्योक्ति वाङ्मय से अधिक सम्बद्ध है। 'दीप्तरसत्व' कान्ति का लक्षण है जिसमें कि सारी की सारी रस-परिपाक की प्रक्रिया अन्तर्भूत हो जाती है। काव्यात्मक विवेचन में विद्यमान ३५वाँ पद्य शृंगार का, ३७वाँ करुण का,

---

१. भामिनीविलास १।१०।

३३वाँ वीररस का, ४२वाँ हास्य का, ३२वाँ वीभत्स का, ३४वाँ भयानक का तथा अन्यान्य पद्य, अन्यान्य रसों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार अग्राम्यता, उदारता नामक अर्थ-गुण का लक्षण है। किसी अश्लील तथ्य को औचित्यपूर्ण शैली में प्रकट करना ही अग्राम्यता है। आचार्य दण्डी ने इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है—

> उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्ननुक्ते प्रतीयते।
> तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः॥
> —काव्या० २।७६।

इस गुण का जो उदाहरण आचार्य ने दिया है (हे हेलाजित बोधिसत्त्व' आदि) वह सूक्तिमुक्तावली के अन्योक्ति-खण्ड में ही संकलित किया गया है।

इन विवेचनों से सिद्ध होता है कि अग्राम्यता अथवा उत्कर्षवान् गुण का वर्णन जो कि उदारता का प्राण है वही अन्योक्ति का भी प्राण है। क्योंकि अन्यापदेश शैली का तो लोक में प्रचलन ही केवल इसलिए हुआ कि निम्न से निम्न, गन्दे से गन्दे तथा घृणित से घृणित भावों का भी निबन्धन हम ऐसे चामत्कारिक ढंग से कर सकें कि वक्ता का मन्तव्य पूर्ण हो जाय। जनता अपनी कुरीतियों को लोकप्रकाशन के भय से ठीक भी कर ले और काव्योपकार भी हो। इसी कारण, आचार्य हेमचन्द्र ने उदारता गुण के व्याख्यान में 'ये पूर्वं यवसूचिसूत्रसुहृदो' आदि अन्योक्ति पद्य को ही उदाहृत किया है।

आचार्य मम्मट ने यद्यपि ओजस्, प्रसाद एवं माधुर्य मात्र को ही स्वतन्त्र गुण स्वीकार किया है साथ ही साथ उन्हें रस का स्थायी-धर्म माना है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-परिपाक में गुणों का प्रत्यक्ष सहयोग है। अतः जहाँ आचार्य वामन एवं उनके अनुयायियों ने गुणों को काव्यसंघटना से सम्बद्ध माना है[1] वहाँ आचार्य मम्मट ने उन्हें काव्यात्मभूत रस से सम्बद्ध। किन्तु दोनों दशाओं में गुणों का अन्योक्ति वाङ्मय के संघटनातत्त्व अथवा रसपरिपाक से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विस्तृत व्याख्यान को अब यहीं समाप्त किया जाता है।

काव्यदोषों का विवेचन भी अन्य काव्यतत्त्वों की भाँति नाट्यशास्त्र से ही प्रारम्भ हुआ। भरत ने उनकी संख्या दश, भामह ने पच्चीस, दण्डी ने पन्द्रह, वामन ने बीस, रुद्रट

---

१. आचार्य वामन ने गुणों को गिनाते हुए काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (३।१।४) में कहा है—'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः॥ बन्धः पदरचना तस्य गुणाः बन्धगुणाः ओजः प्रभृतयः।

रीति के भी विषय में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' और 'विशिष्टापदरचनारीतिः' कहकर आचार्य ने गुण को ही वैशिष्ट्य का कारण माना है (विशेषो गुणात्मा) इससे यह स्पष्ट है कि वामन गुणों को पदसंघटना का ही अंश मानते हैं।

ने पन्द्रह तथा अन्त में आचार्य मम्मट ने सत्तर से भी अधिक दोषों का व्याख्यान काव्य-प्रकाश के सम्पूर्ण सातवें उल्लास में किया। किन्तु प्रस्तुत स्थल पर उनकी संख्या पर विचार न करके केवल उनका सिद्धान्तपक्ष तथा अन्योक्ति से उसका संबंध-निर्देश भर करना है। जैसे गुणों की मौलिक परिभाषाएँ आचार्य वामन एवं मम्मट ने ही मौलिक रूप में प्रस्तुत कीं, ठीक उसी प्रकार दोष का भी सिद्धान्तपक्ष परिनिष्ठित रूप में सर्वप्रथम आचार्य वामन ने ही व्याख्यात किया। आचार्य वामन ने दोषों को गुणविपर्यय-रूप स्वीकार किया है। किन्तु विपर्यय का अर्थ यहाँ अभाव रूप न होकर केवल विरोधी मात्र होना है। विपरीयन्ते विरुद्धं गच्छन्तीति विपर्ययाः। इस प्रकार विपर्यय का अर्थ विरोधमात्र लेकर वामन ने दोषों को भावरूप ही सिद्ध किया है। दूसरी बात जो आचार्य ने निर्दिष्ट की है, वह गुणों की अपेक्षा दोषों की प्राथमिकता से सम्बद्ध है। लोक में मनुष्य, हाथ-मुँह धोकर ही भोजन करने बैठता है। ठीक उसी प्रकार गुणों के पूर्व ही दोषों का विवेचन श्रेयष्कर है। इसी कारण वामनाचार्य ने दोषों का विवेचन गुणों के पूर्व ही (काव्या० द्वितीयाधिकरण) किया है।

गुण-विपर्यय होने के कारण दोष भी पद-संघटना से ही विशेषतः सम्बद्ध हैं, ऐसा हमें वामन के पक्ष में समझना चाहिए। किन्तु आचार्य मम्मट ने स्पष्टतः दोषों को 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' रूप स्वीकार किया। मुख्यार्थ का तात्पर्य मम्मट के अनुसार 'रस' से है क्योंकि काव्य में रस ही तो मुख्य होता है और चूँकि रस का आश्रय 'वाच्यार्थ' भी होता है तथा रस एवं वाच्यार्थ दोनों में उपयोगी होता है शब्द, अतएव दोष अर्थ एवं शब्द में भी स्वीकार्य है।

वामन ने दोषों की प्रमुख चार कोटियाँ मानी हैं—पद, पदार्थ, वाक्य एवं वाक्यार्थ। परन्तु मम्मट ने इन चारों के अतिरिक्त अन्यान्य भेदों को भी स्वीकार किया है जोकि उनके लक्षण-ग्रन्थ में ही सविस्तर द्रष्टव्य है।[1] किन्तु जब हम अन्योक्ति वाङ्मय में दोषों का विवेचन करने बैठें तो हमें इतनी सूक्ष्म एवं छिद्रान्वेषिणी प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि अन्योक्तियों के प्रणयन में उसका भाव एवं कलापक्ष ही प्रबलतम रहा है जबकि उसकी पदसंघटना पर कवियों ने अपेक्षाकृत कम ध्यान रखा है। फिर भी इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कम ध्यान रखने के कारण अन्योक्तियों की पदसंघटना सदोष है। वरन् सत्य तो यह है कि अन्योक्ति-वाङ्मय शब्द, अर्थ एवं रस तीनों की ही दृष्टि से संस्कृतसाहित्य का सर्वोत्कृष्ट काव्यांश है।

तात्पर्य केवल कहने का यह है कि कवि काव्य-रचना के समय कुछ तो दोषों से बचता ही है। किन्तु अधिकांश काव्य-रचना वह आत्मा एवं वर्ण्यविषय की उस एकतान परिस्थिति में करता है, जहाँ पहुँचकर बाह्यजगत् से उसका सम्बन्ध अत्यल्प रह जाता है। अतः उसकी रचना स्वाभाविक होती है, गुण-दोष निकालना तो उन आलोचकों का व्यापार ही है, जिन्हें इसके सिवाय और कुछ करना ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि यदि कोई कवि, मम्मट द्वारा

१. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश सप्तमोल्लास।

निर्धारित काव्यदोषों को सामने रखकर कुछ लिखने बैठेगा तो सम्भवतः दिन भर में भी एक पद्य की रचना करनी कठिन हो जायगी। इसी कारण गुण-दोष का इतना क्षोदक्षेम न करके कविकण्ठाभरणकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्थूल रूप से केवल तीन ही दोष माने—१. शब्द-कालुष्य, २. अर्थकालुष्य तथा ३. रसकालुष्य। इसी प्रकार गुण भी तीन प्रकार के हैं—१. शब्दवैमल्य, २. अर्थवैमल्य तथा ३. रसवैमल्य।[1] यद्यपि आचार्य ने इन भेदों की परिभाषा ग्रन्थ में नहीं दी है तथापि उनके उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि निरन्तर क्लिष्ट वर्णों का प्रयोग ही 'शब्दकालुष्य' दीर्घसमास वाले द्वयार्थक यमकों का प्रयोग 'अर्थकालुष्य' तथा श्रृंगारादि के प्रसंग में वीभत्सादि का प्रयोग 'रसकालुष्य' है। यदि आचार्य क्षेमेन्द्र की इस 'अभिनन्दनीय-दोषविवेचना' को हृदयंगम कर लिया जाय तो हम 'अन्योक्ति-वाङ्मय' की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि वह सर्वथा निर्दोष है। अथवा यदि कहीं दोष है भी तो अत्यल्प। जैसा कि पिछले अनेक स्थलों पर अन्योक्ति के ध्वनित्व, व्यंजनाश्रयत्व तथा काव्यात्मक विवेचन में उसके उत्कृष्ट काव्यत्व से भी यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि 'अन्योक्तिवाङ्मय' दोषों की परिधि से प्रायः बाहर है।

\+ \+

'रीति तथा वृत्ति' भी काव्यशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान पा चुकी हैं। रीतियों से तात्पर्य यहाँ गौडी, वैदर्भी, पांचाली और लाटी रीतियों से है न कि नाट्यशास्त्र में वर्णित पांचाली आदि प्रवृत्तियों से। इसी प्रकार 'वृत्तियों' से यहाँ तात्पर्य, नागरिका-उपनागरिका प्रभृति अनुप्रास-वृत्तियों से है न कि नाट्यशास्त्र में विवेचित भारती-कैशिकी-सात्त्वती एवं आरभटी नामक वृत्तियों से। आचार्य राजशेखर ने 'प्रवृत्ति-वृत्ति एवं रीति' को तीन पृथक् काव्यतत्त्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार—'तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः। चतुष्टयी गतिर्वृत्तीनां प्रवृत्तीनां च देशानां पुनरानन्त्यं तत्कथमिव कार्त्स्न्येन परिग्रहः इत्याचार्याः।...रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्।'—काव्यमीमांसा (तृतीयाध्याय) इसी प्रकार विष्णुपुराण में भी—

'वेषभाषानुकरणात् तथाचारप्रदर्शनात्।
संक्षेपेण व्याख्याता वृत्तिरीतिप्रवृत्तयः॥'

आदि के रूप में प्रवृत्ति, वृत्ति एवं रीति का व्याख्यान किया गया है। किन्तु इन उद्धरणों को देखने से यह भाव स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि इनमें व्याख्यात वृत्तियाँ कैशिकी आदि ही हैं जो कि अभिनय-कलाओं से ही प्रायः सम्बद्ध होने के कारण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचित की गयी हैं।[2] किन्तु काव्य में प्रयुक्त होने वाली वृत्तियाँ कुछ और ही हैं, जिनका व्याख्यान इसी प्रसंग में रीतियों के अनन्तर किया जायगा।

---

१. द्रष्टव्य : कविकण्ठाभरण, चतुर्थसन्धि (काव्यमाला-गुच्छक, ४, बम्बई १९३७ ई०)

२. द्रष्टव्य—दशरूपक, प्रकाश २ एवं ३।

आचार्य वामन द्वारा प्रवर्तित 'रीतिसम्प्रदाय' के पूर्व संस्कृत काव्यशास्त्र में रीतियों का अस्तित्व नहीं के बराबर था। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में वेषविन्यास की ही दृष्टि से कुछ प्रवृत्तिसंज्ञक काव्यतत्त्वों का व्याख्यान अवश्य किया था। किन्तु साधिकार यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'रीतियों' का ही प्राचीन रूप था[1] क्योंकि परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी, जैसाकि अभी साक्ष्य दिया गया है, प्रवृत्तियों को रीतियों से पूर्णतः भिन्न ही माना गया है। वस्तुतः आचार्य वामन ने काव्यात्मा-रूप जिस रीति का व्याख्यान एवं गौडी, वैदर्भी पांचाली रूप-त्रिधा-विभाजन अपने ग्रन्थ में किया है, वह अवश्य ही उनके पूर्व विद्यमान था, किन्तु 'रीति' रूप में नहीं।

आचार्य भामह के युग में स्थान की दृष्टि से काव्य के दो भेद प्रख्यात हो चुके थे- वैदर्भ एवं गौडीय। विदर्भ (आधुनिक बरार) तथा गौड (बंगाल) दोनों दो प्रान्तों के सूचक शब्द हैं। इन प्रान्तों में विद्यमान कवियों की रचनाओं में कुछ मौलिक भेद थे, जिनके कारण भामह के पूर्व ही काव्यविषयक दो सम्प्रदाय चल पड़े थे। दिशाओं की दृष्टि से गौड काव्यों को 'प्राच्यपरम्परा' से तथा वैदर्भ काव्यों को 'दाक्षिणात्यपरम्परा से सम्बद्ध माना जाता था। वैदर्भ कविता, वक्रोक्ति-स्वभावोक्ति की रमणीय वचोभंगी के प्रयोगाधिक्यवश, उन्नति की पराकाष्ठा पर थी। भामह के समय में वैदर्भ-मार्ग का अत्यन्त प्रसिद्ध महाकाव्य 'अश्मकवंश' था जो सम्भवतः रघुवंश के अनुकरण पर लिखा गया था। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण वैदर्भ-सम्प्रदाय गौड की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट माना जाता था। गौडकाव्यधारा में समास-बाहुल्य तथा क्लिष्ट पदों का प्रयोग सम्भवतः अधिक था।

किन्तु आचार्य भामह ने इन दोनों काव्यमार्गों तथा विशेषरूप से वैदर्भ-सम्प्रदाय के उत्कर्ष की बड़ी निन्दा की।[2] उन्होंने इस विभाजन को 'गतानुगतिक' बताया—

'वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे। तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥३१
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्। गतानुगतिकन्यायान्नाख्यायेममेधसाम्॥३२
—(काव्या० अ० १)।

गौड़सम्प्रदाय का इतना पक्ष लेने तथा वैदर्भसम्प्रदाय के उत्कर्ष पर पटाक्षेप करने के प्रयत्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भामह सम्भवतः गौडकाव्यमार्ग के ही अनुयायी आचार्य थे। सातवीं शती में आचार्य दण्डी ने पुनः एक बार भामह का विरोध करके वैदर्भ

---

१. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र, अध्याय १३ (बड़ौदा संस्करण)।

२. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलं। भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥३४
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलं। गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥३५
न नितान्तादिमात्रेणजायतेचारुतागिरां। वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः॥३६
(काव्या० अध्याय १)।

सम्प्रदाय की सत्ता को स्थिर किया। इसी प्रसंग में उन्होंने आचार्य भरतप्रोक्त दश गुणों का व्याख्यान करते हुए उन्हें वैदर्भ काव्यसम्प्रदाय का प्राणतत्त्व बताया—जो कि तदितर गौड काव्यधारा में नहीं मिलते—

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ काव्याः० २।४२।

इस प्रकार निश्चित हो गया कि आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य के दश गुण वैदर्भ काव्यधारा के उत्कर्षाधायक तत्त्व थे। वस्तुतः वैदर्भ काव्यधारा तथा उसके शोभातिशायी तत्त्वों—गुणों को ध्यान में रखकर ही आचार्य वामन ने ८वीं शती में सर्वप्रथम रीतियों एवं तदाश्रित गुणों की स्थापना एवं व्याख्या की। जैसे मानव शरीर में तदभिमानी आत्मा का अधिष्ठान है ठीक उसी प्रकार काव्य का भी एक अधिष्ठातृ तत्त्व है। उसी अधिष्ठातृ अथवा आत्मतत्त्व की स्थापना, आचार्य वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (१।२।६) में किया—'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् काव्य की आत्मा रीति है। रीति कहते हैं विशिष्ट पद-रचना को और 'विशेष' कहते हैं गुण को।[1] इस प्रकार आचार्य वामन की मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि 'काव्यगुण (वामन के अनुसार बीस अन्यथा दश) रूपी विशिष्ट तत्त्व से युक्त पदरचना—रीति ही काव्य की आत्मा है। यह रीति वामन के अनुसार तीन प्रकार की है—वैदर्भी, गौडीया और पांचाली।

स्पष्ट है कि आचार्य वामन की सारी रीतिकल्पना और गुणों के साथ रीति का आधाराधेयभाव, पूर्णतः आचार्य दण्डी के व्याख्यान पर आधारित है। पांचाली नामक रीति भी यद्यपि वामन ने सर्वप्रथम प्रकाशित की है किन्तु सम्भव है कि दण्डी के युग में वह भी विद्यमान थी। क्योंकि आचार्य ने प्रारम्भ में ही कहा है—

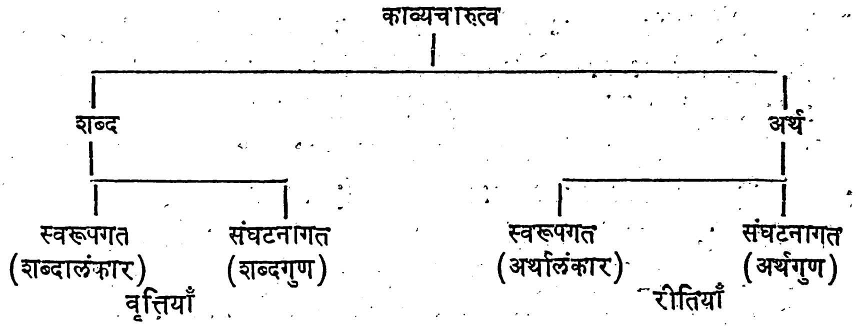
अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥
—काव्याः २।४०

'अर्थात् काव्य के मार्ग तो अनेक हैं जिनमें कि बहुत थोड़ा-सा पारस्परिक भेद है। किन्तु वैदर्भ और गौड की ही यहाँ विवेचना की जा रही है, जिनमें कि प्रभूत भेद है और स्पष्ट है'। इस प्रकार दण्डी के 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः' से सिद्ध है कि गौडी-वैदर्भी के अतिरिक्त पांचाली प्रभृति अन्य काव्यमार्ग भी उनके युग में थे, किन्तु यदि आचार्य वामनकृत पांचाली रीति की परिभाषा देखी जाय तो दण्डी का यह कथन पूर्णतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि मौलिकता एकमात्र वैदर्भी में ही है, गौडी और पांचाली में नहीं।[2] फिर भी वैदर्भी की स्पर्द्धा में यदि

---

१. द्रष्टव्य—विशिष्टपदरचनारीतिः (१।२।७) विशेषवती पदानां रचना रीतिः कोऽसौ विशेष इत्याह। विशेषो गुणात्मा (१।२।८) लक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः।
२. समग्रगुणा वैदर्भी (१।२।११) ओजःकान्तिमती गौडीया (१।२।१२) माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली (१।२।१३)।

कोई रीति आ सकती है तो गौडी ही। इसी प्रकार परवर्ती युग में आचार्य राजा भोज द्वारा उद्भावित लाटी-मागधी एवं अवन्तिका (द्रष्टव्य-सं० २।२९) रीतियाँ भी वैदर्भी के समक्ष कत्तई मौलिक नहीं सिद्ध होती हैं।[1] आचार्य विश्वनाथ ने केवल चार ही रीतियाँ स्वीकार की हैं—वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी।



आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रथम अभाववाद की व्याख्या करते हुए, लोचन में, ध्वनि की शब्दालंकार-अर्थालंकार, शब्दगुण, अर्थगुण, वृत्ति तथा रीति से व्यतिरिक्तता स्वीकार करने में आश्चर्य प्रकट किया है। यद्यपि यह व्याख्यान 'तुष्यतुदुर्जनन्यायेन' ही किया गया है किन्तु इस प्रसंग में आचार्य द्वारा किया गया 'वृति-रीति' व्याख्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः रीतियाँ गुणों के समुचित वृत्ति-वर्तन की साधनभूता है। गुणों की वृत्ति है—रसाभिव्यंजना। अतः रीतियों में रसाभिव्यंजक विशिष्ट वर्णों की योजना या संघटना होती है। गौड, वैदर्भ एव पांचाल निवासियों के स्वभाव का प्राचुर्य देखकर ही उन्हें गौडी-वैदर्भी तथा पांचाली की संज्ञा दी गयी है[2]। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में रसाभिव्यंजक विशिष्ट (गुण-युक्त) पदसंघटना ही 'रीति' है। आचार्य वामन एवं अभिनव दोनों ने ही इनके नामकरण में तद्देशीयजनों के स्वभाव का प्राचुर्य स्वीकार किया है। वामन स्पष्ट कहते हैं—'विदर्भादिषु

---

१. लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरेस्थिता—सा० दर्पण ९ परि०।

अन्तराले तु पांचालीवैदर्भ्योर्याऽवतिष्ठते—

सावन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः।

पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी॥—सरस्वतीकण्ठाभरण २।३२।

२. तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः। तेषां च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योऽन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां संघातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीय-वैदर्भपांचालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधरीतिरित्युक्तम्'—ध्वन्यालोकलोचन (प्रथमोद्योत)।

दृष्टत्वात् तत्समाख्या' (काव्या० १।२।१०)। भामह और दण्डी के विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होंने भी मार्गभेद का आधार गौड एवं विदर्भ देश को ही माना था। किन्तु आगे चलकर वक्रोक्तिजीवितकार ने भामह एवं वामन के इन द्विमार्ग एवं त्रिमार्ग के देशाश्रित-रीतिवाद का प्रबल खण्डन किया जो कि प्रकृतग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है।

'वृत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति भी लोचनकार ने इस प्रकार दी है—'वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति' अर्थात् जिसमें अनुप्रास के भेद रहें। वस्तुतः (रौद्ररस में) दीप्त, (शृंगार में) मसृण तथा (हास्य में) मध्यम कोटि के वर्णनीय विषयों में उपयोगी अनुप्रास के परुष-ललित तथा मध्यम स्वरूपों के विवेचनार्थ अनुप्रास-वर्णों के जो तीन वर्ग बनाये गए हैं वही वृत्ति कहलाते हैं।[1] आचार्य उद्भट वृत्तियों के विषय का उपन्यास एवं व्याख्यान करने वाले प्राचीनतम आचार्य हैं। इस विषय में उनका मत ठीक वही है जैसाकि आचार्य अभिनव ने ऊपर-व्याख्यात किया है। काव्यालंकारसारसंग्रह की तद्विषयक कारिका इस प्रकार है—

स्वरूपव्यंजनन्यासंतिसृष्वेतासु वृत्तिषु। पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयःसदा॥

जिस वृत्ति में परुष अनुप्रास होते हैं उसे 'नागरिका' जिसमें मशृण अनुप्रास होते हैं उसे उपनागरिका या 'ललिता' और जिसमें मध्यम (न कोमल न परुष) अनुप्रास हों उसे ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार उपनागरिका, नागरिका तथा ग्राम्या—ये तीनों वृत्तियां अनुप्रास की ही तीन जातियाँ हैं। अतः जैसे रीतियों का गुणों से आधाराधेय सम्बन्ध है ठीक वैसे ही, वृत्तियों का अलंकार से भी। निष्कर्ष यह है रीति एवं वृत्ति दोनों ही संघटना-पक्ष से ही प्रायः सम्बद्ध हैं।

काव्यात्मक विवेचन में उदाहृत किये गये पद्यों को यदि हम ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि रीति एवं वृत्ति का अन्योक्तिवाङमय में समुचित निबन्धन हुआ है। यदि सिंह के वर्णन में (पद्य ३३) गौडी रीति का आश्रय लिया गया है तो हंस-वर्णन (पद्य ४७) में वैदर्भी का। इसी प्रकार मधुकर-वृत्तान्त (पद्य ३०) में पंचमवर्णबहुला पांचाली स्पष्टतः देखी जा सकती है। काव्यात्मक विवेचन में व्याख्यात पद्यों में इसी प्रकार पद्य ५, ९, ११, १२, २१, २२, २४, २५ आदि वैदर्भी रीति एवं ललिता वृत्ति के, पद्य ४२, ४५ (तथा शब्द-शक्तिविवेचन में व्याख्यात पद्य ५५ भी) गौडीरीति एवं नागरिका वृत्ति के तथा पद्य २८, ३१, ३६, ४६, ४८ आदि पांचाली रीति एवं ग्राम्या वृत्ति के रमणीय उदाहरण हैं। वस्तुतः रीतियाँ वृत्तियों को साथ लेकर ही चलती हैं, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध पद-संघटना से ही है। अतः जहाँ गौडीरीति रहेगी, वहीं पर परुषानुप्रास या नागरिका वृत्ति भी होनी सम्भव

---

१. नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृण-मध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः, वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति।

—ध्वन्यालोकलोचन, प्रथमोद्योत।

हैं। जहाँ वैदर्भी होगी वहीं मसृणानुप्रास या ललिता वृत्ति होगी और जहाँ पांचाली रीति होगी, वहीं ग्राम्या वृत्ति भी सम्भव है।

साहित्यदर्पणकार ने वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली का लक्षण इस प्रकार दिया है—

माधुर्यव्यंजकैः शब्दैः रचना ललितात्मिका। अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥
ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयेः॥
समस्तपंचमपदो बन्धः पांचालिका मता॥—साहित्यदर्पण परि० ९

इन लक्षणों में ललितात्मिका, समासबहुला तथा पंचमपद संज्ञाएँ प्रायः कोमल, परुष एवं मध्यम अनुप्रासों को ही लक्षित करती हैं। अतः निश्चित है कि अन्योक्तिवाङ्मय का पदसंघटनापक्ष रीति एवं वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट प्रायोगिक स्थल है। हाँ, यह अवश्य जान लेना चाहिए कि अन्योक्ति में, वैदर्भी एवं पांचाली रीति तथा कोमल, मध्यम अनुप्रास का ही प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ। लाटी, आवन्ती तथा मागधी रीतियाँ भी यदि खोजी जायँ तो अन्योक्ति वाङ्मय में पद-पद पर प्राप्त हो सकती हैं, क्योंकि वे अन्योक्ति में प्रतिपादित वैदर्भी आदि रीतियों से भिन्न नहीं हैं। वृत्तियों एवं रीतियों की सोदाहरण व्याख्या आगामी अध्याय में पुनः की जायेगी।

+ +

'वक्रोक्ति' एवं 'औचित्य' ये दोनों शब्द रीति की ही भाँति संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रख्यात दो स्वतन्त्र सम्प्रदायों के सूचक हैं, जिनके उद्भावक आचार्य क्रमशः कुन्तक एवं क्षेमेन्द्र हैं। कुन्तकप्रणीत 'वक्रोक्तिजीवित' तथा क्षेमेन्द्रप्रणीत 'औचित्यविचारचर्चा' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आद्यन्त इन्हीं दोनों तत्त्वों का क्रमशः व्याख्यान किया गया है जो कि उन आचार्यों की मान्यता के अनुसार काव्य की आत्मा है। किन्तु प्रस्तुत स्थल पर केवल अन्योक्ति वाङ्मय में वक्रोक्ति एवं औचित्य का स्थान निर्धारण करने के ही लिये उनका संक्षिप्त सिद्धान्त दिया जा रहा है।

'वक्रोक्ति' का प्राचीनतम उल्लेख आचार्य भामह के ही ग्रन्थ में प्राप्त होता है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में वक्रोक्ति एवं लक्षण का तुलनात्मक विवेचन करते समय, आचार्य रुद्रट द्वारा अलंकार-विभाजन करते समय तथा कुन्तकप्रदत्त अप्रस्तुतप्रशंसा-विषयक मत को स्पष्ट करते समय वक्रोक्ति पर अपेक्षित सामग्री दी जा चुकी है। वस्तुतः वक्रोक्ति का अर्थ है 'वक्र' अर्थात् टेढ़ी उक्ति। स्वभावोक्ति, जो कि इसी वक्रोक्ति की प्रतियोगिनी प्रतीत होती है, का अर्थ ठीक इसके विपरीत है अर्थात् बिना किसी टेढ़ेपन के साधारण ढंग से कथन। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति को ही समस्त काव्यवाङ्मय का शृंगार माना था। सर्गबन्ध-विरोधी 'अनिबद्ध' अर्थात् 'मुक्तक' (Sporadic Poetry) काव्य का वैशिष्ट्य उन्होंने इस प्रकार बताया है—

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः। युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते॥
—काव्या० १।३०

इसी प्रकार काव्यक्षेत्र में वैदर्भकाव्य के प्रशंसकों एवं गौडकाव्य के निन्दकों को अमेधस् कहते हुए आचार्य ने कहा कि केवल 'नितान्तादि' कुछ कर्ण-सुखद वर्णों के प्रयोग मात्र से ही काव्य में सौन्दर्य नहीं उत्पन्न होता। बल्कि—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः' अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्यचारुता का हेतु है। वक्रोक्ति के बिना काव्य चाहे कितना ही ऋजु प्रसादयुक्त एवं कोमल क्यों न हो किन्तु वह काव्य न होकर केवल श्रुतिपेशल-गीत भर हो सकता है। अतः यदि इतनी प्रभावशालिनी 'वक्रोक्ति' गौडकाव्य में भी प्राप्त होती है तो निश्चय ही वह सर्वोत्कृष्ट काव्य होगा। इस प्रकार आचार्य भामह ने 'वक्रोक्ति' को एक ऐसी सत्ता के रूप में स्वीकार किया है कि जिसमें समस्त अलंकार आ जाते हैं, क्योंकि वे सब के सब किसी न किसी भंगीभणिति को ही तो लेकर आते हैं और वही वचोभंगी वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति के इसी बृहद्रूप का संकेत भामह ने काव्यालंकार (२।८५) में किया—'सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।'

किन्तु एवंविध प्रभावशालिता से युक्त 'वक्रोक्ति' भी शतियों तक काव्यशास्त्रीय तत्त्वों में दबैल बन कर पड़ी रही। दशम शती में आचार्य कुन्तक ने इसी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। आचार्य कुन्तक ने अलंकारयुक्त कविकर्म को काव्य माना है—'अयमत्र परमार्थः—सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति। वक्रो० प्रथमोन्मेष।

वस्तुतः अन्य आचार्यों की भाँति कुन्तक ने अलंकारों को काव्य का उत्कर्षाधायक या शोभातिशायी धर्म न मानकर, उनका स्वरूपाधायक अथवा प्राणतत्त्व माना है। अतः किसी भी रूप में अलंकार को, कटककुण्डलादि भूषणों की भाँति शरीररूप काव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही अलंकार आचार्य कुन्तक के अनुसार 'वक्रोक्ति' है जिसके कारण काव्य 'रस' या रीतिजीवितम् न होकर वक्रोक्तिजीवितम् कहा जाता है।

कुन्तक के अनुसार 'वक्रोक्ति' का अर्थ है वैदग्धभंगीभणिति जिसे कि आचार्य ने अन्य भी शब्दावलियों में स्पष्ट किया है—'प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा एवं अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः इत्यादि। वैदग्ध का तात्पर्य है नैपुण्य अथवा चातुर्य। 'भंगी' का अर्थ है विच्छित्ति या सौन्दर्य। इस प्रकार 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' का अर्थ है—चातुर्यमय भंगिमा से लसित कथन। वस्तुतः अलंकार जो कि वक्रोक्तिरूप हैं, मुख्यतः यही कार्य करते हैं। विशेष कर अन्यापदेश वाङ्मय तो 'प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकी काव्याभिव्यक्तिसाधनों' में रमणीयतम है। अतः 'चातुर्यपूर्ण-विच्छित्ति' जो कि अन्योक्तिवाङ्मय की प्राणप्रतिष्ठा-रूप है, यह सिद्ध कर देती है कि आचार्य भामह द्वारा उद्भावित, दण्डी द्वारा समर्थित एवं राजानक कुन्तक द्वारा व्याख्यात एवं परिनिष्ठित वक्रोक्ति अन्योक्ति-वाङ्मय का प्राण है। काव्यात्मक विवेचन में उद्धृत कोई एक नहीं वरन् समस्त पद्य वक्रोक्तियुक्त हैं। तृतीय पद्य में शाल्मलि के बहाने जिस प्रवंचक एवं नीच व्यक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है वह

पूर्णतः लोकप्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकी है क्योंकि लोक में तो मनुष्य सामने ही खरीखोटी सुना डालने का अभ्यासी होता है, बाद में चाहे उसके पीछे सिर ही क्यों न कट जाय ?

आचार्य कुन्तक ने इसी वक्रता के छः भेद माने हैं—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता। वाक्यवक्रता की स्थापना करते हुए आचार्य ने समस्त अलंकारों की सत्ता उसी में स्थित स्वीकार की है—वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा। यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति॥ वक्रो० १।२०। इस प्रकार अन्योक्ति का समस्त वाङ्मय तथा काव्यशास्त्र में वर्णित उसके पंचधा विभाजन सब वक्रोक्ति (वाक्यवक्रता) के ही अन्तराल में आ जाते हैं। सादृश्यनिबन्धना अन्योक्ति में तो आचार्य ने विशेषरूप से उपचारवक्रता को ही प्राणतत्त्व माना है—'आदिग्रहणादप्रस्तुत-प्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्य उपचारवक्रतैव जीवितत्वेन लक्ष्यते।'—वक्रोक्ति० २।१४ की वृत्ति।

उपचार का अर्थ है दो भिन्न वस्तुओं में ऐक्यभाव का प्रतिपादन अथवा भेदबुद्धि का नियमन। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः सादृश्या-तिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्'। वस्तुतः सादृश्यनिबन्धना में निर्जीव प्राकृतिक उपादानों तथा प्रस्तुतभूत मनुष्यों के बीच 'उपचार' की यही प्रक्रिया द्रष्टव्य है और यही उपचार आचार्य अभिनव एवं तदनुयायी अन्य आचार्यों के मतानुसार अन्योक्ति में ध्वनि-सर्जना भी करता है।

वक्रोक्ति की ही भाँति 'औचित्य' के स्रोत भी सर्वप्रथम आचार्य भामहकृत काव्या-लंकार में और स्पष्टरूप में उसके बाद आचार्य आनन्दवर्धनप्रणीत 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त होते हैं। तृतीय उद्योत में आचार्य ने कहा है—

'वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनं। रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः॥ इसके अतिरिक्त धन्यालोक २।१५ तथा २।१७ में भी ध्वनिकार ने 'औचित्य' की ही चर्चा की है किन्तु जैसा कि द्वितीय अध्याय में सविस्तर निरूपित हो चुका है ध्वनिकार द्वारा 'औचित्यतत्त्व' की स्थापना रस की ही दृष्टि से की गई है। क्योंकि वही काव्यात्मभूत तत्त्व है जो कि 'ध्वनिरूप' धारण करता है। 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्' कहने से आनन्दवर्धनाचार्य के उक्त मत की पुष्टि भी हो जाती है। ध्वन्यालोक के प्रथमोद्योत में ही द्वितीय कारिका के पश्चात् दी गई काव्य की पारिभाषिक शब्दावली 'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः' की व्याख्या करते हुए लोचनकार अभिनव कहते हैं—ललितशब्देन गुणालंकारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति सूचयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति।' इससे भी औचित्यतत्त्व की रसपरता स्पष्ट हो जाती है।

यही औचित्यतत्त्व आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा काव्य का प्राणतत्त्व माना गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे वामन द्वारा रीति, कुन्तक द्वारा वक्रोक्ति एवं आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि काव्या-त्मा स्वीकार की गई है। किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी ध्वनिकार का ही अनुकरण करते हुए

औचित्य को रसजीवितभूत और चमत्कारकारी माना है।[1] अलंकार तथा गुण, उचित स्थान-विन्यास के ही कारण काव्य को अलंकृत करने में समर्थ हो पाते हैं अन्यथा विपरीत दशा में उनकी यह स्थिति ही न रह जायगी।[2]

यह औचित्य है क्या ? क्षेमेन्द्र परिभाषा देते हुए कहते हैं—'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते' (कारिका ७) यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते। तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति।' आचार्य क्षेमेन्द्र के इस सिद्धान्तपक्ष से स्पष्ट हो जाता है कि वह ध्वनिकार की एतद्विषयक सैद्धान्तिक आस्था से बहुत दूर नहीं है। अतएव शृंगार रस के प्रसंग में वैदर्भीरीति, कोमलानुप्रासमयी उपनागरिका या ललिता वृत्ति एवं रूपकादि अलंकारों का प्रयोग क्रमशः उस रीति, वृत्ति और अलंकार का औचित्य कहा जायेगा, अन्यथा अनौचित्य। इसी तथ्य को लक्ष्य करके ध्वनिकार ने कहा है—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनं। शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।। ध्वन्या० २।१५। इस विवेचन से औचित्यसिद्धान्त के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं शेष रहती है।

यह औचित्य पद, वाक्य प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम एवं आशीष् से सम्बद्ध होने के कारण आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा सत्ताइस प्रकार का माना गया है, जिसका विस्तृत व्याख्यान प्रकृतग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है। किन्तु यहाँ इतना निर्देश कर देना तो अनिवार्य ही है कि अन्योक्तिवाङमय में इन समस्त औचित्यों का प्रतिपद उपनिबन्धन प्राप्त होता है। यहाँ यह अवसर नहीं है कि प्रत्येक औचित्य का उदाहरण दिया जाय किन्तु औचित्य से संवलित जिन रीतियों एवं गुणों को अन्यापदेशों में दिखाया गया है, वे पद एवं गुण आदि के औचित्य से ही युक्त होंगे। क्योंकि परुषानुप्रास (वृत्ति) एवं ओजोगुण का प्रयोग वैदर्भी रीति में कभी संभव नहीं है। और यदि कहीं ऐसा है तो वही अनौचित्य है अथवा क्षेमेन्द्र की दृष्टि से वह काव्य आत्माविहीन है। किन्तु अन्योक्तिवाङमय में सताइसों प्रकार के औचित्यों का सफल एवं प्रभावशाली निर्वाह प्राप्त होता है।

\+ \+

अब रसपरिपाक का प्रसंग प्रारम्भ किया जा रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्र एवं काव्यों में रस के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्ष का संवर्धन प्राचीन काल से ही होता रहा है। इसी कारण 'रस' को ब्राह्मानन्द-सहोदर तक स्वीकार किया गया। प्राचीनतम आचार्य भरत

---

१. 'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।
—औचित्य०का० ३।

२. औचित्य० कारिका ६ की व्याख्या।

ने भी अभिनय देखने वाले सहृदय सामाजिकों को तभी कृतकृत्य माना है जब कि वे अभिनेय कथावस्तु से आत्मा की एकता स्थापित करके रसानुभूति कर सकें। अभिनय के साथ आत्मा की एकता 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया से ही सम्भव है। इसी प्रकार श्रव्यकाव्यों में भी, पाठक की प्रवृत्ति केवल आनन्दप्राप्ति के ही लिये होती है। आचार्य मम्मट ने इसी को 'सद्यः परिनिर्वृत्ति' नाम दिया है। अतः इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कौतूहल स्वतः उत्पन्न हो जाता है कि आखिर यह रस है क्या? कैसे प्राप्त होता है? क्यों, कब और किसमें प्राप्त होता है? इसकी उपयोगिता क्या है?

मनुष्य के जीवन में बदलती हुई परिस्थितियाँ अपने आँचल में कोई न कोई अच्छा या बुरा भाव लेकर ही आती हैं जिनमें पड़कर वह क्षण भर के लिए उसी रूप का हो जाता है। प्रेयसी का अनिन्द्य-सौन्दर्य अथवा माता-पिता एवं गुरु का दर्शन करके कभी वह रतिभावना से आकृष्ट हो जाता है तो कभी प्रिय व्यक्ति का मरण-दृश्य देखकर 'शोक' से अभिभूत हो जाता है। इसी प्रकार हास, जुगुप्सा, भय, क्रोध, उत्साह आश्चर्य एवं शम के भाव भी उसके हृदय में यथावसर उदित होते रहते हैं। ये भाव ऐसे हैं जो कि देशकाल अथवा किसी भी सीमा में बँधे नहीं हैं। वस्तुतः वे त्रैलोक्यगत एवं त्रैकालिक हैं। मानव तो क्या, समस्त भूमण्डल में विद्यमान किसी भी सजीव प्राणी की मनोवृत्ति इन्हीं नौ भावों के अन्तर्गत रहती है। काव्यशास्त्र में इन भावों की सार्वजनीनता एवं सार्वकालिकता को ही ध्यान में रखकर इन्हें स्थायीभाव की संज्ञा दी गई है। यही 'स्थायी भाव' जब विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर व्यंजना शक्ति के साहाय्य से व्यक्त होता है, तब उसे रस कहते हैं।[1] आचार्य भरत भी रससूत्र में रसोत्पत्ति-संबंधी इसी प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं---'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति।'

स्थायीभाव का पोषण करने वाले तथा उसका ज्ञान कराने वाले भाव ही विभाव कहे जाते हैं। इसके दो पक्ष हैं---एक तो आलम्बन विभाव और दूसरा उद्दीपन विभाव। 'आलम्बन' का अर्थ है जिसमें वह स्थायी भाव टिके या निवास करे और उद्दीपन का अर्थ है जो उस स्थायीभाव को उद्दीप्त करे, बढ़ाये।[2] अनु का अर्थ है पीछे, अतः 'अनुभाव' का तात्पर्य है---'अनुभावयन्ति रसिकान्, पश्चाद्भवन्तीति वा' अर्थात् स्थायी के आलम्बन में स्थित हो जाने तथा उद्दीप्त हो जाने के पश्चात् जो भाव-संसूचनात्मक-विकार उत्पन्न हों वही अनुभाव है।[3] ये अनुभाव आलम्बन-पक्ष द्वारा जानबूझकर पैदा किये जाते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी भाव हैं, जो उस समय स्वयं एकाएक उत्पन्न हो जाते हैं। उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वस्तुतः मनुष्य

---

१ द्रष्टव्य---काव्यप्रकाश ४।४-५

२ ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा॥

३. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः॥

के सत्त्वपक्ष से है, अतः वे सात्त्विक भाव कहे जाते हैं।[1] अन्तिम हैं संचारी या व्यभिचारी भाव ! जैसे समुद्र की अपार जलराशि पर लहरें उठती-गिरती रहती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव के ही प्रसंग में जो अनेकधा उत्पन्न एवं विनष्ट होते हैं, अथवा संचारण करते रहते हैं, वही संचारी भाव हैं।[2] इनमें यह नहीं निश्चित है कि किस स्थायी भाव के साथ कौन संचारी भाव उत्पन्न होगा ? ये किसी भी स्थायी के साथ किसी भी संख्या में उत्पन्न हो सकते हैं। संचारियों की इसी प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उन्हें व्यभिचारीभाव भी कहा जाता है।

करुण रस का एक चित्र देखिए। कोई स्त्री मरे हुए पति के पास बैठी रो रही है। उसे सान्त्वना देने के लिए अपार नर-नारी एकत्रित हैं। चिता बनाई जा रही है, पुरुष के पहनने वाले सुन्दर वस्त्र भी उसी के साथ दग्ध करने के लिए निकाले जा चुके हैं। स्त्री, रोते-रोते मूर्छित भी हो जाती है, कभी उसका गला भर आता है, वह पसीने से लथपथ है इत्यादि। इस उदाहरण में शोक है, स्थायीभाव। स्त्री है आलम्बनविभाव जिसमें कि शोक विद्यमान है। चिता, मनुष्य के वस्त्र, पुरुषों द्वारा मृत व्यक्ति की लोकोत्तरप्रशंसा आदि उद्दीपनविभाव हैं, जो कि पत्नी के शोकवेग को और बढ़ा रहे हैं। गद्गद कण्ठ होना, कँपकँपी तथा पसीना जो स्त्री के न चाहते हुए भी बीच-बीच में उत्पन्न हो जाते हैं, सात्त्विकभाव हैं। स्त्री का मूर्छित होना तथा कभी-कभी उन्मत्तवदाचरण भी संचारीभाव के चिन्ह हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं संचारीभाव से परिपुष्ट होकर शोकस्थायीभाव यहाँ करुण-रस के रूप में व्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार अन्य आठों स्थायी भी स्वानुकूल विभावादि से पुष्ट होकर क्रमशः शृंगार, हास्य, वीभत्स, भयानक, रौद्र, वीर, अद्भुत एवं शान्त रस की व्यंजना करते हैं। रसों की संख्या इस प्रकार नौ मानी जाती है। इसका कारण यह है कि स्थायीभाव भी आचार्यों ने नौ ही स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार सात्त्विकों की संख्या आठ तथा संचारियों की संख्या तैंतीस मानी गई है।[3]

प्रश्न यह है कि इस रस का अनुभव पाठक या दर्शक को कैसे होता है ? उपर्युक्त रसोत्पत्ति-प्रक्रिया तो केवल आलम्बन पात्रों अर्थात् नायक अथवा नायिका मात्र में सीमित रहती है। अतः सहृदय सामाजिकों के लिए भी रसानुभूति का कोई साधन होना आवश्यक है। उसी साधन को काव्यशास्त्र में साधारणीकरण कहा गया है। लोक में रमणियों के माध्यम से रतिप्रभृति स्थायीभावों को देखकर, उनके विविध अनुमानों की चरितार्थता अथवा अचरितार्थता तल्लीन होकर लोग अपने ही ऊपर समझने लगते हैं, उस समय उनके विविध व्यापारों के साथ अपनी आत्मैकता स्थापित हो जाने के कारण सामाजिकों के लिए अन्य

---

१. पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्॥

२. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।—दशरूपक, प्रकाश ४।

३. द्रष्टव्य : काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास।

किसी भी वस्तु का ज्ञान सम्पर्कशून्य हो जाता है। उस समय आलम्बन की समस्त चेष्टाएँ सामाजिक की अपनी हो जाती है। अतएव इस साधारणीकरण-प्रक्रिया के फलस्वरूप उसके हृदय में चर्व्यमाणता के भाव से भरा हुआ, पानकरस की भाँति अद्‌भुत स्वाद देने वाला सामने ही परिस्फुरित होता हुआ सा, हृदय में प्रवेश करता हुआ सा, अंग-प्रत्यंग का आलिंगन करता हुआ सा, समस्त अन्य लौकिक वृत्तियों को क्षण भर के लिए तिरोहित करता हुआ, अलौकिक चमत्कार से युक्त, साक्षात् ब्रह्मानन्द अर्थात् मोक्षसुख की अनुभूति कराता हुआ सा, शृंगारादिक रस अनुभूत होता है।[1]

इस प्रकार रसानुभूति की दशा 'विभावादिजीवितावधि' होती हुई भी अप्रतिम अलौकिक एवं अद्‌भुत होती है। रसानुभूति की वह दशा चर्व्यमाण होने के कारण शब्दों में नहीं व्यक्त की जा सकती, वरन् वह तो केवल अनुभव-गम्य है। न वह रस 'उत्पन्न' होता है (भट्टलोल्लट) न 'अनुमेय' होता है (शंकुक) और न 'भाव्य' (भट्टनायक) अर्थात् रस एवं तदनुभावक सहृदय में न तो जन्यजनक-भाव होता है न अनुमेयानुमापक और न भाव्य-भावक। वरन् उनमें 'व्यंग्य-व्यंजक' भाव होता है, यही ध्वनिवादियों की मान्यता है।

'रस-परिपाक' की इस प्रक्रिया में यद्यपि स्थायीभाव, विभावादि से पुष्ट होकर ही 'रसता' को प्राप्त होता है। किन्तु कभी-कभी विभाव-अनुभाव अथवा संचारी भाव भी अकेले ही पद्य में प्रतिपादित होकर रस की अनुभूति कराते हैं। इसका रहस्य यह है कि उन स्थलों पर रसपरिपाक में सहायक अन्य तत्त्वों का अध्याहार कर लिया जाता है। रतिभाव जब नायक-नायिका से सम्बद्ध होता है तब तो शृंगाररस अन्यथा देव, मुनि, गुरु, तथा पितृ प्रभृतिविषयक होने पर 'भाव' कहा जाता है। व्यभिचारीभाव भी व्यंग्य रहने पर 'भाव' ही कहा जाता है। अनुचित रूप से प्रयुक्त होने पर यही समस्त नौ रस तथा भाव क्रमशः 'रसाभास एवं भावाभास' कहे जाते हैं। इसी प्रकार किसी पद्य में प्रतिपादित कोई भाव जब समाप्त, उदित, एक अन्य भाव के साथ सम्मिलित अथवा कई भावों के साथ रहता हुआ, प्रदर्शित किया जाय तो वहाँ क्रमशः 'भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि एवं भावशबलता' जैसे रस-परिपाक के विभिन्न रूप उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार निश्चित हो जाता है कि रसपरिपाक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है।[2]

वस्तुतः इतने विस्तार में आने की आवश्यकता केवल इसलिए पड़ी कि अन्योक्ति वाङमय में प्राप्त होने वाले उपर्युक्त समस्त रसपरिपाक के तत्त्वों का सिद्धान्त-पक्ष पूर्णतः स्पष्ट हो जाय। रस-का जैसा परिपाक अन्योक्ति-वाङमय में हुआ वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसका प्रधान कारण यह है कि कवियों ने बाह्य जगत् के उपादानों के माध्यम से अन्तर्जगत्

---

१. द्रष्टव्य-काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास तथा ध्वन्यालोकलोचन (कारिका ४ की अभिनवकृत लोचनटीका) 'यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यः आदि।'

२. सविस्तर द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास।

के प्रकाशन का प्रयत्न अन्यापदेशों में किया है। पशु-पक्षियों का वृत्तान्त लेकर मनुष्यमात्र की अन्तर्निगूहित मनोरम अथवा अरुचिकर भावनाओं की व्यंजनाशक्ति के सहारे अभिव्यक्ति की और इन समस्त कार्यकलापों की 'रंगभूमि' बनीं अन्योक्तियाँ। काव्यात्मक विवेचन में पीछे अनेक रसों की पृष्ठभूमि स्थापित एवं विवेचित की गई है अतएव पचीसवें पद्य (भ्रमरवर्णन) में यदि सम्भोगश्रृंगार है तो उन्नीसवें (हंसवर्णन) में विप्रलम्भ श्रृंगार! पद्य ३७ तथा ५४ में (कपोती एवं मृगीवर्णन) यदि करुण की अजस्र स्रोतस्विनी है तो पद्य ३२ एवं ३४ में (काक एवं मरुवर्णन) क्रमशः वीभत्स एवं भयानक के रोमांचक दृश्य। तैंतीसवें पद्य (सिंह-वृत्तान्त) में जहाँ उसका रौद्ररूप प्राप्त होता है तो पन्द्रहवें एवं बयालीसवें पद्य में (काक एवं मण्डूक-वर्णन) हास्य की गम्भीर परम्परा। इसी प्रकार पद्य ६ एवं सात (धान तथा वृक्षवर्णन) वीररस (दानवीर) के, पाँचवाँ पद्य अद्भुत का तथा पद्य ४० एवं ४१ शान्त रस के उत्कृष्ट उदाहरण माने जा सकते हैं।

इसी प्रकार देव, मुनि, गुरु एवं पितृविषयक भावों, अंजित व्यभिचारियों तथा भावोदय आदि के उदाहरण भी अन्योक्ति-वाङमय में भरपूर प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि पाठक के समक्ष तो अन्यापदेश का केवल अप्रस्तुत पक्ष ही रहता है। किन्तु यह नहीं निश्चित रहता कि वह अप्रस्तुत-विधान किस प्रस्तुत-वृत्तान्त को व्यंजनया संकेतित कर रहा है? वस्तुतः यही कार्य पाठक या आलोचक का है कि वह अप्रस्तुत-पक्ष का इतिवृत्त-साम्य खोजकर उसे किसी प्रस्तुत पक्ष पर चरितार्थ करे। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य देखिये—

किं व्यक्तीकुरुषे सरोजमुकुलाकारामुरोजश्रियं
लीनेनाधरपल्लवे कुसुमतां किंवा स्मितेनामुना।
आकूतामृतशीतलाः श्रमयसे किं वा गिरो नागरीः
मुग्धे! कामिनि! किं मुधा घटयसि क्लीबे कटाक्षच्छटाः ॥५७॥[1]

इस पद्य को (१) मूर्ख को समझाते हुए गुरु पर (२) अरसिक को आकर्षित करती हुई वारांगना पर (३) चोर को उपदेश देते हुए साधु पर (४) परकीयासक्त-पति को अपने सौन्दर्य से फुसलाने का प्रयत्न करती हुई पत्नी पर, अथवा इसी प्रकार के समान-इतिवृत्त वाले सैकड़ों अन्य मानवीय पात्रों पर चरितार्थ किया जा सकता है। अतः इस दृष्टि से देवादिविषयक भावों, उनके आभासों तथा भावोदयादि का निबन्धन अन्योक्तिवाङमय में प्राप्त होना एक साधारण सी बात है। वस्तुतः संग्रहग्रन्थों में शंकर-विष्णु, गरुड़, गणपति, इन्द्र वायु एवं अग्नि आदि के व्यपदेश से व्यक्त की गई सैकड़ों अन्योक्तियों का अप्रस्तुत-पक्ष ही देवविषयक रति का उदाहरण होने के कारण भावरूप है। अन्य उदाहरण संग्रहग्रन्थों में अन्वेषणीय एवं द्रष्टव्य हैं क्योंकि विस्तारभय से उनका व्याख्यान प्रस्तुत स्थल पर सम्भव नहीं है।

---

१. शारंग० परि० ७१।

सप्तम अध्याय

अन्योक्ति का मूल्यांकन

मनुष्य को संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी घोषित किया गया है क्योंकि वह विचारशील (Rational) होता है। उसकी यही विचारशीलता, उसका अन्यव्यवच्छेदक गुण भी बनती है। संसार के अन्य समस्त प्राणी, मनुष्य की तुलना में या तो पूर्णतः अविचारशील अथवा किंचिद्विचारशील होते हैं। मनुष्य की इस वैयक्तिक निधि के कारण ही, उसको असंख्य प्रकार के अधिकार एवं उपभोग प्राप्त है, जिसमें कि 'ज्ञान अथवा विद्या की सम्पत्ति' सर्वोत्तम है। जो कुछ भी वाङ्मय विश्व में पहले था, आज है, अथवा भविष्य में होगा, सब का चरम लक्ष्य (Summum Bonum) मनुष्य और उसका जीवन ही है। वेद-पुराण-षड्-दर्शन-काव्य एवं शास्त्र, जिनकी समवेत संज्ञा आचार्य राजशेखर ने 'चतुर्दशविद्यास्थान' के रूप में दी है, सब मनुष्य की ही दृष्टि से प्रणीत किये गये हैं। कोई उसका सम्बन्ध परलोक से तो कोई इहलोक से जोड़ता है। इन दोनों के भी, उनकी 'व्याप्ति' के आधार पर अनेक भेद किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'काव्य' को ही लीजिए। इसके अनेक उपभेद हैं किन्तु कोई समाज के निम्नवर्ग में ही व्याप्त है (भाण) तो कोई उच्चवर्ग में (महाकाव्य-नाटक आदि), कोई पशु-पक्षियों मात्र से सम्बद्ध है (कथा) तो कोई और किसी से। इस प्रकार इन सब का लक्ष्य केवल इतना ही है कि ब्रह्माण्ड-गत किसी एक विषय को अपना प्रतिपाद्य बनाकर उसी के द्वारा मनुष्य का या तो मनोरंजन मात्र करें अथवा उसे 'बहुश्रुत' बनायें।

किसी भी दर्शन अथवा साहित्य ग्रन्थ की प्रस्तावना में निर्दिष्ट ग्रन्थ-प्रयोजन से यह रहस्य जाना जा सकता है कि उन सब का उपदेश मानव की ही सुख एवं शान्ति के निमित्त किया गया है। उपनिषदों से लेकर चौर्यशास्त्र तक का सर्वोत्कृष्ट एवं निकृष्टतम ज्ञान मनुष्य के ही लिए सुरक्षित है क्योंकि लोक में असंख्य अभिरुचियों के मनुष्य हैं। कोई मूर्ख है तो कोई विद्वान्, कोई सत्यवादी है तो कोई असत्यवादी, प्रबंचक एवं लोभी। अतः यह निश्चित है कि कौन व्यक्ति ज्ञान की किस कोटि को पसन्द करेगा। किन्तु जनवर्ग की इस प्रतिपद-विविक्तता के होते हुए भी, उसके विषय में एक ध्रुव सत्य की घोषणा की जा सकती है। वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति सुख एवं आनन्द के ही अन्वेषण में लगा है।

मूर्ख व्यक्ति के विषय में तो कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे किस 'उपाय' द्वारा सौख्य एवं आनन्द चाहते हैं? सम्भवतः उन्हें कोई आत्मानुकूल 'दुर्व्यसन' ही रुचिकर होगा किन्तु श्रीमानों के विषय में तो निश्चित है कि—काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।

'काव्य-शास्त्र' इन दोनों के समवायग्रहण का एकमात्र तात्पर्य यह है कि लोक में बुद्धिजीवियों की केवल दो ही कोटियाँ सम्भव हैं, या तो वे इहलोक के वैभवों की ओर आकृष्ट हों अथवा परलोक के वैभवों के प्रति। इस प्रकार प्रथम कोटि के मुमुक्षु जनों के लिए आनन्द का साधन 'मोक्षसाधनरूप शास्त्र' होगा और द्वितीय कोटि के सांसारिक जनों के आनन्द का साधन यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, कल्याण, सद्यःपरिनिर्वृति एवं कान्तासम्मित उपदेशों का साधनभूत काव्य होगा। शास्त्र एवं काव्य ही समस्त ज्ञानसम्पत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

काव्य में भी, मनुष्य श्रव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को ही अधिक महत्त्व देता है क्योंकि (१) एक तो दृश्य काव्य में, श्रव्यत्व का भी संयोग होता है। (२) दूसरे, साधारण नटों पर प्राचीन नरेशों, राजमहिषियों एवं अन्यान्य पात्रों का आरोप करने से तथा उन्हें प्रत्यक्ष देखने से दृश्य काव्य में एक अद्भुत वर्णनाविच्छित्ति उत्पन्न हो जाती है और (३) तीसरा यह कि दृश्य काव्य में साधारणीकरण अपेक्षाकृत शीघ्र होता है।

इसका अर्थ यह है कि श्रव्यकाव्यों की वही कोटि दृश्यकाव्य के समान आनन्ददायिनी हो सकती है जो उन्हीं की भाँति दृश्यत्व एवं श्रव्यत्व दोनों गुणों से युक्त, आरोप-क्रिया से संवलित एवं शीघ्र साधारणीकार्य हो। वस्तुतः ठीक रूपकों की ही भाँति पूर्वोक्त गुणत्रय-निष्ठ कोई रचना श्रव्यकाव्यों में तो प्राप्त ही नहीं हो सकती। क्योंकि यदि ऐसा हो ही जाय तो फिर इस द्वैधवाङ्मय की आवश्यकता ही क्या? अतएव हमें यह संशोधन समझ लेना चाहिए कि श्रव्यकाव्य में उसका वही रूप सर्वोत्कृष्ट है जिसमें रूपकों के गुण, यथाशक्य अधिक मात्रा में प्राप्त हों। श्रव्यकाव्य में जैसा कि पीछे पाँचवें अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, मुक्तक से लेकर कुलक तक तथा महाकाव्य एवं खण्डकाव्य आते हैं। इनमें से सूक्ष्म विवेचन करने पर भी 'मुक्तक' को छोड़कर और कोई श्रव्यकाव्यरूप ऐसा नहीं प्राप्त होता जिसमें रूपक की पूर्व संकेतित तीनों विशषताओं को देखा जा सके। मुक्तकों में भी उसका वही रूप-विशेष रूपकों की तुलना में तुल्य आनन्ददायी है जो कि आरोप-प्रक्रिया से युक्त होने के कारण शीघ्र साधारणीकरण के योग्य होता है। मुक्तकों की वही कोटि संस्कृत काव्य-साहित्य में अन्यापदेश या अन्योक्ति कही जाती है।

'अन्योक्ति' की तो व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध कर देती है कि इसमें कुछ-न-कुछ वैचित्र्य अवश्य निहित है। अन्यथा महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि श्रव्यकाव्यांगों में भी तो किसी अन्य की ही उक्ति या वर्णना होती है। कोई नरेश अथवा नायकभूत अन्य पात्र ही उनका भी वर्ण्य-विषय होता है। तो फिर क्यों नहीं उनको भी हम 'अन्योक्ति' कहते? वस्तुतः इसीलिए नहीं कहते कि उनमें कोई वैचित्र्य नहीं। किन्तु जिस अन्योक्ति को यहाँ श्रव्यकाव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप बताया गया है, वह अंग-प्रत्यंग चमत्कारातिशय से ओत-प्रोत है। इस अन्योक्ति का यह अर्थ कभी नहीं है कि वास्तव में जो केवल अन्य व्यक्ति की वर्णना मात्र हो वरन् उसका तात्पर्य उस अन्य पात्र की वर्णना से है जो कि अन्य पात्र की वर्णना होते हुए, अपने से भी अन्य एक और पात्र की वर्णना प्रस्तुत करे। और विचित्रता तो यह है कि अन्योक्ति

शैली में विद्यमान इन दोनों अन्य वृत्तान्तों में से पहला तो कविसंरम्भगोचर न [होने के कारण अप्रस्तुत होता है और दूसरा कवि का लक्ष्यभूत होने के कारण प्रस्तुत होता है। अप्रस्तुतपक्ष अभिधया वाच्य किन्तु प्रस्तुतपक्ष व्यंजनयाक्षिप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्योक्ति में प्रस्तुत पक्ष पर अप्रस्तुत का आरोप होता है। यही 'आरोप' अन्योक्ति का प्राण है जो कि महाकाव्य, खण्डकाव्यप्रभृति अन्य किसी भी श्रव्य काव्यांग में नहीं प्राप्त होता। अन्योक्ति में प्रतिपादित अप्रस्तुत वृत्तान्त कवि प्रायः अपने ही आस-पास विद्यमान प्रकृति से लेता है अतएव यह आदान एक ओर जहाँ अन्योक्ति में दृश्यत्व का भाव भर देता है, वहीं दूसरी ओर शीघ्र साधारणीकरण में सहायक भी होता है। एक उदाहरण में अन्योक्ति के ये तीनों वैशिष्ट्य देख लिये जायँ—

चन्दने विषधरान् सहामहे वस्तु सुन्दरमगुप्तिमत्कुतः।
रक्षितुं वद किमात्मगौरवं संचिताः खदिर ः कण्टकास्त्वया ॥

इस पद्य को पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होता है मानो दिन-प्रतिदिन देखा गया चन्दन एवं खदिर (खैर) का पेड़ आँखों के समक्ष विद्यमान है। एक के ऊपर काले-काले साँप लिपटे हैं और दूसरी ओर खैर के तने पर इंच-इंच भर के असंख्य काँटे उगे हैं। यद्यपि यह साकारता अन्य श्रव्यकाव्यांगों में भी सम्भव हो सकती है किन्तु जिस आशुगति से, जितनी स्पष्टता के साथ वह अन्योक्ति में सद्यः प्रस्तुत होती है, उस गति और उतनी स्पष्टता के साथ कहीं भी सम्भव नहीं। अन्योक्ति में विद्यमान यही दृश्यत्व उसके शीघ्र साधारणीकरण में भी कार्य करता है। आरोप-क्रिया तो सुस्पष्ट ही है।

निष्कर्ष यह है कि संसार में रहने वाले मनुष्यों की दो कोटियाँ हैं—एक तो परलोकगत आस्थाओं में विश्वास करता है और दूसरा इहलोकगत आस्थाओं में। एक का मनोविनोद-साधन शास्त्र है तो दूसरे का काव्य। काव्य के भी दो भेद हैं—दृश्य तथा श्रव्य। दृश्य के व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों के कारण मनुष्य या तो सर्वाधिक महत्त्व उन्हें देता है अथवा श्रव्यकाव्य के उस रूप को जो कि उन्हीं के समकक्ष है। इस प्रकार की दृश्यकाव्य का समकक्ष श्रव्यकाव्य का रूप, अन्यापदेश या अन्योक्ति ही है। अन्योक्ति का आद्यन्त प्रतिपाद्य मनुष्य और उसका जीवन ही है। प्रकृति का आदान भी अन्योक्ति में अप्रस्तुतपक्ष बनकर प्रस्तुतभूत मनुष्य का ही वृत्त उपस्थित करता है। इस प्रकार अन्योक्ति के अणु-अणु में मानवता का ही बहुविध-भाव व्याप्त है। चूंकि अन्योक्ति ही नहीं, प्रत्युत उसी की भाँति त्रैलोक्य में विद्यमान प्रत्येक ज्ञान की थाती, मनुष्य तथा उसके जीवन को ही लक्ष्य करके प्रणीत की गई है अतः उन सबका मूल्यांकन केवल इसी आधार पर होना चाहिए कि मानव एवं मानव-जाति के उन्नयन में उनका क्या सहयोग रहा है। वे मनुष्य के जीवन को किस ढर्रे पर ले जा रहे हैं? विनाश अथवा विकास के? इस प्रकार अन्योक्ति के भी मूल्यांकन की आधारशिला मनुष्य तथा उसका जीवन ही है, क्योंकि अन्योक्ति का तो वही वर्ण्यविषय है, प्रतिपाद्य है।

वस्तुतः यदि भारतीय वाङ्मय एवं जन-जीवन का प्राचीनता की दृष्टि से विचार किया जाय तो उसके तीन आदर्श स्पष्ट हो जाते हैं—यथार्थ अथवा सत्यमय जीवन, सर्व-हित की भावना तथा जीवनमाधुर्य। सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को वर्तमान युग में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के रूप में स्वीकार किया गया है। प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भी 'ऋत' की कल्पना 'सत्य' को ही संकेतित करती है। सूर्यचन्द्र एवं समस्त नक्षत्र 'ऋत' के ही वशीभूत होकर अपने-अपने मार्ग पर स्थिर हैं। विश्व की समस्त प्रक्रिया ऋत अथवा सत्य पर ही आधारित है। इस प्रकार सत्य ही विश्व को स्थायित्व देता है। ठीक इसी प्रकार शिव या कल्याण की भावना भी भारतीय वाङ्मय का प्राणतत्त्व रही। इसी कारण ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में 'भद्र' (जो कि 'शिव' का ही पर्याय है) की ही कामना पद-पद पर दृष्टि-गोचर होती है। सूक्तियों में प्रतिपादित 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' तथा ऋग्वेद में प्रतिपादित 'यद् भद्रं तन्न आसुव' के प्रसंग इस बात के साक्षी हैं। प्रत्येक भारतीय अपना तथा अपनी ही भाँति समस्त विश्व का भी मंगल सब दिन से चाहता रहा है। 'सुन्दर' की भावना पृथ्वी-लोक की सरसता एवं उसके वैभव-पक्ष से सम्बद्ध है। इस प्रकार सत्य शिव एवं सुन्दर की भावनायें जहाँ समस्त विश्व को अपनी प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक स्थिति से समृद्धि-मार्ग पर ले जाती हैं, वहीं आदर्श रूप होने के कारण वे प्रत्येक ग्रन्थ की प्रतिपाद्य-सामग्री भी हैं। क्योंकि वाङ्मय का जो भी स्वरूप इन तीनों विश्वजनीन मान्यताओं का समवेत अथवा पृथक् रूप से ही उपदेश न दे सका अथवा प्रतिपादन न कर सका, वस्तुतः उसकी कोई सार्थकता नहीं है। इस प्रकार 'सत्य-शिव एवं सुन्दर' का सन्देश ही किसी भी आदर्श वाङ्मय की अन्तिम प्रतिपाद्य-व्यंजना होनी चाहिए। आचार्य मम्मट द्वारा स्थापित काव्य-प्रयोजनों में से 'यशःप्राप्ति' सत्य का, अर्थप्राप्ति-व्यवहारज्ञान तथा शिवेतरक्षति—ये तीनों शिव के तथा सद्यःपरिनिर्वृति एवं कान्तासम्मित उपदेश—'सुन्दर' के ही प्रतीक हैं।

किन्तु रूप-विद्या तथा कण्ठ की ही भाँति 'सत्य शिव तथा सुन्दर' की भी अवस्थिति समवायतः देखने में नहीं आती। शास्त्रों में यदि सत्य एवं शिवतत्त्व का प्रबल अस्तित्व है तो सौन्दर्य-तत्त्व उनमें गौण ही है। यहाँ तक कि सरसरसमाधुरी से आप्यायित 'काव्य' भी अपने प्रत्येक-भेद में इन तीनों चिरन्तन आदर्शों का एकधा प्रदर्शन नहीं कर पाता। यदि रूपक कृतियों में सौन्दर्य-पक्ष प्रबल है तो 'सत्य एवं शिवतत्त्व' अपेक्षाकृत निर्बल हैं। नाटक में काल्पनिकता का आश्रय लिये जाने के कारण 'सत्यतत्त्व' एवं लौकिक नरेश मात्र की प्रशस्ति रूप होने के कारण 'शिवतत्त्व' गौण ही रहता है। इसी प्रकार स्तोत्रकाव्यों में केवल शिवतत्त्व ही प्रबल रहता है किन्तु सौन्दर्य का उनमें अपेक्षाकृत कम सहयोग रहता है। कथा एवं आख्यायिकादिक में भी सत्यपक्ष अत्यन्त निर्बल रहता है। अन्ततः नीति-परक महाकाव्यों अथवा शतकों में भी केवल सत्यपक्ष ही मण्डित हो पाता है, अन्य दोनों नहीं। तो क्या यह मान लिया जाय कि काव्यवाङ्मय की कोई भी ऐसी उत्कृष्ट विधा नहीं जहाँ कि इन तीनों का युगपत् निबन्धन प्राप्त होता हो?

वस्तुतः 'अन्यापदेश' उपर्युक्त प्रश्न का ही एक रमणीय-समाधान है। संस्कृत काव्य-वाङ्मय का दूसरा कोई भी ऐसा प्रभेद नहीं है जो कि सत्यं शिवं तथा सुन्दरम् इन तीनों जागतिक आदर्शों का प्रस्तुतीकरण एक साथ कर सके। किन्तु अन्यापदेशवाङ्मय इन्हीं तीनों कलाओं की मंजुल समष्टि है। ये तीनों तत्त्व अन्योक्तिवाङ्मय के व्यंग्य सन्देश नहीं हैं, वरन् उसके प्रतिपाद्यभूत होने के कारण उसके अवयव रूप ही हैं। सांसारिक सत्यों का प्रतिपादन करके 'सत्यतत्त्व' को, लोककल्याणपरक भावनाओं की व्याख्या करके 'शिव-तत्त्व' को तथा अभिधया प्रतिपादित अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की व्यंजना कराने के कारण उत्पन्न काव्यसौन्दर्य प्रस्तुत करके 'सुन्दरतत्त्व' को अन्यापदेशवाङ्मय ने लोक के समक्ष उपस्थित किया है। अतः इस वैशिष्ट्य के कारण उसका अस्तित्व, उसका व्यक्तित्व और उसका स्वतन्त्र-पद अप्रतिम एवं अननुकार्य ही है।

'सत्यतत्त्व' का प्रतिपादन यद्यपि बहुत कुछ काव्यवाङ्मय के अन्य भेदों में भी हुआ है। उदाहरणार्थ रघुवंशप्रभृति महाकाव्यों में तद्वंशीय नरेशों के लोकानुकार्य्य पुण्य चरित प्रतिपाद्य रूप में आये हैं। किन्तु वे वस्तुतः लौकिक सत्य नहीं हैं, वरन् सांसारिकता से परे एक आदर्श सत्य हैं। वे उस प्रकार के सत्य हैं, जो केवल स्वर्ग तक विजय पाने के इच्छुक, वंशप्रवर्तन भर के लिए गार्हस्थ्यधर्म पालने वाले, सत्यसन्ध एवं विनयावनत रघुवंशी नरेशों को अभीष्ट थे। कृतयुग एवं त्रेता के उस यथार्थ सत्य को पालने वाले महान् व्यक्ति अब कलि में नहीं ही है। प्रत्येक युग का सत्य, अपने युग के अनुकूल ही होता है। अतः कलियुग का सत्य, जिसे अन्यापदेशों ने प्रतिपाद्यतया स्वीकार किया है, आदर्शसत्य न होकर 'कटुसत्य' है। किन्तु 'सत्य' एक ऐसा तत्त्व है जो स्वरूप से ही दुरधिगम एवं क्लिष्ट होने के कारण किसी को पसन्द नहीं। उसे कितना भी 'आदर्श-रूप' क्यों न बनाया जाय किन्तु वह 'मिथ्यात्व' की भाँति 'बाह्यमनोरम' तो हो ही नहीं सकता। 'सत्य' उस कच्चे सिंघाड़े की भाँति है, जिसे वही व्यक्ति पसन्द कर सकता है जो कि यह जान चुका है कि ऊबड़-खाबड़ छिलके के नीचे सिंघाड़े का आस्वाद्य-तत्त्व भी विद्यमान है। किन्तु इतनी शोध एवं प्रतीक्षा करने वाले धीर व्यक्ति पृथ्वी में अत्यल्प हैं क्योंकि किसी वस्तु से सम्बद्ध उनका निर्णय, प्रायः उसके बाह्य पर ही आधारित होता है। इस प्रकार जब 'आदर्शसत्य' का ही स्वरूप इतना रहस्यमय-दुर्बोध एवं भी तिकर होता है, तब फिर 'कटुसत्य' का क्या कहना! किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अन्यापदेश ने केवल सत्य की निकृष्टतम कोटि को ही अपनाया है, वरन् सत्य तो यह है कि पारलौकिक सत्य अथवा ऋत, आदर्शसत्य तथा कटुसत्य तीनों ही अन्योक्ति के प्रतिपाद्य बने हैं। वस्तुतः सत्य सत्य ही होता है, उसमें उत्कृष्ट या निकृष्ट जैसा कोई भेद करना अज्ञता का सूचक है। अतएव सत्य का ऋत-रूप, आदर्श रूप, निकृष्ट या कटु रूप, उसके विभिन्न अनुयायियों द्वारा ही दिया जाता है। असत्य भी वस्तुतः 'सत्य' का ही रूप है, क्योंकि वह तभी उत्पन्न होता है जब सत्य के अनुयायी उसका पूर्णतः लोप करके तद्विरुद्ध वस्तु ग्रहण करते हैं। अतः एक ही सत्य, ज्ञानी मुमुक्षुओं द्वारा ऋत रूप में

विवेकशील नरेशों अथवा तत्तुल्य विद्वानों द्वारा आदर्श रूप में, विषय एवं मायासक्त सांसारिक जनों द्वारा कटु या निकृष्ट रूप में तथा अन्ततः पातकी दुष्टों द्वारा अत्यन्ताभाव अथवा 'असत्य' रूप में देखा जाता है।

किन्तु अन्यापदेश ने सत्य के कटुपक्ष को ही अधिक अपनाया है, क्योंकि न तो वह मुमुक्षुओं के लिए है और न राजवर्ग के लिए। वस्तुतः वह मानवमात्र के लिए प्रणीत ज्ञान की उस पवित्र गंगाधारा के समान है, जिसके सैकत जलप्रवाह में उपाधियों की मैल शरीर से लगी नहीं रहने पाती। अतः अन्यापदेश का सत्य, मुमुक्षु-लिप्सु-विजिगीषु सब के लिए है बशर्ते कि वह 'जिज्ञासु' भर हो। आदर्श सत्य एक सीमित परिधि में ही रहने वाले व्यक्तियों का उपकार करता है जबकि अन्योक्तिगत सत्य, समस्त संसार की आँख खोल देता है। मनुष्य स्वार्थ में अन्धा होता है। चाहे आप किसी का कितना ही उपकार क्यों न करें किन्तु समय आने पर वह उल्टे आपका ही अपकार करने से चूकेगा नहीं। भाई, भावज, माँ, बाप तथा पत्नी तक भी विपत्ति में साथ नहीं देते। अधिकार पाते ही मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है। व्यभिचार के रंग में रंगा प्रेम कभी भी स्थिर नहीं हो पाता। परोपकारी व्यक्ति जीवन-दान देकर भी अपना व्रतपालन करते हैं। मनुष्य को अपना बाह्य सुसज्जित रखना चाहिए। चाटु-कार जीवन भर फायदे में रहता है और यथार्थवादी जीवनभर रोते हैं इत्यादि वाक्य, सांसारिक सत्यों का ही भाव उपस्थित करते हैं जो कि अन्योक्ति के प्रतिपाद्य हैं।

इन्हीं सत्यों को अन्यापदेश अपने अन्तराल में स्थान देता है, किन्तु इसलिए नहीं कि लोग उसे उसी रूप में ग्रहण करें और स्वयं भी उन्हीं की भाँति आचरण करें। वरन् इन कटु सत्यों के प्रतिपादन के पीछे अन्योक्ति-प्रणेता का एक आत्मभाव तिरोहित रहता है जो कि संसार के सुधार पर केन्द्रित रहता है। वस्तुतः कवि चाहता है कि किसी व्यक्ति द्वारा किए गए गलत कामों का पर्दाफाश वह ऐसी अप्रत्यक्ष रीति से करे कि महाशय चेत भी जाँय और उनकी प्रत्यक्ष बेइज्जती भी न हो। इस प्रकार सिद्ध है कि बिगड़े दिमाग वाले बाबुओं की मनोवृत्ति को ठीक रास्ते पर ले आने वाली मीठी औषधि ही अन्योक्ति है।

सत्य जब पारलौकिक अथवा आदर्श रूप रहता है तो उसे प्रस्तुत करने में रंचमात्र भी आयास कवि को नहीं होता। किन्तु 'कटु या नंगे' सत्य को लोक के समक्ष अभिव्यक्त करना स्वयं एक समस्या है। उदाहरणार्थ—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥

प्रभृति पद्य में प्रतिपादित रघुवंशीय नरपतियों के विषय में 'प्रोक्त' सत्य को महाकवि कालिदास ने एक महाकाव्य के रूप में रमणीय वर्णना-पद्धति के साथ उपस्थापित कर दिया। इसमें न तो कोई आयास ही था और न कोई विशेष परिश्रम। क्योंकि प्रतिभावान् कवि के लिए 'काव्यरचना' एक अभिरुचि-पूर्ण कार्य है न कि थकावट उत्पन्न करने वाली वस्तु।

परन्तु एक कटु सत्य का उदाहरण लीजिए ! कोई व्यक्ति है तो गुणवान् किन्तु साथ-ही-साथ महान् स्वार्थी भी है। जिस व्यक्ति के पीछे कुछ लेने के लिए पड़ जाता है तो फिर लेकर ही छोड़ता है। चाहे इस कार्य में उसका कितना ही अपमान क्यों न हो। उसका कोई हितैषी हृदय से चाहता है कि उसका सुधार हो जाय। किन्तु सुधार तो तभी सम्भव है जबकि कोई उससे भी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति उसे अपने प्रभाव में दबोच ले अथवा उसे स्वयं अपने कार्य पर घृणा एवं क्षोभ हो जाय। पहले उपाय में जहाँ 'प्रतिशोध' की भावना के लिए अवकाश है, वहाँ दूसरे उपाय में चिरस्थायी सुधार की आशा। पहले उपाय में प्रत्यक्ष डाँट-फटकार उपयोगी होगी किन्तु दूसरे में कोई साम्यमयी उक्ति-विधि।

ऐसे स्थलों पर सभी चाहते हैं कि चिरस्थायी सुधार हो जाय न कि कोई वैषम्य परिशेष रहे। अतः काव्य में चिरस्थायी सुधार के निमित्त लोकसुधारक कोई महाकवि जिस वर्णना-पद्धति का, जिस साम्यमयी उक्तिविधि का प्रयोग करता है वही अन्योक्ति है। अन्योक्ति में बाहर से तो कथन ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि आत्मतुष्टि के ही लिए निरपेक्ष भाव से कुछ कह रहा है किन्तु रहस्य तो तब खुलता है जब बोद्धव्य व्यक्ति वक्ता के कथन को उसके सही रूप में जान लेता है। पूर्वोक्त उदाहरण में ही स्वार्थी व्यक्ति को इंगित करके कवि कहता है—

अनुसरति करिकपोलं भ्रमरः श्रवणेन ताड्यमानोऽपि।
गणयति न तिरस्कारं दानान्धविलोचनो नीचः॥

इस पद्य को सुनकर स्वार्थी व्यक्ति पहले तो तटस्थ रहेगा कि ठीक है, भौंरे के लिए ही तो कह रहा है। किन्तु उसी क्षण ज्यों ही उसे यह भान होगा कि अरे ! मैं भी तो अमुक व्यक्ति का तलवा चाटता रहता हूँ, कितनी ही बार उसने मुझे अपमानित किया है, पीटा है, फिर भी मैं उनका ख्याल न करके बेहयाई बरतने से बाज नहीं आता, कि त्यों ही उसकी नस-नस में बिजली-सी दौड़ जायेगी। वह काँप उठेगा, शरम के मारे झुक जायेगा, किन्तु प्रतिशोध का भाव उसमें नहीं उठेगा। क्योंकि वह तुरन्त यह भी जान लेगा कि देखो, कितना नेक आदमी है कि दस आदमियों के बीच मेरी पोल नहीं खोली, फिर भी इतने सुन्दर ढंग से मुझे आगाह कर दिया।

इस प्रकार जो कटु सत्य प्रत्यक्षतः कहे जाने पर भयंकर-हिंसा का कारण बन सकता था, वह अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य के ही कारण आशातीत सुखान्त रूप बन जाता है और अभिव्यक्ति का यह माध्यम लोक में 'अन्योक्ति', प्रस्तुत करती है। अन्योक्ति उस अन्यवस्तु की उक्ति या अभिधा होती है जो बहिरंग दृष्टि से तो अपने लक्ष्य को छूती तक नहीं किन्तु व्यंजना-शक्ति द्वारा उसे 'शतपत्रपत्रच्छेदनन्यायेन', प्रकट कर देती है। इस व्यंग्य-बाण से आहत हुआ व्यक्ति फिर कभी वह दुष्कार्य करने का स्वप्न तक नहीं देख पाता जिसके लिए कि वह दुत्कारा या फटकारा गया है।

अन्योक्ति का मूल्यांकन करते समय यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जीवन एवं जगत् के जिस कटु यथार्थ को उसने अपना प्रतिपाद्य बनाया है वे स्वरूपतः भले ही भयंकर अथवा दुर्दान्त हों किन्तु अन्योक्ति ने उन्हें परिणामरमणीय रूप में ही कल्पित किया है। क्योंकि उन सब घृणित-से-घृणित, हेय-से-हेय तथा असंगत भावों का अन्तिम पर्यवसान, मानवमात्र के कल्याण में ही निहित है। पिछले अध्याय में अन्योक्ति द्वारा परिगृहीत कुछ जीवन-यथार्थों की बानगी हम देख चुके हैं। ठीक उसी प्रकार समस्त अन्योक्ति-वाङ्मय में इतने अधिक जागतिक कटु सत्यों का निबन्धन किया गया है कि कोई निपुण गणयिता भी एकबारगी उन्हें प्रस्तुत नहीं कर सकता। इन कटुसत्यों को किसी वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि इस रहस्य का प्रकाशन पहले ही किया जा चुका है कि अन्योक्ति में जो कुछ वाच्यरूप में कहा जाता है वह तो संयत एवं एकवस्तुनिष्ठ है किन्तु व्यंग्य-रूप में प्रस्तुत की गयी चरितार्थता (application) सैकड़ों वस्तुओं से सम्बद्ध हो सकती है।

लोक-मंगल की भावना ही अन्योक्ति का व्यंग्य-पक्ष पुष्ट करती है। वस्तुतः अन्योक्ति का अप्रस्तुतपक्ष, प्रस्तुतपक्ष तथा वाच्य अप्रस्तुत से इतिवृत्तसाम्य के कारण व्यंग्य प्रस्तुत की व्यंजना रूप परिपाटी, ये तीनों तत्त्व क्रमशः सत्य शिव एवं सुन्दर तत्त्व के परिचायक हैं। अप्रस्तुत वाच्य अर्थात् प्रतिपाद्य रूप में अन्यापदेश सांसारिक सत्य तथा उसके असंख्य रूपों को स्वीकार करता है और लोकमंगलभावना के रूप में उनकी व्यंजना करता है। काव्य के अन्य किसी भी क्षेत्र में इस प्रकार का लोकोतर प्रतिपाद्य-विधान शायद ही प्राप्त हो सके। रूपक-साहित्य में लोकमंगल की यह भावना स्पष्टरूप से केवल भरतवाक्य में प्राप्त होती है। श्रव्यकाव्यांगों में भी प्रकृत व्यक्ति के ही चरित का आद्यन्त वर्णन होने के कारण यह भावना बहुत कम प्रस्फुटित हो पाती है, हाँ यह बात दूसरी है कि नायक के चरित्र वर्णन में भी वह यथाकथंचित् आ जाय। कथा-साहित्य में अवश्य ध्येय (Motif) के रूप में लोकमंगल का भाव प्राप्त होता है किन्तु चारुत्व के माने में वह अन्यापदेश से घटिया ही सिद्ध होता है, क्योंकि अन्योक्ति की तरह कान्तासम्मितोपदेशता उसमें कम ही प्राप्त हो पाती है।

किन्तु अन्योक्ति का 'लोकमंगलभाव', अपने ढंग का अप्रतिम पदार्थ है। कथा-साहित्य में अनेक दृष्टान्तों का निबन्धन करके कथाकार एक मूल तथ्य का निकृष्ट एवं उत्कृष्टपक्ष प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ—'अपि शास्त्रेषु कुशलाः लोकाचारविवर्जिताः। सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥' प्रस्तुत पद्य में इस मूल तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि मनुष्य को लोकाचार में प्रवीण होना अनिवार्य है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए कथाकार कुछ विरोधी दृष्टान्त एवं तदनुकूल विरुद्ध परिणाम दिखाकर अन्त में यह सदुपदेश देता है— 'इसीलिए कहता हूँ कि मनुष्य को व्यवहारनिपुण होना चाहिए आदि।' यद्यपि इसमें लोक-मंगल का भाव स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है किन्तु सोचिये कि क्या इस निबन्धन में कोई ऐसी शक्ति अर्न्तहित है जो कि अव्यवहार-कुशल व्यक्ति को बलात् व्यवहार-कुशलता की

ओर आकृष्ट कर सके? कोई नहीं! यह भी तो निश्चित नहीं है कि व्यवहार-कुशल होने पर सदा लाभ-ही-लाभ होगा। व्यवहारकुशल व्यक्तियों के भी अनेक ऐसे दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जिनका जीवन अत्यन्त विपन्न है, जिन्हें पेट भर अन्न भी नहीं मिलता है। अतएव कथासाहित्य की लोकमंगलभावना, एक शिक्षा या आदर्श-सदुपदेश मात्र में निहित है, जिसकी प्रायोगिक सफलता के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

परन्तु अन्यापदेश का लोकमंगलभाव कल्पान्तरस्थायी है। क्योंकि वह गलत राह पर चलने वाले व्यक्ति को दूर से शिक्षा नहीं देता, दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत करता है कि 'देखो अमुक-अमुक व्यक्ति इसी प्रकार का आचरण करते थे और उनकी अमुक दुर्दशा हुई। अतः तुम इस राह को छोड़ दो अन्यथा तुम भी उसी गति को प्राप्त होओगे' आदि। सुनने वाला यदि निर्मलचित्त होगा तब तो वचन भी दे देगा कि 'भैया आप ठीक कह रहे हैं मैं गलत रास्ते पर था। पर अब भविष्य में ऐसी त्रुटि न होगी, किन्तु यदि वह कोई दक्काक बदमाश होगा तो मन में ही अथवा खुलेआम ही कह देगा—'अरे जा जा! आया है बड़ा उपदेश देने वाला। अरे वे कोई गधे रहे होंगे जिन्होंने अमुक आचरण करके भी अमुक दुर्दशा पायी। मेरी देखना कि मैं क्या करता हूँ और कैसे रहता हूँ।' आदि।

इस प्रकार निश्चित है कि कथागत क्षेमपद्धति स्वयं तो क्षेममूला है किन्तु उसका परिणाम उस स्थिति से भी अधिक भयंकर सिद्ध हो सकता है जिसके कि परिमार्जनार्थ कथाकार ने उसका उपदेश दिया था। प्रश्न यह है कि तब फिर अन्योक्ति में विद्यमान लोकमंगलभाव कैसे अन्वर्थता को प्राप्त होता है? इसका रहस्य यही है कि अन्यापदेश परिभ्रष्ट होते हुए मनुष्य को चेतावनी नहीं देता, दूर से ही तदलंकृतसरणि का गुण-दोष नहीं बताता, वरन् स्वयं उस व्यक्ति की एक-एक मांसपेशियों में घुसकर उसे व्यथित कर देता है। अन्योक्ति कविरूपी दुर्धर्ष धनुर्धर द्वारा परिभ्रष्ट व्यक्तिरूपी लक्ष्य को इंगित करके छोड़ा गया वह विषैला तीर है जो देखने में तो छोटा अवश्य लगता है किन्तु ऐसा मर्मान्तिक घाव करता है कि लक्ष्य बेचारा अचेतन-सा हो जाता है और जब चेतना आती है तो फिर कभी भी उस परिस्खलनरूपी कान्तार में प्रवेश करने की हिम्मत भी नहीं करता, जहाँ पर कि इस प्रकार के विषैले तीर निरन्तर चलते रहते हैं।

अन्योक्ति लक्ष्य-व्यक्ति का आमूलचूल परिवर्तन कर देती है। किसी मनुष्य को अपने गुणों पर बड़ा अभिमान है, इतना अभिमान कि जमीन पर पाँव नहीं पड़ते। किन्तु उन श्रीमान् जी को यह नहीं पता है कि वे जिस व्यक्ति के अधीन हैं, वह उनकी गुणवत्ता को कत्तई नहीं जानता और यदि मौका आया तो शुनःशेप की भाँति वह उनसे पिण्ड छुड़ा लेना ही श्रेयस्कर समझेगा। परन्तु यदि संयोग से किसी ने कटाक्ष कर दिया कि—

'त्यज निजगुणाभिमानं मरकत! पतितोऽसि पामरे वणिजि।
काचमणेरपि मौल्यं लभसे यत्नादपि श्रेयः॥'

तो उसी क्षण उनकी मिट्टी पलीद हो जायेगी। तब वे तुरन्त अन्दाज लेंगे कि आखिर वे कितने पानी में हैं? यद्यपि वक्ता ने यह कथन मरकत के विषय में ही प्रस्तुत किया है किन्तु इतिवृत्त-साम्य के कारण वह उसी लक्ष्य-व्यक्ति के व्यवहारों पर केन्द्रित होगा। वैसे वक्ता तो यह जानता ही है कि मैं यह कटाक्ष अमुक व्यक्ति के ही ऊपर कर रहा हूँ किन्तु बोद्धव्य अर्थात् लक्ष्य-व्यक्ति भी तुरन्त इस रहस्य को जान लेगा कि आखिर इस व्यक्ति ने बिना किसी प्रसंग के यहां मरकतमणि को क्यों ताना मारा? मरकतमणि कोई आदमी तो है नहीं कि इसकी बात सुनेगा। तो क्या इसने मुझ पर कटाक्ष किया है? हो सकता है मुझे ही कहा हो! बस-बस जान गया। मुझे ही उसने ताना मारा है, क्योंकि मुझे ही तो अपने गुणों पर बड़ा घमण्ड है। मैं ही तो घमण्ड के नशे में अपने प्यारे दोस्तों से सीधे मुँह बात भी नहीं करता। तो क्या मेरा यह मालिक मुझे दो कौड़ी का ही समझता है? अवश्य समझता होगा क्योंकि अपना करतब दिखाने का मौका भी तो मुझे नहीं मिला। तब फिर इस नालायक के यहाँ चाकरी करने से क्या लाभ? किसी गुणवान् व्यक्ति के यहाँ चलूँ और सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत करूँ। अब कभी व्यर्थ का अभिमान न करूँगा। साथियों से स्नेह सौहार्द्र का भाव निरन्तर बढ़ाऊँगा। इत्यादि।

इस प्रकार उपर्युक्त भाव के आते ही कुछ क्षण पूर्ण का अहंकारी व्यक्ति अपने उसी रूप में नहीं रह जाता। उसका कायाकल्प हो जाता है। वह सीधी राह पर आ जाता है। किन्तु विचार कीजिए कि क्या कोई उपदेश देने से यह सद्यःकायाकल्प सम्भव था? अपने इसी लोकोत्तर एवं व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के कारण अन्योक्ति अपना सानी नहीं रखती। मनुष्य ही वैधातृकी सर्जना का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है, क्योंकि ईश्वर ने उसे विचारशीलता दी है जो कि अन्य किसी भी तदितर प्राणी में प्राप्त नहीं है। अतः जब वही अपने इस विशिष्ट एवं असाधारण अधिकार से दूर होने लगता है तो क्रान्तदर्शी कवि को उद्बोधन के गीत गाने पड़ते हैं ताकि परिस्खलित होता हुआ व्यक्ति अज्ञान रूपी तमतोम से अपने को निकाल कर ज्ञान एवं कर्त्तव्य के समुज्ज्वल आलोक में रख सके। उन्हीं उद्बोधन गीतों का सर्वश्रेष्ठ प्रकार अन्यापदेश अथवा अन्योक्ति है।

मनुष्यों की समष्टि से ही लोक की सृष्टि होती है, जिसका वितान समस्त भूमण्डल में विस्तीर्ण हो चुका है। अतः यदि वर्जित मार्ग का अनुगमन करने वाले एक व्यक्ति का भविष्य अन्यापदेश ने मंगलमय बना दिया तो समझिये कि विश्वजनीन लोकमंगल की भावना में एक और कड़ी जुड़ गयी। यदि ऐतिहासिक साक्ष्यों का आश्रय लिया जाय तो हमारा उभयकोटिक लचीला विश्वास एक गैरिक शिला की भाँति सुदृढ़ हो जायेगा कि अन्योक्ति ने व्यक्ति ही नहीं वरन् प्रान्त-के-प्रान्त का भविष्य, देश-के-देश का भविष्य मंगलमय बना दिया है। यदि कण्वाश्रम में विद्यमान शकुन्तला ने महाराज दुष्यन्त के प्रणय को सर्वथा ठुकरा दिया होता अथवा गौतमी के आने पर लतासन्तापहारक के बहाने नरेश को आमंत्रित न किया होता तो सम्भवतः सन्तानहीन नरेश का जीवन और भी अधिक वेदनामय हो जाता और आश्चर्य

नहीं कि उसी परिवर्द्धित स्वस्वेदना में उनकी मृत्यु भी हो जाती। तब न भरत जैसा चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न होता, न पवित्र भारतभूमि की यह संज्ञा ही होती। सुभाषितावली में प्राप्त 'किमेवमविशंकित:' प्रभृति पद्य के विषय में हम जान चुके हैं कि वह कश्मीरनरेश शाहाबुद्दीन द्वारा आक्रामक मीरशाह के लिए भेजा गया था और जिसे पाकर सम्भवत: उसने कश्मीर पर आक्रमण करने की योजना ही छोड़ दी—अन्योक्ति ने समस्त कश्मीरप्रदेश का मंगल किया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध रीतिकालीन कवि बिहारी की अन्योक्ति 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' आदि ने जिस प्रकार जयपुरप्रदेश का मंगल किया वह किसी भी सुधी पाठक से छिपा नहीं। प्राचीन दन्तकथाओं को भले ही अप्रामाणिक मानकर छोड़ दिया जाय किन्तु जब से इतिहास प्राप्त होने लगता है तभी से यदि हम नरेशों के पत्रों का संदर्भ देखें तो स्पष्टत: जान जायेंगे कि उनमें अन्योक्ति अथवा अन्योक्ति-परिपाटी का आश्रय लिया जाता रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अन्यापदेश का प्रतिपाद्य अर्थात् अप्रस्तुत वाच्य रूप में उसकी अभिधा सामाजिक दुरवस्थाओं, कटुसत्यों, बुराइयों एवं एतादृश अन्य तथ्यों को लेकर व्यंजनाशक्ति के सहारे उससे लोकमंगल का भाव द्योतित कराती है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि अन्योक्ति दुरवस्थाओं, कटुताओं, बुराइयों तथा एतादृश अन्य कमियों को मंगलमय रूप देती है, उन्हें कल्याणमय रूप देती है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्योक्ति प्रशंसनीय एवं उदात्त चरितवाले प्राकृतिक उपादानों, पशु-पक्षियों एवं अप्रस्तुत देवताओं तथा मनुष्यों की स्तुति के बहाने प्रस्तुतभूत जनसमुदाय की प्रशस्ति भी गाती है, उसे उत्साहित एवं आप्तकाम भी बनाती है। इस प्रकार लोकमंगल-भावना के दोनों ही स्वरूप अन्योक्ति को इष्ट हैं।

अन्योक्ति का मूल्यांकन उसमें व्यवहृत मनुष्य एवं उसके जीवन के आधार पर ही होना चाहिए और चूंकि मानव-जीवन के आदर्श अभिकांक्षित तत्त्व तीन ही हैं—सत्य, शिव एवं सुन्दर अतएव यह भी देखना आवश्यक है कि अन्योक्ति वाङ्मय में इन तीनों तत्त्वों का निर्वाह कवियों ने किया किस तरह! सत्य एवं शिव का प्रश्न, अभी हल किया जा चुका है अतएव सौन्दर्यपक्ष की भी अपेक्षित व्याख्या अब होनी चाहिए। वस्तुत: यह विचारणीय प्रश्न है कि सुन्दर तत्त्व है क्या? और अन्योक्ति में वह किस रूप में प्राप्त होता है?

सौन्दर्य का सम्बन्ध प्राय: प्रेम अथवा रतिभाव से जोड़ा जाता है क्योंकि सौन्दर्य की ही कुक्षि में 'रतिभाव' प्राय: जन्म लेता है। पिछले अध्याय में इसी रतिभाव के अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है। किन्तु सौन्दर्यजात रतिभावना की मुख्यत: दो ही प्रवृत्तियाँ हैं एक तो इहलोक-सम्बन्धी और दूसरी परलोक-सम्बन्धी। इहलोक सम्बन्धी रतिभावना में ही संयोग एवं वियोगपक्षीय शृंगार तथा अन्य वासनात्मक प्रवृत्तियाँ आती हैं। ठीक इसी प्रकार पारलौकिक प्रणय में सर्वश्रेष्ठ स्थान भक्ति का है जिसके कि दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भेद हो सकते हैं। भगवान् कृष्ण की प्रणयिनी मीराँ ने तो दाम्पत्यभाव से कृष्ण की

भक्ति स्वीकार की थी। भगवती दुर्गा के प्रति की गयी पुत्ररूप भक्त की भक्ति वात्सल्य का उदाहरण है। इस प्रकार दास्य-सख्य-वात्सल्य-दाम्पत्य (भक्ति एवं वासना दोनों का) तथा अन्य वासनात्मक प्रवृत्तियाँ—सब-की-सब सौन्दर्यबोध के ही अन्तर्गत आती हैं।

किन्तु मानव-जीवन का सौन्दर्य थोड़ा और स्थूल है। नक्तन्दिव गगनांगन में उत्तुंग शृंग उठाये हुए पर्वतों की सुरम्य अधित्यकाओं से कलकल निनाद करती आती पयस्विनियों के मधुर गीत, झरनों की शत-शत किंकिणियों से उत्पन्न होने वाली शिंजितध्वनि-सरीखी झंकार, सूर्योदय, चन्द्रोदय, उषा की मनोहर अरुणिमा तथा रजनी का सूचीभेद्य निविडान्धकार, पशुओं के हम्मारव तथा पक्षियों के अयत्नसुलभ कलरव, रमणीय कान्तार—श्री, वन-उपवन, सरितातट, अमराई और इन्हीं के रसमय साहचर्य में सहवास करता हुआ मानव-समुदाय! यही जीवन सौन्दर्य है—खाने को भरपेट मिल जाय और शरीर नीरोग हो। थोड़ा मनोरंजन का साधन हो, बस यही जीवन का सौन्दर्य पक्ष है और यदि इन वैभवों की मात्राएँ बढ़ती जायँ तो क्या कहना—अधिकस्य अधिकं फलम्। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वैभव-साधनों की बढ़ोत्तरी से जीवन का सौन्दर्य भी बढ़ जायेगा। सम्भव है ऐसा न भी हो अथवा इसका उल्टा भी हो। सौन्दर्य-दर्शन के लिए सन्तोष का होना अत्यन्त आवश्यक है। संतोषविहीन व्यक्ति प्राप्त वैभवों का आनन्द न उठाकर नित्यप्रति प्राप्त होने वाली नवीन उपलब्धियों की ही चिन्ता में हैरान रहेगा और अतृप्त दशा में ही एक दिन इस धरती से उठ भी जायेगा। किन्तु इसके विपरीत संतोष का धनी एक गरीब किसान दश बीघे की खेती भर करके अपने खेतों एवं कुटुम्बी-जनों के बीच, जीवन का सारा सौन्दर्य, सारा सौख्य एवं आनन्द—देख और पा लेगा।

किन्तु प्राकृतिक उपादानों की भाँति अन्योक्ति कोई 'साकार' वस्तु तो है नहीं। वरन् वह तो काव्य का एक रूप-विशेष है जो कि उपर्युक्त लोकगत सौन्दर्य को अपने प्रतिपाद्य रूप में ग्रहण करता है। अतः अन्योक्ति में प्राप्त होने वाला सौन्दर्य-तत्त्व मुख्यतः दो प्रकार का है—एक तो वर्णन-सौन्दर्य और दूसरा वर्ण्य-सौन्दर्य। वर्णन का अर्थ अन्योक्ति काव्य के संवैधानिक अथवा संघटनात्मक उत्कर्ष से है, जिसका विवेचन विस्तारपूर्वक तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। इसी प्रकार वर्ण्य का अर्थ भाव से है जो कि प्रतिपाद्य रूप में अन्योक्ति में दिखायी पड़ते हैं और जिनका विवेचन छठें अध्याय में (काव्यात्मक विवेचन) सविस्तर किया जा चुका है।

अन्योक्ति का वर्णन-सौन्दर्य केवल इसी तथ्य में निहित नहीं है कि उसमें अप्रस्तुत वाच्य से व्यंग्य प्रस्तुतार्थ की व्यंजनयावगति होती है। वह तो महज अन्योक्ति की स्वरूपगत विशेषता है, उसका अन्यव्यवच्छेदक गुण है। किन्तु वास्तविक सौन्दर्य तो इस तथ्य में है कि उस अप्रस्तुत पक्ष का किसी लोकगत प्रस्तुत इतिवृत्त से साम्य होता कैसे है? कवि तो पहले अप्रस्तुत पक्ष का ही निबन्धन कर बैठता है बिना यह समझे कि इसकी संगति किसी अन्य इतिवृत्त के साथ होगी भी या नहीं? वैसे इन प्रश्नों में कुतूहल का भाव तो अवश्य भरा है किन्तु कोई गुरुता नहीं है। क्योंकि कवि अन्योक्ति में विशेषकर उसके सर्वाभि-

भावी एवं सर्वोत्कृष्ट रूप सारूप्यनिबन्धना में प्रस्तुत पक्ष का चिन्तन पहले ही कर लेता है और तब बाद में उसी प्रस्तुत पक्ष को व्यंग्य रूप में प्रस्तुत करने वाले किसी ऐसे पशु-पक्षी अथवा वृक्ष का इतिवृत्त ग्रहण करता है जो कि हर माने में प्रस्तुतपक्ष के समान हो। दूसरी बात यह है कि लोकगत प्रस्तुत पक्ष जिन्हें कवि व्यंजनया प्रस्तुत करना चाहता है वे तो स्वाभाविक होने के कारण चिन्तनमात्र से उपस्थित हो जाते हैं किन्तु तदनुकूल अप्रस्तुत विधान की रचना में कवि को अपनी बौद्धिक शक्ति खर्चनी ही पड़ती है।

इस प्रकार अन्योक्ति में पूर्व-चिन्तित किसी प्रस्तुतभूत व्यक्ति की प्रशंसा, निन्दा उपहास अथवा छींटाकसी (किन्तु इन सब का पर्यवसान उनके अभ्युदय-पक्ष में ही होता है) को व्यंग्यमुखेन उपस्थित करने के लिए ही प्रतिभावान् कवि तदनुकूल अप्रस्तुत इतिवृत्त का विधान करता है। वस्तुतः उसका सारा प्रयत्न उसी प्रस्तुत की व्यंजना में ही केन्द्रित होता है। अप्रस्तुतविधान तो अन्योक्ति में केवल इसलिए गृहीत किया जाता है ताकि लक्ष्य व्यक्ति को आमने-सामने उस कटुसत्य को न सुनाने की नौबत आये जिसे कि सुनते ही वह उबल पड़े और संहारार्थ उतारू हो जाय। अप्रस्तुत पक्ष में इसीलिए कवि विशेष करके पशुओं, पक्षियों तथा पेड़-पौधों को ही प्रयुक्त करता है क्योंकि उन्हें इसका कोई मलाल नहीं हो सकता। कवि किसी विशिष्ट व्यक्ति के बगीचे में उगे मिठवा, अमिलहा तथा मटरहा प्रभृति नामों वाले आम के पेड़ों को अथवा रामू, टामी, पपी, टाइगर, हीरा प्रभृति संज्ञा वाले कुत्तों को भी अप्रस्तुतविधान में नहीं रखता कि लोग उस पर कचहरी में दावा कर सकें।

वर्णना-सौन्दर्य का एक और कारण है जो कि वक्ता और बोद्धव्य पर ही आधारित है। यद्यपि अन्योक्तियाँ चाहे जिस भी रूप में हों, किन्तु सब की सब एक अन्य पुरुष (अर्थात् कवि) द्वारा ही व्यक्त की गयी है। फिर भी वर्णनागत समस्त पात्रों को ध्यान में रखते हुए उनका विभाजन कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टि से अन्योक्तियों के कुल तीन रूप उसके वाङमय में दृष्टिगोचर होते हैं १. प्रथम भेद, जहाँ कि अन्य पुरुष (कवि) ने किसी प्रस्तुत पक्ष के व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत-इतिवृत्त का विधान किया है। २. दूसरा भेद जहाँ अप्रस्तुत-पक्ष को दो पशुओं, दो पक्षियों, दो पुरुषों अथवा पशु-पुरुषों एवं वृक्ष-पुरुषों के संवाद के रूप में अभिव्यक्त किया गया है।[१] और ३. तीसरा भेद जहाँ अप्रस्तुत व्यक्ति स्वयं अपना इतिवृत्त उत्तमपुरुष के रूप में प्रस्तुत करता है।[२] किन्तु इन तीनों ही अभिव्यक्ति-साधनों में व्यंजना की दृष्टि से तृतीय भेद सर्वातिशायी है। लोक में भी किसी को ताना मारने अथवा उस पर कुछ छींटाकसी करने के लिए चतुर व्यक्ति प्रायः अपने को ही चुनते हैं। क्योंकि बोद्धव्य को जितनी ही

---

१. द्रष्टव्य—लक्ष्मीनृसिंहप्रणीत कविकौमुदी (द्वितीयभाग), सदुक्तिकर्णामृत ४।११, सारंगधर० परि० ५९ तथा पण्डितराजसंग्रह, पृ० १२३ आदि।

२. द्रष्टव्य—सूक्ति० पद्धति ३३ (शालि) सारंग० परि० ४२ (अर्कवृक्ष) तथा ४५ (कली), सुभाषिता० प० १३ (मृगी) तथा पण्डितराजसंग्रह, पृ० १३१।

अधिक संकीर्णता में डाल दिया जाय, व्यंजना उसे उतनी ही अखरती है। ग्रामीण स्त्रियाँ व्यंजना की इस परिपाटी में अपना सानी नहीं रखतीं। किसी पड़ोसिन पर जब भी छींटाकसी करनी हुई और जिस वृत्तान्त को लेकर करनी हुई बस उसी वृत्तान्त को अपनी लड़की पर आरोपित करके लगातार ऐसे व्यंग्यबाण छोड़ेगी कि पड़ोसिन तिलमिला उठेगी। उसके होंठ फड़क उठेंगे, वह लाल-पीली हो जायगी, गुबार गले तक आकर भर जायेंगे। आश्चर्य नहीं कि बेबसी में रोती हुई वह मैदान से भाग खड़ी भी हो। किन्तु किसी भी रूप में उसे एक शब्द भी बोलने का साहस नहीं होगा क्योंकि व्यंग्य बोलने वाली तो अपनी लड़की को बाँटती है। इसी प्रकार पड़ोसिन भी बदला लेने का अवसर ताकती रहती है।

अतः सिद्ध है कि आत्मारोपित अप्रस्तुतपक्ष की व्यंजना अन्यारोपित अप्रस्तुतपक्ष से कई गुना अधिक भयंकर परिणाम वाली तथा तीव्र होती है। उदाहरणार्थ हरिदासप्रणीत प्रस्तावरत्नाकर का ४१९ संख्यक पद्य जिसमें वक्ता कहता है—'अरे महाराज! जो सैकड़ों बार मैंने आपके लिए इस तरह के वाक्य कहे कि आप यम हैं, वरुण हैं, साक्षात् अग्निदेव हैं। राजन् आप ब्रह्मा हैं! विष्णु हैं, क्या कहूँ! आप तो त्रैलोक्यनयनानन्ददायी भगवान् चन्द्रमा हैं इत्यादि। उसी झूठ बोलने का यह फल मिला है कि आज इन्धन ढो रहा हूँ!!' वस्तुतः वक्ता द्वारा स्वयं कहे गये इस पद्य की व्यंजना किसी भी अन्य रीति से (अर्थात् प्रथम पुरुषगत अप्रस्तुत वृत्तान्त का निबन्धन करके) नहीं ही करायी जा सकती है। क्योंकि आत्मपरक होने के कारण ढेर-की-ढेर व्यंजनाएँ इसमें एकत्र हो गयी हैं। मुख्य व्यंजना तो यह है कि—'राजवर्ग के स्वभाव का कोई प्रत्यय नहीं करना चाहिए क्योंकि 'हसन्नपि नृपो हन्ति।' दूसरी यह कि जो वास्तव में जिन पदों के योग्य न हों अतिशयोक्ति द्वारा उन्हें उस पद पर न अभिषिक्त करना चाहिए। तीसरी यह कि—भाग्य के समक्ष मनुष्य का कोई वश नहीं चलता अतः भवितव्यता को कोई टाल नहीं सकता। चौथी यह कि असत्यभाषण का परिणाम बहुत भयंकर होता है। और पाँचवीं यह कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' इसी प्रकार आचार्य दण्डी के अनुसार वक्ता की मनोवेदना भी पद्य की व्यंजनाओं में से एक होगी।

यह तो हुआ अन्योक्ति का सौन्दर्य! अब वर्ण्य अथवा प्रतिपाद्य पर भी ध्यान देना चाहिए। वर्ण्य का अर्थ है जो वर्णन करने योग्य हो। प्रश्न यह है कि अन्योक्ति में वर्णन करने योग्य होता कौन है? अप्रस्तुत इतिवृत्त अथवा प्रस्तुत! अन्योक्ति का ही अपर पर्याय अप्रस्तुतप्रशंसा भी है जिसका विस्तृत विवेचन पहले भी अनेकधा हो चुका है। प्रायः अधिकांश आचार्यों ने प्रशंसा का अर्थ वर्णना से ही लिया है जो कि अप्रस्तुत की होती है। अन्य उक्ति का भी ठीक यही भाव है। अतएव इस साम्य को स्वीकार करने के बाद हम पूर्वोत्थापित प्रश्न का उत्तर स्पष्टतः दे सकते हैं कि अन्योक्ति में वर्णना (निबन्धना) अप्रस्तुत पक्ष की ही होती है, क्योंकि वही वाच्य होता है। किन्तु आचार्य दण्डी तथा कुन्तक ने 'प्रशंसा' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ लेकर उसे 'निन्दा' के विरोधी तथा 'श्लाघा'

के पर्याय रूप में ग्रहण किया है। इस स्थल पर वक्रोक्तिजीवितकार की एक धारणा वास्तव में अभिनन्दनीय है। वे कहते हैं कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रशंसा पद का प्रयोग विपरीतलक्षणा द्वारा ही सम्पन्न हुआ है[1] क्योंकि प्रशंसा तो वस्तुतः व्यंग्यभूत प्रस्तुत की ही होती है न कि वाच्य अप्रस्तुत की। अप्रस्तुतपक्ष की तो निन्दा ही होती है। फिर भी जैसे प्रकाशयुक्त आत्मा से सम्बद्ध अप्रकाशरूप अचेतन घट को भी प्रकाशित होने का श्रेय दे दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रशंस्य प्रस्तुतपक्ष से सम्बद्ध होने के कारण ही असत्यभूत अप्रस्तुत पक्ष को भी प्रशंस्या स्वीकार कर लिया जाता है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि अन्योक्ति में वर्णना या निबन्धन तो अप्रस्तुतपक्ष का ही होता है किन्तु वह स्वयं श्लाघ्य अथवा प्रशंस्य नहीं होता है। प्रशंसा वास्तव में प्रस्तुत पक्ष की ही होती है क्योंकि उसी के अभ्युदयार्थ कवि इतना विशाल परिश्रम करता है। यदि अन्योक्ति में प्रस्तुत व्यंग्य का प्रश्न न उठाया जाय और अप्रस्तुत इतिवृत्त की ही वर्णना में कवि के मंतव्य को पर्यवसित होने दिया जाय तो फिर उसमें सौन्दर्य संज्ञक कोई वस्तु बचेगी ही नहीं। क्योंकि उस दशा में वह स्वयं प्रस्तुत हो जायेगा अतः सिवाय अभिधेयार्थ के और किसी भी काव्यसौन्दर्य की वहाँ हम अपेक्षा नहीं कर सकते। वस्तुतः सत्य तो यह है कि अन्योक्ति के दोनों ही पक्ष उसके अस्तित्व के दो सम्मिलित आधारस्तम्भ हैं। यह वर्ण्य-विषय जैसा कि पिछले अध्याय में विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया जा चुका है, अनेक-विध होता है। प्रकृति, प्रणय, मनुष्य का जीवन अपने असंख्य सम्भाव्य भेद-प्रभेदों के साथ अन्योक्ति का प्रतिपाद्य बनता है। प्रकृति में भी उसके कोमल एवं कठोर पक्षों का निबन्धन अपने स्वाभाविक रूप में हुआ है जिससे अन्योक्ति के प्रतिपाद्य-सौन्दर्य में एक अद्भुत रमणीयता आ जाती है।

इस विवेचन को ध्यान में रखते हुए यदि कोई निष्पक्ष आलोचक उसका मूल्यांकन करने बैठे तो निश्चय ही वह अन्योक्तिवाङ्मय को काव्यसौध की शिखराली पर विद्यमान दीपाधार का ही स्थान देगा। मानव-जीवन ही क्या, समस्त विश्व के शतधा, सहस्रधा जीवन स्तरों के कटु सत्यों को मंगलमय रूप देने के कारण तथा अपने निजी सौन्दर्य के कारण अन्योक्ति-काव्य पारलौकिक सत्यों के प्रकाशक षड्दर्शनों पर, उपकारभावनाप्रधान स्तोत्रवाङ्मय पर, सौन्दर्यभावना-प्रधान रूपकसाहित्य पर तथा अन्यान्य काव्यविधाओं पर भी अपने व्यक्तित्व का आलोक डाल ही देता है। अन्योक्ति के इस आदर्श मूल्यांकन में न कोई अत्युक्ति है और न कोई काल्पनिकता। क्योंकि मूल्यांकन-संबंधी यह निर्णय पूर्वव्याख्यात उसके संविधान पर ही आधारित हैं।

अब अन्योक्ति के कुछ सामान्य वैशिष्ट्यों का उल्लेख किया जा रहा है जो कि उसकी सर्वातिशायिता के कारण बनते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. अन्योक्ति में विश्वजनीन

१. प्रशंसाशब्दोऽत्र अर्थप्रकाशादिवत् विपरीतलक्षणया वर्तते।

प्राकृतिक उपादानों (पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प, सूर्य, चन्द्र, सागर, पर्वत, उपत्यका एवं कान्तार आदि) को अप्रस्तुत रूप में इसलिए निबद्ध किया जाता है ताकि उसके इतिवृत्त के समान इतिवृत्त वाला ही कोई प्रस्तुत वृत्तान्त व्यंग्य हो सके। डॉ० कृष्णमूर्ति लिखते हैं—"Birds and beasts, trees and flowers, the sun-moon and sea, hill vale and forests etc. are personified and seemingly addressed by the poet with a view to panegyrise or satirise or allegorise contemporary social life" (Kavikaumudi's Intro.)

किन्तु जैसा कि प्रथम अध्याय में ही अन्योक्ति तथा रूपक का भेद स्पष्ट किया जा चुका है, अन्योक्ति सामाजिक जीवन का प्रतीक नहीं बनती। हाँ प्रशस्ति (Panegyry) अथवा व्यंग्य (Satire) अवश्य प्रस्तुत करती है।

२. अन्योक्ति के प्रतिपाद्य का वर्णन करते हुए डॉ० कृष्णमूर्ति का कथन है कि "First of all, the subject matter is never so serious as in the heoric epic. It is only the social and personal life of the poet that forms the subject." किन्तु डॉ० साहब के इस कथन में कुछ असंगति अवश्य है। यह कहना तो ठीक है कि कवि का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन ही अन्योक्ति की प्रतिपाद्यसर्जना करता है तथापि अन्योक्ति में केवल कवि का ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन नहीं प्रतिबिम्बित होता। वरन् उसी की भाँति के हजारों व्यक्तियों का विभिन्न परिस्थितियों में पलता हुआ सुख-दुःखमय जीवन अन्योक्ति का प्रतिपाद्य बनता है। दूसरी बात यह है कि डॉक्टर साहब का यह कथन किसी भी रूप में युक्तियुक्त नहीं है कि 'अन्योक्ति का प्रतिपाद्य शौर्यपूर्ण ऐतिहासिक महाकाव्यों की भाँति गम्भीर नहीं होता।' वस्तुतः अन्योक्ति का प्रतिपाद्य उनसे भी अधिक गम्भीर होता है किन्तु अन्योक्ति की विशिष्ट प्रतिपादन-परिपाटी में पड़कर वह अत्यन्त सरल प्रतीत होने लगता है।

३. अन्योक्ति के प्रयोगों में प्रायेण कवि के व्यक्तिगत मनोभावों का साम्य होता है। कभी-कभी तो कवि अपने व्यक्तिगत वृत्तान्त को ही अप्रस्तुत-विधान के सहारे प्रतिपादित करके अपने ही मनोभावों की व्यंजना करवाता है। यद्यपि कथा एवं आख्यायिका में भी दण्डीप्रभृति आचार्यों ने कविभावकृत चिह्नों के प्रतिपादन की स्वतंत्रता दी है किन्तु वह तो व्यक्तिगत स्वारस्य का एक संकेत मात्र है। परन्तु अन्यापदेश में तो पूरा-का-पूरा व्यक्तिगत इतिवृत्त अप्रस्तुत रूप में वर्णित होकर प्रस्तुत रूप में व्यंग्य हो उठता है। श्री महालिंगशास्त्री के शब्दों में In अन्यापदेश observations having particular references to experiences in the poet's life are purposely hidden in parallels drawn from nature. (व्याजोक्तिरत्नावली-भूमिका)

४. इसी प्रकार पाठक भी अपने मनोभावों का साम्य अन्यापदेशों में प्राप्त करता है। क्योंकि जिस समाज की बहुविध प्रवृत्तियों का निबन्धन अन्योक्ति में होता है, विज्ञ-

पाठक का व्यक्तिगत जीवन उनसे पृथक् थोड़े न होता है! इसी कारण डॉ० कृष्णमूर्ति का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि "In this (अन्यापदेश) the audience can share his thoughts and case." और श्री शास्त्री जी ने तो अन्यापदेश की उत्कृष्टता का यही प्रमाण ही स्वीकार किया है कि वह अपनी सत्यता एवं संगतता से पाठक को आकृष्ट कर ले और कुछ सोचने के लिए बाध्य भी कर दे।[1]

५. अन्यापदेश में प्रतिपादित कवि का व्यंग्य बहुत नपा-तुला ही होता है। उसकी तीक्ष्णता की अन्तिम परिणति भी मंगलमयी भावना ही होनी चाहिए। अन्यथा उसका प्रतिपादन-वैशिष्ट्य किसी काम का नहीं सिद्ध होगा। वस्तुतः अन्योक्ति में विद्यमान व्यंग्य डॉ० कृष्णमूर्ति के शब्दों में इसी प्रकार का होता है—His satire is always polished, neither coarse nor cynical and never misses fire.

६. और अन्त में अन्यापदेश का सर्वोत्तम स्वरूप वही है, जिसमें जीवन का एक-एक कोना झलक उठे। काव्यात्मक विवेचन में प्रस्तुत जीवनविविधाओं के दृष्टान्त से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है। अन्योक्ति के इसी वैशिष्ट्य को देखते हुए श्री महालिंग शास्त्री जी ने अन्योक्ति की उपमा 'अलादीन के दीपक' से दी है। उन्हीं के शब्दों में—An अन्यापदेश of the best quality is an Alladin's wonderful lamp to the matured thinker, a rub over the surface will reveal Kaleidoscopic vistas of life."

---

1. A genuine अन्यापदेश is recognised when it impresses with its truth and validity the reader, who realises atonce how with astonishing facility it interprets his own experiences of life in its several aspects.

अष्टम अध्याय

अन्योक्ति की अलंकार्यता

अलंकार्य का अर्थ है अलंकारों के योग्य होना। वाङमय के सन्दर्भ में लोकोत्तरवर्णना-निपुण[1] कविकर्म (काव्य) को ही काव्य माना गया है। आचार्य अभिनवगुप्त इसी काव्य के लिए 'लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य' शब्दावली[2] का प्रयोग करते हैं। यही काव्य वस्तुतः अलंकार्य अथवा अलंकरणीय होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोध के सन्दर्भ में, अभाववादी आचार्यों का मत-निरूपण करते हुए, उन काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की विशद व्याख्या की है जिनसे काव्य का अलंकरण होता है।[3] उस व्याख्या के अनुसार काव्य के चारुत्व-हेतु दो प्रकार के हैं—स्वरूपमात्रनिष्ठ और संघटनाश्रित! शब्द की स्वरूपमात्रनिष्ठ चारुता शब्दालंकार तथा संघटनाश्रित चारुता शब्दगुण है। इसी प्रकार अर्थ की चारुता क्रमशः अर्थालंकार एवं अर्थगुण है।

वृत्तियाँ और रीतियाँ भी अलंकार एवं गुण से 'अनतिरिक्तवृत्ति' अर्थात् अपृथक् हैं। पिछले अध्याय में इस सन्दर्भ की विस्तृत सैद्धान्तिक व्याख्या की जा चुकी है। इस प्रकार साकल्येन काव्य की चारुता के छ हेतु सिद्ध होते हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दगुण, अर्थ-गुण, वृत्तियाँ एवं रीतियाँ।

प्रस्तुत अध्याय में अन्योक्ति की अलंकार्यता को सोदाहरण व्याख्यात किया जा रहा है। यह शंका की जा सकती है कि अन्योक्ति तो स्वयं एक अलंकार है (जिसे कभी अप्रस्तुत-प्रशंसा अथवा अप्रस्तुतस्तोत्र नाम आचार्यों द्वारा दिया गया) तब फिर अलंकार के अलंकरण की क्या सार्थकता अथवा सम्भावना होगी? क्या अलंकार का भी अलंकार होना काव्यशास्त्रीय तकनीक की दृष्टि से सम्भव है?

---

१. द्रष्टव्य—मम्मटप्रणीत काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

२. द्रष्टव्य—ध्वन्यालोक (प्रथमकारिका से सम्बद्ध) लोचनव्याख्या।

३. तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दार्थगताश्चारुत्व-हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। ध्वन्या० कारिका १।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रस्तुत अध्याय में प्रयुक्त 'अन्योक्ति' शब्द अन्योक्ति नामक एक विशेष अलंकार-मात्र का वाचक नहीं, प्रत्युत वह 'अन्योक्तिकाव्य' का वाचक है। जैसे वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति अलंकार होते हुए भी काव्य की एक विशिष्ट परिपाटी भी हैं, ठीक उसी प्रकार अन्योक्ति भी काव्य की एक विशिष्ट पद्धति है। भावाभिव्यक्ति की एक मनोरम शैली है। वह स्वयं में एक स्वतन्त्र काव्य है। पिछलें चार अध्यायों के विवेचन से यह तथ्य प्रायः स्पष्ट हो गया है कि अलंकारता के संकुचित आवरण को तोड़कर जब अन्योक्ति ने मुक्ताभिव्यक्ति-क्षमता प्राप्त की तब वह स्वयं अपरिमेय एवं अनन्त बन गई।

कारण-कार्य तथा सामान्य-विशेष के सम्बन्धों में आबद्ध अप्रस्तुतप्रशंसा अपनी अलंकार-शास्त्रीय तकनीक के कारण भले ही एक विशिष्ट अलंकार प्रतीत होती हो परन्तु इतिवृत्त-साम्य के बल पर अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुतभूत अर्थ की व्यञ्जना करानेवाली अन्योक्ति निश्चय ही अलंकार से भी अधिक एक 'काव्यपद्धति' है। प्रायः समस्त आचार्यों ने अन्योक्ति को इसी अर्थ में स्वीकार किया है। संग्रहग्रन्थों में भी हम अन्योक्तिपद्धति, अन्योक्तिरीति, अन्योक्ति-प्रवाह तथा अन्यापदेशपद्धति आदि शब्दों का प्रयोग पाते हैं।

जब अन्योक्ति भावाभिव्यक्ति की एक पद्धति बन जाती है तो शब्द एवं अर्थ की विविध भंगी से बनने-बिगड़ने वाले, काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व—अलंकार, उसके अंग बन जाते हैं। अब यह आवश्यक नहीं कि अन्योक्ति-पद्धति में सारे के सारे छोटे-बड़े अलंकार प्रयुक्त हों। परन्तु स्वभावतः जो अलंकार प्रयुक्त हुए हैं उनकी व्याख्या प्रस्तुत सन्दर्भ में की जा रही है।

अलंकार-विवेचन

शब्दालंकारों के प्रसंग में सर्वप्रथम **अनुप्रास** आता है। स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द-साम्य होना अनुप्रास है।[1] शब्द का तात्पर्य यहाँ पद अथवा पदांश से है।[2]

अनुप्रास का उदाहरण जल्हण-विरचित इस अन्योक्ति में द्रष्टव्य है—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत् सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ?
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते॥[3]

---

१. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्॥ साहित्यदर्पणः।

२. एकेन द्वित्रैर्वा व्यञ्जनैरन्तरितं व्यवहितम् अथवा निरन्तरमविवक्षितस्वरं यद् व्यञ्जनं बहुशो बहून् वारान् आवर्त्यते ततोऽनुप्रास इति।

३. द्रष्टव्य—वल्लभदेवप्रणीत सुभाषितावली, अन्यापदेशपद्धति।

पायं पायं पिब पिब पयः सिञ्च सिञ्चाङ्गमङ्गं
भूयोभूयः कुरु कुरु सखे! मज्जनोन्मज्जनानि।
एषाऽशेषश्रमशमपटुर्दुःखिताध्वन्यबन्धुः
सिन्धुर्दूरीभवति भवतो मारवः पान्थ! पन्थाः॥[1]

भिन्न-भिन्न अर्थों वाले सार्थक स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की उसी क्रम में आवृत्ति होना **यमक** अलंकार है।[2] भट्टरुद्रट-प्रणीत निम्नलिखित अन्यापदेश में यमक का उपर्युक्त स्वरूप द्रष्टव्य है—

कमलिनीमलिनी दयितं विना न सहते सह तेन निषेविताम्।
तमधुना मधुना निहितं हृदि स्मरति सा रतिसारमहर्निशम्॥[3]

उपर्युक्त पद्य में मलिनी-मलिनी, सहते-सहते, मधुना-मधुना और रतिसा-रतिसा में स्पष्टतः यमक-विधान है।

श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर **श्लेष** अलंकार होता है।[4] यह दो प्रकार का होता है—सभंग और अभंग। अभंग श्लेष का एक रमणीय उदाहरण शारंगधर-पद्धति से दिया जा रहा है जो कि अज्ञातकर्तृक है। सुभाषितावली में भी यह पद्य संख्या ७९१ के रूप में उद्धृत है—

छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः।
मार्गद्रुमा महान्तश्च परेषामेव भूतये॥

शारंगधर-प्रणीत प्रस्तुत पद्य में भी अभंग श्लेष द्वारा नीच व्यक्ति तथा कूप का वर्णन प्रस्तुत किया गया है—

सगुणैः सेवितोपान्तो विनतैः प्राप्तदर्शनः।
नीचोऽपि कूपः सत्पात्रैर्जीवितार्थं समाश्रितः॥

अर्थालंकारों में उपमा और रूपक तो इतने सहज हैं कि उनका प्रयोग प्रायः प्रत्येक अन्यापदेश में मिल जाता है। परन्तु कुछ विशिष्ट एवं प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अर्थालंकारों के सन्दर्भ यहाँ निरूपित किये जा रहे हैं।

---

१. द्रष्टव्य—शार्ङ्गधरप्रणीत शार्ङ्गधरपद्धति, अन्योक्तिपरिच्छेद।

२. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥ साहित्यदर्पणः।

३. वल्लभदेवप्रणीत सुभाषितावली, अन्या० पद्धति।

४. श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते॥ साहित्यदर्पणः।

प्रकृत अथवा प्रस्तुत वस्तु (उपमेय) की अप्रस्तुत-वस्तु (उपमान) के रूप में सम्भावना ही **उत्प्रेक्षा** है।[१] परन्तु इस सम्भावनात्मक ज्ञान में कविप्रतिभाजन्य चमत्कार का होना अनिवार्य है।

जल्हण-प्रणीत सूक्तिमुक्तावली में झरते हुए फूलों वाले महुवे का एक अद्भुत चित्रण है। जिन पत्तों ने गर्मी की लू सही, पावस के झकोरे सहे और प्रचण्ड शीत की ठिठुरन भोगी, आज जब समृद्धि (फल-फूल) के दिन आये तो वे बेचारे अनुपस्थित हैं—मानो यही स्मरण करके महुआ मारे वेदना के अश्रुपात करता रो रहा है! प्रस्तुत पद्य में महुवे के झरते फूलों को अश्रु-बिन्दु के रूप में सम्भावित करना निश्चय ही कविप्रतिभा का चमत्कार है।

तत्तेजस्तरणेर्निदाघसमये तद्वारि मेघागमे
तज्जाड्यं शिशिरे मदेकशरणैस्सोढं पुरा यैर्दलैः।
आयातोऽप्यधुना फलस्य समयः कोऽयं विना तैरिति
स्मृत्वा तानि शुचेव रोदिति गलत्पुष्पैर्मधूकद्रुमः॥

शार्ङ्गधरपद्धति में शंखध्वनि में विलाप की चामत्कारिक सम्भावना करते हुए कवि कहता है—

क्व चाम्भोधौ जन्म क्व च वपुरिदं कुन्दधवलं
क्व चावासस्थानं कृतमहह विष्णोः करतले।
क्व नीचानामास्ये परिणतिरियं चुम्बनविधौ
इतीवायं शंखः करुणकरुणं रोदिति मुहुः॥

दो वाक्यों में धर्मसहित वस्तु अर्थात् उपमान तथा उपमेय के बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव को **दृष्टान्त** कहते हैं।[२] प्रतिवस्तूपमा से दृष्टान्त का यही भेद है कि यहाँ साधारण धर्म भी प्रति-बिम्बित होता है।[३]

शार्ङ्गधरपद्धति का अज्ञातकर्तृक उदाहरण प्रस्तुत है—

अनुसरति करिकपोलं भ्रमरः श्रवणेन ताड्यमानोऽपि।
गणयति न तिरस्कारं दानान्धविलोचनो नीचः॥

यहाँ भ्रमर (उपमेय) तथा नीच (उपमान) में धर्मसहित (अनुसरति/गणयति) बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव स्पष्ट है।

---

१. भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना॥ साहित्यदर्पणः।

२. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्॥ साहित्यदर्पणः।

३. अस्य चालंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यत्तस्यां धर्मो न प्रतिबिम्बितः इह तु प्रतिबिम्बितः॥—रसगंगाधरः।

साम्य अथवा सादृश्य के कारण अन्यवस्तु में अन्यवस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को **भ्रान्तिमान्** कहते हैं बशर्ते वह ज्ञान कवि की प्रतिभा से समुद्भूत हो।[१] शार्ङ्गधरपद्धति की निम्नलिखित हंसान्योक्ति प्रस्तुत है—

सरसि बहुशस्ताराछायां दशन् परिवञ्चितः
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः।
न दशति पुनस्ताराशंकी दिवापि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते॥

प्रकृत अर्थात् उपमेय का प्रतिषेध करके अन्य अर्थात् उपमान की स्थापना (आरोप) करना ही **अपह्नुति** अलंकार है।[२] सुभाषितावली में सातलकवि-प्रणीत यह मृगान्योक्ति देखें जिसमें निर्झर (उपमेय) का प्रतिषेध करके मृगमरीचिका (उपमान) की स्थापना की गई है—

नैतास्ता मलयस्य काननभुवः स्वच्छस्रवन्निर्झरा-
स्तृष्णा यासु निवर्तते तनुभृतामालोकमात्रादपि।
रुक्षध्वांक्षपरिग्रहो मरुरयं स्फारीभवद्भ्रान्तय-
स्ता एता मृगतृष्णिका हरिण हे! नेदं पयो गम्यताम्॥

जहाँ अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत पदार्थों में एक ही धर्म का सम्बन्ध हो अथवा जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो, वहाँ **दीपक** अलंकार होता है।[३] पुष्पाकरदेव–प्रणीत निम्नलिखित मधुकरान्योक्ति में कारकदीपक का का रुचिकर प्रयोग द्रष्टव्य है—

नो मल्लीमयमीहते न भजते मत्तेभकुम्भस्थली
वासन्तीं सहते न चन्दनवनीमालम्बते न क्वचित्।
जातीमेव हृदीश्वरीमिव महानन्दैककन्दाङ्कुरां
ध्यायन्निर्वृतिमेति षट्पदयुवा योगीव वीतभ्रमः॥

अनेक प्रस्तुत पदार्थों का 'एकधर्माभिसम्बन्ध' निम्नलिखित शाल्मलि-अन्यापदेश में द्रष्टव्य है—

हंसा पद्मवनाशया मधुलिहः सौरभ्यगन्धाशया
पान्थाः स्वादुफलाशया बलिभुजो गृद्ध्राश्च मांसाशया।

---

१. साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः॥ साहित्य०।
२. प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यत् स्थापनं स्यादपह्नुतिः॥ साहित्य०।
३. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥ काव्यप्रकाशः।

> दूरादुन्नतपुष्परागनिकरैर्निस्सारमिथ्योन्नते !
> रे रे शाल्मलिपादप ! प्रतिदिनं के न त्वया वञ्चिताः ॥[1]

कारण के अभाव में यदि कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है तो उसे विभावनालंकार कहते हैं।[2] आचार्य मम्मट कारण न कहकर 'क्रिया का प्रतिषेध' कहते हैं। रसगंगाधरकार ने ठीक ही लिखा है—**क्रियाशब्देनात्र कारणं विवक्षितम्।**

धनधान्य से समृद्ध व्यक्ति प्रायः ऐश्वर्य के मद में लम्पट, विलासी तथा स्वभाव से टेढा होता है। इसके विपरीत, परिक्षीण अथवा दैन्योपहत प्राणी प्रायः साधु प्रकृतिवाला होता है। परन्तु चन्द्रमा के सन्दर्भ में दोनों बातें उल्टी हैं। उसमें अकारण वक्रता और अकारण सुवृत्तता उत्पन्न हो गई है—

> अहो नक्षत्रराजस्य साभिमानं विचेष्टितम्।
> परिक्षीणस्य वक्रत्वं सम्पूर्णस्य सुवृत्तता ॥[3]

विरोध न होने पर भी जो वचन विरुद्धत्व से युक्त प्रतीत हो उसे **विरोधाभास** अलंकार कहते हैं।[4] विरोध एवं विरोधाभास—दोनों एक ही हैं। आचार्य विश्वेश्वर पण्डित ने लिखा है—**आपाततो विरोधप्रत्ययाद् विरोधः। अयमेव विरोधाभासः।**

लक्ष्मीधर-प्रणीत प्रस्तुत पंकजान्योक्ति में विरोधाभास द्रष्टव्य है। जड़ों के बीच रहते हुए भी, मदिरापायी लोगों से प्रीति रखते हुए भी, कण्टकभूत नीचों से घिरा हुआ होने पर भी कमल मित्र के उदय से हर्षित होता है। यह स्पष्टतः एक विरुद्ध वातावरण है। परन्तु इसका परिहार होते ही विरोध समाप्त हो जाता है। परिहार-परक अर्थ होगा—ज़ड़ अर्थात् जल (डलयोरभेदः) में रहकर, मधुप अर्थात् भ्रमरों से प्रीतिकर तथा कण्टकों से युक्त होकर भी कमल मित्र अर्थात् सूर्य के उदय होते ही हर्षित हो जाता है—

> पंकज ! जलेषु वासः प्रीतिर्मधुपेषु कण्टकैस्संगः।
> यद्यपि तदपि तवैतच्चित्रं मित्रोदये हर्षः ॥[5]

आचार्य रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में द्रव्य-क्रिया का विरोध प्रस्तुत करते हुए विरोध का उदाहरण दिया है—अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति आदि। यह पद्य अनेक संग्रह-ग्रन्थों के अन्योक्तिखण्ड में अनेक कवियों के नाम से उद्धृत है।

---

१. द्रष्टव्य—शार्ङ्गधरपद्धति तथा सुभाषितावली, संख्या ८२८ (अज्ञातकर्तृक)
२. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ॥ साहित्य०।
३. शार्ङ्गधरपद्धति, अन्योक्तिपरिच्छेद।
४. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ॥ काव्यप्रकाश।
५. शार्ङ्गधरपद्धति, अन्योक्ति-परिच्छेद।

सामान्य-विशेष तथा कार्य-कारण—इन चारों में जब साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा, एक से दूसरे का समर्थन किया जाता है तो वहाँ अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार होता है। यह इतना सहज एवं स्वाभाविक है कि अन्योक्तियों में पद-पद पर उपलब्ध होता है।[1] शार्ङ्गधरपद्धति में किसी अज्ञातनामा कवि की यह मधुकरान्योक्ति द्रष्टव्य है—

मधुकरगणश्चूतं त्यक्त्वा गतो नवमल्लिकां
पुनरपि गतो रक्ताशोकं कदम्बतरुं ततः।
तदपि सुचिरं स्थित्वा तेभ्यः प्रयाति सरोरुहं
परिचितजनद्वेषी लोको नवं नवमीहते॥

यहाँ चतुर्थ चरण में आये सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है। सुभाषितावली की एक हंसान्योक्ति देखें। इसमें भी सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है—

हंसोऽध्वगः श्रममपोहयितुं दिनान्ते
कारण्डकाकबकभासवनं प्रविष्टः।
मूकोऽयमित्युपहसन्ति लुनन्ति पक्षान्
नीचाश्रयो हि महतामवसानभूमिः॥

विभावना का ठीक उल्टा विधान विशेषोक्ति अलंकार में होता है।[2] कारण के रहते हुए भी फलाभिव्यक्ति न होने पर विशेषोक्ति होती है। वसुकल्प-प्रणीत चातकान्योक्ति में यह अलंकार द्रष्टव्य है—

बीजैरंकुरितं जटाभिरुदितं वल्लीभिरुज्जृम्भितं
कन्दैः कन्दलितं जनैः समुदितं धाराधरे वर्षति।
भ्रातश्चातक! पातकं किमपि ते सम्यङ् न जानीमहे
येनास्मिन्न पतन्ति तावकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः॥[3]

सुभाषितावली का एक और सन्दर्भ द्रष्टव्य है—

निर्मथ्यते यदि सुरासुरसैन्यसंघैरापूर्यते यदि जलैर्जलदापगाभिः।
पेपीयते च वडवामुखवह्निना चेन्न क्षुभ्यतिस्म जलधिर्न तनुत्वमेति॥

---

१. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥ काव्यप्रकाशः।
२. सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा॥ साहित्य०
३. सदुक्तिकर्णामृत (१७७८) सुभाषितावली (७४०) शार्ङ्गधरपद्धति (८२९)

इन उदाहरणों में, मेघवर्षा होने पर भी चातक की पिपासा का शमन न होना तथा अनेक प्रकार से रिक्त अथवा क्षुब्ध किये जाने पर भी सागर का अक्षुब्ध तथा परिपूर्ण बने रहना विशेषोक्ति का साधक प्रमाण है।

समासोक्ति अलंकार का विधान भी अन्योक्ति के सर्वथा विपरीत है। जब प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य, लिङ्ग तथा विशेषणद्वारा प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) के व्यवहार का आरोप किया जाय तो वहाँ समासोक्ति होती है।[1] श्लिष्ट-विशेषण होना समासोक्ति का प्रमुख वैशिष्ट्य है। सुभाषितरत्नकोष में उपलब्ध एक सूर्यान्योक्ति द्रष्टव्य है—

करं प्रसार्य सूर्येण दक्षिणाशावलम्बिना।
न केवलमनेनात्मा दिवसोऽपि लघूकृतः॥[2]

प्रस्तुत श्लोक में सूर्य उपमेय अथवा प्रस्तुत-पक्ष है। परन्तु इस श्लोक में कर-प्रसार, दक्षिणाशावलम्ब, दिवस तथा लघूकरण शब्द श्लिष्ट हैं जिनके कारणएक अप्रस्तुतभूत याचक का व्यवहार भी व्यङ्ग्य हो रहा है। दक्षिणा की आशा का अवलम्ब लेने वाले भिक्षुक नें हाथ फैलाकर न केवल अपने को छोटा बना दिया बल्कि दिन को भी (अपने मान-यश को भी!)

आचार्य विश्वनाथ ने कविमात्र द्वारा जानने योग्य डिम्भादि (बच्चों तथा पशुओं आदि) की क्रियाओं तथा स्वरूपों के वर्णन में **स्वभावोक्ति** माना है।[3] धनुष पर बाण चढाए हुए किरात पीछे पड़ा है। बेचारा मृग प्राणरक्षा में विह्वल है। परन्तु उसकी हिरनी गर्भभार से मन्थरगति होने के कारण उस तीव्रता से नहीं भाग पा रही है। ऐसी स्थिति में प्रिया-प्रेम में डूबा हिरन बार-बार उसकी ओर निहारता जा रहा है। प्रेम और मृत्यु के संत्रास में उभरी कालिदास-प्रणीत इस अन्योक्ति को देखें—

प्रियायां स्वैरायामतिकठिनगर्भालसतया
किराते चाकर्णं धृतधनुषि धावत्यनुपदम्।
प्रियाप्रेमप्राणप्रतिभयवशाकूतविकलो
मृगः पश्चादालोकयति च मुहुर्याति च मुहुः। सदुक्तिकर्णामृतम्॥

लोकोत्तर सम्पत्ति का वर्णन ही **उदात्त** अलंकार होता है। वर्णनीय वस्तु में यदि महा-

---

१. **समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।**
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥ साहित्य०

२. **सदुक्तिकर्णामृत (संख्या १९५९) तथा शार्ङ्गधरपद्धति (अज्ञातकर्तृक)**

३. **स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्॥ साहित्य०**

पुरुषों का चरित्र अंगभूत हो तब भी उदात्त अलंकार होता है।[1] महामुनि अगस्त्य का प्रस्तुत वर्णन इसका स्पष्ट निदर्शन है—

> कम्पन्ते गिरयः पुरन्दरभयान्मैनाकमुख्याः पुनः
> क्रन्दन्त्यम्बुधराः स्फुरन्ति बडवावक्त्रोद्गता वन्हयः।
> भोः कुम्भोद्भव! मुच्यतां जलनिधिः स्वस्त्यस्तु ते साम्प्रतं
> निद्रालुः श्लथबाहुवल्लिकमलाश्लेषो हरिः सीदति॥[2]

बोधिसत्त्व की पदवी को प्राप्त एक वृक्ष का यह लोकोत्तर ऐश्वर्य भी उदात्तालंकार की सृष्टि करता है। सूक्तिमुक्तावली तथा सुभाषितावली—दोनों ही ग्रन्थों में यह अन्यापदेश अज्ञातकर्तृक बताया गया है—

> आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयोद्भेदैस्त्वचा तापसाः
> पुष्पैः षट्चरणाः फलैश्शकुनयो धर्मार्दिताश्छायया।
> स्कन्धैर्गन्धगजाश्च विश्रमरुचः शश्वद्विभक्तास्त्वया
> प्राप्तस्त्वं द्रुम! बोधिसत्त्वपदवीं सत्यं कुजाताः परे॥

उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता अथवा न्यूनता का वर्णन ही **व्यतिरेकालंकार** है।[3] सुभाषितावली (संख्या-१००६) सदुक्तिकर्णामृत (संख्या-१८०६) तथा शार्ङ्गधरपद्धति में अज्ञातकर्तृक यह अन्यापदेश व्यतिरेक का उत्तम उदाहरण है—

> मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण। शाखोटनिम्बकुटजा अपि चन्दनन्ति।
> किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा। यस्याश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव॥

यहाँ उपमानभूत सुमेरु अथवा हिमालय से उपमेयभूत मलय की अधिकता बताई गई है। आचार्य विश्वनाथ ने व्यतिरेक के ४८ भेदों की व्याख्या की है। अन्यापदेशों में निश्चय ही व्यतिरेक के अन्यान्य भेद भी उपलब्ध हैं।

एक वाक्य में एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाने से **अनन्वय** अलंकार होता है।[4] निम्नलिखित काक एवं सागरान्योक्ति में यह अलंकार द्रष्टव्य है—

---

१. लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते॥ साहित्य०
उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्॥ काव्यप्रकाशः।
२. शार्ङ्गधरपद्धति, अन्योक्तिपरि०।
३. आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेकः। —साहित्यदर्पणः
४. उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः। —साहित्यदर्पणः।

मलोत्सर्गं गजेन्द्रस्य मूर्ध्नि काकः करोति यत्।
कुलानुरूपं तत्तस्य यो गजो गज एव सः॥[1]
अधः करोषि यद्रत्नं मूर्ध्ना धारयसे तृणम्।
दोषस्तवैव जलधे! रत्नं रत्नं तृणं तृणम्!![2]

पूर्व-पूर्व के प्रति अगले-अगले को विशेषण रूप में स्थापित करने अथवा हटाने पर **एकावली** अलंकार होता है। नरसिंह-प्रणीत सूक्तिमुक्तावली की निम्नलिखित खदिरान्योक्ति में इस अलंकार का मनोरम रूप मिलता है—

पदं तदिह नास्ति यन्न खदिरैः खरैरावृतं
न तेऽपि खदिरा न ये कुटिलकण्टकैरावृताः।
न ते कुटिलकण्टकाः किमपि ये न मर्मच्छिदः
तदुज्झत वृथा श्रमं बत सहध्वमध्वव्यथाम्॥

वाच्यनिन्दा से स्तुति और वाच्यस्तुति से निन्दा व्यङ्ग्य होने पर **व्याजस्तुति** अलंकार होता है। इस प्रकार व्याजस्तुति 'व्याजेन स्तुतिः' तथा 'व्याजरूपा स्तुतिः' दोनो है। यह पद्धति अन्यापदेश वाङ्मय में पुष्कल रूप में प्राप्त होती है। सुभाषितरत्नकोष की प्रस्तुत कोकिलान्योक्ति में वाच्यनिन्दा से स्तुति व्यङ्ग्य है—

यन्नीडप्रभवो यदञ्जनरुचिर्यत्खेचरो यद्द्विजः
तेन त्वं स्वजनः किलेति करटैर्यत्तैरुपब्रूयसे।
तत्रातीन्द्रियमोदिमांसलरसोद्गारस्तवैष ध्वनिः
दोषोऽभूत् कलकण्ठनायक! निजस्तेषां स्वभावो हि सः॥

नीलकवि-प्रणीत शंखान्योक्ति (सदुक्तिकर्णामृत) में भी वाच्य निन्दा से स्तुति गम्य है—

विदितधवलिमासि श्रूयमाणो ध्वनिस्ते
रमयति रमणीया जन्मभूः सिन्धुराजः।
तदपि निभृतमेकं वाच्यमस्त्येव कम्बो!
हृदयकुटिलिमानं कस्तवापह्नवीति॥

---

१. शार्ङ्गधरपद्धति।
२. शार्ङ्गधरपद्धति।

वाच्य स्तुति से व्यङ्ग्य निन्दा का उदाहरण सदुक्तिकर्णामृत में संग्रहीत शैलसर्वज्ञ कवि की यह रचना है—

त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता का नाम दिग्दन्तिनां
व्यालैः कंकणकुण्डलानि कुरुषे हानिर्न हेम्नामपि।
मूर्द्धन्यं तनुषे जडांशुमयशः किन्नाम लोकत्रयी-
दीपस्याम्बुजलोचनस्य जगतामीशोऽसि किं ब्रूमहे??

एक वस्तु अनेक में अथवा अनेक वस्तु एक में यदि क्रम से हो अथवा क्रम से की जाय तो वहाँ **पर्याय** अलंकार होता है।[1] दर्पणकार ने कुमारसम्भव का प्रसिद्ध श्लोक 'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु' आदि उदाहृत किया है। शार्ङ्गधरपद्धति में संग्रहीत अश्रु-सम्बन्धी एक अन्योक्ति में पर्याय का अद्भुत चित्रण मिलता है—

यदेतन्नेत्राम्भः पतदपि समासाद्य तरुणी-
कपोले व्यासंगं कुचकलशमस्याः कलयति।
ततः श्रोणीबिम्बं व्यवसितविलासं तदुचितं
स्वभावस्वच्छानां विपदपि सुखं नान्तरयति॥

यहाँ एक ही 'अश्रु' का तरुणी के कपोल, कुचकलश तथा श्रोणीबिम्ब में क्रमशः अवतरित होना बताया गया है। आचार्य रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में एक और उदाहरण दिया है—

नन्वाश्रयस्थितिरियं किल कालकूट! केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा?
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्॥

जहाँ अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की निन्दा का भाव व्यङ्ग्य होता है, आचार्य दण्डी ने वहाँ **अप्रस्तुतस्तोत्र** अलंकार माना है। अप्रस्तुतप्रशंसा के सन्दर्भ में किया गया यह आचार्य दण्डी का मौलिक परिवर्तन है। शार्ङ्गधरपद्धति और सुभाषितावली में प्राप्त इस अन्यापदेश में कोई व्यक्ति आत्मनिन्दा कर रहा है, हरिणों की प्रशंसा करके ! आत्मनिन्दा का भाव यहाँ व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं!

---

१. क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥ साहित्य०

२. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रकाण्डे तु या स्तुतिः।
सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः॥
सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते।
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना॥ काव्यादर्शः २।३४०

दूर्वाङ्कुरतृणाहारा धन्यास्ते वै वने मृगाः।
विभवोन्मत्तवित्तानां न पश्यन्ति मुखानि यत्॥

प्रस्तुत वाच्य के द्वारा जब दूसरा प्रस्तुत (वाच्य) द्योतित किया जाता है तो उस अलंकार को आचार्य अप्पय दीक्षित **प्रस्तुतांकुर** मानते हैं।[1] परवर्ती आचार्यों ने इसे 'उभय-प्रस्तुता' अन्योक्ति ही माना है। आचार्य अप्पय ने दो प्रसिद्ध अन्यापदेशों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथम उदाहरण है ध्वन्यालोकलोचन ३।४१ में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक जिसे शार्ङ्गधर तथा वल्लभदेव ने संग्रहीत किया है।

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि! साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते?
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे॥

दूसरा उदाहरण-पद्य कवयित्री विकटनितम्बा का है जिसे शार्ङ्गधर ने अपनी पद्धति में संकलित किया है। सदुक्तिकर्णामृतकार इस पद्य (संख्या-१७७७) को विद्यापति-प्रणीत तथा सुभाषितावलीकार इसे अज्ञातकर्तृक मानते हैं। पद्य इस प्रकार है--

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग! लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः!!

किसी भी पदार्थ की निष्पत्ति का जब 'असम्भवनीयता' के साथ वर्णन किया जाय तो उसे **असंभव** अलंकार कहते हैं।[2] अगस्त्य द्वारा चुलुकीकृत सागर से सम्बद्ध प्रस्तुत श्लोक में यह अलंकार द्रष्टव्य है--

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः॥[3]

---

१. प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः॥ कुवलयानन्दः २८।
२. असंभवोऽर्थनिष्पत्तेरसंभाव्यत्ववर्णनम्॥ कुवलयानन्दः ३६।
३. सूक्तिमुक्तावली में इसे वररुचि-प्रणीत, सुभाषित-रत्नकोष में कविनन्द-प्रणीत तथा शार्ङ्गधरपद्धति (संख्या १५) में मालवरुद्र-प्रणीत माना गया है।

किसी सदृशवस्तु के स्मरण का वर्णन करने से **स्मरण** अलंकार होता है।[१] विरुद्ध के अनुभव से विरुद्ध की स्मृति (जैसे सुख देखकर दुःख की अथवा दुःख देखकर सुख की) होना भी स्मरण अलंकार है। कमलनाल, पंक, सरोवर, तथा प्रेमानुरक्त हस्तिनी—इन समस्त सुखों के रहते हुए भी गजराज दवाग्नि में खोई हुई अपनी पूर्व प्रिया का स्मरण कर रहा है—

न गृह्णाति ग्रासं नवकमलकिञ्जल्किनि जले
न पंके वाह्लादं व्रजति बिसभंगार्थशबले।
प्रगल्भप्रेमार्द्रामपि विसहते नान्यकरिणीं
स्मरन् दावभ्रष्टां हृदयदयितां वारणपतिः॥ भट्टबाणः।[२]

निश्चय अलंकार का संविधान अपह्नुति का ठीक उल्टा है। अपह्नुति में उपमेय (प्रकृत) का प्रतिषेध करके उपमान स्थापित किया जाता है, परन्तु निश्चय में उपमान का प्रतिषेध करके उपमेय की स्थापना की जाती है।[३] सुभाषितावली में संग्रहीत भट्टवासुदेव-प्रणीत प्रस्तुत चातकान्योक्ति में यह विधान द्रष्टव्य है—

अयि चकितमुग्धचातक! मरुभुवि धावसि मुधा किमुद्ग्रीवस्?
ग्रीष्मे दवाग्निवलितस्तापिच्छोऽयं न विद्युत्वान्॥

यहाँ उपमानभूत मेघ का प्रतिषेध करके उपमेयभूत तापिच्छ (तमालतरु) की स्थापना की गई है।

कुवलयानन्दकार आचार्य अप्पय ने **प्रतीप** अलंकार को पंचधा व्याख्यात किया। एक भेद प्रतीप का वह भी है जिसमें अवर्ण्य (अन्य अर्थात् उपमान) का अनादर व्यक्त हो।[४] इसका उदाहरण आचार्य ने निम्नलिखित अन्योक्ति-पद्य दिया है—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल! तात! मास्म दृप्यः।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम्॥

कारण होने पर भी दूसरी वस्तु के गुणों को न ग्रहण करने से **अतद्गुण** अलंकार होता है।[५] गंगा-यमुना में मज्जन करने वाले राजहंस की शुभ्रता बढती ही है, घटती नहीं (जबकि

---

१. सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते॥ साहित्यदर्पणः।
२. सुभाषितावली। शार्ङ्ग॰ में अज्ञातकर्तृक।
३. अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः॥ साहित्य॰
४. वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः॥ कुवलयानन्दः ४। कुवलयानन्दकार ने यह विचार दर्पणकार से लिया है। द्रष्टव्य-साहित्य॰ १०-८८
५. तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः॥ साहित्य॰

यमुना में जलावगाहन करने के कारण शुभ्रता घटनी चाहिये। आचार्य विश्वनाथ निम्नलिखित अन्योक्ति को उदाहृत करते हैं।

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते॥

इस श्लोक के सन्दर्भ में आचार्य स्वयं लिखते हैं—

उत्तरत्र अप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गंगायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गंगा-यमुनयोः सम्पर्केऽपि न तद्रूपता।

सदुक्तिकर्णामृत (संख्या ११७७) में इसे सुरभि कवि की रचना बताया गया है। किन्तु सूक्तिमुक्तावली में यह अज्ञातकर्तृक है।

अन्य निन्दा से अन्य निन्दा की अभिव्यक्ति में आचार्य अप्पय व्याजनिन्दा अलंकार मानते हैं।[1] आचार्य-प्रदत्त उदाहरण इस प्रकार है—

विधिरेव विशेषगर्हणीयः करट! त्वं रट कस्तवापराधः।
सहकारतरौ चकार यस्ते सहवासं सरलेन कोकिलेन॥

जहाँ अनुरूप संघटना का वर्णन किया जाय वहाँ आचार्य रुय्यक सम अलंकार मानते हैं।[2] रसगंगाधरकार ने 'अनुरूपसंसर्गः समम्' कहा है और आचार्य अप्पय लिखते हैं—समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः। अप्पय दीक्षित ने इसके उदाहरण में जो अन्योक्ति प्रस्तुत की है वह जल्हण-प्रणीत सूक्तिमुक्तावली में अज्ञातकर्तृक संकलित की गई है। आचार्य रुय्यक ने भी यही पद्य उदाहृत किया है—

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद् विचित्रं
जातो दैवादुचितघटनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः॥

आकांक्षित से अधिक अर्थ के लाभ-वर्णन में प्रहर्षण अलंकार होता है।[3] अप्पय एवं जगन्नाथ—दोनों ही आचार्य इसे स्वीकार करते हैं। कुवलयानन्द में इसका उदाहरण निम्न-लिखित अन्यापदेश है—

---

१. निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते॥ कुव० ३१।
२. अनुरूपसंघटनात्मकः समालंकारः॥ अलंकारसर्वस्वम् (तद्विपर्ययः समम्)
३. वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्॥ कुवलयानन्दः ६७।
साक्षात्तदुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थलाभः प्रहर्षणम्॥ रसगंगाधरः

चातकस्त्रिचतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासया।
सोऽपि पूरयति विश्वमम्भसा हन्त हन्त ! महतामुदारता !!

सुभाषितरत्नकोष में अज्ञातकर्तृक, शार्ङ्गधरपद्धति (संख्या-१३) में अकालजलद-प्रणीत तथा सुभाषितावली (संख्या-८४३) में दाक्षिणात्य-प्रणीत निम्नलिखित अन्योक्ति भी प्रहर्षण का रुचिकर उदाहरण है—

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपंकपीठलुठनादस्मिन् मुहुर्मूर्च्छितम्।
तस्मिन्नेव सरस्यकालजलदेनागत्य तच्चेष्टितं
येनाकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते॥

अभीष्टार्थ का विरुद्ध प्राप्त होने पर विषादन अलंकार होता है।[1] यह, विधान की दृष्टि से प्रहर्षण की प्रतीप-स्थिति है। कुवलयानन्दकार ने उदाहरण दिया है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं। भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे। हा हन्त हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार॥
—सूक्तिमुक्तावली, शार्ङ्गधर० (संकीर्ण) सुभाषितावली (७५४)

एक वस्तु के गुण-दोष से जब किसी अन्य के गुण-दोष ज्ञात हों तो वहाँ कुवलयानन्दकार उल्लास अलंकार मानते हैं।[2] कुछ आचार्यों ने इसे स्वतंत्र न मानकर काव्यलिङ्ग में ही अन्तर्भूत स्वीकार किया है। आचार्य अप्पय ने इस सन्दर्भ में उदाहरण देते हुए तीन अन्यापदेश प्रस्तुत किये हैं—

लोकानन्दन चन्दनद्रुम सखे ! नास्मिन्वने स्थीयतां
दुर्वंशैः परुषैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद् वनम्।
ते ह्यन्योन्यनिघर्षजातदहनज्वालावलीसंकुला
न स्वान्येव कुलानि केवलमहो सर्वं दहेयुर्वनम्॥

प्रस्तुत पद्य में वेणुओं के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि-दाहरूपी दोष से वन-नाशरूपी दोष वर्णित किया गया है। परन्तु दूसरे अन्यापदेश में भ्रमरों के अलंकाररूपी गुण से गजों द्वारा समाचरित उपेक्षारूपी दोष वर्णित किया गया है—

---

१. इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्॥ कुवलयानन्दः ६८।
अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम्॥ रसगंगाधरः।

२. एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि॥ कुव० ६९।

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालैर्दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्ध्या।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति॥ शार्ङ्ग०

तीसरे उदाहरण में ठीक इसका उल्टा विधान है। इसमें वानरों के चापल-दोष से रत्न का चूर्णनाभावरूपी गुण वर्णित किया गया है—

आघ्रातं परिचुम्बितं परिमुहुर्लीढं पुनश्चर्वितं
त्यक्तं वा भुवि नीरसेन मनसा तत्र व्यथां मा कृथाः।
हे सद्रत्न! तवैतदेव कुशलं यद् वानरेणादरा-
दन्तःसारविलोकनव्यसनिना चूर्णीकृतं नाश्मना॥[1]

उल्लास की विपर्यय-स्थिति में **अवज्ञा** अलंकार होता है। यह स्थिति तब सार्थक होती है जब किसी के गुण से अन्य के गुणाभाव तथा दोष से दोषाभाव प्रकट हों।[2] आचार्य अप्पय ने उदाहरण-रूप में निम्नलिखित अन्यापदेश प्रस्तुत किया है—

त्वं चेत्संचरसे वृषेण लघुता का नाम दिग्दन्तिनां
व्यालैः कंकणभूषणानि कुरुषे हानिर्न हेम्नामपि।
मूर्द्धन्यं कुरुषे जलांशुमयशः किं नाम लोकत्रयी-
दीपस्याम्बुजबान्धवस्य जगतामीशोऽसि किं ब्रूमहे॥[3]

गुण-विवेचन

अब यह सन्दर्भ यहीं समाप्त किया जा रहा है। उपर्युक्त व्याख्यान में तीस से भी अधिक अलंकारों की सहज-स्थिति अन्यापदेश में सोपपत्ति प्रस्तुत की गई है। जैसा कि अध्यायारंभ

---

१. सदुक्तिकर्णामृत (संख्या १७२८) में इसे दूनोक-प्रणीत बताया गया है। परन्तु शार्ङ्गधरपद्धति में यह अज्ञातकर्तृक, साथ ही साथ परिवर्तित भी है—

आघ्रातं परिलीढमुग्रनखरैः क्षुण्णं च यच्चर्वितं
क्षिप्तं यद्धतनीरसत्वकुपितेनेति व्यथां मा कृथाः।
हे माणिक्य! तवैतदेव कुशलं यद् वानरेणाग्रहा-
दन्तःसत्त्वनिरूपणाय सहसा चूर्णीकृतं नाश्मना॥

काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से शार्ङ्गधरपद्धति में उपलब्ध पाठ अधिक महत्त्वपूर्ण एवं चामत्कारिक प्रतीत होता है।

२. ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा॥ कुवलयानन्दः ७०।
उल्लासस्य विपर्ययोऽवज्ञेति सामान्यलक्षणम्। अन्यस्य अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्त गुणदोषाधानाभाव इति पर्यवसितोऽर्थः।

३. सदुक्तिकर्णामृत में इसे शैलसर्वज्ञ की रचना बताया गया है।

में ही कहा गया था, उपमा-रूपकादि अनेक साधारण (अनायास-प्रयुक्त) अलंकारों को जान-बूझ कर छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार संकर, संसृष्टि एवं रसवत् प्रेय तथा ऊर्जस्व आदि को भी नहीं व्याख्यात किया गया है। अन्योक्ति का संविधान इतना विलक्षण है कि प्रयत्न करने पर और भी अलंकार उसमें प्रयुक्त प्राप्त हो सकते हैं।

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के अनन्तर काव्यालंकार के हेतुओं में गुण आता है, जिसकी विस्तृत सैद्धान्तिक व्याख्या पिछले अध्याय में प्रस्तुत की जा चुकी है। प्रस्तुत संदर्भ में उन शब्द एवं अर्थगुणों के अन्यापदेश-वाङमय में उदाहरणमात्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

आचार्य वामन ने काव्यशोभा-कारक धर्मों को गुण माना।[1] उन्होंने दस शब्दगुण तथा दस अर्थगुण स्वीकार किये—ओजस्, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति।

आचार्य वामन ने यद्यपि इन गुणों के पृथक् लक्षण प्रस्तुत किये हैं परन्तु वे लक्षण पूर्ण व्याख्यात न होने के कारण अस्पष्ट से हैं। अतः निशित-प्रतिभा और अनुभूति-प्रवणता से ही उस सन्दर्भ को समझा जा सकता है। वस्तुतः शब्दों के गुण शरीर-सौष्ठव सरीखे हैं। इन समस्त गुणों का सम्बन्ध काव्यबन्ध में प्रयुक्त शब्दों से है। परन्तु अर्थगुणों की सारी सार्थकता कविता के भावपक्ष में है।

बन्ध की गाढता ही **ओजस्** नामक शब्द गुण है और बन्ध की शिथिलता ही **प्रसाद** है। यद्यपि गाढत्व और शैथिल्य परस्पर विरोधीतत्त्व हैं अतः ओज एवं प्रसाद में भी उनकी सत्ता के कारण गुणाभाव (दोष) ही आता है। परन्तु आचार्य वामन कहते हैं कि जैसे करुण दृश्यों में परस्पर-विरोधी होते हुए भी दुख और सुख पृथक् अनुभव-सिद्ध होते हैं उसी प्रकार प्रतिभा-शाली सहृदय को यह गाढता और शिथिलता भी ज्ञात हो जाती है।[2] इन दोनों गुणों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

बरतरुविघटनपटवः झटचश्चकन्ति वायवो बहवः।
तत्कुसुमबहुलपरिमलगुणविन्यासे कृती लोकः॥
अस्यां सखे! बधिरलोकनिवासभूमौ किं कूजितेन खलु कोकिल! कोमलेन।
एते हि दैवहतकास्तदभिन्नवर्णं त्वां काकमेव कलयन्ति कलानभिज्ञाः॥
—शार्ङ्गधरपद्धतिः।

मसृणत्व ही **श्लेष** है। शब्द का मसृणत्व क्या है? जिस में बहुत से (प्रयुक्त) पद एक सरीखे लगते हैं[3], वही मसृणत्व है, जैसे कुमारसम्भव का हिमालय-वर्णन—

---

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः॥ काव्यालंकारसूत्रम् ३.१

२. गाढबन्धत्वमोजः॥ ३.१.५। शैथिल्यं प्रसादः॥ ३.१.६ (काव्या०)

३. मसृणत्वं श्लेषः॥ ३.१.१०। मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहूनि पदानि एकवद् भासन्ते।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि आदि। यही मसृणता निम्नलिखित अन्योक्ति के पदसमूह में द्रष्टव्य है—

वसन्त्यरण्येषु चरन्ति दूर्वां पिबन्ति तोयान्यपरिग्रहाणि।
तथापि वध्या हरिणा नराणां को लोकमाराधयितुं समर्थः॥

—शार्ङ्गधर० (मुक्तापीडस्य)

मार्ग का अभेद ही समता नामक शब्दगुण है। चाहे श्लोकमात्र हो चाहे पूरा प्रबन्ध, जिस मार्ग (शैली) से प्रारम्भ हो उसी का निर्वाह होना चाहिये। यदि श्लोक के प्रथम दो चरणों में असमस्त-पद हों तथा बाद वाले दो चरणों में समास-बहुल पदावली हो तो वहाँ समता नामक गुण नहीं होगा। गोविन्दराज-प्रणीत शार्ङ्गधरपद्धति की इस अन्योक्ति में यह द्रष्टव्य है—

भो भोः करीन्द्र ! विवसामि कियन्ति तावत् अस्मिन्मरौ समतिवाहय कुत्रचित्त्वम्।
रेवाजलैर्निजकरेणुकरप्रयुक्तैर्भूयः श्रमं गमयितासि निदाघदाहम्॥

आरोह तथा अवरोह के क्रम को समाधि कहते हैं[1]। आरोह में अवरोह का तथा अवरोह में आरोह का परिहार करना चाहिये। दोनों को बारी-बारी से प्रयुक्त करना ही समाधि-गुण है। आचार्य वामन ने स्वयं जो उदाहरण दिया है, वह विशुद्ध अन्योक्ति है। छित्तप-प्रणीत यह पद्य सदुक्ति० (संख्या १७८५) तथा सूक्तिमुक्ता० में संकलित है—

निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालबकुले
न साले सालम्बे लवमपि लवंगे न रमते।
प्रियंगौ नो संगं रचयति न चूते विचरति
स्मरन् लक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः॥

वामन पृथक्पदत्व को माधुर्य नामक शब्दगुण मानते हैं। अलग-अलग हों पद जिसमें अर्थात् समास की दीर्घता से विरहित ![2] माधुर्य-विरोधी शब्दगुण के उदाहरण से आचार्य का भाव और स्पष्ट हो जाता है—

चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्गचण्ड-
ध्वनिचकितवराहव्याकुलाविन्ध्यपादाः॥

माधुर्य-गुण का स्वरूप सदुक्ति० में संकलित गोसोककवि-प्रणीत इस चातकान्योक्ति में देखें—

---

१. आरोहावरोहक्रमः समाधिः॥ ३.१.१२
२. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्॥ ३.१.२० (समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत्।)

तृषार्तां शोचन्तीं न गणयति दीनां गृहवतीं
न दीनः पक्षाभ्यां स्थगयति शिशूनालपति वा।
कुटुम्बी सारंगः प्रसरति निदाघेऽप्यविकलः
कुलस्य स्वस्यायं पथि न पदमल्पं श्लथयति॥

बन्ध (पदरचना) की विकटता को **उदारता** नामक शब्दगुण कहते हैं। विकटत्व का अर्थ है लीलायमानत्व! लोगों को ऐसा लगे मानो शब्द नृत्य कर रहे हैं। जैसे—**स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झटिति रणितमासीत्तत्र चित्रं चलं च।'**
निम्नलिखित अन्यापदेश में उदारता-गुण द्रष्टव्य है—

**अयि दलदरविन्द! स्यन्दमानं मरन्दं तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि-दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन् परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥**[2]

अर्थव्यक्ति नामक शब्दगुण वहाँ होता है जहाँ झट से (अनायास) अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाय। यद्यपि वामन यहाँ स्पष्ट नहीं हैं विचारों में, उन्होंने यहाँ उदाहरण न देकर, पिण्ड छुड़ा लिया है—'प्रत्युदाहरणं तु भूयः सुलभं च' कहकर। परन्तु शब्द से अर्थव्यक्ति की सरलता का तात्पर्य है एकार्थक, काकु अथवा श्लेष-रहित, कोमल शब्दों का प्रयोग। उदा०

**रज्ज्वा दिशः प्रवितताः सलिलं विषेण। पाशैर्मही हुतवहज्वलिता वनान्ताः।
व्याधाः पदान्यनुसरन्ति गृहीतचापाः। कं देशमाश्रयतु यूथपतिर्मृगाणाम्!!
—सुभाषितावली (मुक्तापीडस्य)**

बन्ध की उज्ज्वलता को **कान्ति** नामक शब्दगुण कहते हैं।[3] इसके अभाव में काव्य-रचना 'पुराणच्छाया' मानी जाती है। सम्भवतः इस गुण का तात्पर्य है, सर्वथा नूतन पदावली का प्रयोग! विक्रमांकदेवचरित में बिल्हण ने इसी को 'पुराणरीति-व्यतिक्रमः' कहा है।[4] वामन उदाहरण देते हैं—'कुरंगीनेत्रालीस्तबकितवनालीपरिसरः।' निश्चय ही ऐसी पदावली की भरमार है अन्यापदेशों में। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. विकटत्वमुदारता॥ ३.१.२२। यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः।

२. पण्डितराजजगन्नाथ-प्रणीत भामिनीविलास।

३. औज्ज्वल्यं कान्तिः॥३.१.२४

४. प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि॥

चिरश्रान्तो दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्
तदेकं त्वद्गेहे तरुणि! परिणेष्यामि दिवसम्।
समीरेणोक्तैवं नवकुसुमिता चूतलतिका
धुनाना मूर्द्धानं नहि नहि नहीत्येव वदति॥ पण्डितराजः

शब्दगुणों के अनन्तर अर्थगुणों की अन्यापदेश में सार्थकता बताई जा रही है। अर्थ की प्रौढि ही **ओज** नामक अर्थगुण है।[1] उदा० चन्द्रपद-वाच्य अर्थ के लिये 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' का प्रयोग करना।[2] निम्नलिखित अन्यापदेश में भी चन्द्रपद-वाच्य अर्थ के लिये इसी प्रकार की शब्दावली प्रयुक्त की गई है—

नक्षत्राणि बहूनि सन्ति परितः पूर्णोदयान्यम्बरे
किं तैः शान्तिमुपैति दीर्घतिमिरं किं वाऽब्धिरुज्जृम्भते?
किं स्यादार्तचकोरपारणविधिर्भ्रातः सुधादीधिते!
तन्नूनं भुवनैकतापशमनः श्लाघ्यस्तवैवोदयः॥ पण्डितराजः।

अर्थ की विमलता ही **प्रसाद** नामक अर्थगुण है। अर्थ-वैमल्य का तात्पर्य यह है कि अनेकार्थता का भय न हो। जैसे—'उपास्तां हस्तो में विमलमणिकाञ्चीपदमिदम्' वाक्य में 'काञ्चीपद' से 'नितम्ब' के भी लक्षित हो जाने के कारण विशेषण अप्रयोजक सिद्ध हो जाता है। अन्योक्तियाँ तो प्रायः शत-प्रतिशत अर्थ-वैमल्य से ओतप्रोत हैं—

मुक्ता मृणालपटली भवता निपीतान्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः॥

घटना को **श्लेष** (नामक अर्थगुण) कहते हैं।[3] घटना का अर्थ है—क्रम-कौटिल्य तथा अनुल्बणत्वोपपत्ति-योग! आचार्य वामन के अनुसार शूद्रक आदि की कृतियों में इसका 'भूयान् प्रपञ्च' देखने को मिलता है। क्रम-कौटिल्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः।
अस्माकमर्कवृक्षाणां पूर्वपत्रेऽपि संशयः॥ शार्ङ्ग०

---

१. अर्थस्य प्रौढिरोजः॥३.२.२

२. सदुक्ति० में रविगुप्त-प्रणीत एक सूर्यान्योक्ति में सूर्य को 'जगन्नेत्रश्रेणीतिमिर-हरसिद्धाञ्जनसखा' कहा गया है। यह भी अर्थ की प्रौढि है।

३. घटना श्लेषः॥ ३.२.४

अवैषम्य को **समता** नामक अर्थगुण कहते हैं।[१] अवैषम्य का अर्थ है—प्रक्रम का अभेद। आचार्य वामन अर्थ की सुगमता को भी समता मानते हैं, जैसे—अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा आदि। मूलग्रन्थ के उदाहरण-श्लोक से आचार्य का भाव और स्पष्ट हो जाता है—

'च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः।'

यहाँ शीतकाल के वर्णन में 'मलय-मारुत' का वर्णन प्रक्रमभेद पैदा कर देता है। परन्तु अन्यापदेशों में शायद ही कहीं ऐसा हो। एक उदाहरण में इस अवैषम्य को देखें। मरुभूमिमें एक भी विलासवनिका का विहग नहीं दीख रहा है, जो पक्षी हैं, सभी मरुभूमि की प्रकृति के अनुकूल ही हैं—

इतः काकानीतः प्रतिभयमितः कौशिकरुता-
चितो गृध्रव्यूहः कुलमितिमितः कंकवयसाम्।
श्मसानावस्थेऽस्मिन् अखिलगुणवन्ध्ये हृतमरो
अपि द्विजाः केचिन्न खलु कलवाचश्शकुनयः॥

—सूक्तिमुक्ता० सुभाषिता० (९५९)

समाधान का कारण बनने से अर्थ-दृष्टि को **समाधि** (अर्थगुण) कहा गया है।[२] वस्तुतः काव्यार्थ दो प्रकार का होता है—अयोनि तथा अन्यच्छायायोनि। अयोनि अर्थ वह है जो 'अकारण' हो अर्थात् अवधान-मात्र (आत्मकल्पनामात्र) जिसका कारण हो। परन्तु जिस अर्थ के मूल में किसी अन्य काव्य की छाया हो, उसे अन्यच्छायायोनि कहेंगे। इन्हीं दोनों दृष्टियों का सम्पादन 'समाधि' है। अयोनि अर्थ का उदाहरण देखें—

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलतां प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते॥ जगन्नाथः

परन्तु निम्नलिखित श्लोक एक अन्य समानभाव वाले श्लोक[३] से प्रभावित होने के कारण अन्यच्छायायोनि मान्य है—

---

१. **अवैषम्यं समता॥ ३.२.५**
२. **अर्थदृष्टिः समाधिः॥ २.२.६**
३. **एक एव खगो मानी वने वसति चातकः।**
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम्॥

आकस्मिककणैः प्राणान् धारयत्येव चातकः।
प्रार्थनाभंगभीतोऽसौ शक्रादपि न याचते॥ जगन्नाथः

उक्ति के वैचित्र्य को आचार्य वामन माधुर्य नामक अर्थगुण बताते हैं।[1] वस्तुतः यह उक्ति-वैचित्र्य ही अन्यापदेश का प्राण है। सुभाषितावली में संकलित भागवत त्रिविक्रम-प्रणीत इस पद्य को देखें—

रत्नान्यमूनि मकरालय ! नावमंस्थाः कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि॥
स्थित्वा क्षणं विततपक्षतिरन्तरिक्षे मातंगसंगकलुषां नलिनीं विलोक्य।
उत्पन्नमन्युपरिघर्घरनिःस्वनेन हंसेन साश्रु परिवृत्य गतं न लीनम्॥
—सुभा० (६९९) सदुक्ति० (१९७३)

परुष (कठोर) अर्थ के सन्दर्भ में अपरुष (अकठोर) अर्थ का प्रयोग ही 'अपारुष्य' है। इसी को वामन सौकुमार्य नामक अर्थगुण कहते हैं।[2] जैसे—मृत के लिये यशःशेष, एकाकी के लिये देवता-द्वितीय, गच्छ के लिये साधय क्रिया का प्रयोग। मृत्यु के लिये एक कोमल अर्थ-प्रयोग निम्नलिखित अन्योक्ति में द्रष्टव्य है—

वंशः प्रांशुरयं घुणव्रणवृतो जीर्णा वरत्रा इमाः
कीलाः कुण्ठतया विशन्ति न महीमाहन्यमाना अपि।
आरोहव्यवसायसाहसमिदं शैलूष ! सम्स्यज्यतां
दूरे श्रीनिकटे कृतान्तमहिषग्रैवेयघण्टारवः॥ सूक्तिमुक्ता०

ग्राम्यत्व के प्रसंग में अग्राम्यत्व का प्रयोग, इसी प्रकार उदारता नामक अर्थगुण है।[3] इसका एक रमणीय उदाहरण कालिदास-प्रणीत शाकुन्तल की यह अन्योक्ति है—

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतः मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥

वस्तुओं अथवा भावों के स्वभाव की परिस्फुटता 'अर्थव्यक्ति' कही जाती है।[4] आचार्य

---

१. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्॥ ३.२.१०
२. अपारुष्यं सौकुमार्यम् ॥ ३.२.११
३. अग्राम्यत्वम् उदारता ॥ ३.२.१२
४. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ॥ ३.२.१३

वामन सरोवर में खिले कुमुद का एक सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करते हैं। ऐसी अगणित अन्योक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। एक उदाहरण देखें—

इयत्पृथ्वीमात्रं तदनु च नभोमण्डलमियत्
इयान्पातालान्तो जलमपि पृथिव्यामियदिति।
इति ज्ञात्वा कूपे विदितविषयो नायमपरः
परं मुग्धो भेकः प्रबलतररावं प्रकुरुते॥—सदुक्ति० (जयनन्दिन्)

श्रृङ्गारादि रसों की दीप्तता ही **कान्ति** नामक अर्थगुण है।[1] वीररस की दीप्तता का एक चित्र द्रष्टव्य है—

किमेवमविशंकितः शिशुकुरंग! लोलक्रमं
परिक्रमितुमीहसे विरम नैव शून्यं वनम्।
स्थितोऽत्र गजयूथनाथमथनोच्छलच्छोणित-
च्छटापटलभासुरोत्कटसटाभरः केसरी॥—सुभा० (भागवतामृतदत्त)

करुणरस की दीप्ति का एक अद्भुत उदाहरण सुभाषितावली में विद्यमान है—

शावान् कुलायकगतान् परिपातुकामा नद्याः प्रगृह्य लघु पक्षपुटेन तोयम्।
दावानलं किल सिषेच मुहुः कपोती स्निग्धो जनो न खलु चिन्तयते स्वपीडाम्॥

वृत्ति-रीति-विवेचन

पिछले अध्याय में वृत्तियों एवं रीतियों की सैद्धान्तिक चर्चा हो चुकी है। प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में भी आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनव के मतों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि वृत्तियाँ अलंकारों से तथा रीतियाँ गुणों से भिन्न नहीं हैं।[2] वृत्तियाँ मुख्यतः तीन हैं—नागरिका, उपनागरिका, ग्राम्या। इसी प्रकार रीतियाँ मुख्यतः चार हैं—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी तथा लाटी।

लोचनकार आचार्य अभिनव ने स्पष्टतः लिखा है कि रौद्र में दीप्त, श्रृङ्गार में मसृण तथा हास्य में मध्यम भाव से वर्णनीयोपयोगी होने के कारण अनुप्रास के ही परुष, ललित एवं मध्यम स्वरूप को परुषा, ललिता तथा मध्यमा वृत्ति कहते हैं। इन्हीं को क्रमशः नागरिका,

---

१. **दीप्तरसत्वं कान्तिः॥ ३.२.१४**
२. **वर्णन्तिऽनुप्रासभेदा आस्थिति। यदाह—सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।**
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥ लोचन

उपनागरिका तथा ग्राम्या भी कहते हैं, नायिका-विशेष के साथ साम्य होने के कारण! इस प्रकार परुषानुप्रास, ललितानुप्रास तथा कोमलानुप्रास ही इन वृत्तियों का स्वरूप है।

आचार्य रुद्रट ने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा नामक पांच वृत्तियां मानी तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले वर्णों का विवरण प्रस्तुत किया।[1] **परुषानुप्रास** में सकार, रेफ तथा टवर्ग-वर्ण प्रायः प्रयुक्त होते हैं। उदा०

दिक्चक्रं तृणभस्मना मलिनितं मूलान्यपि क्ष्मारुहां
निर्दग्धानि स चार्भकोऽपि हरिणीयूथेऽवशेषीकृतः।
हा कष्टं विपिनौकसोऽपि मुनयः प्लुष्टाः कृतान्तक्रियां
कृत्वेत्थं वनवन्हिना किममुना शान्तेन दीप्तेन वा॥
—सूक्तिमुक्ता० (उमापतिधरः)

मसृणा (अथवा मधुरा) वृत्ति में वर्गों के पञ्चमवर्ण, लकार, रकार, ह्रस्वस्वर तथा अन्य कोमलवर्ण अधिक होते हैं। उदा०

अयि कुरङ्गि! तुरंगमविक्रमे! त्यज वनं जवनं गमनं कुरु।
इह वने विचरन्ति हि नायकाः सुरभिलोहितलोहितसायकाः॥ जगन्नाथः

कोमलावृत्ति (न परुष, न मधुर अपितु, स्वभावतः सुकुमार, कोमल शब्द यहाँ रूढ अर्थ में है न कि कोमलता के अर्थ में) हास्यादि में प्रयुक्त होती है।

अन्यापदेशों में प्रायः सुकुमार वृत्ति का प्रयोग मिलता है।इसमें प्रायः परुषा की तरह न अधिक संघर्षी वर्ण, न रेफादि और न ही ललिता की तरह कोमलवर्णमात्र, बल्कि मध्यकी स्थिति होती है। सामान्य भावाभिव्यक्ति एवं हास्यादि के सन्दर्भ में यह वृत्ति देखने को मिलती है। उदा०

कस्त्वं लोहितलोचनास्यचरणो हंसः कुतो मानसात्
किं तत्रास्ति, सुवर्णपंकजवनान्यम्भः सुधासन्निभम्।
मुक्ताशुक्तिरथास्ति शंखनिचयो वैदूर्यरोहाः क्वचित्
शम्बूकाः किमु सन्ति? नेति च बकैराकर्ण्य ही ही कृतम्॥ सुभाषितावली

रीति-सम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं वामन! उन्होंने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा। विशिष्ट का अर्थ है विशेष अर्थात् गुण से युक्त! गुणों की व्याख्या इससे पूर्व की जा

---

[1] सविस्तर द्रष्टव्य-काव्यालंकार। २।१९-३१

चुकी हैं। वामन इन रीतियों को त्रिधा स्वीकार करते हैं—वैदर्भी, गौडीय और पाञ्चाली। विदर्भादि देशों में उनका प्राचुर्य देखकर ही यह नामकरण किया गया है।[1] आचार्य विश्वनाथ ने लाटी को तथा राजा भोज ने आवन्ती तथा प्राच्या को भी रीति माना। इस प्रकार रीतियाँ संख्या में तीन, चार अथवा पाँच हैं।

वैदर्भी रीति सर्वश्रेष्ठ है। वामन भी इसे 'सर्वगुणोपेता' मानते हैं।[2] विश्वनाथ माधुर्य-व्यंजक वर्णों से युक्त, समास-रहित अथवा लघु समासों से युक्त ललित (मनोहर) रचना को वैदर्भी मानते हैं।[3] सम्पूर्ण अन्यापदेश-वाङमय अधिकांशतः इसी वृत्ति में लिखा गया मिलता है। निम्नलिखित पद्य देखें—

रूपं हारि मनोहरा सहचरी पानाय पाद्मं मधु
क्रीडा चाप्सु सरोरुहेषु वसतिस्तेषां रजो मण्डनम्।
वृत्तिः साधु मता बिसेन सुहृदश्चारुस्वनाः षट्पदाः
सेवादैन्यविमाननाविरहितो हंसः सुखं जीवति॥
—सुभाषितावली (यशःस्वामी)

ओजः प्रकाशक कठिन वर्णों से निर्मित तथा समास-बहुल बन्धवाली रचना में गौडी रीति होती है।[4] वामन इसमें माधुर्य एवं सौकुमार्य का अभाव तथा उल्वण-पदों का प्राचुर्य मानते हैं। अन्योक्तियों में प्रायः मरूभूमि, श्मसान, वेताल, आँधी, सवाडव-समुद्र आदि के वर्णन में हम गौड़ी का प्रयोग पाते हैं—

प्रेङ्खन्मयूखनखपातशिखानिपातविख्यातवारणगणस्य हरेर्गुहायाम्।
क्रोष्टा निकृष्टसरमासुतदृष्टिनष्टधाष्ट्र्यो निविष्ट इति कष्टमिहाद्य दृष्टम्॥
—सुभाषितावली (उपा० धनवर्मा)

वैदर्भी और गौडी से बचे हुए जो वर्ण हैं (अर्थात् माधुर्य तथा ओज के जो व्यंजक नहीं हैं) इनसे युक्त, पाँच छ पदों के समास वाली रीति पाञ्चाली है।[5] राजा भोज शब्द और अर्थ

१. द्रष्टव्य—काव्यालंकार सूत्र ।१.२
२. समग्रगुणोपेता वैदर्भी। अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते॥ काव्या०
३. साहित्यदर्पण, ९.२
४. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी। साहित्य०
५. वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः। समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता॥ साहि० ९.४

के समान गुम्फन से युक्त रीति को पाञ्चाली कहते हैं।[1] बाण एवं शीलाभट्टारिका के काव्य में यह रीति विद्यमान है। अन्योक्ति में इसका निदर्शन देखें—

यस्यानेकमदान्धवारणघटाकुम्भस्थलीभेदन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितया कालोऽगमल्लीलया।
उद्गर्जज्जलभारवामनघनस्पर्धी स एवाधुना
सिंहः पञ्जरपातपुञ्जिततनुर्धत्ते दशामीदृशीम्॥ —सुभा० (रतिसेन)

मृदु पदों के समासवाली, वैदर्भी तथा पाञ्चाली की सन्धिस्थली-भूता **लाटीरीति** होती है। सदुक्तिकर्णामृत में संकलित भर्तृमेण्ठ की एक रचना द्रष्टव्य है—

घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ! प्रेमबन्धं करिण्यां
पाशग्रन्थिव्रणानामविरतमधुना देहि पंकानुलेपम्।
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तदृष्टा
रेवातीरोपकण्ठच्युतकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः॥

वक्रोक्ति-विवेचन

वक्रोक्ति की उत्तरोत्तर महिमशालिता की सप्रमाण व्याख्या छठें अध्याय में की जा चुकी है। आचार्य भामह ने जिसके सन्दर्भ में कहा था कि—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना??

वह वक्रोक्ति तो अन्यापदेश-प्राणभूता है। उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। कालान्तर में वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने उसी को काव्यात्मा स्वीकार किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति के छ भेदों की व्याख्या की—वर्णविन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता।[2] इनमें भी प्रकरण तथा प्रबन्ध की वक्रता तो मूलतः नाटक के किसी प्रकरण अथवा पूरे कथानक से सम्बद्ध है। शेष तीनों की सोदाहरण व्याख्या यहाँ की जायेगी।

---

१. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते।
शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥
२. सविस्तर द्रष्टव्य—वक्रोक्तिजीवितम्, १.१९-२०।

वर्णविन्यास-वक्रता का तात्पर्य है अक्षरों का कविता में विशिष्ट रूप में न्यास। आचार्य कुन्तक कहते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने इसी को अनुप्रास भी माना है। वर्णविन्यास की वक्रता से समुन्मीलित शब्द-शोभातिशय ही काव्य-सौन्दर्य को वर्धित करता है। अन्यापदेशों में इस वर्णविन्यास की वक्रता को पद-पद पर देखा जा सकता है। उदा०

ककुभि ककुभि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विलोक्य विलोकितं
मलयजसमो दृष्टोऽस्माभिर्न कोऽपि महीरुहः।
उपचितरसो दाहे च्छेदे शिलातलघर्षणेऽ
प्यधिकमधिकं यत्सौरभ्यं तनोति मनोहरम्॥

—सुभाषितरत्नकोषः

प्रस्तुत पद्य में अनुप्रास की छटा से शब्दों में एक शोभातिशय उत्पन्न हुआ है, जिससे सम्पूर्ण कविता की रमणीयता दीप्त हो उठी है।

पदपूर्वार्ध-वक्रता का तात्पर्य है सुबन्त अथवा तिङन्त पदों का प्रातिपदिकनामक जो अंश है जो किसी न किसी धातु से निष्पन्न है उसकी वक्रता अथवा विन्यास-वैचित्र्य! आचार्य कुन्तक उदाहरण देते हैं—'रामोऽस्मि सर्वं सहे!' यहाँ 'राम' शब्द लोकोत्तर शौर्यादि-धर्मातिशय के अध्यारोप से युक्त होकर ही वक्रता को अभिव्यक्त कर रहा है।[1] इस प्रकार की वक्रता भी अन्योक्ति में प्रायः कपास, ईख, चन्दन, अगुरु, कलम (धान) के सन्दर्भ में देखने को मिलती है। निम्नलिखित उदाहरण में 'जलद' पद का साभिप्राय प्रयोग इसका निदर्शन है—

आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्णतप्तमुद्दामदावविधुराणि च काननानि।
नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा रिक्तोऽसि यज्जलद! सैव तवोत्तमश्रीः॥[2]

एक और उदाहरण में 'कनक' शब्द का साभिप्राय प्रयोग द्रष्टव्य है—

अदयं घर्ष शिलायां दह वा दाहेन भिन्दि लौहेन।
हे हेमकार! कनकं मा मां गुञ्जाफलैस्तुलय॥ सदुक्ति०

प्रत्यय-वक्रता का विस्तृत विवेचन आचार्य कुन्तक ने किया है। इसमें संख्या-वैचित्र्य, कारक-वैचित्र्य, पुरुष-वैचित्र्य, वचन-वैचित्र्य आदि अनेक भेद समाहित हैं। उदा० 'मैथिली तस्य दाराः।' में एक वचन तथा बहुवचन का समानाधिकरण अत्यन्त चमत्कारी है। आचार्य कुन्तक पुनः लिखते हैं—

यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादि-परिपोषणार्थं कर्तृत्वादि कारकं निबध्यते॥

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य—वक्रोक्तिजीवित, प्रथमोन्मेष।
२. शार्ङ्गधर० (१४) सदुक्ति० (१९४१) सुभाषितरत्नकोषः।

ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रत्यय-वक्रता की यह व्याख्या आचार्य कुन्तक ने अन्योक्ति वाङ्मय को ही लक्ष्य करके लिखी है। अचेतन पर चेतन का आरोपण ही तो अन्यापदेश-संविधानक का मेरुदण्ड है। कपास की इस वेदना का अनुभव सहृदयजन करें—

निष्पेषोऽपि च यस्य दुस्सहतरः कष्टं तुलारोहणं
ग्राम्यस्त्रीकरलुंछनव्यतिकरस्तंत्रीप्रहारव्यथा।
मातंगोक्षितमण्डवारिकणिकापानञ्च कूर्चाहतिः
कार्पासेन परार्थसाधनधिया किं किं न चाङ्गीकृतम्॥

अब दो-चार दिन में ही कटने वाले पके धान की भी एक अनुभूति देखें—

येन स्मो जनिता वयं प्रतिदिनं स्नेहेन संवर्धिताः।
येनास्मान् तृणपीडनादपि पुरा सोढुं न शक्तस्तु यः।
ज्ञात्वा सोऽप्यधुना फलस्य समयं छेत्तुं शिरो वांछति
क्रन्दन्तीव तुषारबाष्पविगलद्विन्दूत्करैः शालयः॥
—शार्ङ्गधर० (६९) सूक्ति०

वाक्यवक्रता[१] में समस्त अलंकार-वर्ग अन्तर्भूत है। अतएव अलंकाररूप में अप्रस्तुत-प्रशंसा होने के कारण तथा अलंकार्य-रूप में अनेक अलंकारों से अलंकृत होने के कारण अन्योक्ति वाक्यवक्रता का साकार रूप है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्यापदेशों में आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति के प्रायः समस्त रूप प्रचुरता से उपलब्ध हैं।

औचित्य-विवेचन

अब अन्त में अन्यापदेश-वाङ्मय में औचित्य-तत्त्व के सद्भाव की व्याख्या की जा रही है। जो जिसके सदृश होता है उसे 'उचित' कहते हैं। इसी उचित का भाव 'औचित्य' है जो कि आचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि में 'रसजीवितभूत' है।[२] आचार्य क्षेमेन्द्र इस औचित्य के २७ भेद

---

१. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति॥ वक्रोक्ति० १-२०

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ औचित्य०

स्वीकार करते हैं---पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीः।

आचार्य क्षेमेन्द्र की यह औचित्य-समीक्षा रुचिकर होते हुए भी तात्त्विक नहीं है। लगता है जैसे आचार्यत्व के लोभ में उड़ान भरी गई हो। औचित्य के ये सन्दर्भ इतने साधारण एवं अनपेक्षित प्रतीत होते हैं कि उनमें चार-छ औचित्य और जोड़ देना असंभव नहीं प्रतीत होता है। सच तो यह है कि अन्योक्ति-वाङ्मय स्वयं में एक महान् औचित्य है। अतः इस उद्वेजक प्रसंग को यहीं समाप्त किया जा रहा है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट (क)

विद्याकरसहस्रकम्

प्रस्तुत संग्रहग्रन्थ का प्रकाशन इलाहाबाद यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन (संस्कृत सिरीज) के अन्तर्गत डॉ० उमेश मिश्र द्वारा सन् १९४२ ई० में हुआ था। इस ग्रन्थ में कुल १३० कवियों द्वारा प्रणीत लगभग एक सहस्र पद्यों का संग्रह श्री विद्याकरमिश्र ने किया है। सम्पादक द्वारा दी गई सूचना के ही आधार पर कवि का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—'मिथिला प्रान्त के दरभंगा जिले में मँगरौनी ग्राम है, जहाँ अत्यन्त विद्वान् एवं तन्त्रप्रवर ब्राह्मण रहते थे। उसी ग्राम में 'फणदशा' (फन्नेवार) वंशीय गोकुलनाथ उपाध्याय भी थे, जिनके पुत्र श्री रघुनाथोपाध्याय ने अपना सर्वस्व दान करके वत्सगोत्रीय 'हरिअम्मे' कुलोत्पन्न एक ब्राह्मण को अपना पुरोहित बनाया। इन्हीं पुरोहितों के वंश में उत्पन्न पण्डित आनन्दकरमिश्र के पुत्र, प्रस्तुत संग्रहकार श्री विद्याकरमिश्र हुए। विद्याकर का विवाह कोइलख ग्राम निवासी श्री गिरिधारी मिश्र की चचेरी बहन से हुआ।' सम्पादक की सूचना के अनुसार गिरिधारी मिश्र के पौत्र, ज्योतिषाचार्य श्री बबुआजी मिश्र सन् १९४२ ई० तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे।

विद्याकरमिश्र विविधशास्त्रों में, विशेषतः धर्मशास्त्र में अत्यन्त निपुण थे। ऐसा सुना जाता है कि १२५७ मैथिलाब्द (१९वीं शती) में वह मुजफ्फरपुर के न्यायालय में किसी न्यायपद को अलंकृत कर रहे थे। प्रस्तुत सहस्रक के अतिरिक्त कवि की अन्य रचनाओं में— राक्षसकाव्यटीका, अमरुशतकव्याख्या, राधाविनोद की व्याख्या तथा विदग्धमुखमण्डन काशिका आदि प्रसिद्ध हैं। किन्तु सब ग्रन्थ सन् १९४२ तक अप्रकाशित ही थे, सम्भवतः अब प्रकाशित हुए हों। कवि ने प्रस्तुत सहस्रक में 'एकसहस्र' पद्य संकलित करने का प्रयत्न किया था किन्तु इसके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। बाद में कोइलखा ग्राम के निवासी ज्योतिर्विद श्रीमदपूछ शर्मा ने ग्रन्थ को पूर्ण किया।'

'विद्याकरसहस्रक' सुभाषितरत्नकोष के ही अनुकरण पर संकलित किया गया एक सुन्दर संग्रहग्रन्थ है। कवि ने पण्डितराज जगन्नाथ तथा १८वीं शती तक के कवियों की रचनायें उद्धृत की हैं जिससे सिद्ध हो जाता है कि वह एक अर्वाचीन संग्रहककार हैं। वस्तुतः उसका समय उन्नीसवीं शती है जैसा कि मैथिल जनश्रुति एवं बबुआ मिश्र के प्रमाणों से सुस्पष्ट है। ग्रन्थ मंगलाचरण से प्रारम्भ होकर विविध प्रकार के पद्यों में समाप्त होता है। मंगलाचरण के बाद ही अन्योक्तियों का प्रसंग प्रारम्भ हो जाता है जो कि शङ्कराम्योक्ति में समाप्त होता है।

अन्य संग्रहग्रन्थों की भाँति विद्याकरसहस्रक में भी संकलित अन्योक्ति-विषयों एवं उनके प्रणेताओं का अपेक्षित विवरण इस प्रकार है—

१. अन्योक्ति के विषय—हंस, सिंह, गज, चातक, कोकिल, भ्रमर, शुक, चक्रवाक, चक्रवाकी, बक, केतक, कमल, समुद्र, मेघ, चन्द्र, वृक्ष, पर्वत एवं शफर—कुल १८ विषय।

२. अन्योक्तिप्रणेता—छित्तप, सुरभि, पण्डितराज, भोजदेव, डिम्बोक, उमापतिधर, मोहनोपाध्याय, पक्षधरमिश्र, भवनाथमिश्र, शंकरमिश्र, पाम्पाक, अमरसिंह, संग्रामचन्द्र, नंगदत्त, कंकण, भर्तृमेण्ठ, पीताम्बरमल्लिक, भर्तृहरि, शरण, लक्ष्मीधर, जलचन्द्र, चौरकवि, हरिहरोपाध्याय, भेरीभांकार, रामदास, विद्यापति, लक्ष्मीदेवी, धीरेन्द्रोपाध्याय, वसन्तमिश्र, उपाध्यायपदांकित पंजीकार, प्रेम (प्राण) नारायण नृप, कृष्णपत्युपाध्याय, रामदासोपाध्याय, लौलिक भानुकवि, कालिदास, लखिमा ठक्कुराजी, साहसांक, मधु, नाथूमिश्र, भारवि, उमानाथपण्डित, श्रीशुक, अभिनव कालिदास, मुरारि, नारायण शर्मा, भट्टादित्य (कुल ४७ कवि)।

इनमें से, रामदास तथा रामदासोपाध्याय प्रायः एक ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार विद्याकरसहस्रक में कुल ४६ कवियों द्वारा १८ विषयों पर प्रणीत २९२ अन्योक्तियों का संकलन किया गया है।

परिशिष्ट (ख)

आर्यान्योक्तिशतकम्

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखक तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में अध्यापन कार्य-रत अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने 'आर्यान्योक्तिशतक' का प्रणयन किया। ग्रन्थ की भूमिका में प्रस्तुत किए गए वाचिक से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ की सर्जना सन् १९६७ ई० के जनवरी मास (२ से १४ जनवरी) में हुई। उत्तरप्रदेश शासन ने सन् ७६-७७ सत्र में इस रचना को पुरस्कृत किया।

उत्तरप्रदेश राज्य के जौनपुर जनपद में अवस्थित स्यन्दिका (सई) तटवर्ती द्रोणीपुर ग्राम में कवि का जन्म गौतमगोत्रीय भमया मिश्र-वंश में पौष कृष्ण पंचमी संवत् १९९९ में हुआ। कवि के पितामह पं० रामानन्द मिश्र परम भागवत थे। कवि के पिता पण्डित दुर्गा प्रसाद मिश्र २६ वर्ष की अवस्था में ही दिवंगत हो गए फलतः माँ अभिराजी देवी ने ही पालन-पोषण किया।[1] माँ के प्रति इसी असीम अनुराग ने कवि को 'अभिराज' उपनाम भी दिया।

शोध-प्रबन्ध की प्रकाशनावधि तक कवि की लगभग चालीस संस्कृत (हिन्दी) मौलिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें संस्कृत-वाङमय की अनेक लेखन-विधायें रूपायित हुई हैं। संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) नाट्य—नाट्यपंचगव्यम्, अकिञ्चनकाञ्चनम्, नाट्यपंचामृतम्, चतुष्पथीयम्, प्रमद्वरा (नाटिका)।

(ख) काव्य—आर्यान्योक्तिशतकम्, नवाष्टकमालिका, परास्बाशतकम्, वाग्वधूटी (काव्यसंग्रहः), जानकीजीवनम् (महाकाव्यम्), मृद्वीका (गीतसंग्रहः)

(ग) गद्य—इक्षुगन्धा (कथासंकलनम्)।

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, प्रस्तुत शतक कवि द्वारा आर्या छन्द में प्रणीत सौ अन्यापदेशों का संकलन है। ग्रन्थ के अन्तिम सात छन्द कवि-परिचय के हैं, जिन्हें मिला कर

---

१. नववयसि समग्रैर्मानवीयातिचारैर्विधिवदिषुधिकल्पां गन्धयित्वा धरित्रीम्।
अनृणमपि विधाय त्र्यात्मजैरात्मदेहं हरिचरणशरण्योऽभूत्स षड्विंशतिस्थः।
प्रियविरहकृशांगी त्यक्तकूलापगेव प्रचलसलिलभंगान् सा पुपोषेव पुत्रान्।
विधुरमणवियोगं पार्वणं विस्मरंती सुखयति सुतकल्पांस्तारकानेव रात्रिः॥

ग्रन्थ की सम्पूर्ण श्लोक संख्या १०७ है। कवि ने अन्यापदेश-विषयों को एक वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित किया है जो कि अधोलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायेगा—

१. विबुध वर्ग (१-५ तक), २. मानव वर्ग (६ से ३८ तक), ३. विहग वर्ग (३९ से ४९ तक), ४. प्राणि वर्ग (५० से ५९ तक), ५. विटपि वर्ग (६० से ८१ तक), ६. प्रकीर्ण वर्ग (८२ से १०० तक)।

आर्यान्योक्तिशतकम्[1] निश्चय ही संस्कृत अन्योक्ति-वाङ्मय की नवीनतम प्रतिनिधि रचना है। कवि ने अन्योक्ति के उद्भव और विकास पर ही शोधग्रन्थ लिख कर डॉक्टरेट उपाधि पाई। फलतः उसने दो सहस्र वर्षों के अन्योक्ति-विकास को दृष्टि में रख कर ही इन अन्यापदेशों की सर्जना की। यही कारण है कि प्रस्तुत संकलन का प्रत्येक अन्यापदेश प्रतिमान की दृष्टि से सर्वथा नवीन है। यदि कहीं प्राचीन प्रतीक हैं भी तो प्रस्तुति का दृष्टिकोण सर्वथा नवीन है। एम्० एल्० ए०, अल्सेसियन डॉग, विश्वविद्यालय छात्र, क्लीब, कृपाण, जीरक, लशुन आदि नूतन प्रतीक इसके प्रमाण हैं।

प्रस्तुत शतक का प्रत्येक अन्यापदेश वर्तमान युग-बोध से जुड़ा हुआ है। स्वार्थी मंत्री के प्रति एक अन्योक्ति देखें—

> कुरु कुरु तावदभीष्टं स्वार्थं साधय मन्त्रिपदमवाप्य।
> यावन्नास्यपदस्थो रे खल! पल्लवय स्वकीयान्॥

अंग्रेजी सभ्यता पर व्यंग्य कसता हुआ कवि लिखता है—

> ग्रामेऽस्मिन् विद्यन्ते बहवो ह्याङ्गलविदः कलाचार्याः।
> तत्किं प्रयासि भिक्षुक! तेषां कौतूहलार्थमेव??

[1] वैजयन्त-प्रकाशन, (८ बाघम्बरी रोड, इलाहाबाद) द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण १९८३ ई०।

परिशिष्ट (ग)

ग्रन्थसूची

सौकर्य की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-सन्दर्भ में अधीत समस्त ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा रहा है:—

१. संस्कृत ग्रन्थ २. हिन्दी ग्रन्थ ३. अंग्रेजी ग्रन्थ

संस्कृत ग्रन्थ

(क) लक्षणग्रन्थ—

१. नाट्यशास्त्र (भरतप्रणीत) गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज-६८, बड़ौदा, भाग दो, १९३४ ई०।

२. काव्यालंकार (भामहप्रणीत) श्रीबालमनोरमा सिरीज-५४, मइलापुर, मद्रास, १९५६ ई०।

३. काव्यादर्श (दण्डीप्रणीत) गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सिरीज-४, पूना (प्रभाटीका) १९३८ ई०।

४. काव्यलक्षण (दण्डीप्रणीत) मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला-४, दरभंगा (रत्नश्री टीका) १९५७ ई०

५. काव्यालंकारसारसंग्रह (उद्भटप्रणीत) १. राजानक तिलककृत विवृति टीका सहित, ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से प्रकाशित, १९३१ ई० तथा २. प्रतीहारेन्दुराजकृत 'लघुवृत्ति' सहित,

६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (वामनप्रणीत) हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थमाला-१, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९५४ ई०।

७. काव्यालंकार (रुद्रटकृत), काव्यमाला सिरीज-२ बम्बई सन् १९२८ ई०।

८. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धनप्रणीत) श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टीच्यूट, मद्रास, १९४४ ई०।

९. काव्यमीमांसा (राजशेखरप्रणीत) हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-१४, चौखम्भा संस्करण, बनारस १९३४ ई०।

१०. वक्रोक्तिजीवित (कुन्तकप्रणीत) हिन्दी अनुसन्धान परिषद्ग्रन्थमाला-५, दिल्ली, १९५५ ई०।

११. सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजप्रणीत) बारौह संस्करण सन् (?)

१२. काव्यप्रकाश (मम्मटप्रणीत) दशम उल्लास, कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई-२, १९४१ ई०।

१३. काव्यानुशासन (हेमचन्द्रप्रणीत) श्री महावीर जैन विद्यालय प्रकाशन, बम्बई, सन् १९३८ ई०।

१४. अलंकारसर्वस्व (रुय्यकप्रणीत) काव्यमाला सिरीज-३५, बम्बई १९३९ ई०।

१५. अलंकारसूत्र (रुय्यकप्रणीत) त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज-४८, त्रावनकोर, १९४६ ई०।

१६. चन्द्रालोक (जयदेवप्रणीत) राकागमयुक्त, चौखम्बा संस्कृत सिरीज-४५८-५९, काशी, १९३८ ई०।

१७. एकावली (विद्याधरप्रणीत) के० पी० त्रिवेदी संस्करण, बम्बई १९०३ ई०।

१८. वाग्भटालंकार (वाग्भट प्रथमप्रणीत) काव्यमाला सिरीज-४८, बम्बई, १८९५ ई०।

१९. अलंकारसंग्रह (अमृतानन्दयोगिन्-प्रणीत) श्री वेंकटेश्वर प्राच्य ग्रन्थमाला-१९, तिरुपति, १९५० ई०।

२०. अलंकारमहोदधि (नरेन्द्रप्रभसूरिप्रणीत) एल० बी० गांधी द्वारा प्रकाशित, बड़ौदा, १९४२ ई०।
२१. काव्यानुशासन (वाग्भट द्वितीयप्रणीत) काव्यमाला सिरीज, ४३, बम्बई १९०३ ई०।
२२. प्रतापरुद्रीय (विद्यानाथप्रणीत) के० पी० त्रिवेदी संस्करण, अहमदाबाद, १९०९ ई०।
२३. काव्यपरीक्षा (वत्सलांछनप्रणीत) मिथिला विद्यापीठ-२, दरभंगा, १९५६ ई०।
२४. साहित्यदर्पण (विश्वनाथप्रणीत) सिद्धान्तवागीशकृत टीका, कलकत्ता, १९५० ई०।
२५. कुवलयानन्द (अप्पय्यप्रणीत) रसिकरंजनीटीका-सहित, कुम्भकोणम्, १९१७ ई०।
२६. रसगंगाधर (जगन्नाथप्रणीत) काव्यमाला सिरीज-१२, बम्बई १८८८ ई०।
२७. अलंकारकौस्तुभ (विश्वेश्वरप्रणीत) काव्यमाला सिरीज-६६, बम्बई १८९८ ई०
२८. नंजराजयशोभूषण (नृसिंहकविप्रणीत) ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९३० ई०।
२९. अलंकारमंजूषा (भट्टदेवशंकरप्रणीत) सिन्धिया ओरियण्टल सिरीज-१, उज्जैन, सन् १९४० ई०।
३०. साहित्यकौमुदी (विद्याभूषणप्रणीत) काव्यमाला बम्बई।
३१. काव्यविलास (चिरंजीवप्रणीत) सरस्वतीभवन-संस्करण, काशी, १९२५ ई०।
३२. अलंकारमणिहार (श्रीकृष्णपरब्रह्मतंत्रप्रणीत) ओरियण्टल लाइब्रेरी पब्लिकेशन, संस्कृत सिरीज-५८, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर १९२१ ई०।

(ख) संग्रहग्रन्थ—

३३. कवीन्द्रवचनसमुच्चय (विद्याकरकृत) बिब्लियोथिकाइण्डिका (न्यू सिरीज) १३०९, कलकत्ता १९१२ ई०।
३४. सुभाषितरत्नकोष (विद्याकरकृत) हार्वर्ड ओरियण्टल सिरीज-४२, केम्ब्रिज मैसेच्यूसेट्स १९५७ ई०।
३५. सदुक्तिकर्णामृत (श्रीधरदासकृत) फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६५ ई०।
३६. सूक्तिमुक्तावली (जल्हणकृत) गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज-८२, बड़ौदा, १९३८ ई०।
३७. शारंगधरपद्धति (शारंगधरकृत) पीटर्स पीटर्सनकृत संस्करण, बम्बई १८८८ ई०।
३८. सुभाषितावली (बल्लभदेवकृत) पीटर्स पीटर्सनकृत संस्करण, बम्बई १८८६ ई०।
३९. प्रस्तावरत्नाकर (हरिदासकृत) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति सं० ९९४।
४०. सूक्तिमालिका (नारोजीपण्डितकृत) दि जर्नल आफ दि तंजौर सरस्वतीमहल लाइब्रेरी भाग १३ से १५ तक।
४१. विद्याकरसहस्र (विद्याकरमिश्रकृत) इलाहाबाद यूनिवर्सिटी प्रकाशन, १९४२ ई०।
४२. सुभाषितरत्नभाण्डागार (सम्पादित) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३५ ई०।

(ग) काव्यग्रन्थ—

४३. काव्यमाला के चौदह गुच्छक (१३५ ग्रन्थ) निर्णयसागर प्रेस बम्बई सन् १८८६ से १९३८ तक।
४४. आर्यासप्तशती (गोवर्धनाचार्यकृत) काव्यमाला सिरीज-१, निर्णयसागर, बम्बई, १८८६ ई०।
४५. आर्यासप्तशती (विश्वेश्वरप्रणीत) चौखम्बा संस्कृत सिरीज-३१५, बनारस सन् १९२५ ई०।
४६. कविकौमुदी (लक्ष्मीनृसिंहकृत) कर्णाटक विश्वविद्यालय, प्रकाशन, धारवाड़, १९६५ ई०।
४७. अन्योक्तिस्तबक (वंशीधरमिश्रकृत) चुन्नीलाल गांधी विद्याभवन स्टडीज-४, सूरत, १९५५ ई०।
४८. व्याजोक्तिरत्नावली (महालिंगकृत) श्रीनिवासप्रेस, थिरुवैय्यारु, १९५३ ई०।
४९. भानुचन्द्रगणिचरित (सिद्धिचन्द्रकृत) सिन्धी जैन ग्रन्थमाला-१५, अहमदाबाद-कलकत्ता, १९४२ ई०।

५०. भासनाटकचक्र एवं अन्य नाटक[1] (भासकृत) त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज (१३ नाटक) सन् १९१२-१९१५ ई०।
५१. चतुर्भाणी एवं अन्य[2] भाणकृतियाँ, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५९ ई०।
५२. भगवदज्जुकीय एवं अन्य[3] प्रहसन, मंगलोदय प्रेस त्रिचूर, कोचीन स्टेट १९२५ ई०।
५३. किरातार्जुनीय एवं अन्य[4] व्यायोग, गायकवाड़ ओरि० सिरीज-८, बड़ौदा, सन् १९१८ ई०।
५४. उन्मत्तराघव एवं अन्य[5] एकांकी, अदयार लाइब्रेरी सिरीज-५७, अदयार, १९४६ ई०।
५५. वत्सराजप्रणीत रूपकषट्कम्, गायकवाड़ ओरियण्टलसिरीज-८, बड़ौदा, १९१८ ई०।
५६. राजतरंगिणी (कल्हणप्रणीत) पण्डित पुस्तकालय, काशी, सन् १९६० ई०।
५७. रघुवंश-प्रभृति[6] महाकाव्य—विभिन्न संस्करण।
५८. पंडितराजकाव्यसंग्रह—उस्मानिया विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६० ई०।

हिन्दी ग्रन्थ

५९. हिन्दीकाव्य में अन्योक्ति (डॉ० संसारचन्द्रकृत शोधप्रबन्ध) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ई०।
६०. भारतीय साहित्यशास्त्र (डॉ० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे) पापुलर बुक डिपो, बम्बई-७, १९६० ई०।
६१. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य (श्रीधर वर्णेकर द्वारा मराठी भाषा में लिखित) माडर्न बुक स्टोर्स, अकोला एवं नागपुर, सन् १९६३ ई०।
६२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (ए० बी० कीथकृत ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर का डॉ० मंगलदेवकृत हिन्दी अनुवाद) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना १९६० ई०।

अंग्रेजी ग्रन्थ

६३. ए हिस्ट्री आफ इंगलिश लिट्रेचर (एम्० कैजामियाँ)
६४. ऐन इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ लिटरेचर (डबल्यु० एच्० हडसन) लन्दन से प्रकाशित, १९३९ ई०।
६५. शृंगार-प्रकाश (डा० वी० राघवन का शोधप्रबन्ध)
६६. सम् प्राब्लम्स आफ संस्कृत पोयटिक्स (डा० एस्० के० डे) फर्मा के० एल्० मुखोपाध्याय कलकत्ता १९५९ ई०।
६७. कान्सेप्ट्स आफ रीति ऐण्ड गुण इन संस्कृत पोयटिक्स (डा० प्रकाशचन्द्र लाहिरी का शोधप्रबन्ध), ढाका विश्वविद्यालय, ढाका से प्रकाशित, १९३७ ई०।

---

१. कालिदास-शूद्रक-हर्ष-भवभूति-विशाखदत्त-भट्टनारायण-मुरारि-राजशेखर-दिङ्नाग एवं जयदेव पीयूषवर्ष की कृतियाँ (कुल ३२ नाटक)।

२. वत्सराज-वामनभट्टबाण-रामभद्रदीक्षित-नल्लाकवि-काशीनाथ एवं युवराज कवि के भाणग्रन्थ (कुल १० भाण)।

३. महेन्द्रविक्रमवर्मा (दम्भकप्रहसन) वत्सराज-रामपाणिवाद-सुन्दरराज-अरुणगिरिनाथ, महेशमनीषी तथा महा० जगदीश्वरतर्कालंकारकृत प्रहसनग्रन्थ (कुल ९ प्रहसन)।

४. प्रह्लादनदेव-रामचन्द्रसूरि तथा नीलकण्ठकवि की रचनाएँ (कुल ४ व्यायोग)।

५. दूतांगद (सुभटकृत) एवं भ्रमरकाहली (प्रभाकराचार्यकृत) (कुल ३ एकांकी)।

६. रघुवंश-कुमारसम्भव-किरातार्जुनीय-शिशुपालवध-नैषधीयकाव्य आदि सैकड़ों महाकाव्य, खण्डकाव्य, गद्यकाव्य एवं चम्पू ग्रन्थ।

६८. सम् कान्सेप्ट्स आफ दि अलंकारशास्त्र (डा० वी० राघवन) अदयार लाइब्रेरी सिरीज-३३ अदयार, १९४२ ई०।
६९. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स (डा० पी० वी० काणे) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५१ ई०।
७०. स्टडीज़ इन दि हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स (डा० एस० के० डे० कृत)।

प्रकीर्णग्रन्थ (पत्र-पत्रिकाएँ, शोधनिबन्ध एवं सूचीपत्र इत्यादि)

(क) पत्र-पत्रिकाएँ—

१. संस्कृतसाहित्यपरिषद् (वर्ष-१७, भाग-३) सन् १९३४ ई०।
२. संस्कृतप्रतिभा (उन्मेष-२, विलास-२), दिल्ली सन् १९६० ई०।
३. बुलेटिन आफ दि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, वाल्यूम-५, सं० १, १९५२ ई०, वाल्यूम-७, सं० १ सन् १९५४ ई०।
४. श्री मन्महाराज संस्कृतमहापाठशाला पत्रिका, मैसूर (सम्पुट १३, संचिका-३, ४ सन् १९३६ ई०।

(ख) शोधनिबन्ध—

१. भरताज़ थियरी आफ रस (पूना ओरियण्टलिस्ट, भाग १२, सं० १ से ४ तक, १९४७ ई०—डा० के० कृष्णमूर्ति द्वारा लिखित।
२. दि डाक्ट्रिन आफ लक्षण ऐण्ड पीप इण्टु इट्स चेकर्ड हिस्ट्री (पूना ओरियण्टलिस्ट भाग १६, १९५१ ई०) प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा लिखित।
३. संस्कृत पोयटेज़ (ए साविनर आफ दि सिल्वर जुबिली सेलिब्रेशन आफ दि डिपार्टमेण्ट फार दि पब्लिकेशन आफ ओरियेण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स, त्रिवेन्द्रम, १९३३ ई०) एम्० कृष्णमाचारियर द्वारा लिखित।
४. लाइट थ्रोन आन कल्चरल करेण्ट्स बाई दि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज (ए साविनर आफ दि...वही) पी० के० नारायण पिल्लई द्वारा लिखित।

(ग) सूचीपत्र—

१. कैटालागस् कैटालागरम् (तीन भागों में) थियोडोर आफ्रेक्टकृत। जर्मनी से प्रकाशित, १९६२ ई०।
२. न्यु कैटालागस् कैटालागरम् (अकारमात्र) डा० राघवन कृत, मद्रास विश्वविद्यालय, १९४९ ई०।
३. जिनरत्नकोश (भाग १) एच्० डी० वेलंकरकृत। भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९४४ ई०।
४. सप्लीमेण्ट्री कैटालाग आफ संस्कृत प्राकृत ऐण्ड पाली बुक्स इन दि ब्रिटिश म्युजियम (दो भाग) एल० डी० बार्नेट द्वारा सम्पादित एवं लन्दन से क्रमशः सन् १९०८ एवं २८ में प्रकाशित।
५. कैटालाग आफ गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास, भाग २५ तथा त्रिवर्षीय ४।१अ ४।१ स।
६. कैटलाग आफ सरस्वतीमहल लाइब्रेरी आफ तंजौर, पी० पी० एस् शास्त्रीकृत, भाग ७, श्रीरंगम् १९३० ई०।
७. कैटलाग आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स बिलांगिंग टु गोविन्दशास्त्री आफ नासिक, नासिक, सन् (?)
८. कैटलाग आफ गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर, सन् १९२२ ई०।
९. कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स ऐट दि डी० एच्० ए० एस्०, गौहाटी, सन् १९६० ई०।

अनुक्रमणिका

